श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

(बृहद्वृत्ति-लघुन्यास सहित)

प्रथमो भागः

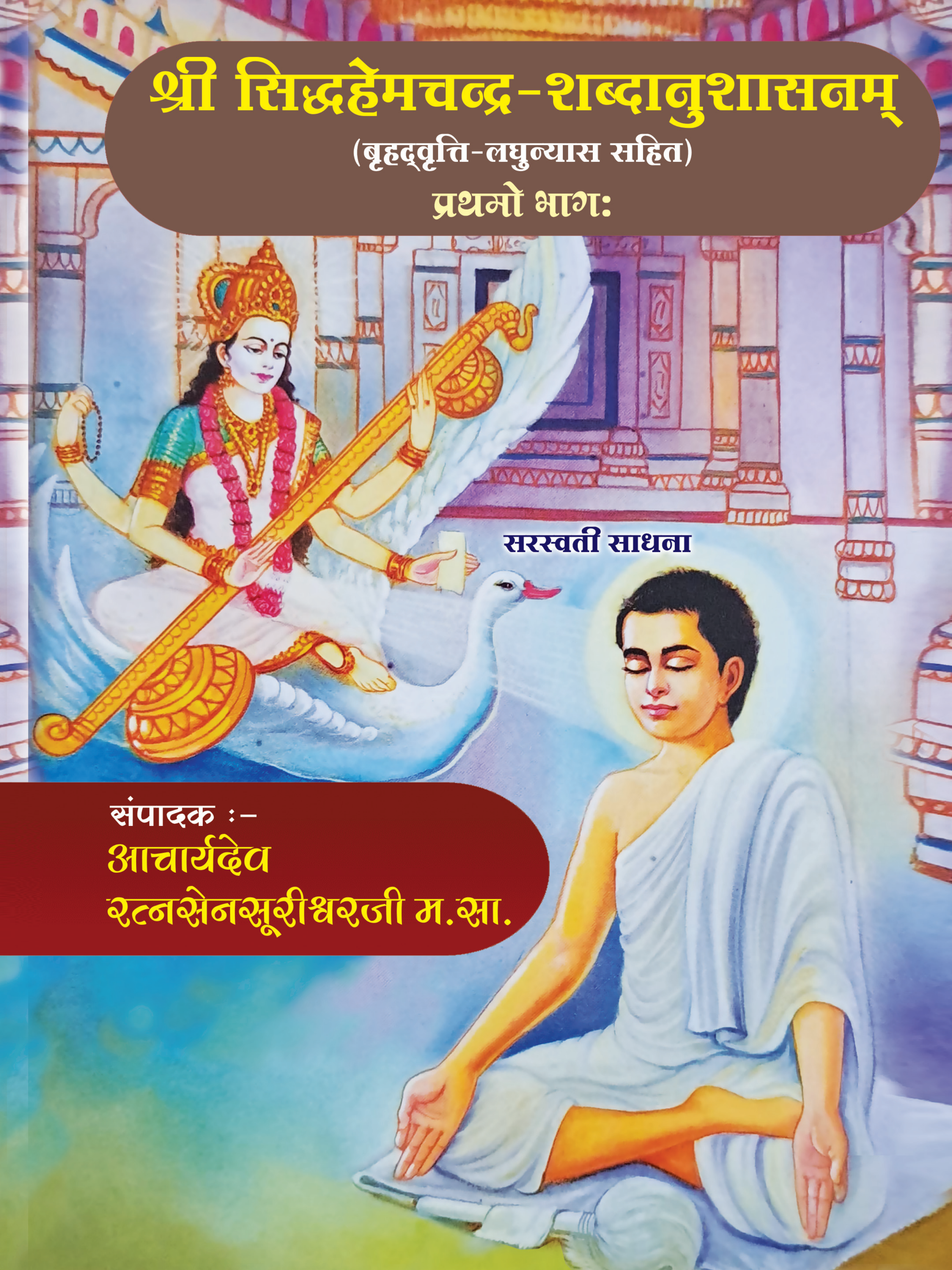

संपादक :-

आचार्यदेव

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरि प्रणीतं

श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम्

[स्वोपज्ञ बृहद्वृत्ति एवं श्री कनकप्रभमनीषी विरचित
न्याससार-समुद्धार (लघुन्यास) सहितम्]

प्रथमो भागः

-: संपादक :-

दीक्षा युग प्रवर्तक, परमशासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. के तेजस्वी शिष्यरत्न
बीसवीं सदी के महान्योगी, भावाचार्य तुल्य पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य श्री के
चरम शिष्यरत्न जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर
पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

256

卐 प्रकाशन 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor,
बे.व्यु. बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ.एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

आवृत्ति : द्वितीय • **मूल्य :** 1170/- रुपये • **प्रतियाँ :** 300
विमोचन दिनांक और स्थल : दि. 20-7-2025 • उदयपुर (राजस्थान)

प्रताकार में आद्य संपादक : विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय **उदयसूरीश्वरजी म.सा.**

पुस्तकाकार में प्रथम आवृत्ति संपादक : विद्वद्वर्य **पू.पं. श्री वज्रसेनविजयजी म.सा.** एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.**

पुस्तकाकार में द्वितीय आवृत्ति संपादक : मरुधर रत्न **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 4000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य, जैन इतिहास, जैन तत्त्वज्ञान, जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप **दिव्य संदेश प्रकाशन** मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.*** सा. द्वारा लिखित उपलब्ध 7 पुस्तकें दी जाएंगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तकें एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोड़कर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि
जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क
Rs. 4000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डिंग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 84 84 84 84 51 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक
प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

कलिकाल सर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने गुजरात के सम्राट् **सिद्धराज** की हार्दिक विनती का स्वीकार कर **``सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्''** नाम के संस्कृत व्याकरण की रचना की थी ।

इस व्याकरण के ऊपर हेमचन्द्रसूरिजी म. ने 6000 श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति, 18000 श्लोक प्रमाण बृहद्वृत्ति तथा 84000 श्लोक प्रमाण बृहन्न्यास की रचना की थी । वर्तमान में लघुवृत्ति एवं बृहद्वृत्ति तो पूर्ण रुप से उपलब्ध है परन्तु बृहन्न्यास आंशिक रुप से उपलब्ध है । परंतु उसी बृहन्न्यास के आधार पर चांद्रगच्छीय देवेन्द्रसूरिजी म. के शिष्य आचार्य श्री कनकप्रभसूरिजी म. ने लघुन्यास की रचना की थी जो वर्तमान मे पूर्णरुप से विद्यमान है ।

इस बृहद्वृत्ति व लघुन्यास का प्रताकार रुप में प्रथम मुद्रण वि.सं. 1962 में विद्वद्वर्य पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय उदयसूरिजी म. ने करवाया था ।

उसके ठीक 80 वर्ष बाद वि.सं. 2042 में पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म. एवं **पू.मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** ने इस ग्रंथ का संपादन किया था ।

आज उस ग्रंथ की प्रतियाँ अप्राप्त हो गई है और वे प्रतियाँ जीर्ण भी हो गई है ।

उन ग्रंथों की वर्तमान स्थिति को देख मरुधररत्न **पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** के दिल में उन ग्रंथों के पुनः संपादन की भावना जागृति हुई । प्रवचन, लेखन व संघ शासन की अनेकविध जवाबदारियों के बीच भी पूज्यश्री ने इस ग्रंथ का पुनः संपादन कर पूर्व प्रकाशन में रही भूलों का परिमार्जन किया है ।

पूर्व प्रकाशित ग्रंथों में कंपोजिंग पद्धति से Type Setting किया जाता था, अतः कई बार कई अक्षर टूट जाते थें, इस कारण भी मुद्रण में कई अशुद्धियाँ रह जाती थीं ।

इस बार कम्प्यूटर Type Setting कराया गया और टिकाऊ कागजों पर स्वच्छ मुद्रण किया गया है ।

पूर्व में तीन भागों में प्रकाशित इन ग्रंथों को इस बार चार भागों में विभक्त किया है । परम शासन प्रभावक, दीक्षा युग प्रवर्तक **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा. की 34वीं पुण्यतिथि** असाढ वदी-14, दि. 23-7-2025 के शुभ दिन उन चार भागों का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत हर्ष हो रहा है ।

हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ का स्वाध्याय कर पाठक गण संस्कृत व्याकरण का सत्य बोध प्राप्त कर सकेंगें ।

तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए संस्कृत भाषा का बोध खूब जरुरी है ।

भाषा बोध के साधनरुप इन ग्रंथों के स्वाध्याय के बल से पूर्वाचार्य विरचित तत्त्वज्ञान के अमूल्य खजाने को प्राप्त कर सकते है ।

बस, सभी आत्माएं संस्कृत भाषा में प्रवीणता प्राप्त कर उसके माध्यम से वीतराग कथित तत्त्वज्ञान का सम्यग्बोध प्राप्त कर अपने जीवन को सफल व सार्थक बनाएं, इसी मंगल कामना के साथ ।

आभार-दर्शन

श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन्-बृहद्वृत्ति-लघुन्यास सहित
के प्रथम भाग के प्रकाशन में

श्री सीमंधर-शांतिसूरि जैन ट्रस्ट

वी.वी. पुरम्, बेंगलोर

की ओर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है, हम उनके अत्यंत ही आभारी है ।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में ज्ञानखाते की रकम का उपयोग हुआ है,
अतः कोई भी सद्गृहस्थ उसका मूल्य ज्ञानखाते में
जमा कराकर उसकी मालिकी रख सकते है ।

—: निवेदक :—

दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई

पूर्व संपादक की कलम से...

वि.सं. 2013 में **पू.पं. श्री हर्षविजयजी म.** एवं **पू.मु. श्री महाभद्रविजयजी म.** की निश्रा में मेरा चातुर्मास पाटण (N.G.) में था, उस समय परमोपकारी वात्सल्यमूर्ति **पू.पं. श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** एवं मेरे उपकारी गुरुदेव **पू.मु. श्री कुंदकुंदविजयजी म.सा.** (बाद में आचार्य) के शुभाशीर्वाद से **पू.मु. श्री धुरंधरविजयजी म.सा.** एवं मेरा पंडितवर्य शिवलालभाई के पास **'सिद्धहेमशब्दानुशासनम् लघुवृत्ति'** का अभ्यास चल रहा था। उस समय मेरी उम्र 15 वर्ष की थी। लघुवृत्ति का अभ्यास कराते समय पंडितजी लघुवृत्ति के संदिग्ध स्थानों को देखने के लिए बृहद्वृत्ति व लघुन्यास की प्रत का उपयोग करते थे, जो जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थी, उस समय प्रत की सुरक्षा के लिए दो प्रतों को जिलेटिन पेपर पर चिपकाकर एक कर दी थी।

प्रत की उस स्थिति को देख मेरे मन में विचार आया कि बडे होकर भविष्य में इस प्रत का अवश्य पुनर्मुद्रण करवाएंगे ।

इस प्रकार उस समय उस ग्रंथ के संपादन-पुनर्मुद्रण का बीज पड़ा था । बाद में यह बात विस्मृत हो गई । बाद में योगानुयोग वि.सं. 2035 में पाटण में संघ स्थविर पू. गच्छाधिपति **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.** की शुभ निश्रा में अध्यात्मयोगी **पू.पं. श्री भद्रंकरविजयजी म.** के साथ मुझे तथा **मु. रत्नसेनविजयजी म.** को चातुर्मास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।

उस समय **मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** का बृहद्वृत्ति का अभ्यास चल रहा था।

पू. पंन्यासजी म. की अस्वस्थता के कारण मुझे तो समय का अभाव था, अतः मैंने **मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.** को सूचन किया कि बृहद्वृत्ति के साथ लघुन्यास की हस्तलिखित प्रत व पूर्व प्रकाशित प्रत भी देखी जाय। मेरी सूचनानुसार मुनिश्री ने अपना प्रयत्न प्रारम्भ किया।

वि.सं. 2039 में मेरा जामनगर चातुर्मास था, उस चातुर्मास में व्याकरण के अच्छे अभ्यासी **पंडितवर्य श्री वज्रलालभाई उपाध्याय** का योग मिला। **पं.श्री प्रद्युम्नविजयजी म.** के पास से लघुन्यास की प्रति मंगवाकर कार्य प्रारम्भ किया, परन्तु शारीरिक अस्वस्थता के कारण विशेष आगे नहीं बढ़ पाया।

वि.सं. 2040 में **मु. श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** का रतलाम (M.P.) में चातुर्मास था, उन्होंने मेरी सूचना से व्याकरण के तीसरे अध्याय से लेकर सातवें अध्याय तक लघुन्यास की प्रेस कापी तैयार की ! प्रत्येक सूत्र के साथ ही बृहद्वृत्ति व लघुन्यास हो तो अध्ययन में सुगमता रह सके, इस बात को भी ध्यान में रखा गया तथा साक्षी सूत्रों के सांकेतिक नाम के

साथ उन सूत्रों का क्रमांक भी जोडा गया । **मुनि श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** ने खूब उत्साह से यह कार्य संपन्न किया, जिसके फलस्वरुप यह ग्रंथ व्यवस्थित रुप से तैयार हुआ ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्यजी ने लघुवृत्ति (6000 श्लोक प्रमाण) के ऊपर बृहद्वृत्ति (18,000 श्लोक प्रमाण) व उसके ऊपर 84000 श्लोक प्रमाण बृहन्न्यास की भी रचना की थी, परन्तु वर्तमान में लघुवृत्ति व बृहद्वृत्ति तो पूर्णरुप से उपलब्ध है, परन्तु बृहन्न्यास का अधिकांश भाग लुप्त हो गया ।

प्रारम्भ के दो अध्याय तक उपलब्ध बृहन्न्यास व लघुन्यास का प्रकाशन व्याकरण वाचस्पति **पू. आचार्य श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म.सा.** ने करवाया था ।

चांद्रगच्छीय **पू.आ. श्री देवेन्द्रसूरिजी म.सा.** के शिष्य **आचार्य श्री कनकप्रभसूरिजी म.सा.** ने न्याससार समुद्धार अर्थात् लघुन्यास की रचना की थी, सद्भाग्य से वह सम्पूर्ण उपलब्ध हैं । जिसका प्रकाशन वि.सं. 1962 में **पू.आ. श्री उदयसूरिजी म.** ने प्रताकार के रुप में करवाया था ।

उस पूर्व आवृत्ति को ध्यान में रखकर प्रस्तुत ग्रंथ का संपादन किया गया है ।

अध्ययन अध्यापन में सुविधा की दृष्टि से इसे तीन वाल्पयुम में प्रकाशित किया है ।

परम शासन प्रभावक, संघहित चिंतक सुविशाल गच्छाधिपति **पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजा**, परम गुरुदेव अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री**, परमोपकारी पूज्य उपकारी गुरुदेव **आचार्य देव श्रीमद् विजय कुंदकुंदसूरीश्वरजी म.सा.** की अदृश्य कृपादृष्टि एवं सौजन्यमूर्ति **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा.** की शुभाशीष एवं सांसारिक पिता **पू.मु. श्री महासेनविजयजी म.** की सहानुभूति आदि के फलस्वरुप ही यह भगीरथ कार्य साकार हो पाया है, उन सभी उपकारी गुरुदेवों के पावन चरणों में कोटिशः वंदना ।

व्याकरण की महिमा बताते हुए कहा है,

व्याकरणात् पद सिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परंश्रेयः ॥

व्याकरण से पद सिद्धि होती है, पदसिद्धि से अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ के निर्णय से तत्व की सिद्धि होती है और तत्व की सिद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

इससे पता चलता है कि व्याकरण के अध्ययन की कितनी महिमा है ? अभ्यासी महात्मा इस ध्येय पूर्वक इस ग्रंथ का अध्ययन करेंगें तो संपादन का हमारा श्रम सफल व सार्थक होगा । वैसे भी श्रुत सेवा का अपूर्व लाभ मिलने से संपादन का श्रम सफल ही है ।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में मति मंदता, दृष्टि दोष या प्रेस दोष से कहीं क्षतियां रह गई हो तो सुज्ञजन सुधारने की कृपा करे और उन भूलों के लिए सच्चे हृदय से मिच्छा मि दुक्कडम् ।

वि.सं. 2042, आसाढ सुदी पूनम
विद्याशाला-अहमदाबाद

मुनि वज्रसेनविजय
(पूर्व आवृत्ति में से साभार)

प्रस्तावना

गुजरात का गौरव–सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्

लेखक : साहित्य प्रेमी **पू. पंन्यास प्रवर श्री हेमहर्षविजयजी गणिवर्य**

`जैन लोग सूर्य को नमस्कार नहीं करते है अत: सूर्यदेव का अपमान करते है ।

क्या बात करते हो ?

आपको कहां पता है जैन लोग जितने सद्भाव से नमस्कार करते है, उतना तो कोई नहीं करता हैं क्योंकि जैन लोग सूर्य के विरह में भोजन भी नहीं करते हैं, **सूर्य के उदय के 48 मिनिट बाद ही भोजन करते हैं ।**

सूर्य से मिलन के बाद ही आहार करना चाहिए । इससे बढ़कर नमस्कार और क्या हो सकता है ?'

यह बात वर्षों पूर्व जैनों एवं ब्राह्मणों के बीच हुई थी, तब एक समर्थ जैनाचार्य का यह जवाब था, **वे जैनाचार्य थे कुमारपाल प्रतिबोधक कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी ।**

–सिद्धहेमशब्दानुशासनम् ग्रंथ कलिकाल सर्वज्ञ की एक अद्भूत कृति है । सिद्धराज ने मालवा पर चढ़ाई की थी, वर्षों बाद वि.सं. 1192 में उसने जीत हासिल की थी । जब वह अपनी राजधानी में वापिस लौटा, तब सभी दर्शन के धर्माचार्यों ने राजा को आशीर्वाद दिए थे ।

हेमचन्द्राचार्यजी के आशीर्वचनों से वह गद्गद हो गया था । **हेमचन्द्राचार्यजी** ने कहा था–

भूमिं कामगवि ! स्वगोमय रसैरासिञ्च रत्नाकरा !
मुक्ता स्वस्तिक-मातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुंभी भव !
धृत्वा कल्पतरोर्ददलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा
न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिप: ।

सिद्धराज मालवा को जीतकर लौटा परन्तु वहां की संस्कृति और साहित्य में पराजित होकर लौटा हो, ऐसा उसे लगा ।

उज्जैन के ग्रंथ भंडार और विपूल साहित्य सामग्री के आगे उसे सोलंकी का पाटनगर शुष्क और दरिद्रसा लगा । उसे मालवा देश की सर्वोपरिता प्राप्त करने की जिज्ञासा पैदा हुई ।

एक बार मालवा देश से लाए हुए पुस्तकों में व्याकरण को देखा । उसे गुरु को बताकर पूछा, **'यह क्या है ?'**

गुरु ने कहा, **``राजन् ! भोज का व्याकरण है ।''**

सिद्धराज ने कहा, **`अपने ज्ञान भंडारों में ऐसे शास्त्र नहीं है ?'**

गुरु ने कहा, **`नहीं ।'**

सिद्धराज ने अपने पंडितवर्ग पर नजर डाली परन्तु किसी में भी नवीन व्याकरण रचने की हिम्मत नहीं थी ।

अंत में सिद्धराज की नजर कलिकाल सर्वज्ञ पर पडी ।

पूज्य श्री को नवीन व्याकरण रचने की विनती की । राजा की प्रार्थना का स्वीकार कर हेमचंद्राचार्यजी ने कहा, **`व्याकरण को सांगोपांग शुद्ध करने के लिए श्री भारती देवी के भंडार में रही आठ पुस्तकें मंगानी पडेगी ।'**

राजा ने अपने प्रधान पुरुषों को काश्मीर भेजा । वहाँ भारती देवी की स्तुति कर पुस्तकों की मांग की । देवी ने प्रसन्न होकर वे पुस्तकें प्रदान की ।

–हेमचन्द्राचार्यजी ने पाणिनी आदि आठ व्याकरणों का गहन अवलोकन कर श्री सिद्धहैम नाम के आठ अध्याय युक्त अद्भूत व्याकरण की रचना की ।

–शब्दानुशासनम् का अभ्यास करना हो तो भी कम से कम डेढ वर्ष का समय लगता है, जबकि कलिकाल सर्वज्ञ ने अपनी अद्भुत प्रतिभा और तीव्र मेधाशक्ति से एक ही वर्ष में पांच अनुशासन अर्थात् **(1) शब्दानुशासनम् (2) काव्यानुशासनम् (3) लिंगानुशासनम् (4) छंदोनुशासनम् तथा (5) अभिधान चिंतामणि ।**

शब्दानुशासनम् में 6000 श्लोक प्रमाण लघुवृत्ति, 12000 श्लोक प्रमाण मध्यमवृत्ति, तथा 18000 श्लोक प्रमाण बृहद्वृत्ति की रचना की थी ।

भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने अपने भाषण में कहा था, **`राजा नीचे चलता हो और ग्रंथ को हाथी की अंबाडी पर रखा हो, और वह घटना है ।**

सिद्धहेमशब्दानुशासनम् की 12 वीं सदी में निकली रथ यात्रा, जिसमें सिद्धराज जयसिंह नीचे चलता था और सिद्धहेमशब्दानुशासनम् को हाथी पर रखा था ।

विक्रम की 12 वीं सदी के उत्तरार्द्ध और तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध को अपनी असाधारण सर्वतोमुखी प्रतिभा और चिरंजीवी साहित्य रचना द्वारा प्रकाशित करने वाले कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य थे ।

–पूज्यश्री की प्रतिभा की जैन-अजैन विद्वानों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की हैं–

गुजराती साक्षर **`धूमकेतु'** ने **हेमचन्द्राचार्य** पुस्तक के पृष्ठ नं. 7 पर लिखा हैं, –`रामदास के बिना शिवाजी महाराज, कुलगुरु कालिदास के बिना विक्रमराजा, धनपाल के बिना राजा भोज का जीवन शुन्य लगता हैं, उसी प्रकार साधु हेमचंद्राचार्यजी के बिना सिद्धराज और कुमारपाल का जीवन शुन्य लगता है ।

सिद्धराज जयसिंह को हेमचन्द्राचार्यजी नहीं मिले होते तो उसकी पराक्रम गाथा

वाल्मिकी बिना की रामकथा जैसी होती ।

हेमचंद्राचार्यजी के बिना गुजराती भाषा के जन्म की कल्पना भी नहीं हो सकती, उनके बिना गुजराती को जागृत रखने की संस्कारिता की कल्पना भी नहीं कर सकते है ।

हेमचंद्राचार्यजी के बिना सोलंकियों का इतिहास लडाइयों का इतिहास बन जाता ।

हेमचंद्राचार्यजी के बिना दुनिया के साहित्य-इतिहास में रखने योग्य व्यक्ति गुजरात के पास बहुत ही कम हैं ।

हेमचन्द्राचार्यजी के बिना गुजराती भाषा का इतिहास अपूर्ण और अकिंचन लगता है ।

जिस प्रकार पारसमणि का स्पर्श होते ही लोहे के रूप-रंग व मूल्य में असाधारण परिवर्तन आ जाता है और वह सुवर्णरूप बन जाता है, उसी प्रकार कलिकालसर्वज्ञ की कलम के स्पर्श से सामान्य में सामान्य घटना भी असाधारण बन जाती हैं ।

इसी बृहद्वृत्ति के प्रथम सूत्र में पूज्यश्री ने कमाल की है ।

'अर्हम्' इस सूत्र में पंच परमेष्ठी अथवा अरिहंत को नमस्कार कर मंगल किया है, परन्तु यह मंगल तो जैन ही स्वीकार करेंगे, जब कि यह ग्रंथ सर्वमान्य तभी बन सकता है जब सभी के इष्टदेव को नमस्कार करने में आए ।

इसी कारण

अकारेणोच्यते विष्णुः, रेफे ब्रह्म व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तः, तदन्ते परमं परम् ।

'अ' से विष्णु **'र'** से ब्रह्मा और **'ह'** से महेश को नमस्कार किया गया हैं ।

व्याकरण के 5-4-28 का सूत्र हैं–

''विधि निमन्त्रणाऽऽ मन्त्रणा उद्दीष्ट-सम्प्रश्न-प्रार्थने ।''

कई बार आमंत्रण और निमंत्रण का अर्थ-

सभी **'पधारना'** इतना ही करते हैं जबकि इस सूत्र की टीका में बताया हैं–

प्रेरणायामेव यस्यां प्रत्याख्याने प्रत्यवायस्तन्निमन्त्रणम्
द्विसन्ध्यमावश्यकं कुर्यात् ।
यत्र प्रेरणायामेव प्रत्याख्याने कामचारस्तदामन्त्रणम्
इहासीन, आस्ताम् ।।

जहा अत्यंत जरूरी हो वहां निमंत्रण तथा जहां मात्र व्यवहार दिखाने के लिए अथवा आपकी इच्छा हो तो **'पधारना'** वहां आमंत्रण अर्थात् कर्मबंध के भौतिक प्रसंगों में आमंत्रण और धार्मिक प्रसंगों में निमंत्रण शब्द का प्रयोग किया जाता हैं ।

6-2-101 सूत्र देवता से जैन शब्द बना हैं । मारवाड-राजस्थान में वद पक्ष से महिने का प्रारम्भ होता है, जबकि गुजरात में सुद पक्ष से महिना प्रारम्भ होता हैं तो फिर अमावस्या को महिना पूरा होता है या पूर्णिमा को ?

इस समस्या का समाधान क्या ?

हेमचन्द्राचार्यजी ने इस समस्या का समाधान करते हुए, 6-2-19 **'साऽस्य पौर्णमासी'** में कहा हैं–

'पोषो मासोऽर्द्धमासो वा' पूनम का महिना पूर्ण भी कह सकते है और आधा भी ।

ऐसे अद्भूत व्याकरण ग्रंथ की बृहद्वृत्ति लघुन्यास सहित का सुंदरतम संपादन आज से 40 वर्ष पूर्व **पू. पंन्यास प्रवर श्री वज्रसेनविजयजी म.** ने किया था, उसी समय पूज्यश्री के दाहिना हाथ बनकर, मैत्रीभाव के परम उपासक **पूज्यपाद पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी म.सा.** के अंतिम शिष्यरत्न **मुनिराज श्री रत्नसेनविजयजी म.सा.** (वर्तमान में **आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**) सह संपादन के रूप में सहयोगी बने थे ।

उसी ग्रंथ का हिन्दी साहित्यकार, जो जैन हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ सर्जक है, ऐसे प. **पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.** पुनः संपादन कर पुनः प्रकाशित करवा रहे हैं, जो खूब आनंद की बात हैं ।

पूज्यश्री के साथ हमारा बहुत पुराना-मैत्रीभाव पूर्ण संबंध है फिर भी आचार्य भगवंत ने इस ग्रंथ की प्रस्तावना के लिए मुझे पसंद किया, यह अत्यंत भाव सभर व उत्साहवर्धक बात है । जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर **पू. आचार्य भगवंत** द्वारा चारों भागों में संपादित प्रस्तुत ग्रंथ को सहर्ष स्वीकार करते हुए हृदय आनंद से भर आया है ।

हिन्दी पुस्तकों की तरह ऐसे संस्कृत भाषा में सुंदर व उपयोगी ग्रंथों की भेंट प्रतिवर्ष प्राप्त होती रहे, ऐसी विद्वद्वर्य आचार्य भगवंत के पास अपेक्षा है ।

स्वाध्याय प्रेमी विद्यार्थियों की इस मांग को आचार्यश्री पूर्ण करेंगे, इसी मंगल कामना के साथ आचार्यश्री को सादर सविनय वंदना ।

सीमंधर धाम
चैत्र वदी-10, वि.सं. 2081,
दि. 23-4-2025

पू. नीतिसूरि समुदायवर्ती
गच्छाधिपति **प.पू.आ.श्री ललितप्रभसूरिजी म.सा.** के
शिष्य
पं. हेमहर्षविजय

॥ अर्हम् ॥

संपादक की कलम से...

आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

अनंतज्ञानी, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवंतोंने ज्ञान के पाँच भेद बतलाए हैं–(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मन: पर्यवज्ञान और (5) केवलज्ञान ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में मति और श्रुतज्ञान आत्म-परोक्ष हैं और अवधि, मन:पर्यव और केवलज्ञान आत्म-प्रत्यक्ष है ।

❖ छद्मस्थ आत्मा को इन पाँचों ज्ञानों में से चार ज्ञान संभव / शक्य हैं । केवलज्ञान की प्राप्ति एकमात्र वीतराग आत्मा को ही होती है ।

❖ इन पाँच ज्ञानों में से प्रथम चार ज्ञान का विषय मर्यादित / सीमित है, जबकि केवलज्ञान का विषय अनंत है । केवलज्ञान के द्वारा आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों के समस्त पर्यायों को साक्षात् जान सकती है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** की ही अभिव्यक्ति हो सकती है, शेष चार ज्ञान मूक हैं ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में परोपकार में समर्थ एकमात्र **'श्रुतज्ञान'** ही है शेष चार ज्ञान स्वोपकार प्रधान है ।

❖ इन पाँचों ज्ञानों में से एकमात्र श्रुतज्ञान का ही आदान-प्रदान हो सकता है, शेष चार ज्ञानों का नहीं ।

जैनशासन का लोकोत्तर-व्यवहार मार्ग 'श्रुतज्ञान' के ऊपर ही अवलंबित है और इस व्यवहार का पालन तीर्थंकर परमात्मा और अन्य केवली भगवंत भी करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी समवसरण में बैठकर देशना के प्रारम्भ में **'नमो तित्थस्स'** कहकर द्वादशांगी रूप **'श्रुतज्ञान'** को नमस्कार करते हैं ।

❖ तीर्थंकर परमात्मा भी केवलज्ञान द्वारा दृष्ट जगत् के भावों का निरूपण **'द्रव्य-श्रुत'** के माध्यम से ही करते है । इसीलिए प्रभु की वाणी **'सम्यग्श्रुत'** स्वरूप है ।

❖ जैनागमों में **'नमो बंभीलिवीए'** कहकर श्रुत की जननी-स्वरूप ब्राह्मी-लिपि को भी नमस्कार किया गया है ।

❖ 'श्रुत' के सम्यग् बोध के लिए और द्वितीय महाव्रत के पालन / रक्षण व संवर्धन के लिए व्याकरण का सम्यग्बोध अत्यंत ही जरूरी है ।

'प्रश्नव्याकरण' रूप दसवें अंग में कहा गया है–

अह केरिसयं पुणाइ सच्चं भासिअव्वं ?
जं तं दव्वेहिं पज्जवेहिं य गुणेहिं कम्मेहिं बहुविहेहिं

सिप्पेहिं आगमेहिं य नामक्खायनिवायउवसग्ग-तद्धिअ-समास-संधि-पदहेतु-जोगिय-उणाइ-किरिआविहाण-धातु-सर-विभत्ति-वण्णजुत्तं तिकल्लं दसविहं सच्चं....वत्तव्वं । (सूत्र 24)

अर्थ :– हे भगवंत ! किस प्रकार का सत्य बोलना चाहिये ?

(भगवान–) जो द्रव्य, पर्याय, गुण, कर्म, बहुविधशिल्प तथा आगम से युक्त हो और नाम, आख्यात, उपसर्ग, तद्धित, समास, संधि, पदहेतु, योगिक, उणादि, क्रिया-विधान, धातु-स्वर, विभक्ति और वर्ण से युक्त हो, वैसा त्रिकालविषयक दसविध सत्य बोलना चाहिये ।

इस आगम-प्रमाण से स्पष्ट है कि मोक्षाभिलाषी मुमुक्षु आत्मा को श्रुत के सम्यग् बोध के लिए व्याकरण-शास्त्र का अवश्य अभ्यास करना चाहिये ।

महोपाध्याय श्रीमद् विनयविजयजी म. ने **'हैमलघुप्रक्रिया'** के मंगलाचरण में **'श्री हैमव्याकरण'** को भी नमस्कार किया है और उन्होंने युक्ति-प्रयुक्ति के द्वारा उसकी नमस्करणीयता को सिद्ध किया है ।

'श्रीहैमव्याकरण' सम्यग्दृष्टि द्वारा प्रणीत होने से श्रुतज्ञान रूप है और सकल शास्त्रों की व्युत्पत्ति बोध में हेतु रूप होने से लोक में भी महान् उपकारी है, अत: उसको नमस्कार समुचित ही है और यह व्याकरण सरस्वती रूप होने से व्याकरण को नमस्कार करने से सरस्वती को भी नमस्कार हो जाता है ।

व्याकरण की महिमा का गान करते हुए किसी विद्वान् ने ठीक ही कहा है–

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां, शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोध: शब्दानां, नास्ति व्याकरणं विना ॥

अर्थ :– विषयक प्रवृत्ति के रहस्य में शब्द ही कारण हैं और शब्दों का वास्तविक बोध व्याकरण के बिना संभव नहीं है ।

व्याकरण के सम्यग् बोध के अभाव में वाणी के विचित्र (उपहास्य) प्रयोगों पर कटाक्ष करते हुए किसी कवि ने ठीक ही कहा है–

नाङ्गीकृतं व्याकरणौषधानां, अपाटवं वाचि सुगूढमास्ते ।
कस्मिंश्चिदुक्ते तु पदे कथंचित् स्वैरं वपु: स्विद्यति वेपते च ॥

भावार्थ :– 'जिन व्यक्तियों ने व्याकरण रूप औषध का सेवन नहीं किया है, उनकी वाणी में अत्यंत अपटुता होती है और इस कारण जब वे किसी व्याकरणविद् के मुख से कोई पद / वाक्य सुनते हैं...तो उस वाक्य के अनवबोध के कारण उनके देह में पसीना छूटने लगता है और उनकी देह काँपने लगती है ।'

अस्तु ! विद्वज्जन के आगे व्याकरण की महिमा का गान, यह तो माता के सामने, मामा के घर के वर्णन समान ही है, क्योंकि विद्वज्जन व्याकरण के माहात्म्य से सुपरिचित ही होते हैं ।

प्रस्तुत **'श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के ग्रन्थकर्ता कलिकालसर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** के पुण्यनाम से भला कौन अपरिचित होगा ? वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी

थे । गुर्जरसम्राट् सिद्धराज और परमार्हत् कुमारपाल को प्रतिबोध कर, उन्होंने जिनशासन की अद्‌भुत प्रभावना की हैं । उनके विराट् व्यक्तित्व का परिचय वाणी से अगोचर है, फिर भी प्राचीन और अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनके विराट् व्यक्तित्व को आंशिक रूप से शब्द-देह देने का प्रयास किया है ।

'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्' के तृतीय भाग में मैंने ग्रंथकार का संक्षिप्त जीवन-परिचय देने का अल्प प्रयास किया है, परन्तु वह परिचय तो बालक द्वारा अपने हाथ पसार कर उदधि / सागर का माप बतलाने तुल्य ही है ।

कलिकालसर्वज्ञ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य भगवंत के विराट् व्यक्तित्व का परिचय देने वाली तत्कालीन विद्वानों की अनेक काव्य-पंक्तियाँ इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों पर अंकित हैं, उनमें से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्‌धृत की जा रही है—

विराट् आत्मा का विराट् व्यक्तित्व और अद्‌भुत कृतित्व

(1) **सम्यग्ज्ञाननिधेर्गुणैरनवधेः श्रीहेमचन्द्रप्रभोः ।**
ग्रंथे व्याकृतिकौशलं, वसति तत् क्वास्मादृशां तादृशं ।।

अर्थ :— सम्यग्ज्ञान के निधि और गुणों से अवधि रहित श्री हेमचन्द्रप्रभु के ग्रन्थ में जो व्याकृति (व्याकरण-शब्दविज्ञान) का कौशल है, वैसा कौशल हमारे जैसे में कहाँ से हो ?

—श्री महेन्द्रसूरि कृत अनेकार्थ-कैरव कौमुदी

(2) **विद्याम्भोनिधिमंथमंदरगिरिः श्रीहेमचन्द्रो गुरुः ।**

— श्री देवचन्द्रसूरि कृत चन्द्रलेखा नाटक

अर्थ :— विद्या रूपी समुद्र को मथने के लिए श्री हेमचन्द्र गुरु मंदरगिरि के समान हैं ।

(3) **क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं, छन्दो नवं द्व्याश्रया-**
ऽलंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितौ श्री योगशास्त्रं नवं ।
तर्कः संजनितो नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
बद्धं येन न केन केन विधिना, मोहः कृतो दूरतः ।।

अर्थ :— नवीन व्याकरण, नवीन छन्दोनुशासन, नवीन द्व्याश्रयमहाकाव्य, अलंकार शास्त्र, योग-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र तथा जिनेश्वर देवों के चरित्रों की रचना करके (श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी ने) किस-किस प्रकार से अपना मोह दूर नहीं किया है ? अर्थात् अनेक प्रकार से दूर किया है ।

— श्री सोमप्रभसूरिकृत शतार्थकाव्य-टीका श्लोक 93

(4) **निःसीमप्रतिभैकजीवितधरौ, निःशेषभूमिस्पृशां,**
पुण्यौघेन सरस्वतीसुरगुरू, स्वांगैकरूपौ दधत् ।
यः स्याद्वादमसाधयन् निजवपुर्दृष्टान्ततः सोऽस्तु मे,
सद्बुद्ध्यम्बुनिधिप्रबोधविधये, श्रीहेमचन्द्रः प्रभुः ।।1।।

ये हेमचन्द्रं मुनिमेतदुक्तग्रन्थार्थ-सेवामिषतः श्रयन्ते ।
संप्राप्य ते गौरवमुज्ज्वलानां, पदं कलानामुचितं भवन्ति ।।

—श्री मल्लिषेणसूरिकृत स्याद्वादमंजरी

अर्थ :— समस्त पृथ्वीवासियों की पुण्यराशि को इकट्ठी करके असीम प्रतिभा से एक जीवित धारण करने वाली सरस्वती और बृहस्पति को जिन्होंने अपने शरीर में एक रूप करके धारण किया है और अपने देह के दृष्टांत से जिन्होंने स्याद्वाद को सिद्ध किया है, ऐसे चन्द्रतुल्य श्री हेमप्रभु मेरी सद्बुद्धिरूपी सागर के प्रबोध (विकास) के लिए चन्द्र समान हो ।

जो इस ग्रन्थ के अर्थ की सेवा के बहाने से श्री हेमचन्द्रमुनि का आश्रय लेते हैं, वे गौरव प्राप्तकर उज्ज्वल कलाओं के उचित स्थान रूप बनते है ।

(5) जयसिंहदेववयणाउ, निम्मियं सिद्धहेमवागरणं ।
नीसेससद्दलक्खणनिहाणमिभिणा मुणिंदेण ।।

अर्थ :— जयसिंह (सिद्धराज) राजा के वचन से इस मुनीन्द्र के द्वारा समस्त शब्द लक्षण के निधान स्वरूप सिद्धहैम व्याकरण रचा गया ।

(6) किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम् ।
एकेनापि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम् ।।

अर्थ :— शब्द-समुद्र रूप हेमचन्द्रमुनि की बुद्धि की क्या स्तुति करें (कैसे स्तुति करें ?) ? क्योंकि जिन्होंने अकेले ही ऐसे (महान्) शब्दानुशासन की रचना की है ।

(7) शब्द-प्रमाण-साहित्य-छन्दो-लक्ष्म-विधायिनां ।
श्रीहेमचन्द्रपादानां, प्रसादाय नमो नमः ।।

अर्थ :— शब्द, प्रमाण, साहित्य, छंद और व्याकरण के विधायक, श्री हेमचन्द्र भगवंत के प्रसाद गुण को बारबार नमस्कार हो ।

— श्री रामचन्द्रसूरि तथा श्री गुणचन्द्रसूरि कृत नाट्यदर्पण

(8) तुलीय-तवणिज्ज-कती-सयवत्त-सवत्त-नयण-रमणिज्जा ।
पल्लविय-लोयलोयण-हरिसप्पसरा सरीर-सिरी ।।1।।
आबालत्तणओ बिहु चारित्तं जणिय-जण-चमक्कारं ।
बावीस-परिसहसहण-दुद्धरं तिव्व-तव पवरं ।।2।।
मुणिय-विसमत्थसत्था-निमियवायरण-पमुह-गंथगणा ।
परवाइ पराजय-जायकित्तीमई जयपसिद्धा ।।3।।
धम्म पडिवत्तिजणणं, अतुच्छ-मिच्छत्त मुच्छिआणं पि ।
महु-खीरपमुह-महुरत्त-निम्मियं धम्मवागरणं ।।4।।
इच्चाइ गुणोहं हेमसूरिणो, पेच्छिऊण छेयजणो ।
सद्दवहइ अदिट्ठे वि हु तित्थंकर-गणहरप्पमुहे ।।5।।

अर्थ :— शतपत्र अर्थात् कमल समान नयन से रमणीय और लोगों के नयनों में हर्ष के प्रसार को पल्लवित करने वाली जिनकी शारीरिक संपदा तपनीय अर्थात् सुवर्ण की कांति के समान थी ।।1।।

बाल्यकाल से ही जिनका चारित्र लोगों में चमत्कार पैदा करने वाला और बावीस परीषहों को सहन करने से दुर्जय और तीव्र तप के कारण उत्तम था ।।2।।

विषमार्थ शास्त्र के बोध वाली, व्याकरणादि ग्रंथों को रचने वाली और परवादी का पराजय कर कीर्ति प्राप्त करने वाली जिनकी बुद्धि थी ।।3।।

मिथ्यात्व से मूर्च्छित बने हुओं को भी धर्मबोध देने वाला जिनका धर्मकथन अतुच्छ और मधु-क्षीर प्रमुख माधुर्य वाला था—इत्यादि गुणों वाले हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत को देखकर, चतुर-निपुणजन अदृष्ट तीर्थंकर और गणधर भगवंतों पर भी श्रद्धा करते हैं ।।4-5।।

—श्री सोमप्रभसूरि कृत प्रबंध

(9) **सप्तर्षयोऽपि सततं गगने चरन्तो, रक्षुं क्षमा न मृगीं मृगयोः सकाशात् ।**
जीयाच्चिरं कलियुगे प्रभुहेमसूरि-रेकेन येन भुवि जीववधो निषिद्धः ।।

—विविधगच्छीय पट्टावली संग्रह

अर्थ :— आकाश में सतत घूमने वाले सप्तर्षि भी शिकारी के पास से हरिणी का रक्षण करने में समर्थ न बन सके, जबकि कलियुग में प्रभु हेमचन्द्राचार्यजी ने अकेले ही पृथ्वी पर जीववध का निषेध करा दिया, ऐसे हेमचन्द्र प्रभु दीर्घकाल तक जय पाए ।

(10) **गुरुर्गुर्जरराजस्य, चातुर्विद्यैकसृष्टिकृत् ।**
त्रिषष्टिनरसद्वृत्तकविर्वाचां न गोचरः ।।

—श्री मुनिरत्नसूरि कृत अममचरित्र

अर्थ :— गुर्जर सम्राट् के गुरु, चार प्रकार की विद्याओं का सर्जन करने में विशिष्ट और त्रिषष्टिशलाका पुरुषों के पवित्र चरित्र को लिखने में कवि ऐसे **श्री हेमचन्द्राचार्यजी** वाणी से अगोचर हैं अर्थात् इस वाणी द्वारा उनकी स्तुति शक्य नहीं है ।

(11) **वैदुष्यं विगताश्रयं श्रितवति श्रीहेमचन्द्रे दिवम् ।**

—राजकवि सोमेश्वरदेवरचित सुरथोत्सव

अर्थ :— श्री हेमचन्द्र प्रभु के स्वर्ग-गमन पर विद्वत्ता आश्रयरहित हो गई ।

प्रचंड प्रतिभा के स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ **श्रीमद् हेमचन्द्राचार्यजी** भगवंत की दैविक-प्रतिभा के दर्शन हमें उनकी कृतियों में मिलते हैं । प्राचीन-अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने उनकी काव्य-कृतियों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है ।

संस्कृतभाषा-बोध के लिए आज तक अनेक व्याकरण-ग्रन्थ रचे गए हैं, उन ग्रन्थों में इस व्याकरण-ग्रन्थ की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो अध्यापक व पाठकगण स्वयं ही समझ सकते हैं ।

`सिद्धहेम' के अध्ययन-अध्यापन में उपयोगी कतिपय प्राचीन-अर्वाचीन ग्रंथों की यहाँ सूची दी जा रही है–

1. क्रियारत्न-समुच्चय–**आ. गुणरत्नसूरि कृत** (सं. 1466)
2. स्यादि-समुच्चय-**आ. अमरचन्द्रसूरि कृत**
3. हैमविभ्रम-सटीक–**आ. गुणचन्द्रसूरि कृत**
4. हैमविभ्रम-सवृत्तिक–**आ. जिनप्रभसूरि कृत**
5. लिंगानुशासनवृत्ति–**आ. जयानंदसूरि कृत**
6. लिंगानुशासनदुर्गपदप्रबोधवृत्ति–**श्री वल्लभगणि कृत**
7. हैम-कविकल्पद्रुम–**पं. हर्षकुलगणि कृत**
8. स्यादिशब्ददीपिका–**आ. जयानंदसूरि कृत**
9. प्राकृतशब्द समुच्चय–**आ. अमरचंद्रसूरि कृत**
10. द्व्याश्रय-काव्यवृत्ति (संस्कृत)–**उपा. अभयतिलकगणि कृत**
11. द्व्याश्रयवृत्ति-प्राकृत–**पं. पूर्णकलश गणि कृत**
12. न्यायसंग्रह-न्यायार्थ मंजूषा न्यास–**हेमहंस गणि कृत**
13. अभिधान-चिंतामणि निर्णीति–**महो. भानुचन्द्र गणि कृत**
14. अभिधान-चिंतामणि-सारोद्धारवृत्ति–**श्री वल्लभ गणि कृत**
15. हैमीनाममाला–**आ. जिनदेवसूरि कृत**

सिद्धहेम पर से अवतरित व्याकरण–

1. सिद्ध सारस्वत–**आ. देवानंदसूरि कृत (सं. 1334)**
2. हैमलघुप्रक्रिया–**महो. विनयविजय गणि कृत (सं. 1712)**
3. हेमप्रक्रिया प्रकाश–**महो. विनयविजय गणि कृत**
4. चन्द्रप्रभा (हैमकौमुदी)–**महोपाध्याय मेघविजय गणि कृत (सं. 1758)**
5. हेमशब्दचन्द्रिका–**महो. मेघविजय गणि**
6. हैमप्रक्रिया–**वीरसी कृत**
7. बृहद् हेमप्रभा–**आ. विजयनेमिसूरि कृत**
8. सिद्ध प्रभा–**आ. सागरानंदसूरि कृत**
9. हेमबृहत् प्रक्रिया–**पं. गिरिजाशंकर शास्त्रीकृत**
10. हेमसंस्कृतप्रवेशिका (गुजराती)–**पं. शिवलाल कृत**

न्याय सारसमुद्धार (लघुन्यास) के कर्त्ता का संक्षिप्त परिचय–

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यजी भगवंत विरचित **`श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** के बृहन्न्यास में से पू. आचार्य श्री कनकप्रभसूरीश्वरजी म.सा. का परिचय देना भी अत्यंत अनिवार्य है। प्राचीन इतिहास के ग्रंथों के अवलोकन के बाद भी उनके जीवन संबंधी विशेष

जानकारी तो नहीं मिल पाई है, फिर भी न्याससार समुद्धार के अन्त में प्रशस्ति काव्यों के द्वारा उनकी विद्वत्ता का हमें अवश्य बोध होता है ।

प्रशस्तिकाव्य–

आसीद् वादिद्विरदपृतनापाटने पञ्चवक्त्र,
श्चान्द्रेगच्छेऽच्छतरधिषणो धर्म्मसूरिर्मुनीन्द्रः ।
पट्टे तस्याजनि जनमनोऽनोकहानन्दकन्दः,
सूरि सम्यग्गुणगणनिधिः ख्यातिभाग् रत्नसिंह ।।1।।
यस्योपरागसीमाया-मुदयः परभागभाग् ।
देवेन्द्रसूरिस्तत्पट्टे जज्ञे नव्य नभोमणिः ।।2।।
भूपालमौलिमाणिक्य-मालालालितशासनः ।
दर्शनषट्कनिस्तन्द्रो, हेमचन्द्रो मुनीश्वरः ।।3।।
तेषामुदयचन्द्रोऽस्ति, शिष्यःसंख्यावतां वरः ।
यावज्जीवमभूद्यस्य, व्याख्याज्ञानामृतप्रपा ।।4।।
तस्योपदेशाद् देवेन्द्रसूरिशिष्यलवो व्यधात् ।
न्याससारसमुद्धारं, समनीषी कनकप्रभः ।।5।।

अर्थ :– चान्द्रगच्छ में वादी रूपी हाथियों की सेनाओं को फाड़ने में सिंह समान अत्यंत बुद्धि निधान आचार्य धर्मसूरि थे ।

जन-मन रूपी वृक्ष के आनंद रूपी कंद वाले सम्यग् गुण गण के महासागर और अत्यंत प्रसिद्ध रत्नसिंहसूरि उनके पट्टधर थे ।

``उपराग अर्थात् विपक्षाक्रमण की पराकाष्ठा में जिनका उदय गुणोत्कर्ष को भज रहा था, ऐसे नवीन सूर्य समान देवेन्द्रसूरिजी म. उनके पट्ट पर पैदा हुए । नवीनता का कारण यह है कि राहु ग्रहण की पराकाष्ठा में सूर्य तेजस्विताहीन उदित होता है, जबकि देवेन्द्रसूरिजी म. परवादियों के आक्रमण में अधिक दीप्तिमान हो रहे थे ।

माणिक्य की श्रेणी से सुशोभित मुकुट वाले राजा भी जिनकी आज्ञा का स्वीकार करते थे, ऐसे षड्दर्शन के ज्ञाता श्री हेमचन्द्रसूरिजी हुए ।

उनके अनेक शिष्यों में उदयचन्द्र नाम के शिष्य है, जो सदैव जीवन-पर्यन्त व्याख्या ज्ञान रूपी अमृत की प्रपा (प्याऊ) थे ।

उनके उपदेश से देवेन्द्रसूरि के शिष्य मनीषी कनकप्रभ ने न्याससारसमुद्धार की रचना की ।''

उपर्युक्त प्रशस्ति-काव्यों से स्पष्ट होता है कि **श्री हेमचन्द्रसूरिजी आचार्य भगवंत** के शिष्य पंडित उदयचन्द्र गणि की सत्प्रेरणा से **आचार्य देवेन्द्रसूरिजी** के शिष्य मनीषी पू. कनकप्रभमुनि ने **'न्याससारसमुद्धार'** की रचना की है ।

पू. कनकप्रभमनीषी चान्द्रगच्छ के अन्तर्गत राजगच्छ में हुए हैं ।

चान्द्रगच्छ में आचार्य धर्मघोषसूरि नाम के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है, जिनका दूसरा नाम 'धर्मसूरि' था । वे व्याकरण के पारगामी, न्याय-शास्त्र में निष्णात, सूत्र-अर्थ के समर्थ व्याख्याता और अपूर्व बुद्धिशाली थे । वे महावादी थे । अंबिका देवी के कृपा-पात्र थे ।

नागौर के राजा आल्हण, शाकंभरी के राजा अजयराज, अर्णोराज तथा विग्रहराज को उन्होंने प्रतिबोध किया था । उनके उपदेश से प्रभावित होकर विग्रहराज ने जैनधर्म स्वीकार किया था, और उसने अपने राज्य में पर्व-दिनों में अमारि पालन करवाया था ।

पू. आचार्य धर्मघोषसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. रत्नसिंहसूरिजी म. थे । वे भी अत्यंत प्रभावक और प्रतिभा संपन्न थे । उन्होंने भी अपने जीवन में अनेक ग्रन्थों की रचना की है ।

पू.आ. श्री रत्नसिंहसूरिजी म. के पट्टधर पू.आ. श्री देवेन्द्रसूरि हुए और उनके शिष्य पं. कनकप्रभ महर्षि थे । वे भी प्रतिभावंत और जिनशासन के अनुरागी थे ।

`जैन धर्म के रहस्य को समझना हो तो उसके लिए संस्कृत-प्राकृत भाषा का ज्ञान खूब जरुरी है, क्योंकि सभी आगम ग्रंथ प्राकृत भाषा में है और उन आगमों के रहस्य को जानना हो तो आगमों पर विवेचित टीकाएँ एवं अन्य पूर्वाचार्य विरचित ग्रंथों का अभ्यास जरुरी है और वे सभी ग्रंथ एवं टीकाएँ संस्कृत भाषा में है ।

☙ संस्कृत भाषा को समझने के लिए व्याकरण का बोध जरुरी है ।

☙ संस्कृत भाषा के सामान्य साहित्यबोध के लिए संस्कृत की दो बुक का अभ्यास पर्याप्त हैं, परंतु शब्दों के गहन रहस्य तक पहुंचना हो तो संस्कृत व्याकरण का बोध खूब जरुरी है ।

☙ प्रांतीय भाषाओं का स्वरुप समय समय पर बदलता रहता है ।

☙ 350 वर्ष पूर्व हो चूके महोपाध्याय यशोविजयजी म. के गुजराती टबा आदि की भाषा और वर्तमान की गुजराती भाषा में बहुत बडा अंतर है ।

परंतु संस्कृत भाषा का साहित्य, चिरंजीवी है । सैकडों हजारों वर्षों के बाद भी उस भाषा में परिवर्तन को अवकाश नहीं है ।

☙ आगम एवं पूर्वाचार्य विरचित संस्कृत साहित्य को समझने के लिए व्याकरण के बोध की उतनी ही आवश्यकता है ।

प्रस्तुत संपादन

वि.सं. 2033 में मेरी भागवती दीक्षा के बाद मेरे निरंतर चार चातुर्मास पाटण (उ.गु.) में हुए थे । पूज्यपाद गुरुदेव अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** की आज्ञा एवं मेरे आत्महितैषी **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** के मार्गदर्शनानुसार मैंने

पंडितवर्य शिवलालभाई के पास **'सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्'** संस्कृत व्याकरण का अभ्यास किया था । वि.सं. 2035 में लघुवृत्ति के साथ बृहद्वृत्ति का भी अध्ययस चल रहा था ।

उस समय बृहद्वृत्ति के ऊपर बृहन्न्यास एवं लघुन्यास का भी निरीक्षण किया था ।

उस समय **पू.मु. श्री वज्रसेनविजयजी म.** ने मुझे न्याससार समुद्धार-लघुन्यास के संपादन के लिए प्रेरित किया था ।

बृहद्वृत्ति व लघुन्यास की प्रतियाँ जीर्णशीर्ण अवस्था में थी ।

वि.सं. 2040 के रतलाम चातुर्मास दरम्यान मैंने उस ग्रंथ की पाण्डुलिपी–Press Copy तैयार की थी, जिसका तीन भागों में प्रकाशन वि.सं. 2042 दीपावली पर्व के शुभदिन दानसूरिज्ञान मंदिर-कालूपूर रोड अहमदाबाद में सौजन्यमूर्ति पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय प्रद्योतनसूरीश्वरजी म.सा. की शुभ निश्रा में भव्य समारोह के साथ हुआ था ।

आज इस बात को 39 वर्ष बीत गए है । उन पुस्तकों की प्रतियाँ भी अप्राप्य हो गई है । उपलब्ध पुस्तके भी जीर्ण अवस्था में है ।

उन पुस्तकों की जीर्ण अवस्था को देखकर उनके पुनरुद्धार की भावना पैदा हुई ।

पुस्तक की मोटाइ Thickness को ध्यान में रखते हुए उन्हें चार भागों में एक साथ प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया ।

वि.सं. 2080 के पोसालिया (राज.) के चातुर्मास दरम्यान इस महाकाय ग्रंथ के पुनः संपादन का कार्य प्रारंभ किया गया ।

परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री की अदृश्य कृपा के फलस्वरुप 10 मास की अवधि में इन चारो भागों का संपादन कार्य पूर्ण हुआ ।

यद्यपि प्रुफ रीडिंग आदि में पूर्ण सावधानी बर्ती गई है, फिर भी मतिमंदता आदि के कारण कहीं भी त्रूटियां रह गई हो तो उसके लिए **त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् ।**

श्री नागेश्वर पार्श्वनाथ जैन तीर्थ
भद्रंकर नगर-लुणावा (राज.)
चैत्र वदी 10, वि.सं. 2081
दि. 23-4-2025 बुधवार

अध्यात्मयोगी पूज्यपाद पंन्यास
प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी
रत्नसेनसूरि

TABLE OF CONTENTS

अनुक्रमणिका

तत्र प्रथमोऽध्यायः

1. प्रथमः पादः 01
2. द्वितीयः पादः 35
3. तृतीयः पादः 55
4. चतुर्थः पादः 88

द्वितीयोऽध्यायः

5. प्रथमः पादः 135
6. द्वितीयः पादः 205
7. तृतीयः पादः 293
4. चतुर्थः पादः 344

	अर्हं	
	अनन्तलब्धिनिधानाय श्रीगौतमस्वामिने नमः	
	श्रीमद् दान-प्रेम-रामचन्द्र-भद्रङ्करसद्गुरुभ्यो नमः	

कलिकालसर्वज्ञश्रीहेमचन्द्रसूरिभगवत्प्रणीतं

|| श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् ||

[स्वोपज्ञ-तत्त्वप्रकाशिकाभिध-बृहद्वृत्ति-मनीषिकनकप्रभविरचित-
न्याससारसमुद्धार (लघुन्यास) संवलितम्]

तत्र प्रथमोऽध्यायः

अथ स्वोपज्ञतत्त्वप्रकाशिकाभिधा बृहद्वृत्तिः—

प्रणम्य परमात्मानं श्रेयः शब्दानुशासनम् ।
आचार्यहेमचन्द्रेण स्मृत्वा किञ्चित् प्रकाश्यते ||1||

अर्हं || 1. 1. 1 ||

अर्हंइत्येतदक्षरम्, परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकम्, सिद्धचक्रस्यादिबीजम्, सकलागमोपनिषद्भूतम्, अशेषविघ्नविघातनिघ्नम्, अखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपमम्, आशास्त्राध्ययनाध्यापनावधि प्रणिधेयम् । प्रणिधानं चानेनाऽऽत्मनः सर्वतः संभेदस्तदभिधेयेन चाभेदः । वयमपि चैतच्छास्त्रारम्भे प्रणिदध्महे । अयमेव हि तात्त्विको नमस्कार इति ||1||

अथ न्याससारसमुद्धारः—

प्रणम्य केवलालोकावलोकितजगत्त्रयम् ।
जिनेशं श्रीसिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासने ||1||
शब्दविद्याविदां वन्द्योदयचन्द्रोपदेशतः ।
न्यासतः कतिचिद्दुर्गपदव्याख्याऽभिधीयते ||2||

प्रणम्येत्यादि-इह निःशेषशेमुषीसमुन्मेष-निर्मितानेकविद्वज्जनमनश्चमत्कारि शास्त्रनिकर-

विस्मापितविशदप्रज्ञर्द्धिमहर्द्धिकानेकसूरिः निष्प्रतिमप्रतिभासंभारापहस्तितत्रिदशसूरिः श्रीकुमारपालक्ष्मापालप्रतिबोधविधाननिखिलक्षोणिमण्डलाभयप्रदानप्रभृतिसंख्यातिक्रान्तप्रभावनानिर्माणस्मृतिगोचरसंचरिष्णुकृतचिरन्तनवैरस्वाम्यादिप्रवरसूरिः सुगृहीतनामधेयः श्रीहेमचन्द्रसूरिर्निबिडजडिमग्रस्तं समस्तमपि विश्वमवलोक्य तदनुकम्पापरीतचेताः शब्दानुशासनं कर्तुकामः प्रथमं मङ्गलार्थमभिधेयादिप्रतिपादनार्थं चेष्टदेवतानमस्कारमाह-*प्रणम्येति*ननु प्रयोगोऽयं भावे कर्मणि वा ? उच्यते–भावे एव । तर्हि कथं परमात्मानमिति कर्म ? उच्यते–

सकर्मकाणामुत्पन्नस्त्यादिर्भावविवक्षया ।
अपाकरोति कर्मार्थं स्वभावान्न पुनः कृतः ॥3॥

नत्वेत्यनेनापि सिध्यति किं प्रकारेण ? प्रकारो मानसिकं द्योतयति उपहासनमस्कारं च निराकरोति–

नमस्यं तत् सखि ! प्रेम घण्टारसितसोदरम् ।
क्रमक्रशिमनिःसारमारम्भगुरुडम्बरम् ॥4॥ इत्यादिवत् ।

परमेति–परमात्मानमित्यत्र ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इति षष्ठी प्राप्नोति, परं ``तृन्नुदन्ता०'' (2. 2. 90.) इति निषेधः *श्रेय* इति ``प्रशस्यस्य श्रः'' (7. 4. 34.) इति श्रादेशविधानबलात् क्रियाशब्दत्वेनागुणाङ्गादपि प्रशस्यशब्दादीयस् । ``नैकस्वरस्य'' (7. 4. 44.) इति निषेधात् ``त्र्यन्त्यस्वरादे०'' (7. 4. 43.) नान्त्यस्वरादिलोपः । ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इत्यपि न प्रवर्तते । ``त्र्यन्त्यस्वरादेरनेकस्वरस्य'' (7. 4. 43.) इत्येकयोगेनैव सिद्धे पृथग्योगकरणमस्यापि बाधनार्थमिति । *शब्दानुशासनमि*ति अत्र कथं षष्ठीसमासः ``तृतीयायाम्'' (3. 1. 4.) इति निषेधात् ? सत्यम्*प्रत्यासत्ति*–न्यायेन यस्य कृत्प्रत्ययस्यापेक्षया षष्ठी यदि तदपेक्षयैव तृतीया स्यात्, अत्र तु प्रकाश्यत इत्यस्यापेक्षया तृतीया, अनुशासनइत्यपेक्षया च षष्ठीति न समासनिषेधः ।

*आचार्ये*ति–आचर्यते सेव्यते विनयार्थमिति ध्यण् 1, आचारे साधुः ``तत्र साधौ'' (7. 1. 15.) इति यः 2, आचारान् यातीति, ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डः 3, आचारानाचष्टे ``णिज् बहुलम्०'' (3. 5. 42.) इत्यनेन णिज्, आचारयतीति ``शिक्यास्याढ्य०'' (उणा० 364.) इत्यनेन निपात्यते 4, आचारान् गृह्णाति ग्राहयति वा ``कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) पृषोदरादित्वात् साधुः 5 । किमपि चिनोति क्विप्, किमः सर्वविभक्त्यन्तात् ``चित्-चनौ'' इति *किञ्चिदि*ति अखण्डमव्ययं वा । मौलोऽर्थः प्रतीत एव ।

अथ पूर्वार्धमावृत्त्या व्याख्यायते-परम् आत्मानं च *प्रणम्य* प्रह्वीकृत्य सावधानीकृत्येति योगः । किंविशिष्टं परम् ? श्रेयःशब्दाननुशासयति श्रेयःशब्दानुशासनस्तम्, किंविशिष्टं

चात्मानम् ? श्रेयःशब्दाननुशास्ति श्रेयःशब्दानुशासनस्तम् उभयत्र ``रम्यादिभ्यः०'' (5. 3. 126.) इत्यनट् । पूर्वं तावद् बौद्धोक्ता अतिशयाः कथ्यन्ते । परमात्मानमित्यनेन स्वार्थसंपत्तिः, स्वार्थ–संपत्त्युपायलक्षणश्च द्वौ, श्रेयः शब्दानुशासनमित्यनेन परार्थसंपत्तिः, परार्थसंपत्त्युपायलक्षणश्च द्वौ लभ्येते । एवं सर्वदर्शनानुयायित्वेनातिशया भावनीयाः । अत्र च नमस्कारे चतुस्त्रिंशदतिशयसंग्राहकातिशयचतुष्टयमध्ये कः केन पदेनोच्यते सूच्यते वा इत्यभिधीयते-परमात्मानमित्यनेन पूजातिशयः, अत एव ``सन्महत्परम०'' (3. 1. 107.) इत्यनेन पूजायां समासः । द्वितीयपादेन वचनातिशयः, श्रेयांश्च 3 एकशेषे श्रेयांसः, ते च ते शब्दाश्चताननुशास्तीति व्युत्पत्तेर्वचनातिशयः । वचनातिशयश्च न ज्ञानातिशयं विनेति वचनातिशयेन ज्ञानातिशय आक्षिप्यते । ज्ञानातिशयश्च नापायापगमातिशयं विनेति तेनापायापगमातिशयाऽऽ-क्षेपः–अपायभूता हि रागादयस्तेषामपगमः स एवातिशय इति ।

अर्हमिति–अर्हति पूजामित्यर्हम् ``अः'' (उणा० 2) इत्यः । पृषोदरादित्वात् सानुनासिकत्वम् । अर्हमिति मान्तोऽप्यस्ति निपातः । ननु अर्हमिति अव्ययं स्वरादौ चादौ च न दृष्टम्, तत् कथमव्ययं ? सत्यम्–

इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते ।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे ।।5।।

ननु अर्हमिति वर्णसमुदायत्वात् कथमक्षरम् ? सत्यम्–न क्षरति न चलति स्वस्मात् स्वरूपादिति अक्षरम्, तत्त्वं ध्येयं परमब्रह्मेति यावत् । व्याख्यानं त्रिधा स्यात्-स्वरूपाख्यानम्, अभिधा, तात्पर्यं चेति । अक्षरमिति स्वरूपाख्यानम् । परमेष्ठिनो वाचकमित्यभिधा । सिद्धचक्र-स्यादिबीजमिति तात्पर्यव्याख्यानमिति । परमेष्ठिनः पञ्च ततः शेषचतुष्टयव्यवच्छेदायाऽऽह–*परमेश्वरस्ये*ति । चतुस्त्रिंशदतिशयरूपपरमैश्वर्यभाजो जिनस्येत्यर्थः । ननु यद्यपि परमेष्ठीति सामान्यं पदं तथापि अर्हमिति भणनादर्हन्नेव लभ्यते, किं परमेश्वरस्येतिपदेन ? सत्यम्–

देवतानां गुरूणां च नाम नोपपदं विना ।
उच्चरेन्नैव जायायाः कथञ्चिन्नात्मनस्तथा ।।6।। इति ।

सिद्धेति-सिद्धा विद्यासिद्धादयस्तेषां चक्रमिव चक्रं तस्य पञ्चबीजानि तेषु चेदमादिबीजम् । *सकले*ति-सकलाः समस्ता ये आगमा लौकिका लोकोत्तराश्च तेषामुपनिषद्भूतं रहस्यभूतम् । ननु अर्हमित्यस्यार्हद्वाचकत्वे सति कथं लौकिकागमानामुपनिषद्भूतमिदमिति ? सत्यम्सर्वपार्षद-त्वाच्छब्दानुशासनस्य समग्रदर्शनानुयायी नमस्कारो वाच्यः, अयं चार्हमपि तथा । तथाहि–

अकारेणोच्यते विष्णु रेफे ब्रह्मा व्यवस्थितः ।
हकारेण हरः प्रोक्तस्तदन्ते परमं पदम् ।।7।।

इति श्लोकेनार्हंशब्दस्य विष्णुप्रभृतिदेवतात्रयाभिधायित्वेन लौकिकागमेष्वपि अर्हमिति पदमुपनिषद्भूतमित्यावेदितं भवति । तदन्त इति तुरीयपादस्यायमर्थः–तस्यार्हंशब्दस्यान्त उपरितने भागे परमं पदं सिद्धिशिलारूपं तदाकारत्वादनुनासिकरूपा कलाऽपि परमं पदमित्युक्तम् । *निघ्नमि*ति–नियमेन हन्यते ज्ञायते पारतन्त्र्येणाति ``स्थादिभ्यः कः'' (5. 3. 82.) बाहुलकान्नपुंसकत्वम् । दृष्टेति-दृष्टं राज्यादि, अदृष्टं स्वर्गादि *आशास्त्रे*ति-आङ् अभिविधौ, स च शास्त्रेण सह संबध्यते, अवधिशब्दस्तु मर्यादायाम्, स चाध्ययनाध्यापनाभ्याम्; ततोऽयमर्थः–शास्त्रमभिव्याप्य ये अध्ययनाध्यापने ते मर्यादीकृत्य *प्रणिधेयमि*दमित्यर्थः । प्रणिधानं चतुर्धा-पदस्थम्, पिण्डस्थम्, रूपस्थम्, रूपातीतं चेति । पदस्थमर्हंपदस्थस्य, पिण्डस्थं शरीरस्थस्य, रूपस्थं प्रतिमारूपस्य, रूपातीतं योगिगम्यमर्हतो ध्यानमिति । एष्वाद्ये द्वे शास्त्रारम्भे संभवतो नोत्तरे द्वे । *अनेनात्मनः सर्वतः संभेदः* इत्युक्ते पदस्थम् । *तदभिधेयेने*त्यादिना पिण्डस्थमिति । *वयमपी*ति-विशिष्टप्रणिधेय-प्रणिधानादिगुणप्रकर्षादाऽऽमन्युत्कर्षाधानाद् गुणबहुत्वेनात्मनोऽपि तदभिन्नतया बहुत्वाद् वयमिति बहुवचनेन निर्देशः । *तात्त्विक* इति-तत्त्वमेव ``विनयादिभ्य इकण्'' (7. 2. 196.) तत्त्वं प्रयोजनमस्येति वा ॥1॥

सिद्धिः स्याद्वादात् ॥ 1. 1. 2 ॥

स्याद् इत्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्, ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादः, नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत् । ततः सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा प्रकृतानां शब्दानां वेदितव्या । एकस्यैव हि ह्रस्व-दीर्घादिविधयोऽनेककारक संनिपातः, सामानाधिकरण्यम्, विशेषण-विशेष्यभावादयश्च स्याद्वादमन्तरेणनोपपद्यन्ते । सर्वपार्षदत्वाच्च शब्दानुशासनस्य सकलदर्शनसमूहात्मकस्याद्वादसमाश्रयणमतिरमणीयम् । यदवोचाम स्तुतिषु–

अन्योऽन्यपक्षप्रतिपक्षभावाद् यथा परे मत्सरिणः प्रवादाः ।
नयानशेषानविशेषमिच्छन् न पक्षपाती समयस्तथा ते ॥2॥

(अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका–श्लो० 30.)

स्तुतिकारोऽप्याह–

नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥3॥ इति

(श्रीसमन्तभद्राचार्यकृत-बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रावल्यां श्रीविमलनाथस्तोत्रम्–श्लो० 65.)

अथवा 'वादात्' विविक्तशब्दप्रयोगात् 'सिद्धिः' सम्यग्ज्ञानं तद्द्वारेण च निःश्रेयसं

'स्याद्' भवेद् इति शब्दानुशासनमिदमारभ्यत इत्यभिधेयप्रयोजनपरतयाऽपीदं व्याख्येयम् ॥2॥

*न्या० स०–सिद्धिरि*त्यादि-लोके प्रसिद्धसाधुत्वानां शब्दानामन्वाख्यानार्थमिदं शब्दानुशासनमारभ्यते। अन्वाख्यानं च शब्दानां प्रकृत्यादिविभागेन सामान्य-विशेषवता लक्षणेन व्युत्पादनम्। तच्च शब्दार्थसंबन्धमन्तरेण न संभवति। शब्दार्थसंबन्धसिद्धिश्च स्याद्वादाधीना इत्यत आह–*सिद्धिः स्याद्वादात्।* दशधा सूत्राणि संज्ञा-1 परिभाषा-2 ऽधिकार-3 विधि-4 प्रतिषेध-5 नियम-6 विकल्प-7 समुच्चया-8 ऽतिदेशा-9 ऽनुवाद-10 रूपाणि। तत्र ``औदन्ताः स्वराः'' (1. 1. 4.) इति 1, ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति-2, ``घुटि'' (1. 4. 68.) इति 3, ``नाम्यन्तस्थाकवर्गात्०'' (2. 3. 15.) इति 4, ``न स्तं मत्वर्थे'' (1. 1. .23.) इति 5 ``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21) इति 6, ``सौ नवेतौ'' (1. 2. 38.) इति 7, ``शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इति 8, ``इदितो वा'' (8. 4. 1.) इति 9, ``तयोः समूहवच्च बहुषु'' (7. 3. 3.) इति 10 इत्यादीनि सूत्राणि प्रत्येकं ज्ञातव्यानि।

एतेषां मध्ये इदमधिकार-सूत्रमाशास्त्रपरिसमाप्तेः। *स्यादित्यव्ययमि*ति-विभक्त्यन्ताभत्वे स्वरादित्वाद् वाऽनेकान्तं द्योतयति वाचकत्वेनेत्प*नेकान्तद्योतकम्। अनेकान्तवाद* इति-अमति गच्छति धर्मिणमिति ``दम्यमि०'' (उणा० 200.) इति तेऽन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः, अनेकोऽन्तोऽस्यासावनेकान्तः तस्य वदनं याथातथ्येन प्रतिपादनम्, तच्चाभ्युपगतस्यैव भवतीति।

*नित्यानित्या*दीति-आदिशब्दात् सद-सदात्मकत्व-सामान्यविशेषात्मकत्वा-ऽभिलाप्यानभिलाप्यत्वग्रहः। ``नेर्ध्रु वे'' (6. 3. 17.) इति त्यचि नित्यम्, उभयाद्यन्तापरिच्छिन्नसत्ताकं वस्तु, तद्विपरीतमनित्यम्। आदीयते गृह्यतेऽर्थोऽस्मादिति ``उपसर्गाद् दः किः'' (5. 3. 87) इति कौ आदिः। धरन्ति धर्मिणो धर्मिरूपतामिति धर्मा वस्तुपर्यायाः, ते च सहभुवः सामान्यादयः, क्रमभुवश्च नवपुराणादयः पर्यायाः, धर्ममन्तरेण धर्मिणः स्वरूपनाशात्। शाम्यति विरुद्धैर्धर्मैर्युगपत्परिणतिमुपयाति ``शमेर्व च वा'' (उणा० 470.) इत्यले शबलम्। एत्यभेदं गच्छति ``भीण्शलि०'' (उणा० 21.) इति के एकम्।

वसन्ति सामान्यविशेषरूपा धर्मा अस्मिन्निति ``वसेर्णिद्वा'' (उणा० 774.) इति तुनि वस्तु। नित्यानित्यादिभिरनेकधर्मैः शबलं यदेकं वस्तु तस्याऽभ्युपगमः प्रमाणाविरुद्धोऽङ्गीकारः, तत एव शब्दानां सिद्धिभवति नान्यथेत्यत आह–*एकस्यैवे*ति। तथाहि-यस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्वं विधीयते तस्यैव दीर्घत्वादि, तस्य च सर्वात्मना नित्यत्वे पूर्वधर्मनिवृत्तिपूर्वकस्य ह्रस्वादिविधेरसंभवः, एवमनित्यत्वेऽपि जन्मानन्तरमेव विनाशात् कस्य ह्रस्वादिविधिरिति वर्णरूपसामान्याऽऽत्मना नित्यो ह्रस्वादिधर्मात्मना त्वनित्य इति तथा द्रव्याणां स्वपराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तकं

सामर्थ्यं कारकम्, तच्च कर्त्राद्यनेकप्रकारमेकस्याप्युपलभ्यते, यथा-पीयमानं मधु मदयति, वृक्षमारुह्य ततः फलान्यवचिनोति, विषयेभ्यो बिभ्यदनात्मज्ञस्तेभ्य एवात्मानं प्रयच्छंस्तैरेव बन्धमाप्नोतीत्यादि, तच्च कथमेकस्य सर्वथा नित्यत्वे एकरूपां वृत्तिमवलम्बमानस्याऽव-स्थान्तराभिव्यक्तरूपोपलम्भाभावात् घटते ? इति साध्यसाधनरूपकारकव्यवहारविलोपः । अनित्यत्वेऽपि न घटते, तथाहि-स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वम्, तच्च–

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो, व्ययोऽयमनुषङ्गजं फलमिदं दशेयं मम ।
अयं सुहृदयं द्विषन् प्रकृतदेकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः ॥7॥

इत्येवमात्मकपरिदृष्टसामर्थ्यं कारकप्रयोक्तृत्वलक्षणम्, तदपि नानित्यस्य क्षणमात्रावस्था-यित्वेनोपजननानन्तरमेव विनष्टस्य युज्यते, किं पुनः कारकसंनिपातः ? इति नित्यानित्यात्मकः स्याद्वादोऽङ्गीकर्तव्यः । तथा तमन्तरेण सामानाधिकरण्यम्, विशेषणविशेष्यभावोऽपि नोपपद्यते, तथाहि-भिन्नप्रवृत्ति-निमित्तयोः शब्दयोरेकत्रार्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्, तयोश्चात्यन्तभेदे घट-पटयोरिव नैकत्र वृत्तिः, नाप्यत्यन्ताभेदे भेदनिबन्धनत्वात् तस्य, नहि भवति नीलं नीलमिति । किञ्च, नीलशब्दादेव तदर्थप्रतिपत्तौ उत्पलशब्दाऽऽनर्थक्यप्रसङ्गः ।

तथैकं वस्तुसदेवेति नियम्यमाने विशेषण-विशेष्यभावाभावः, विशेषणाद् विशेष्यं कथञ्चिदर्थान्तरभूतमवगन्तव्यम्, अस्तित्वं चेह विशेषणम्, तस्य विशेष्यं वस्तु, तदेव वा स्याद्, अन्यदेव वा ? न तावत् तदेव, नहि तदेव तस्य विशेषणं भवितुमर्हति, असति च विशेष्ये विशेषणत्वमपि न स्यात्, विशेष्यं विशिष्यते येन तद् विशेषणमिति व्युत्पत्तेः, अथान्यत् तर्हि अन्यत्वाविशेषात् सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात्, समवायात् प्रतिनियतो विशेषण-विशेष्यभाव इति चेद्, न-सोऽप्यविष्वग्भावलक्षण एवेष्टव्यः, रूपान्तरपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः, अतो नासावत्यन्तं भेदेऽभेदे वा संभवतीति भेदाभेदलक्षणः स्याद्वादोऽकामेनाप्यभ्युपगन्तव्य इति । आदिग्रहणात् स्थान्यादेश निमित्तनिमित्त-प्रकृति-विकारभावादिग्रहः । किञ्च, शब्दानुशासनमिदम्, शब्दं च प्रति, विप्रतिपद्यन्तेनित्य इत्येके, अनित्य इत्यपरे, नित्यानित्य इति चान्ये । तत्र नित्यत्वाऽनित्यत्वयोरन्यतरपक्षपरिग्रहे सर्वोपादेयत्वविरहः स्यादित्याह–

सर्वपार्षदत्वाच्चेति–स्वेन रूपेण व्यवस्थितं वस्तुतत्त्वं पृणाति पालयतीति ``प्रः सद्'' (उणा० 897.) इति सदि पर्षद् तत्र साधु ``पर्षदो ण्यणौ'' (7. 1. 18.) इति णे पार्षदं साधारणमित्यर्थः । अथवा पार्षदः परिचारक उच्यते, रा च पर्षत्साधारण इत्यर्थः, पार्षदत्वेन च साधारणत्वं लक्ष्यते, तेन सर्वेषां पार्षदं सर्वसाधारणमित्यर्थः । दृश्यते तत्त्वमेकदेशैनैभिरिति दर्शनानि नयाः, समस्तदर्शनानां यः समुदायः तत्साधारणस्याद्वादस्याभ्युपगमोऽतितरां निर्दोष इत्यर्थः । *अतिरमणीयमि*ति-णिगन्तात् ``प्रवचनीयादयः'' (5. 1. 8.) इत्यनीयः ।

एतदेव स्वोक्तेन दृढयति-*अन्योऽन्येत्*यादि-साध्यधर्मवैशिष्ट्ये न पच्यते व्यक्तीक्रियते हेत्वादिभिरिति ''मा-वा-वदि०''–(उणा० 564.) इति से पक्षः साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी, शब्दो नित्य इत्यादिः, प्रतिकूलः पक्षः प्रतिपक्षः, अन्योऽन्यं पक्षप्रतिपक्षास्तेषां भावः, एकस्मिन् धर्मिणि परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास इत्यर्थः, ततः। यथेति दृष्टान्तोपन्यासे। *परे* भवच्छासनादन्ये। सातिशयो मत्सरोऽसहनताऽस्त्येषामतिशायने मत्वर्थीये *मत्सरिणः* प्रकर्षेणोद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति ''व्यञ्जनाद् घञ्'' (5. 3. 132.) इति घञि *प्रवादाः* प्रवचनानि। यथा परस्परविरोधात् परे प्रवादा मत्सरिणः, न तथा त्वत्समय इति। अत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह–*पक्षपाती*ति–यतो रागनिमित्तवस्तुस्वीकाररूपं पक्षं पातयति नाशयतीत्येवंशीलः, रागस्य जीवनाशं नष्टत्वात्।

अत्रैव हेतुमाह–*नयानशेषानविशेषमिच्छान्*निति-नयान् नैगमादीन् समस्तानविशेषमभेदं यथा भवत्येवमङ्गीकुर्वन्। अयं भावः– नयानां समत्वेन दर्शनाद् रागमयस्य पक्षस्य पातितत्वात् समयस्य मत्सराभावः, परेषां तु विपर्ययात् तत्सद्भाव इति। सम्यगेति गच्छति शब्दोऽर्थमनेनेति ''पुन्नाम्नि०'' (5. 3. 130.) इति घे *समयः* संकेतः। यद्वा, सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादयः पदार्थाः, स्वस्मिन् रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति *समय* आगमः। मत्सरित्वस्य विधेयत्वात् तेनैव नञः संबन्धात् पक्षपातिशब्देन त्वसंबन्धात् प्रक्रमभेदाभावः।

परोक्ते नापि द्रढयति-*नया* इत्यादि नीयन्ते प्राप्यन्ते जीवादयोऽर्था एकदेशविशिष्टा एभिरितिनयाः, निरवधारणा अभिप्रायविशेषाः, सावधारणस्य दुर्नयत्वात्, समस्तार्थप्राप्तेस्तु प्रमाणाधीनत्वात्, ते च नैगमादयः सप्त, तत्र स्यात्पदेन चिह्निता अभिप्रेतं फलन्तिलिहाद्यच् (''लिहादिभ्यः'' 5. 1. 50.) अभिप्रेतं फलं येभ्य इति बहुब्रीहिर्वा। *प्रणता* इति-प्रणन्तुमारब्धवन्तः। *हितैषिण* इति विशेषणद्वारेण हेतुः, हितेषित्वादित्यर्थः। 'आराद् दूरान्तिकयोः' सम्यग्ज्ञानाद्यात्मकमोक्षमार्गस्याऽऽरात् समीपं याताः प्राप्ताः, दूरं वा पापक्रियाभ्यो याताः *इत्यार्याः।* नन्वस्तु युक्तियुक्तः स्याद्वादस्तदधीनत्वाच्छब्दसिद्धः, तथापि अनभिहिताभिधेयप्रयोजनत्वात् कथमिदं प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविषय इत्याशङ्क्याऽऽह*अथवे*ति-बिविक्तानामसाधुत्वविमुक्तानां शब्दानां प्रयुक्तेः सम्यग्ज्ञानरूपा सिद्धिः। साधु-शब्दाश्चात्राऽभिधेयाः। यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनमिति सम्यग्ज्ञानमनन्तरं प्रयोजनम्, तद्द्वारेण तु निःश्रेयसं परमिति। यतः–

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥8॥ (त्रिपुरातापिन्युपनिषद् 4. 17.)

व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥9॥ इति

संबन्धस्त्वभिधेय-प्रयोजनयोः साध्य-साधनभावः, शब्दानुशासनाभिधेययोस्तु अभिधा-नाभिधेयरूपः स च तयोरेवान्तर्भूतत्वात् पृथग् नोपदर्शित इति ॥2॥

लोकात् ॥ 1. 1. 3 ॥

उक्ताऽतिरिक्तानां क्रिया-गुण-द्रव्य-जाति-काल-लिङ्ग-स्वाङ्ग-संख्या-परिमाणा-ऽपत्य-वीप्सालुगवर्णादीनां संज्ञानां ❁ परान्नित्यम् ❁, ❁ नित्यादन्तरङ्गम् ❁ ❁ अन्तरङ्गाच्चानवकाशं बलीयः ❁ इत्यादीनां न्यायानां च लोकाद् वैयाकरणसमयविदः प्रामाणिकादेश्च शास्त्रप्रवृत्तये सिद्धिर्भवतीति वेदितव्यम्, वर्णसमाम्नायस्य च ॥3॥

तत्र–

*न्या०स०–लोकादि*ति-लोक्यते तत्त्वनिश्चयाय घञ्, लोकते सम्यक् पदार्थानित्यचि वा लोकः। *उक्ते*ति–उक्ताभ्यः स्वरादिसंज्ञाभ्योऽतिरिक्ता अधिकास्तासाम्। साध्यरूपा पूर्वापरीभूताऽवयवा *क्रिया*, विशेषणं गुणः, ``सत्त्वे निविशतेऽपैति०'' इत्यादि-लक्षणो वा। विशेष्यं *द्रव्यम्*, ``आकृतिग्रहणा०'' इत्यादिरूपा जातिः, त्रुट्यादिलक्षणःकालः, *लिङ्गं* पुं-स्त्री-नपुंसकरूपम्, ``अविकारोऽद्रवम्०'' इत्यादि *स्वाङ्गम्*, एकाद्यभिधानप्रत्ययहेतुः *संख्या*, सर्वतो मानं *परिमाणम्*, *अपत्यं* प्रसिद्धम्, नानाभिधायिनां शब्दानां क्रिया-गुण-द्रव्यैर्युगपत्प्रयोक्तुर्व्याप्तुमिच्छा *वीप्सा*, अदर्शनं *लुक्*, [1]अष्टादशभेदोऽकारादिसमुदायोऽ*वर्णः आदि*शब्दादिवर्णादिपरिग्रह इति वैयाकरणाः। *कर्म (क्रिया)* उत्क्षेपणादि, द्रव्याश्रयो गुणः, गुणाश्रयो *द्रव्यम्*, अनुवृत्तप्रत्ययहेतुः सामान्य[2] *जातिः*। परापरादिप्रत्ययहेतुः *कालः*। अनुमानं *लिङ्ङ्गम्*। स्वाङ्गयारम्भकमवयवरूपं स्वाङ्गम्। अणु-महदादिप्रत्ययहेतुः *परिमाणमि*ति तार्किकाः।

❁ परान्नित्यम् ❁ इति–तथाहि–वनानीत्यादौ ``शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इति दीर्घं बाधित्वा परत्वात् ``नपुंसकस्य शिः'' (1. 4. 55.) इत्येव भवति। तस्माच्च नित्यं बलीयः, यथा 'स्योन' इत्यत्र परमपि गुणं बाधित्वा नित्यत्वादूट्। तथा ❁ *नित्यादन्तरङ्गम्* ❁ यथा-ज्ञाया ओदनो ज्ञौदनस्तमिच्छति क्यन्, ततः सनि, अकृतव्यूहत्वाद् 'ज्ञा ओदन य स' इति स्थिते द्वित्वं प्राप्नोति औत्वं च, ततो नित्यत्वाद् द्वित्वे प्राप्ते तद् बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वादौत्वं भवति-जुज्ञौदनीयिषतीति। तथा ❁ *अन्तरङ्गादनवकाशम्* ❁ यथा-गर्गस्यापत्यानि यञ्, तेषां छात्राः ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) ततोन्तरङ्गत्वाद् ``यञञः०'' (6. 1. 126.) इति यञो लुप् ``न प्राग्जितीये०'' (6. 1. 135.) इति तन्निषेधश्च प्राप्नुतः, परमनवकाशत्वाद् ``न

1. ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतादिभेदयुक्तः। 2. सामान्यं परिमाणामिति इ।

प्राग्जितीये०'' (6. 1. 135.) इत्येव प्रवर्तते, ततो गार्गीया इति सिद्धम् । तथा आदिशब्दात् ❇ *परादन्तरंगम्* ❇ अपि, यथा-सिवेः ``प्या-धा-पन्यनि०'' (उणा० 258.) इति नेऽपवादत्वाद् वलोपं बाधित्वा गुणात् पूर्वं नित्यत्वादूटि च कृते परत्वाद् गुणे प्राप्तेऽन्तरङ्गत्वात् तं बाधित्वा यत्वं भवति 'स्योन' इति । एतासां क्रियादीनां संज्ञानां न्यायानां च शास्त्रप्रवृत्तये लोकात् सिद्धिर्वेदितव्या, न च लोकमन्तरेण तज्ज्ञानोपायोऽस्ति, न च तज्ज्ञानं विना ``क्रियार्थो धातुः'' (3. 3. 3.) ``गुणादस्त्रियां नवा'' (2. 2. 77.) ``जातिकालसुखादेर्नवा'' (3. 1. 152.) ``स्वाङ्गादेरकृतमित०'' (2. 4. 46.) इति, ``संख्यानांर्ष्णाम्'' (1. 4. 33. ) ``परिमाणात् तद्धित०'' (2. .4. 23) इति, ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.)``वीप्सायाम्'' (7. 4. 80) ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2. 1. 113.) ``अवर्णस्येवर्णादिना०'' (1. 2. 6.) इति, ``इवर्णादेरस्वे स्वरे०'' (1. 2. 21.) इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिः । नीयते प्राप्यते संदेहदोलामधिरूढोऽर्थो निर्णयपदमेभिरिति ``न्यायावाय०'' (5. 3. 134.) इति घञि न्याया युक्तयः ॥3॥

औदन्ताः स्वराः ॥ 1. 1. 4. ॥

औकारावसाना वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति, तकार उच्चारणार्थः । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ । औदन्ता इति बहुवचनं वर्णेष्वपठितानां दीर्घपाठोपलक्षितानां प्लुतानां संग्रहार्थम्, तेन तेषामपि स्वरसंज्ञा । स्वरप्रदेशाः– ``इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्'' (1. 2. 21.) इत्येवमादयः ॥4॥

न्या०स०–औदन्ता इत्यादि–अत्रान्तशब्दोऽवयववाचीत्यवयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, अवयवस्य चावश्यं समुदायरूपेऽन्यपदार्थेऽन्तर्भावः, अत एवात्र तद्गुणसंविज्ञानोऽयं बहुव्रीहिः, यथा-लम्बकर्ण इत्यादौ, न त्वतद्गुणसंविज्ञानः, यथा-चित्रगुरित्यादौ । ज्ञापकं चात्र ``अष्ट और्जस्-शसोः'' (1. 4. 53.) ``आतो णव औः'' (4. 2. 120.) ``उत और्विति व्यञ्जनेऽद्वे'' (4. 3. 59.) इत्यादि । औकारस्य हि स्वरत्वाभावे ``अष्ट औः०'' (1. 4. 53.) इत्यादिसूत्रेषु ``स्वरे वा'' (1. 3. 24.) इत्यनेन यलोपो न स्यात् । *तकार* इति-उच्चार्यते स्वरूपेण स्वीक्रियतेऽनेनेत्युच्चारणम्, स्वरूपपरिग्रह इति भावः ।

तपरत्वान्निर्देशस्य 'औत्' इत्युक्ते औकारस्वरूपं प्रतीयते, तकाराभावे तु आबन्ता इति कृते कष्टा प्रतीतिर्भवेदिति भावः । ननु ऌकारः कृपिस्थ एव प्रयुज्यते, न च तत्र स्वर-संज्ञायाः किमपि प्रयोजनम्, ॡकारस्य तु सर्वथा प्रयोग एव नास्तीति ?, नैवम्-क्लृप्प्तः 'क्लृ3प्तशिख !', इत्यादौ द्वित्व-प्लुतादेः स्वरकार्यस्य दर्शनात् । तथाहि-``अदीर्घाद् विरामैक०''

(1. 3. .32) इत्यनेन द्वित्वम्, ``दूरादामन्त्र्यस्य०'' (7. 4. 99.) इत्यनेन प्लुतश्च स्वराश्रितः प्रतिपादितः तत्र स्वरस्याधिकृतत्वाद्, असति स्वरत्वे तन्न स्यादिति। *प्रदेशा* इति-प्रदिश्यन्ते संज्ञाप्रयोजनान्येषु इति ``व्यञ्जनाद् घञ्'' (5. 3. 132.) इति घञि प्रदेशाः, संज्ञाप्रयोजनस्थानानीत्यर्थः ॥4॥

एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः ॥ 1. 1. 5 ॥

मात्रा कालविशेषः, एक-द्वि-त्र्युच्चारणमात्रा औदन्ता वर्णा यथासंख्यं ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतसंज्ञा भवन्ति। एकमात्रो ह्रस्वः-अ इ उ ऋ ऌ। द्विमात्रो दीर्घः आ ई ऊ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ। त्रिमात्रः प्लुतः आ3 ई3 ऊ3 इत्यादि। ऐदौतौ चतुर्मात्रावपीत्यन्ये। औदन्ता इत्येव ? प्रतक्ष्य, अत्रार्धमात्रिकयोर्व्यञ्जनयोः समुदायस्यैकमात्रत्वेऽपि ह्रस्वसंज्ञाया अभावात् तोऽन्तो न भवति। वर्णानां च ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात् 'तितउच्छत्रम्' इत्यादावकारोकारलक्षण-वर्णसमुदायस्य द्विमात्रत्वेऽपि दीर्घसंज्ञाया अभावाद् द्वित्वविकल्पो न भवति। सन्ध्यक्षराणां तु एकमात्रिकत्वाभावाद् ह्रस्वसंज्ञा न भवति। ह्रस्वादिप्रदेशाः—``ऋऌति ह्रस्वो वा'' (1. 2. 2.) इत्यादयः ॥5॥

न्या०स०—एक-द्वीत्यादि० *एकमात्र* इति—स्वरस्यात्यन्तापकृष्टो निमेषोन्मेषक्रियापरिच्छिन्न उच्चारणकालो मात्रा। *अर्धमात्रिकयो*रिति-मात्राया अर्धमर्धमात्रा, साऽस्त्यनयोः ``व्रीह्यादि-भ्यस्तौ'' (7. 2. 5.) इति इकः। *वर्णसमुदायस्येति*—औदन्ता इत्यनुवृत्त्या वर्णा इति लाभात् 'तितउ' इत्यत्र 'अउ' इत्येवंरूपवर्णसमुदायस्य दीर्घत्वनिषेधः। *संध्यक्षराणां त्वि*ति-अन्यैः कालापकाद्यैः संध्यक्षराणां दीर्घसंज्ञाऽपि न कृता, ततोऽत्र संज्ञाद्वयेऽपि संदेहः, यद्वा, अ आ इत्यादौ क्रमेण ह्रस्व-दीर्घसंज्ञा दृष्टा, ए ऐ इत्यादावपि किं तथैवेत्याशङ्कायामिदमुक्तं *संध्यक्षराणां* त्वित्यादि ॥5॥

अनवर्णा नामी ॥ 1. 1. 6.॥

अवर्णरहिता औदन्ता वर्णा नामिसंज्ञा भवन्ति। इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ। बहुवचनं प्लुतसंग्रहार्थम्, एवमुत्तरत्रापि। नामिप्रदेशाः— ``नामिनस्तयोः षः'' (2. 3. 8.) इत्यादयः ॥6॥

न्या०स०—*अनवर्णे*त्यादि-अविद्यमानोऽवर्णो येषु *तेऽनवर्णाः*। ननु संज्ञिसमाना-धिकरणत्वेन संज्ञानिर्देशे सति ``औदन्ताः स्वराः'' (1. 1. 4.) इतिवन्नामिन इति बहु-वचनेन निर्देशो युज्यते तत् किं *नामी*त्येकवचननिर्देशः ? सत्यम्, वचनभेदेन संज्ञां कुर्वन्नेवं

बोधयति—'यत्र नामिनः कार्यं क्रियते तत्र कार्याद् यदि कार्यी स्वरो न्यूनो भवति, तत्रैव नामिसंज्ञाप्रवृत्तिर्नान्यथा' तेन 'ग्लायति, म्लायति' इत्यादौ न गुणः, अत एव तत्राऽऽह– 'ऐकारोपदेशबलान्नामित्वाभावाद् गुणाभावः' इति । अत्रोत्तरयोश्च बहुवचनं प्लुतसंग्रहार्थम् विशेषणविशेष्यभावस्तु वचनभेदेऽपि सामान्य-विशेषभावेन, यथा–पञ्चादौ घुट् वेदाः प्रमाणम्, इति ॥6॥

लृदन्ताः समानाः ॥ 1. 1. 7.॥

लृ कारावसाना वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति । अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ । समानप्रदेशाः–''समानानां तेन दीर्घः'' (1. 2. 1.) इत्यादयः ॥7॥

न्या० स०–लृदन्ता इत्यादि-उदात्ताऽनुदात्त-स्वरितसानुनासिक-निरनुनासिक-भेदादष्टादशधा भिद्यन्तेऽवर्णादय इति । समानं तुल्यं मानं परिमाणं परिच्छेदो वा येषां ते *समानाः*, परस्परविलक्षणाकारं बिभ्राणा अपीति । तथा लृकारस्य समानसंज्ञायाम्, कल्पनं क्लृप् ''क्रुत्संपदादिभ्यः क्विप्'' (5. 3. 114.) कलायाः क्लृप्, तामकार्षीत् णिचि अन्त्यस्वरादिलोपे समानलोपात् ''उपान्त्यस्यासमानलोपि०'' (4. 2. 35.) इति ह्रस्वत्वा-भावे ''असमानलोपे०'' (4. 1. 63.) इति सन्वद्भावाभावे च 'अचकलाकद्' इति भवति, क्लृकार इति समानदीर्घत्वं च फलम् ॥7॥

ए-ऐ-ओ-औ संध्यक्षरम् ॥ 1. 1. 8. ॥

ए-ऐ-ओ-औ इत्येते वर्णाः सन्ध्यक्षरसंज्ञा भवन्ति । सन्ध्यक्षरप्रदेशाः–''ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः'' (1. 2. 12.) इत्यादयः ॥8॥

न्या० स०–ए-ऐ-ओ-ओ० इत्यादि–संधौ सति अक्षरं संध्यक्षरम्, तथाहि–अवर्णस्येवर्णेन सह संधावेकारः, एकारैकाराभ्यामैकारः, अवर्णस्योवर्णेनौकारः, ओकारौकाराभ्या- मौकारः ॥8॥

अं अः अनुस्वारविसर्गौ ॥ 1. 1. 9. ॥

अकारावुच्चारणार्थौ, 'अं' इति नासिक्यो वर्णः, 'अः' इति कण्ठ्यः, तौ यथासंख्यमनुस्वार–विसर्गसंज्ञौ भवतः । अनुस्वार-विसर्गप्रदेशाः–''नोऽप्रशानोऽनुस्वारानुना-सिकौ च पूर्वस्याधुट्परे'' (1. 3. 8.) ''रः पदान्ते विसर्गस्तयोः'' (1. 3. 53.) इत्यादयः ॥9॥

न्या० स०–अं अः इत्यादि-विसृज्यते विरम्यते घञि *विसर्गः*, कर्मप्रत्ययोपलक्षणं चेदम्, तेन विसृष्टो विसर्जनीय इत्यपि संज्ञाद्वयं द्रष्टव्यम् ॥9॥

कादिर्व्यञ्जनम् ॥ 1. 1. 10. ॥

कादिर्वर्णो हकारपर्यन्तो व्यञ्जनसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, य र ल व, श ष स ह । व्यञ्जनप्रदेशाः–``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इत्यादयः ॥10॥

न्या० स०–कादि०–आदीयते गृह्यतेऽस्मादर्थ इत्यादिः । स च सामीप्यव्यवस्था-प्रकाराऽवयवादिवृत्तिः । यथा–ग्रामादौ घोष इति सामीप्ये, ब्राह्मणादयो वर्णा इति व्यवस्थायाम्, आढ्या देवदत्तादय इति प्रकारे, देवदत्तसदृशा इत्यर्थः, स्तम्भादयो गृहा इति अवयवे, स्तम्भावयवा इत्यर्थः । तत्र सामीप्यार्थवृत्तिग्रहणे ककारस्य व्यञ्जनसंज्ञा न स्यात्, उपलक्षणस्य कार्येऽनुपयोगात्, यथा–चित्रगुरानीयतामित्युक्ते चित्रगवोपलक्षितः पुमानेवाऽऽनीयते न तु चित्रा गौरिति । व्यवस्थार्थोऽपि न घटते, वर्णसमाम्नायस्य व्यवस्थितत्वेन व्यभिचाराभावात् ❊ संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद् ❊ इति हि न्यायः ।

कादीनां परस्परमत्यन्तवैसदृश्यात् प्रकारार्थोऽपि न समीचीनतामञ्चति । अवयवार्थवृत्तिस्तु संगच्छते । ककार आदिरवयवो यस्य वर्णसमुदायस्य स *कादिः*, अत एवेह तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः समुदायस्यावयवेषु समवेतत्वात्, न्यग्भूतावयवत्वेन च समुदायप्राधान्यादेकवचनम् । संज्ञिसामानाधिकरण्येऽपि`स्मृतयः प्रमाणम्' इतिवदाविष्टलिङ्गत्वाद् *व्यञ्जनमि*ति नपुंसकत्वम् । व्यज्यते प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम्, स्वराणामर्थप्रकाशने उपकारकम्, यथा–सूपादीन्योदनस्येति । कस्य आदिः कादिरिति व्याख्याने व्यवस्थावाच्यप्यादिशब्दः, तेन स्वराणां न व्यञ्जनसंज्ञा, अनुस्वारविसर्गयोस्तु भवति । ततोऽनुस्वारस्य व्यञ्जनसंज्ञायां संस्कर्तेत्यत्रानुस्वाररूपव्यञ्जनात् परस्य सस्य ``धुटो धुटि स्वे वा'' (1. 3. 48.) इत्यनेन लुक् सिद्धः । विसर्गस्य तु व्यञ्जनत्वे सुपूर्वस्य दुःखयतेः क्विपि, णिलुकि, सेश्च लुकि ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति विसर्गरूपसंयोगान्तस्थस्य खस्य लुक् सिद्धः; विसर्गस्य च कस्यादिरिति ``व्युत्पत्त्या अपञ्चमान्तस्थः०'' (1. 1. 11.) इति धुट्त्वे च ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति स्थान्यासन्ने गत्वे सति सुदुगिति सिद्धम् ॥10॥

अपञ्चमान्तस्थो धुट् ॥ 1. 1. 11. ॥

वर्गपञ्चमान्तस्थावर्जितः कादिर्वर्णो धुट्संज्ञो भवति । क ख ग घ, च छ ज झ, ट ठ ड ढ, त थ द ध, प फ ब भ, श ष स ह । धुट्प्रदेशाः—``धुटो धुटि स्वे वा'' (1. 3. 48.) इत्यादयः ।।11।।

पञ्चको वर्गः ।। 1. 1. 12. ।।

कादिषु वर्णेषु यो यः पञ्चसंख्यापरिमाणो वर्गः स स वर्गसंज्ञो भवति । क ख ग घ ङ, च छ ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म । वर्गप्रदेशाः— ``कवर्गैकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इत्यादयः ।।12।।

न्या०स०—पञ्चक०—सजातीयसमुदायो *वर्गः* । स च वर्गः कवर्गादिभेदेनाष्टधा वर्णसमाम्नाये केवलिकादिशास्त्रेषु प्रसिद्धः, तत्र च यः पञ्चसंख्यात्वेन व्यवस्थित स्तस्येह वर्गसंज्ञेत्यत आह—*कादिष्विति*। *यो य* इति-संज्ञिनां बहुत्वादगृहीतवीप्सोऽपि पञ्चशब्दो वीप्सां गमयतीति । वृणोत्यात्मीयमेकत्वेन व्यवस्थापयति ``गम्यमि०'' (उणा० 92) इति गे *वर्गः*, जात्यपेक्षमेकवचनम् ।।12।।

आद्यद्वितीयशषसा अघोषाः ।। 1. 1. 13. ।।

वर्गाणामाद्य-द्वितीया वर्णाः श-ष-साश्चाघोषसंज्ञा भवन्ति । क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ, श ष स । बहुवचनं सर्ववर्गाणामाद्य-द्वितीयपरिग्रहार्थम् । अघोषप्रदेशाः—``अघोषे प्रथमोऽशिटः'' (1. 3. 50.) इत्यादयः ।।13।।

न्या० स०—आद्य०—अविद्यमानो घोषो येषाम्, यथा—अनुदरा कन्येति, बहुव्रीहिणा गतत्वान्न मतुः । ननु लाघवार्थं समाहार एव युक्तः, यतः ❊ मात्रालाघवमप्युत्सवाय मन्यन्ते वैयाकरणाः ❊ इत्याह—*बहुवचनमिति*, अन्यथा श-ष-ससाहचर्यात् क-खयोः केवलयोरेव ग्रहः स्यात् । अव्यभिचारिणा व्यभिचारी यत्र नियम्यते तत् साहचर्यम् ।।13।।

अन्यो घोषवान् ।। 1. 1. 14. ।।

अघोषेभ्योऽन्यः कादिर्वर्णो घोषवत्संज्ञो भवति । ग घ ङ, ज झ ञ, ड ढ ण, द ध न, ब भ म, य र ल व ह । घोषवत्प्रदेशाः—``घोषवति'' (1. 3. 21.) इत्यादयः ।।14।।

न्या० स०—अत्य०—घोषो ध्वनिर्विद्यते यस्य स तथा । अन्वर्थता च ``तुल्यस्था-

नास्य०'' (1. 1. 17.) इत्यत्र दर्शयिष्यते। घोषवानिति जातिनिर्देशः, अघोषाऽपेक्षया चान्यत्वम्, तेन येषामतिशायी घोषस्तेऽन्यत्वजात्यध्यासिता घोषवन्त इत्यर्थः ॥14॥

य-र-ल-वा अन्तस्था ॥ 1. 1. 15. ॥

य, र, ल, व, इत्येते वर्णा अन्तस्थासंज्ञा भवन्ति । बहुवचनं सानुनासिकादिभेदपरिग्रहार्थम्। अन्तस्थाप्रदेशाः-``अञ्वर्गस्यान्तस्थातः'' (1. 3. 33.) इत्यादयः ॥15॥

न्या०स०–य-र-ल-वा०-``लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाद्'' इति वर्णविशेषणमपि अन्तस्थाशब्दः स्त्रीलिङ्गो बाहुलकात् शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् बहुत्ववृत्तिश्च प्राय इति। य र ल व इतीति–अर्थवत्त्वाभावे नामत्वाभावान्न स्यादिः ॥15॥

अं-अः ≍ क))((प-श-ष-साः शिट् ॥ 1. 1. 16. ॥

अनुस्वारो विसर्गो वज्राकृतिर्गजकुम्भाकृतिश्च वर्णः श-ष-साश्च शिट्-संज्ञा भवन्ति । अकार-ककार-पकारा उच्चारणार्थाः। बहुवचनं वर्णेष्वपठितयोरपि ≍ क) (पयोर्वर्णत्वार्थम्। शिट्प्रदेशाः–``शिटः प्रथमद्वितीयस्य'' (1. 3. 35.) इत्यादयः ॥16॥

न्या०स०–अं अः०–शिट्-धुट्शब्दयोर्विषयनामत्वात् पुंस्त्वम्। ≍ क) (पयो-र्देशकाल-लिपिभेदेऽपि रूपाभेदाद् दृष्टान्तमाह–*वज्राकृति*रिति-वज्रस्येव आकृतिर्यस्य स तथा, गजकुम्भयोरिवाकृतिर्यस्य सोऽपि तथा। ककार-पकारौ चानयोः परदेशस्थावुच्चार्येते, सर्वत्र परसंबद्धावेवैतौ भवतः, न स्वतन्त्रौ, नापि पूर्वसंबद्धावनुस्वारवदिति । रेफादेशत्वात् कख-पफसंनिधावेव तयोः प्रयोगादल्पविषयत्वम्, अत एव सत्यपि संज्ञिसामानाधिकरण्ये-ऽल्पीयस्त्वज्ञापनाय *शिडि*त्येकवचनेन निर्देशः कृतः। अथ कथमनयोर्वर्णत्वं वर्णसमाम्नाये पाठाभावात्? सत्यम्-रेफस्य वर्णत्वात् तयोश्च रेफादेशत्वाद् वर्णत्वसिद्धिः। न च वर्णाऽऽदेशत्वेन लोपस्यापि वर्णत्वमाशङ्कनीयम्, तस्याभावरूपत्वात्, न चाभावो भावस्याऽऽश्रयो भवितुमर्हति अतिप्रसंगात्, अयमेवार्थो बहुवचनेन सूच्यते, अनुवादकत्वेन तस्य साधकत्वाभावा-दित्याह–*बहुवचनमि*ति। ननु ≍ क) (पयोर्व्यञ्जनसंज्ञाऽपि पूर्वेषामस्ति तत् कथं तैः सह न विरोधः ? उच्यते-रेफस्थानित्वेन व्यञ्जनसंज्ञाऽपीति न विरोधः ॥16॥

तुल्यस्थाना-ऽऽस्यप्रयत्नः स्वः ॥1. 1. 17.॥

यत्र पुद्गलस्कन्धस्य वर्णभावापत्तिस्तत् स्थानम्, कण्ठादि । यदाहुः—

``अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च'' ।।4।।

(पाणिनीयशिक्षा, श्लो० 13)

अस्यत्यनेन वर्णानित्यास्यम्, ओष्ठात् प्रभृति प्राक् काकलकसंज्ञकात् कण्ठमणेः । आस्ये प्रयत्न आस्यप्रयत्नः, आन्तरः संरम्भः । स चतुर्धास्पृष्टता 1, ईषत्स्पृष्टता 2, विवृतता 3, ईषद्विवृतता 4 । तुल्यौ वर्णान्तरेण सदृशौ स्थानाऽऽस्यप्रयत्नौ यस्य स वर्णस्तं प्रति स्वसंज्ञो भवति । करणं तु जिह्वामूलमध्याग्रोपाग्ररूपं स्थानाऽऽस्यप्रयत्नतुल्यत्वे सति नाऽतुल्यं भवतीति पृथग् नोक्तम् । तत्र स्थानम्-अवर्ण-हविसर्ग-कवर्गाः कण्ठ्याः । `सर्वमुखस्थानमवर्णम्, ह-विसर्गावुरस्यौ, कवर्गो जिह्वामूलीयः' इत्यन्ये । इवर्ण-चवर्ग-यशास्तालव्याः । उवर्ण-पवर्गोपध्मानीया ओष्ठ्याः, । ऋवर्णटवर्ग-र-षा मूर्धन्याः, `रेफो दन्तमूलः' इत्येके । लृवर्णतवर्ग-ल-सा दन्त्याः । ए-ऐ तालव्यौ, `कण्ठ्य-तालव्यौ' इत्यन्ये । ओ-औ ओष्ठ्यौ, `कण्ठ्योष्ठ्यौ' इत्यन्ये । वो दन्त्यौष्ठ्यः, `सृक्कस्थानः' इत्यन्ये[1] । जिह्वामूलीयो जिह्व्यः, `कण्ठ्यः' इत्यन्ये । नासिक्योऽनुस्वारः, `कण्ठ्य-नासिक्यः' इत्यन्ये । ङ-ञ-ण-न-माः स्वस्थान-नासिकास्थानाः । अथाऽऽस्यप्रयत्नः—स्पृष्टं करणं स्पर्शानाम्, स्पर्शा वर्ग्याः । ईषत्स्पृष्टं करणमन्तस्थानाम् । ईषद्विवृतं करणमूष्मणाम् । विवृतं करणं स्वराणाम्, `ऊष्मणां च' इत्यन्ये, ऊष्माणः श-ष-स-हाः । स्वरेषु ए-ओ विवृततरौ, ताभ्यामपि ऐ-औ, ताभ्यामप्यवर्णः, `अकारः संवृतः' इत्यन्ये । तत्र त्रयोऽकारा उदात्ताऽनुदात्त-स्वरिताः, प्रत्येकं सानुनासिक-निरनुनासिकभेदात् षट्, एवं दीर्घ-प्लुताविति अष्टादश भेदा अवर्णस्य; ते सर्वे कण्ठस्थाना विवृतकरणाः परस्परं स्वाः । एवमिवर्णास्तावन्तस्तालव्या विवृतकरणाः स्वाः ।

उवर्णा ओष्ठ्या विवृतकरणाः स्वाः । ऋवर्णा मूर्धन्या विवृतकरणाः स्वाः । लृवर्णा दन्त्या विवृतकरणाः स्वाः, `लुवर्णस्य दीर्घा न सन्तीति द्वादश' इत्यन्ये । संध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति तानि प्रत्येकं द्वादशभेदानि; तत्र—एकारास्तालव्या विवृततराः स्वाः, ऐकारास्तालव्या अतिविवृततराः स्वाः, ओकारा ओष्ठ्या विवृततराः स्वाः, औकारा ओष्ठ्या अतिविवृततराः स्वाः । वर्ग्याः पञ्च पञ्च परस्परं स्वाः । य-ल-वानामनुनासिकोऽननुनासिकश्च द्वौ भेदौ परस्परं स्वौ । रेफोष्मणां तु अतुल्यस्थानाऽऽस्यप्रयत्नत्वात् स्वा न भवन्ति । आस्यग्रहणं बाह्यप्रयत्ननिवृत्त्यर्थम्, ते हि ``आसन्नः'' (7. 4. 120.) इत्यत्रैवोपयुज्यन्ते, न स्वसंज्ञायाम्; के पुनस्ते ? विवारसंवारौ.—श्वास-नादौ घोषवदघोषता अल्पप्राण-महाप्राणता उदात्तोऽनुदात्तः

1. इत्येके आ ।

स्वरितश्चेत्येकादश। कथं पुनरेते आस्याद् बाह्याः स्पृष्टतादयस्तु आन्तराः ? उच्यते-वायुना कोष्ठेऽभिहन्यमानेऽमीषां प्रादुर्भावात्, स्पृष्टतादीनां तु कण्ठादिस्थानाभिघाते भावात्। तथा चाऽऽपिशलिः शिक्षामधीते–''नाभिप्रदेशात् प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्द्ध्वमाक्रामन्नुरः प्रभृतीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विधार्यते, स विधार्यमाणः स्थानमभिहन्ति, तस्मात् स्थानाभिघाताद् ध्वनिरुत्पद्यते आकाशे, सा वर्णश्रुतिः, स वर्णस्याऽऽत्मलाभः''। तत्र वर्णध्वनावुत्पद्यमाने यदा स्थान-करण-प्रयत्नाः परस्परं स्पृशन्ति सा स्पृष्टता, यदेषत् स्पृशन्ति सेषत्स्पृष्टता, यदा सामीप्येन स्पृशन्ति सा संवृतता, दूरेण यदा स्पृशन्ति सा विवृतता; एषोऽन्तः– प्रयत्नः । स इदानीं प्राणो नाम वायुरूर्ध्व माक्रामन् मूर्ध्नि प्रतिहतो निवृत्तः कोष्ठमभिहन्ति, तत्र कोष्ठेऽभिहन्यमाने कण्ठबिलस्य विवृतत्वाद् विवारः संवृ तत्वात् संवारः। तत्र यदा कण्ठबिलं विवृतं भवति तदा श्वासो जायते, संवृते तु नादः, तावनुप्रदानमाचक्षते; अन्ये तु ब्रुवते–अनुप्रदानमनुस्वानो घण्टादिनिर्ह्रादवद् इति। तत्र यदा स्थान-करणाभिघातजे ध्वनौ नादोऽनुप्रदीयते तदा नादध्वनिसंसर्गाद् घोषो जायते, यदा तु श्वासोऽनुप्रदीयते तदा श्वासध्वनिसंसर्गादघोषो जायते।

अल्पे वायावल्पप्राणता, महति महाप्राणता जायते; महाप्राणत्वादूष्मत्वम् । यदा सर्वाङ्गानुसारी प्रयत्नस्तीव्रो भवति तदा गात्रस्य निग्रहः कण्ठबिलस्य चाणुत्वं स्वरस्य च वायोस्तीव्रगतित्वाद् रौक्ष्यं भवति तमुदात्तमाचक्षते। यदा तु मन्दः प्रयत्नो भवति तदा गात्रस्य स्त्रंसनं कण्ठबिलस्य च महत्त्वं स्वरस्य च वायोर्मन्दगतित्वात् स्निग्धता भवति तमनुदात्तमाचक्षते। उदात्ताऽनुदात्तस्वरसंनिपातात् स्वरित इत्येष कृत्स्नो बाह्यः प्रयत्न इति। अथवा विवारादयो वर्णनिष्पत्तिकालादूर्ध्वं वायुवशेनोत्पद्यन्ते, स्पृष्टतादयस्तु स्थानाऽऽस्यप्रयत्नव्यापारेण वर्णोत्पत्तिकाल एवेति वर्णनिष्पत्तिकालभावाऽभावाभ्यां विवारादीनां बाह्यत्वम्, स्पृष्टतादीनां चाभ्यन्तरत्वम्। तत्र वर्गाणां प्रथम-द्वितीयाः श-ष-स-विसर्ग-जिह्वामूलीयोपध्मानीयाश्च विवृत्त-कण्ठाः श्वासानुप्रदाना अघोषाः। वर्गाणां तृतीय-चतुर्थ-पञ्चमा अन्तस्था हकाराऽनुस्वारौ. च– संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तः । वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा अन्तस्थाश्चाल्पप्राणाः । इतरे सर्वे महाप्राणाः । स्थानग्रहणं किम्? क-च-ट-त पानां तुल्याऽऽस्यप्रयत्नानामपि भिन्नस्थानानां मा भूत्, किञ्च स्यात्? 'तर्प्तुम्' इत्यत्र ''धुटो धुटि स्वे वा'' (1. 3. 48.) इति पकारस्य तकारे लोपः स्यात्। आस्यप्रयत्नग्रहणं किम् ? चवर्ग-यशानां तुल्यस्थानानामपि भिन्नाऽऽस्यप्रयत्नानां मा भूत्, किञ्च स्यात्? 'अरुश् 'श्च्योतति' इत्यत्र ''धुटो धुटि स्वे वा'' (1. 3. 48.) इति शकारस्य चकारे लोपः स्यात्। स्वप्रदेशाः–''इवर्णादेरस्वे स्वरे यवरलम्'' (1. 2. 21.) इत्यादयः ।।17।।

न्या० स०–तुल्य०–तोल्यतेऽनया भिदाद्यङि तुला, तुलया संमितस्तुल्यः ``हृद्य-पद्य०'' (7. 1. 11.) इत्यादिना यः। प्रयत्न उत्साहः । *नासिकौष्ठौ* चेति-व्यस्तावेतौ, समासे तु ``प्राणितूर्य०'' (3. 1. 137.) इति समाहारः स्यात् । कलयति ईषदास्यभावम्, अच्, अल्पाद्यर्थे कपि, णके वा, कु ईषत् कलकः काकलकः ``अल्पे'' (3. 2. 136.) इति कादेशः; काकलक इति संज्ञा यस्य स तथा ग्रीवायामुन्नतप्रदेशः *आन्तर* इति–अन्तरा भवः ``भवे'' (6. 3. 123.) अण, अन्तर्जातो वा, भवे त्वर्थे दिगादित्वाद् यः स्यात् । स्पृश्यन्ते स्म स्पृष्टा वर्णाः, तेषां भावः स्पृष्टतावर्णानां प्रवृत्तिनिमित्तम्; स्पृष्टताहेतुत्वात् प्रयत्नोऽपि स्पृष्टता, ``अभ्रादिभ्यः'' (7. 2. 46.) इत्यप्रत्यये वा, संज्ञाशब्दत्वात् स्त्रीत्वम् । प्रयत्नानां संज्ञा इमा यथाकथञ्चिद् ? व्युत्पाद्यन्ते, एवं सर्वत्र । एवमीषत्स्पृष्टताऽपि । विव्रियन्ते स्म निवृता वर्णास्तेषां भावः, ईषद् विव्रियन्ते स्मेत्यादि । *करणमि*ति–वर्णोत्पत्तिकाले स्थानानां प्रयत्नानां च सहकारि कारणम् । सर्वेति-सर्वं मुखं स्थानमस्य, मुखस्थितानि सर्वाण्यपि स्थानानि अवर्णस्येत्यर्थः । *कण्ठतालव्यावि*ति-कण्ठतालुनि भवौ, देहांशसमुदायादपि यः । *स्वरेषु ए-ओ विवृततरावि*ति–ननु विवृततरताऽतिविवृततरताऽतिविवृततमतारूपाणां प्रयत्नान्तराणां सद्भावात् सप्तधा प्रयत्न इति वक्त मुचितम्, कथं चतुर्धेत्युक्तम्? सत्यम्-विवृततरतादीनपि विवृततया परिगृह्योक्तं चतुर्धा इति, विशेषस्य सामान्येऽन्तर्भावात् । *अकारः संवृत इत्यन्ये* इति–संवृतताऽऽख्यं पञ्चमं प्रयत्नमन्ये मन्यन्त इत्यर्थः । अकारं संवृतं शिक्षायामेके पठन्ति, तेनाकाराकारयोः संवृत-विवृतयोर्भिन्नप्रयत्नत्वात् स्वसंज्ञा न प्राप्नोतीति विवृत एवात्र प्रतिज्ञायते, प्रयोगे तु संवृत एवाऽसौ स्वरूपेणे*त्यन्य* इत्युक्तम् । *सानुनासिके*ति–नासिका-मनुगतो यो वर्णधर्मः स तथा, सह तेन वर्तते यो वर्णः स तथा । निर्गतोऽनुनासिकाद् यः स तथा । स्वरः संजातो येषां ते स्वरिताः । यथाकथञ्चिद् व्युत्पत्तिः । *अनुनासिक* इति-अनुनासिको धर्मोऽस्यास्तीति अभ्रादित्वाद् अः, तद्धर्मरहितो*ऽननुनासिक* इति । *रेफोष्मणां* त्विति-अन्यवर्णापेक्षया तेषां स्वत्वाभावः, रेफस्य तु रेफः स्वो भवंत्येव । एवमूष्मणामपि स्वा न भवन्तीति ।

ननु वर्णानां तुल्याऽऽस्यप्रयत्नत्वे कथं श्रुतिभेदः ? उच्यते–कालपरिमाण-करण-प्राणकृतगुणभेदात् श्रुतिभेदः । तथाहि-यावता कालेनाक्ष्ण उन्मेषो निमेषो वा भवति तावान् कालो मात्रा, मात्राकालो वर्णो मात्रिकः, द्विस्तावान् द्विमात्रः, त्रिस्तावान् त्रिमात्रः, अर्ध-मात्राकालं व्यञ्जनम्; तदिदं वर्णेषु चतुर्विधं कालपरिमाणं भेदकृद् भवति । करणं च श्रुतिभेदकरं भवति, तत् प्रागेवोक्तम् । प्राणकृताश्च गुणभेदा घोषाघोषादय इति । *निवृत्त्यर्थमि*ति-तेनारुश्श्च्योततीत्यत्र शकार-चकारयोस्तुल्यस्थान-बाह्यप्रयत्नत्वे सत्यपि ``धुटो धुटि०'' (1. 3. 48.) इति शकारस्य चकारे लोपो न भवति । *ते ह्यासन्न इत्यत्रैवे*ति-``आसन्नः''

(7. 4. 120.) इत्यत्रापि महाप्राणस्यैवावकाशः, अन्येषां च वेदे प्रयोजनम् । *उपयुज्यन्त* इति-उपयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । *शिक्षामि*ति-वर्णोत्पत्तिप्रतिपादकं शास्त्रम् *कोष्ठे* उदरे । *अन्यतमस्मिन्नि*ति-मतान्तरेणाऽयं साधुः, स्वमतेऽन्यतरग्रहणादन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानां सर्वादित्वनिषेधान्न सिध्यति । *अनुप्रदानमि*ति-अनुप्रदीयते वर्णान्तरसंजन-*नार्थमेकत्र* मील्यते ``भुजि-पत्यादिभ्यः०'' (5. 3. 128.) (इत्यनट्) *निग्रह* इति-स्तब्धत्वं कठिनत्वमिति यावत् । *अणुत्वम्*-सूक्ष्मत्वम् । *स्रंसनम्*-श्लथत्वमित्यर्थः । *वर्णनिष्पत्तिकालभावे*ति-अत्राल्पस्वरत्वेन भावशब्दस्य पूर्वनिपातः । श्वासलक्षणमनुप्रदानं येषां ते तथा । *इतरे* इति-इतरत्वं पूर्ववाक्याऽपेक्षम्, न सर्वेषामित्यर्थः । उदात्तादीनां स्वरेष्वेव संभवान्न व्यञ्जनेषु इति व्यञ्जनोत्पत्तौ न कथ्यन्ते उदात्तादयो बाह्यप्रयत्नाः ।।17।।

स्यौ-जसमौ-शस्टा-भ्याम्-भिस्-ङे-भ्याम्-भ्यस्-ङसि-भ्याम्-भ्यस् ङसोसाम्-ङ्योस्-सुपां त्रयी त्रयी प्रथमादिः ।।1. 1. 18. ।।

त्यादीनां प्रत्ययानां त्रयी त्रयी यथासंख्यं प्रथमा-द्वितीया-तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी-षष्ठी-सप्तमीसंज्ञा भवति । इ-ज-श-ट-ङ-पा अनुबन्धाः ``सौ नवेतौ'' (1. 2. 38.) इत्यादौ विशेषणार्थाः । बहुवचनं स्याद्यादेशानामपि प्रथमादि-संज्ञाप्रतिपत्त्यर्थम् प्रथमादिप्रदेशाः– ``नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ'' (2. 2. 31.) इत्यादयः ।।18।।

*न्या०स०–स्यौजस्–त्रयी त्रयी*ति भवनक्रियायां वीप्सा । *विशेषणार्था* इति–विशेषो विशेषणं व्यवच्छेद इति यावत्, तत्प्रयोजना इत्यर्थः । प्रथमा आदिर्यस्य संज्ञासमूहस्य । *बहुवचनमि*ति–❁ तदादेशास्तद्वद् भवन्ति ❁ इति न्यायात् साध्यसिद्धिर्भविष्यति किं बहुवचनेन ? सत्यम्-न्यायं विनाऽपीत्थं साधितम् । इयं हि महती शक्तिर्यत् परिभाषां न्यायांश्च विना साध्यत इति ।।18।।

स्त्यादिर्विभक्तिः ।।1. 1. 19.।।

`स' इत्युत्सृष्टानुबन्धस्य सेर्ग्रहणम्, `ति' इति उत्सृष्टानुबन्धस्य तिवः; आदिशब्दो व्यवस्थावाची । स्यादयस्तिवादयश्च प्रत्ययाः सुप्-स्यामहिपर्यन्ता विभक्तिसंज्ञा भवन्ति । विभक्तिप्रदेशाः–``अधातुविभक्तिवाक्यमर्थवन्नाम'' (1. 1. 27.) इत्यादयः ।।18।।

न्या०स०—स्त्यादि०—विभज्यन्ते विभागशः प्रकाश्यन्ते कर्तृ-कर्मादयोऽर्था अनयेति, विभजनं वा ``श्वादिभ्यः'' (5. 3. 92.) इति क्तिः । अनुबध्यते कार्यार्थमुपदिश्यते *इत्यनुबन्ध* इत्, उत्सृष्टस्त्यक्तोऽनुबन्धो येन यस्य वा स तथा तस्य । *व्यवस्थावाची*ति तेन ये यदनुबन्धा यावन्तो विभक्तिसंज्ञायां पूर्वाचार्यैर्व्यवस्थापितास्त एव तदनुबन्धा एव तावन्त एवाऽत्र गृह्यन्त इति ।।19।।

तदन्तं पदम् ।।1. 1. 20.।।

स्याद्यन्तं त्याद्यन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति । धर्मो वः स्वम् । ददाति नः शास्त्रम् । अन्तग्रहणं पूर्वसूत्रे तदन्तप्रतिषेधार्थम् । पदप्रदेशाः– ``पदस्य'' (2. 1. 96.) इत्यादयः ।।20।।

न्या०स०—तदन्त०—पद्यते-गम्यते कारकसंसृष्टोऽर्थोऽनेनेति *पदम्* ``वर्षादयः०'' (5. 3. 29.) इत्यल् । नन्वन्तग्रहणं किमर्थम् ? न चासत्यन्तग्रहणे `सा पदम्' इति कृते स्त्यादेरेव पदसंज्ञा स्यात्, ततश्च `अग्निषु' इत्यादौ पदमध्ये विधीयमानं षत्वं पदादौ न स्यादिति वाच्यम् । ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति परिभाषया तदन्तविधेर्लब्धत्वादिति, सत्यम्-पदसंज्ञायामन्तग्रहणमन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त-प्रतिषेधार्थम्, अन्यथा ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति परिभाषया स्त्याद्यन्तस्य विभक्तिसंज्ञा स्यात्, तस्यां च सत्यां `काष्ठगृहं युष्मत्पुत्राणाम्' इत्यादौ काष्ठशब्दस्य गृहमिति विभक्त्या पदत्वे ततः परस्य युष्मदः स्थाने पुत्राणामिति विभक्त्या सह वसादेशः स्यादित्यतिव्याप्तिः *`ददाति नः शास्त्रम्'* इत्यादौ च ददातीत्यादेर्विभक्तिसंज्ञकत्वेन पदा भावान्नो न स्यादित्यतिव्याप्तिः, इति ते (अतिव्याप्त्यव्याप्ती) मा भूतामित्यन्तग्रहणम् ।।20।।

नाम सिदय्व्यञ्जने ।।1. 1. 21.।।

सिति प्रत्यये यकारवर्जिते व्यञ्जनादौ च परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं भवति । भवदीयः, ऊर्णायुः, अहंयुः, अहँय्युः, शुभंयुः शुभँय्युः । व्यञ्जनेपयोभ्याम्, पयस्सु, राजता, दृक्त्वम्, राजकाम्यति । नामेति किम् ? धातोर्मा भूत्-वच्मि, यज्वा । सिदय्व्यञ्जन इति किम् ?, भवन्तौ, राजानौ । यवर्जनं किम् ? वाचमिच्छति वाच्यति । अन्तर्वर्तिन्यैव विभक्त्या तदन्तस्य पदत्वे सिद्धे सिद्ग्रहणं नियमार्थम्, तेन प्रत्ययान्तरे न भवति-सौश्रुतम्, भागवतम् ।।21।।

न्या०स०—नामे०—नमति धातवे इति *नाम*, नमति प्रह्वीभावं गच्छति अर्थं प्रति इति

वा ``सात्मन्नात्मन्०'' (उणा० 916.) इति साधुः । वेति विशिष्टार्थप्रतीतिं जनयतीति विः ``नी-वी-प्र-हृभ्यो डित्'' (उणा० 616.) इति डित् इः । ननु `नाम सिदय्व्यञ्जने' इत्येव क्रियतां किं यवर्जनेन ? न च `वाच्यति' इत्यादावपि पदसञ्ज्ञाप्राप्तिरिति वाच्यम्, यतो व्यञ्जनद्वाराऽनेनैव `राजीयति' इत्यादौ पदत्वेऽपि सिद्धे ``नं क्ये'' (1. 1. 22.) इति सूत्रं नियमसूत्रतया व्याख्यास्यते–नकारान्तमेव क्यप्रत्यये पदसंज्ञं भवति नान्यद् इति, नान्तं क्यप्रत्यय एव पदम्, न प्रत्ययान्तरे, इति विपरीतनियमोऽपि कथं न भवति ? तथा च `राजा, सीमा' इत्यादावपि पदत्वं न स्यादिति चेत्, तन्न-``युवा खलति०'' (3. 1. 113.) इत्यादिनिर्देशात् । सत्यम्-यवर्जनाभावे `सत्सु साधु-सत्यम्' इत्यादिषु ``नाम सिद्०'' (1. 1. 21.) इति पदसंज्ञा स्यादित्येतदर्थं यवर्जनमिति । *राजतेति*, *सौश्रुतमित्यादौ* नियमस्य चरितार्थत्वात्, *पयोभ्यामित्यादौ* च `अय्व्यञ्जने' इत्यस्य, *राजता*, *दृक्त्वमित्यत्रो*भयप्राप्तौ ❊ स्पर्धे परम ❊ ``स्पर्द्धे'' (7. 4. 119.) इति न्यायाद् व्यञ्जनाश्रितं पदत्वं भवति ।।21।।

नं क्ये ।।1. 1. 22.।।

क्य इति उत्सृष्टानुबन्धानां क्यन्-क्यङ्क्यङ्षां ग्रहणम्, नकारान्तं नाम क्ये प्रत्यये परे पदसंज्ञं भवति । राजानमिच्छति क्यन्-राजीयति । राजेवाऽऽचरति क्यङ्–राजायते । अचर्म चर्म भवति क्यङ्ष् चर्मायति, चर्मायते, पदत्वान्नलोपः । नमिति किम् ? वाच्यति । क्य इति किम् ? सामनि साधुः सामन्यः । एवं वेमन्यः । अयिति प्रतिषेधात् पूर्वेणाऽप्राप्ते वचनम् ।।22।।

न्या०स०–नं क्य०–`क्ये' इति सामान्यनिर्देशेऽपि क्य-क्यपोर्नामाधिकारेण व्यावर्तिततत्वाद् अन्यस्य निरनुबन्धस्याभावाद् उत्सृष्टानुबन्धस्य क्यमात्रस्य ग्रहणमित्याह-*क्य* इत्यादि । *चर्मायतीति*–चर्मणः प्रागतत्तत्त्वासंभवात् च्व्यर्थाभावे क्यङ्ष् न प्राप्नोतीति तद्वद्व त्तेश्चर्मन्शब्दात् प्रत्ययः, अचर्मवान् चर्मवान् भवतीति, यथा-निद्रायतीत्यादि । *अयितीति*-अन्तर्वर्तिन्या विभक्त्या ``तदन्तं पदम्'' (1. 1. 20.) इति पदत्वं प्राप्तम्, तत् सित्येवेति नियमेनापोदितमपि *`व्यञ्जने'* इत्यंशेन पुनः प्रसूतम्, ततः `अय्' इति प्रतिषेधेन प्रतिषिद्धमनेन प्रतिप्रसूयते ।।22।।

न स्तं मत्वर्थे ।।1. 1. 23.।।

सकारान्तं तकारान्तं च नाम मत्वर्थे प्रत्यये परे पदसंज्ञं न भवति । यशस्वी । मतोरपि मत्वर्थाव्यभिचाराद् मत्वर्थशब्देन ग्रहणम् । पेचुष्मान्, विदुष्मान्, यशस्वान्, तडित्वान्, मरुत्वान्,

विद्युत्वान् । स्तमिति किम् ? तक्षवान्, राजवान् । मत्वर्थ इति किम् ? पयोभ्याम् । अय्व्यञ्जन इति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ? ।।23।।

न्या०स०–न स्त०–मतुर्मत्वर्थोऽर्थो यस्येति समानाधिकरणो बहुव्रीहिः, यथा-उष्ट्रो मुखमस्येत्युष्ट्रमुख इत्यत्र, नहि प्राणी प्राण्यन्तरस्य साक्षान्मुखं भवतीति सामर्थ्यात् सादृश्यप्रतीतिः, समग्रेण चोष्ट्रेण सह सादृश्याभावादुष्टशब्दोऽवयवे बर्तते, मुखेनैव च मुख-सादृश्यं प्रसिद्धमिति सामर्थ्यान्मुखमिव मुखमस्येत्यर्थोऽवतिष्ठते; एवमिहापि मतुशब्दस्यार्थेन सामानाधिकरण्यमनुपपद्यमानं मतुशब्दं मत्वर्थवृत्तिं गमयतीत्युक्तम्–*मतोरपीति*–मतुशब्दस्यापि मत्वर्थाव्यभिचाराद् मत्वर्थेन ग्रहणमिति । *पेचुष्मानिति*–``स्थानीवावर्णविधौ'' (7. 4. 109.) इति न्यायेन अपदसंज्ञस्याऽऽदेशोऽप्यपदमित्युषादेशे कृते सन्तत्वाभावेऽप्यपदत्वात् ``घुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति षस्य डत्वं न भवति ।।23।।

मनुर्नभोऽङ्गिरो वति ।।1. 1. 24.।।

मनुस् नभस् अङ्गिरस् इत्येतानि नामानि वति प्रत्यये परे पदसंज्ञानि न भवन्ति । मनुरिव मनुष्वत्, एवम्-नभस्वत्, अङ्गिरस्वत् । पदत्वाभावाद् रुर्न भवति, षत्वं तु भवति ।।24।।

वृत्त्यन्तोऽसषे ।।1. 1. 25.।।

परार्थाभिधानं वृत्तिः, तद्वाँश्च पदसमुदायः समासादिः, तस्या अन्तोऽवसानं पदसंज्ञो न भवति; 'असषे' सस्य षत्वे तु पदसंज्ञैव । परमदिवौ, श्वलिहौ, गोदुहौ, परमवाचौ, बहुदण्डिनौ । एषु पदत्वाभावादुत्व-ढत्व-घत्व-कत्व-लुगादीनि न भवन्ति । वृत्तिग्रहणं किम् ? चैत्रस्य कर्म । अन्त-ग्रहणं किम् ? राजवाक्, अत्र नलोपो भवति । वाक्-त्वक्-स्रुच इति त्रयाणां वृत्तौ न द्वयोः पृथग्वृत्तिरिति मध्यमस्य निषेधो न भवति । अथ 'वाक्त्वचम्' इत्यत्र समासान्ते सति वृत्त्यन्तत्वाभावात् पदत्वं प्राप्नोति, तथा च कत्वं स्यात् उच्यते-समासात् समासान्तो विधीयत इति त्वचो वृत्त्यन्तत्वम् । असष इति किम् ? सिञ्चतीति विच् सेक्, दध्नः सेक् दधिसेक्, दधिसेचौ । ईषदूनः सेक्, बहुसेक्, बहुसेचौ । अत्र पदसंज्ञायां पदादित्वात् सकारस्य ``नाम्यन्त-स्था०'' (2. 3. 15.) इत्यादिना षत्वाभावः सिद्धः । अन्तर्वर्तिन्या विभक्तेः स्थानिवद्भावेन पदत्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते । न च सित्येवेति नियमेन तन्निवर्तयितुं शक्यम्, ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति हि यस्मात् समुदायात् प्रत्ययविधानं तस्यैव पदत्वं नियमेन निवर्त्यते, न तु तदवयवस्येति ।।25।।

न्या०स०–वृत्त्यन्त०–वर्तनं वृत्तिः क्तिः, वर्तनव्यापारवतीत्यर्थः, वर्तनं तु अवयवार्थापेक्षया परस्य समुदायार्थस्य प्रतिपादनम्; यद्वा 'वर्तिषीष्ट-परार्थमभिधेयाद्' इत्याशास्यमाना वृत्तिः, कर्तरि तिक्; यद्वा वर्तन्ते स्वार्थपरित्यागेन पदान्यत्रेति आधारे क्तौ वृत्तिः पदसमुदायादिरूपा । सा त्रेधा-समासवृत्तिः 1 तद्धितान्तवृत्तिः 2 नामधातुवृत्तिश्चेति; 'राजपुरुषः, औपगवः, पुत्रकाम्यति' इत्यादि । *परार्थाभिधानमि*ति-अवयवार्थापेक्षया परोऽर्थः समुदायार्थः, यद्वा अवयवपदापेक्षया परोऽर्थः समुदायार्थः, यद्वा अवयवपदापेक्षया समुदायः परमदिव्लक्षणः परस्तस्यार्थः तस्याभिधानम् । अनेकार्थत्वात् परार्थाभिधानेऽपि वृत्तिशब्दः । *अवसानमि*ति-अवसीयतेऽस्मिन् इत्यवसानम् । लोढ इति लिहौ, क्विप्, शुनो लिहौ *श्वलिहौ* ''षष्ठ्ययत्नाच्छेषे'' (3. 1. 76.) इति समासः, इति कर्तव्यम्, न तु श्वानं लीढ इति, यतस्तस्मिन् कृते ❉गतिकारक❉ इति क्विबन्तेन लिह् इत्यनेन समासे सति लिह् इत्यस्याविभक्त्यन्तत्वेन पदत्वप्राप्तिरेव नास्तीति । *लुगादीनी*ति-आदिशब्दाद् ढत्वे सत्यस्यैव डत्वम्, घत्वे सति ''गडदबादेः०'' (2. 1. 77.) इति दस्य धत्वम्, कत्वे सति गत्वम्, लुगभावे ''ह्रस्वान्ङ्णानो द्वे'' (1. 3. 27.) इति द्वित्वं च न भवति । *राजवागि*ति-अत्रान्तग्रहणात् पूर्वस्य पदत्त्वे सति नलोपः, तथाऽवयवाश्रितपदत्वप्रतिबेधेऽपि समुदायविभक्त्याश्रितं पदत्वमस्तीति कत्वं बभूवेति । *वाक्-त्वक्-स्त्रुच* इति-अत्र वाक्शब्दापेक्षया त्वक्शब्दो वृत्त्यन्त इति परस्याऽऽशयः । *त्वक्त्वचमि*ति-अत्र समासान्ते कृते वृत्तिरकारान्ता भवति, न च तत्र त्वगिति वृत्त्यन्तः, ततः ''वृत्यन्तोऽसषे'' (1. 1. 25.) इति पदत्वप्रतिषेधस्त्वचो न प्राप्नोति ।

समाधत्ते–*उच्यत* इत्यादिना । असमर्थः–समासात् समासान्तो विधीयमानस्तस्यैवान्तत्व व्याहन्ति, न तु तदवयवस्य त्वचः, तस्य समासावयवत्वात्, नहि समुदायावयवोऽवयवस्यावयवो भवति । यद्वेत्थं व्याख्यासमासशब्देन समासावयवोऽभिधीयते, ततः समासावयवात् त्वचः समासान्तो विधीयत इति भवत्ववृत्यन्तत्वं त्वचस्तथापि सित्येवेति नियमेन पदत्वं निवर्त्यत इति भावः । अथवा समासात् परः समासान्तो विधीयते, ततः स्यादेः पूर्वस्त्वच एव परो भवति, इति अस्तु अवृत्त्यन्तत्वं त्वचः, तत्र च पदत्वप्राप्तिरेव नास्तीति कत्वाभाव इति । समासशब्दस्तु लक्ष्यवशात् क्वचित् समासावयवं क्वचित् समासं चाऽऽहेति । *दबिसेगि*ति-सिञ्चतीति विच् (सेक्,) ततो दध्नः सेगित्येव कार्यम्, दधि सिञ्चतीति तु न, यतः 'सोपपदात् सिचो विज् नेष्यते' इति न्यासः ।।25।।

सविशेषणमाख्यातं वाक्यम् ।।1. 1. 26.।।

त्याद्यन्तं पदमाख्यातम् । साक्षात् पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः

प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वाऽऽख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति । धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु, साधु वो रक्षतु, साधु नो रक्षतु, उच्चैर्वो वदति, उच्चैर्नो वदति, भोक्तुं त्वा याचते, भोक्तुं मा याचते, शालीनां ते ओदनं ददाति, शालीनां मे ओदनं ददाति, अप्रयुज्यमानविशेषणम्-लुनीहि3, पृथुकाँश्च खाद, पुनीहि3, सक्तूंश्च पिब । अप्रयुज्यमान-माख्यातम्-शीलं ते स्वम्, शीलं मे स्वम् । अर्थात् प्रकरणाद् वाऽऽख्यातादेर्गतावप्रयोगः । लोकादेव वाक्यसिद्धौ साकाङ्क्षत्वेऽप्याख्यातभेदे वाक्यभेदार्थं वचनम्, आख्यातमित्यत्रैकत्वस्य विवक्षितत्वात् । तेन ओदनं पच, तव भविष्यति, मम भविष्यति; पच, तव भविष्यति, मम भविष्यति; ओदनम्, तव भविष्यति, मम भविष्यतीत्यादौ श्रूयमाणे गम्यमाने वाऽऽख्यातान्तरे भिन्नवाक्यत्वाद् वस्-नसादयो न भवन्ति । लौकिके हि वाक्येऽङ्गीक्रियमाणे आख्यातभेदेऽप्येक-वाक्यत्वाद् वस्-नसादयः प्रसज्येरन्निति । कुरु कुरु नः कटमित्यादौ तु कृते द्विर्वचनेऽर्थाभेदादेकमेवाख्यातमित्येकवाक्यत्वाद् वस्-नसादयो भवन्ति । वाक्यप्रदेशाः—``पदाद् युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्-नसौ बहुत्वे'' (2. 1. 21.) इत्यादयः ॥26॥

न्या०स०—सविशेषण०—आख्यायते स्म क्रियाप्रधानत्वेन साध्यार्थाभिधायितया वा इत्या*ख्यातम्*, तच्च *त्याद्यन्तमि*ति । क्रियोपलक्षणं चैतत्, तेन 'देवदत्तेन शयितव्यम्' इत्याद्यपि वाक्यं भवति । *साक्षादि*त्यादि—यत् क्रियायाः साधनस्य वा तदतदात्मनोऽतद्रूपादव्यवधानेन व्यवच्छेदकं क्वचित् तत् साक्षाद् विशेषणम्, यत् तद्विशेषणस्य विशेषणं तत् पारम्पर्येण । '*धर्म*' इत्यादौ यत्र क्रियापदं कर्तरि तत्र कर्ता क्रियापदस्य समानाधिकरणं विशेषणमन्यानि व्यधिकरणानि, कर्मणि तु क्रियापदे कर्म समानाधिकरणम् । *साधु वो रक्षत्वि*त्यादौ साध्विति रक्षणादिक्रियायाः समानाधिकरणम्, रक्षत्वित्यादिक्रियापदस्य तु व्यधिकरणमिति । *शालीनां ते* इति-अत्रौदनस्य साक्षाद् विशेषणस्य विशेषणत्वाच्छालीनामिति पारम्पर्येण विशेषणम् । *शीलं ते स्वमि*ति-अत्रास्तीत्यादि क्रियापदं न प्रयुज्यते परं तस्याप्रयुज्यमानस्यापि स्वमिति समानाधिकरणम् । ननु शब्द-प्रयोगोऽर्थप्रतिपत्त्युपायः, तस्य चाप्रयुज्यमानस्यापि विशेषण-विशेष्यभावेऽतिप्रसङ्गः, अप्रयुज्यमानत्वाविशेषात् सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात् । किञ्च, यद्यप्रयुज्यमानमपि शब्दरूपं विशेष्यं विशेषणं वा गमयेत् तदाऽनर्थकः सर्वत्र तत्प्रयोग इत्याह—*अर्थात्* इत्यादि । *लोकादेवे*ति-लोको हि साकाङ्क्षत्वे सति । क्रियाभेदेऽप्येकवाक्यत्वं प्रतिपद्यत इति साकाङ्क्षत्वेऽपि क्रियाभेदे वाक्यभेदार्थं वचनमिति भावः । *कुरु कुरु न* इति—अत्र युगपद्वाक्यद्वयप्रयोग इति एकवाक्यत्वाभावान्नसादेशस्य न प्राप्तिरिति पराभिप्रायः ॥26॥

अधातु-विभक्ति-वाक्यमर्थवन्नाम ।।1. 1. 27.।।

अर्थोऽभिधेयः—स्वार्थः, द्रव्यम्, लिङ्गम्, संख्या, शक्तिरिति, द्योत्यश्च समुच्चयादिः । तद्वच्छब्दरूपं धातुविभक्त्यन्त-वाक्यवर्जितं नामसंज्ञं भवति । वृक्षः, प्लक्षः, शुक्लः, कृष्णः, डित्थः, डवित्थः, स्वः, प्रातः, धवश्च खदिरश्च । धातु-विभक्तिवर्जनं किम् ? अहन्, वृक्षान्, अयजन्, अत्र नामत्वाभावे ``नाम्नो नोऽनह्नः'' (2. 1. 91.) इति नलोपो न भवति । विभक्त्यन्तवर्जनाच्चाऽऽबादिप्रत्ययान्तानां नामसंज्ञा भवत्येव । आप्-अजा, बहुराजा । ङी-गौरी, कुमारी, डायनि-गार्ग्यायणी, गौकक्ष्यायणी । ति-युवतिः । ऊङ्—ब्रह्मबन्धुः, करभोरूः । कृत्-कारकः, कर्ता, भिनत्तीति भिद्, एवं छित् । तद्धितः—औपगवः, आक्षिकः । वाक्यवर्जनं किम् ? साधुर्धर्मं ब्रूते । अर्थवत्समुदायस्य वाक्यस्य नामसंज्ञाप्रतिषेधात् समासादेर्भवत्येव-चित्रगुः, राजपुरुष, ईषदपरिसमाप्तो गुडो बहुगुडो द्राक्षा । अर्थवदिति किम् ? वनम्, धनम्, नान्तस्यावधेर्मा भूत्, नामत्वे हि स्याद्युत्पत्तौ पदत्वान्नलोपः स्यात् यदाऽनुकार्यानुकरणयोः स्याद्वादाश्रयणेनाभेदविवक्षा तदाऽर्थवत्त्वाभावान्न भवति नामसंज्ञा; यथा-गवित्ययमाहेति; यदा तु भेदविवक्षा तदाऽनुकार्येणार्थेनार्थवत्त्वाद् भवत्येव-पचतिमाह, चः समुच्चये, ``नेर्विशः'' (3. 3. 24.) ``परावेर्जेः'' (3. 3. 28.) इत्यादि । नामप्रदेशाः—``नाम सिदय्व्यञ्जने'' (1. 1. 21.) इत्यादयः ।।27।।

न्या०स०—अधातु०-उच्यते विशिष्टोऽर्थोऽनेनेति बाहुलकात् करणेऽपि घ्यणि वाक्यम्, कर्मणि तु प्रतीतमेव । अर्थो द्वेधा-अभिधेयो द्योत्यश्च । तत्राभिधेयः स्वार्थादिभेदात् पञ्चधा, द्योत्यश्च समुच्चयादिरिति । यद्वा चकारादिना द्योत्यस्यापि समुच्चयादेः समासादिनाऽभिधीयमानत्वादभिधेयत्वमस्तीत्याह—*द्योत्यश्चे*त्यादि-अभिधेय इति शेषः, न केवलं स्वार्थादिरभिधेयो द्योत्यश्च समुच्चयादिरभिधेय इति चार्थः । *समुच्चयादि*रिति-आदिपदाद् 'वा विकल्पादौ' 'एवोऽवधारणे' इत्यादि बोध्यम् । तथा द्योतकानां विशेषणं नास्ति, यथा-'घटश्च भव्यम्' इति । तथा चादीनां स्वार्थोऽपि द्योत्यतया न वाचकतयेत्येकोऽप्यभिधेयो नास्ति । स्वरादीनां तु लिङ्गसंख्ये न स्तः । ननु *'अहन्'* इत्यत्र विभक्त्यन्तद्वारेणैव नामत्वं न भविष्यति किं धातुवर्जनेन ? सत्यम्-तथापि 'हन्ति' इत्यत्र धातुवर्जनाभावे विभक्तेः प्राक्तनस्य 'हन्' इत्यस्य नामत्वे ``नाम सिद्०'' (1. 1. 21.) इति व्यञ्जनद्वारा पदत्वे च नलोपः स्यादिति धातुवर्जनमिति । अथ *'वृक्षान्'* इत्यत्र नकारविधानसामर्थ्यादेव नलुग् न भविष्यति किं विभक्तिवर्जनेनेति ? सत्यम्-'कांस्कान्' इत्यादौ ``शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इति नविधानं

चरितार्थमित्यत्र नलोपः स्याद् इति । ननु *'साधुर्धर्मं ब्रुते'* इत्यत्र विभक्त्यन्तत्वादेव नामत्वं न भविष्यति किं वाक्यवर्जनेन ? सत्यम्-``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति परिभाषया ब्रूधातोरेव विभक्त्यन्तत्वं न तु समग्रवाक्यस्य, ततो वाक्यस्य नामत्वे साधुर्धर्मं ब्रूते इत्येवंरूपाद् वाक्याद् विभक्तावनिष्टरूपप्रसङ्ग इति । *समासादेर्भवत्येवे*ति-अन्यथा ह्यर्थ वच्छब्दरूपस्य नामत्वे विधीयमानेऽर्थवत्समुदायरूपस्य वाक्यस्य प्रसङ्ग एव नास्ति किं वाक्यवर्जनेन ? ततश्चै तदेव वाक्यवर्जनं बोधयति-समासादेः समुदायस्य भवत्येवेति । ननु *अधातु-विभक्ती*त्यत्र पर्युदासाश्रयणादर्थवत एव नामत्वं भविष्यति नार्थोऽर्थवदित्यनेन, सत्यम्-अर्थवदिति संज्ञिनिर्देशार्थम् । पर्युदासाऽऽश्रयणे हि केन धर्मेण सादृश्यमाश्रीयत इत्यप्रतिपत्तिः स्यात्, ततश्चानर्थकानामपि धर्मान्तरेण सदृशत्वे नामसंज्ञाप्रसङ्ग इत्याह–*अर्थवदि*ति । अव्युत्पत्तिपक्षाऽऽश्रयणे 'वन' इत्यादेरखण्डस्यैवार्थवत्त्वं न तु तदवयवस्य 'वन्' इत्यादेर्नान्तस्येति; व्युत्पत्तिपक्षे तु धात्वर्थेनार्थवत्तायामपि धातुद्वारेणैव वर्जनसिद्धिरिति । ननु 'गौः' इति वक्तव्ये शक्तिवैकल्याद् 'गो' इति केनचिदुक्तम्, तत्समीपवर्ती च तदुक्तमपरेण पृष्टः सन्ननुकरोति, तदा तदनुकरणस्य नामसंज्ञा स्याद् वा नवेत्याहयदेत्यादि । *अनुकार्येणे*ति-वर्णावलीरूपेणेत्यर्थः ॥27॥

शिर्घुट् ॥1. 1. 28.॥

जस्-शसादेशः शिर्घुट्संज्ञो भवति । पद्मानि तिष्ठन्ति, पद्मानि पश्य । घुट्प्रदेशाः– ``घुटि'' (1. 4. 68.) इत्यादयः ॥28॥

पुं-स्त्रियोः स्यमौजस् ॥1. 1. 29.॥

औरिति प्रथमा-द्वितीयाद्विवचनयोरविशेषेण ग्रहणम् । सि अम् औ 2 जस् इत्येते प्रत्ययाः पुंलिङ्गे स्त्रीलिङ्गे च घुट्संज्ञा भवन्ति । राजा, राजानम्, राजानौ तिष्ठतः, राजानौ पश्य, राजानः । स्त्रियाम्-सीमा, सीमानम्, सीमानौ तिष्ठतः, पश्य वा, सीमानः । ``नि दीर्घः'' (1. 4. 85.) इति दीर्घः । पुं-स्त्रियोरिति किम् ? सामनी, वेमनी; घुट्त्वाभावाद् दीर्घो न भवति । किं पुनः पुमान् स्त्री वा ? लिङ्गम् । किं पुनस्तत् ? अयम्, इयम्, इदम् इति यतस्तत् पुमान् स्त्री नपुंसकम् इति लिङ्गम् । तच्चार्थधर्म इत्येके, शब्दधर्म इत्यन्ये, उभयथापि न दोषः ॥29॥

न्या०स०–पुंस्त्रियोः०–अलौकिकोऽयं निर्देशः । अन्यथा पुमांश्च स्त्री चेति कृते-

ऽर्च्यत्वात्स्त्रीशब्दस्य प्राग्निपाते ``स्त्रियाः पुंसो द्वन्द्वाच्च'' (7. 3. 96.) इति समासान्ते च स्त्रीपुंसयोरिति स्यात् । अनेन चैतज्ज्ञाप्यते क्वचिदलौकिको निर्देशो भवतीति । *स्यमौज-सिति* । अत्र व्यतिक्रमनिर्देश एवावृत्यौकारद्वयंग्रहणं साधयति । तथाहि अम्च औश्च अमौ । ततः सिश्च अमो च जस् चेति कृतेऽम्सहचरितस्य द्वितीयाद्विवचनस्य ग्रहः । आवृत्त्या तु व्याख्याने औश्च जस् च औजस् । सिश्च अम् च औजस्चेति कृते जस् साहचर्यात्प्रथमा-द्विवचनस्य ग्रहः । एकशेषो वा क्रियते । ओश्च औश्च आवौ । ततः सिश्च अम् च आवौ च जस् च तत्तयेति, इत्याह औरिति ।

स्वरादयोऽव्ययम् ॥1. 1. 30.॥

स्वरादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । स्वः सुखयति, एहि जाये ! स्वा रोहाव, स्वः संजानीते, स्वः स्पृहयति, स्वरागच्छति । ``छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु'' । स्वर्वसति, अन्तर्यामि, अन्तर्वसति । `अत्युच्चैसौ, अत्युच्चैसः' इत्यत्रोच्चैरतिक्रान्तो यस्तदभिधायकस्य पूर्वपदार्थप्रधानस्य समासस्य संबन्धी स्यादिर्नोच्चैःशब्दस्य, तेन ``अव्ययस्य'' (3. 2. 7.) इति लुप् न भवति, `परमोच्चैः, परमनीचैः' इत्यत्र तु उत्तरपदार्थप्रधानत्वात् समासस्याव्यय-संबन्ध्येव स्यादिरिति भवत्येव । अन्वर्थसंज्ञा चेयम्—`अव्ययम्' इति (तेन) लिङ्ग-कारक-विभक्तिनानात्वेऽपि न नानारूपतां प्रतिपद्यत इति, यदुक्तम्—

``सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्'' ॥5॥

अन्वर्थाश्रयणे च स्वराद्यव्ययमव्ययं (स्वरादि अव्ययम्—अव्ययं) भवतीति स्वरादेर्विशेष-णत्वेन तदन्तविज्ञानात् परमोच्चैः परमनीचैरित्यादावप्यव्ययसंज्ञा भवति । स्वर्, अन्तर्, सनुतर्, पुनर्, प्रातर्, सायम्, नक्तम्, अस्तम्, दिवा, दोषा, ह्यस्, श्वस्, कम्, शम्, योस्, मयस्, विहायसा, रोदसी, ओम्, भूस्, भुवस्, स्वस्ति, समया, निकषा, अन्तरा, पुरा, बहिस्, अवस्, अधस्, असाम्प्रतम्, अद्धा, ऋतम्, मिथुस्, मिथुनम्, अनिशम्, मुहुस्, अभीक्ष्णम्, मङ्क्षु, झटिति, उच्चैस्, नीचैस्, शनैस्, अवश्यम्, सामि, साचि, विष्वक्, अन्वक्, ताजक्, द्राक्, स्राक्, ऋधक्, पृथक्, धिक्, हिरुक्, ज्योक्, मनाक्, ईषत्, जोषम्, ज्योषम्, तूष्णीम्, कामम्, निकामम्, प्रकामम्, अरम्, वरम्, परम्, चिरम्, आरात्, तिरस्, मनस्, नमस्, भूयस्, प्रायस्, प्रबाहुं, प्रबाहुक्, प्रबाहुकम्, आर्य, हलम्, आर्यहलम्, स्वयम्, अलम्, कु, बलवत्, अतीव, सुष्ठु, दुष्ठु, ऋते सपदि, साक्षात्, सन्, प्रशान्, सनात्, सनत्, सना, नाना, विना, क्षमा शु, सहसा, युगपत्, उपांशु, पुरतस्, पुरस्,

पुरस्तात्, शश्वत्, कुवित् (द्), आविस्, प्रादुस्, इति स्वरादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेनान्येषामपि चादिषूपात्तानामनुपात्तानां च स्वरादिसधर्मणामव्ययसंज्ञा भवति । स्वरादयो हि स्वार्थस्य वाचका न तु चादिवद् द्योतका इति । अव्ययप्रदेशाः–``अव्ययस्य'' (3. 2. 7.) इत्यादयः ।।30।।

*न्या०स०–स्वरे०–अत्युच्चै*साविति–ननु पूर्वपदमप्यत्राव्ययम्, ततस्तत्संबन्धित्वाल्लुप् प्राप्नोतीति, सत्यम्–अतिक्रान्तेऽर्थे लिङ्ग-संख्यायोगादतिशब्दः सत्त्वे वर्तते इति नाव्ययम् । ``अतिरतिक्रमे च'' (3. 1. 45.) इत्यत्र बाहुलकात् क्वचित् समासाभावेऽति स्तुत्वेत्यादौ क्रियासंबद्धस्यातिशब्दस्य द्योतकत्वमेवेति । *परमनीचैरित्यत्र* त्वित्यादि–अत्र तुशब्दो विशेषणार्थः, पूर्वस्माद् विशेषं द्योतयति, तेन किं सिद्धम् ? यत्रानुपसर्जनः स्वराद्यन्तो भवति तत्रावयवः समुदायश्चोभयमप्यव्ययं भवत्येव, समासस्योत्तरपदार्थप्रधानत्वात् । ननु भवत्वेवं तथापि संज्ञाविधौ तदन्तप्रतिषेधस्य ज्ञापितत्वाद् ❁ ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ❁ इति प्रतिषेधाच्च कथं परमोच्चैरित्यादौ तदन्तस्याव्ययसंज्ञेत्याह-*अन्वर्थाश्रयणे* चेत्यादि-न व्येति न नानात्वं गच्छति सत्त्वधर्मान्न गृह्णाति इत्यन्वर्थसिद्धिः । अयमर्थः–यदन्वर्थसंज्ञाकरणाद् द्वितीयमव्ययमित्युपस्थापितं तद् विशेष्यत्वेन विज्ञायते, तस्य स्वरादीति विशेषणत्वेन, ततश्च ``विशेषणमन्तः'' (7. 4. 113.) इति न्यायात् तदन्तविज्ञानम्[1], केवलस्य तु व्यपदेशिवद्भावात्, परमोच्चैरित्यादावप्यव्ययसंज्ञा विज्ञायत इत्यर्थः । यद् अव्ययम् अक्षयं शब्दरूपं किंविशिष्टम् ? स्वरादि स्वराद्यन्तं तदव्ययसंज्ञं भवतीति च सूत्रार्थः समजनि ।

अथाव्ययार्थाः–1 स्वर् दिवि । 2 अन्तर् मध्ये । 3 सनुतर् अधोभागे । 4 पुनर् भूयोऽर्थे । 5 प्रातर् प्रभाते । 6 सायं संध्यायाम् । 7 नक्तं रात्रौ । 8 अस्तम् शैलविशेषादर्शनयोः । 9 दिवा दिनम् । 10 दोषा रात्रिः । 11 ह्यस् अतीतदिनम् । 12 श्वस् भविष्यद्दिनम् । 13 कम् मस्तके । 14 शं सुखे । 15 योस् विषयसुखम् । 16 मयस् सुखम् । 17 विहायसः गगनम् । 18 रोदसो द्यावाभूमी । 19 ओम् अङ्गीकारे । 20 भूस् भूमिः । 21 भुवस् गगने । 22 स्वस्ति श्रेयसि । 23-24 समया निकषा द्वयमपि सामीप्ये । 25 अन्तरा मध्ये । 26 पुरा पूर्वार्थे । 27 बहिस् कालवाची । 28-29 अवस् अधस् अधोभागे । 30 असांप्रतम् अयुक्तम् । 31 अद्धा निश्चये कालवाची च । 32-33 ऋतम्, सत्यम् प्राकाश्ये । 34-35 इद्धा, मुधा वैफल्ये । 36-37-38 मृषा, वृथा, मिथ्या अनृते । 39 मिथो रहः सहार्थयोः । 40-41-42-43 मिथु, मिथस्, मिथुस्, मिथुनम् प्रीतिबन्धे । 44 अनिशम् अनवरतम् । 45-46 मुहुस्, आभीक्ष्ण्यम् पौनः पुन्यम् । 47 मङ्क्षु शीघ्रम् । 48 झटिति सत्वरे मध्ये । 49 उच्चैस् उच्चे । 50 नीचैस् नीचे । 51 शनैस् मन्दे । 52 अवश्यम् निश्चये । 53 सामि अर्द्धे । 54 साचि वक्रत्वे । 55 विष्वक् सामस्त्ये । 56 अन्वक् आनुकूल्ये

पश्चादर्थे वा । 57-58-59 ताजक्, द्राक्, स्राक् शीघ्रे । 60 ऋधक् मत्स्ये । 61 पृथक् भिन्ने । 62 धिक् निंदायाम् । 63-64 हिरुक्, ज्योक् वियोग-हिंसा-वर्जनेषु । 65 मनाक् कालाल्पत्वे । 66 ईषत् अल्पे । 67-68-69 ज्योषम्, जोषम् तूष्णीम् मौने । 70-71-72 कामम्, निकामम्, प्रकामम् अतिशये । 73 अरम् शीघ्रम् । 74 वरम् मनागिष्टे । 75 परम् केवले । 76 आरात् दूरान्तिकयोः । 77 तिरस् व्यवधाने । 78 मनस् नियमे । 79 नमस् नतौ । 80 भूयस् प्राचुर्ये । 81 प्रायस् बाहुल्ये । 82 प्रबाहु ऊर्ध्वार्थे । 83 प्रबाहुक् समकाले । 84 प्रबाहुकम् प्रीतिबन्धे । 85 आर्य प्रीतिसंबोधने । 86 हलम् प्रतिषेधविषादयोः । 87 आर्यहलम् विशिष्टशीले । 88 स्वयम् आत्मनि । 89 अलम् अतिशये । 90 कु कुत्सायाम् । 91 बलवत् प्रकाश्ये । 92 अतीव अतिशये । 93 सुष्ठु अतिशये । 94 दुष्ठु अशोभनत्वे । 95 ऋते विनार्थे । 96 सपदि झटिति । 97 साक्षात् प्रत्यक्षे । 98-99 सन् प्रशान् चिरंतने । 100 सनात् हिंसायाम् । 101-102 सनत्, सना कल्पने । 103 नाना अनेकत्वे । 104 विना अभावे । 105 क्षमा सहने । 106 शु पूजायाम् । 107-108 सहसा, युगपत् एक-काले । 109 उपाय एकान्ते । 110-111-112 पुरतस्. पुरस्-पुरस्तात् अग्रार्थे । 113 शश्वत् निरन्तरे । 114 कुवित् योगप्रशस्तिभावेषु । 115-116 आविस्-प्रादुस् द्वौ प्राकाश्ये । *इति स्वरादय* इति-इतिशब्द एवंप्रकारार्थः, एवं प्रकाराः स्वरादयो गृह्यन्ते न त्वेतावन्त इत्यर्थः । यतः–

``इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते ।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे'' ॥10॥

आकृतिगणार्थमिति–आक्रियतेऽनयेति आकृतिर्वर्णिकाप्रकारः, तस्या गणस्तदर्थमिति । ``अव्ययीभावस्य चाव्ययत्वं नाङ्गीकर्तव्यम्, तदङ्गीकारेण हि उच्चकैर्नीचकैरित्यादिवद् `उपाग्नि, प्रत्यग्नि' इत्यत्रापि ``अव्ययस्य को द् च'' (7. 3. 31.) इति अक् प्रसज्येत । तथा उपकुम्भमन्यमित्यादौ `दोषामन्यमहः' इत्यादिवद् मागमप्रतिषेधः स्यात् । अथाव्ययीभावस्य ``तृप्तार्थपूर्णाव्यय०'' (3. 1. 85.) इति षष्ठीसमासप्रतिषेधोऽव्ययसंज्ञा-फलमिति चेत् ? न-तत्र समासकाण्डे बहुलाधिकारादेव सेत्स्यतीति । किञ्च, अव्ययीभाव इति महतीं संज्ञां यच्च कृतवान् आचार्यस्तज्ज्ञापयति-क्वचिदव्ययत्वमपीति, तेन चैत्रस्योप-कुम्भमित्यत्र न समासः ॥30॥

चादयोऽसत्त्वे ॥1. 1. 31.॥

सीदतोऽस्मिँल्लिङ्ग-सङ्ख्ये इति सत्त्वम्, लिङ्ग-सङ्ख्यावद् द्रव्यम्, इदम्-तदित्यादिसर्व-नामव्यपदेश्यं विशेष्यमिति यावत्; ततोऽन्यत्र वर्त्तमानाश्चादयः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति,

निपाता इत्यपि पूर्वेषाम् । वृक्षश्च प्लक्षश्च । असत्त्वे इति किम् ? यत्रैषां सत्त्वरूपेऽनुकार्यादावर्थे वृत्तिस्तत्र मा भूत्-चः समुच्चये । इव उपमायाम् । एवोऽवधारणे । च, अह, ह, वा, एव, एवम्, नूनम्, शश्वत्, सूपत्, कूपत्, कुवित्, नेत्, चेत्, नचेत्, चण्, कच्चित्, यत्र, नह, नहि, हन्त, माकिस्, नकिस्, मा, माङ्, न, नञ्, वाव, त्वाव, न्वाव, वावत्, त्वावत्, न्वावत्, त्वौ, तुगै, न्वै, नुनै, रै, नै, श्रौषट्, वौषट्, वषट्, वट्, वाट्, वेट्, पाट्, प्याट्, फट्, हुंफट्, छंवट्, अध, आत्, स्वधा, स्वाहा, अलम्, चन, हि, अथ, ओम्, अथो, नो, नोहि, भोस्, भगोस्, अघोस्, अङ्गो, हंहो, हो, अहो, आहो, उताहो, हा, ही, हे, है, हये, अयि, अये, अररे, अङ्ग, रे, अरे, अवे, ननु, शुकम्, सुकम्, नुकम्, हिकम्, नहिकम्, ऊम्, हुम्, कुम्, उञ् सुञ्, कम्, हम्, किम्, हिम्, अद्, कद्, यद्, तद्, इद्, चिद्, क्विद्, स्विद्, उत, बत, इव, तु, नु, यच्च, कच्चन, किमुत, किल, किङ्किल, किंस्वित्, उदस्वित्, आहोस्वित्, अहह, नहवै, नवै, नवा, अन्यत्, अन्यत्र, शव्, शप्, अथ किम्, विषु, पट्, पशु, खलु, यदिनाम, यदुत, प्रत्युत, यदा, जातु, यदि, यथाकथा च, यथा, तथा, पुद्, अथ, पुरा, यावत्, तावत्, दिष्ट्या, भर्या, आम, नाम, स्म, इतिह, सह, अमा, समम्, सत्रा, साकम्, सार्धम्, ईम्, सीम्, कीम्, आम्, आस्, इति, अव, अड, अट, बाह्या, अनुषक्, खोस्, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लु, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, दुस्-एतौ रान्तावपि, आङ्, नि, वि, प्रति, परि, उप, अधि, अपि, सु, उद्, अति, अभि इति चादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।31।।

*न्या०स०—चावय-०अनुकार्यादा*विति-आदिशब्दादत्युच्चैसावित्यत्र वाचकस्यातिशब्दस्य, चिनोतीति `चः' इत्येवंक्रियाप्रधानस्य च चशब्दस्य नाव्ययसंज्ञेति ।।31।।

अधण्तस्वाद्या शसः ।।1. 1. 32.।।

धण् वर्जितास्तस्वादयः शस्पर्यन्ता ये प्रत्ययास्तदन्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति । देवा अर्जुनतोऽभवन्, अत्र षष्ठ्यन्ताद् ``व्याश्रये तसुः'' (7. 2. 81.) ततः; अत्र पित्तस्, तत्र, इह, क्व, कदा, एतर्हि, अधुना, इदानीम्, सद्यः, परेद्यवि, पूर्वेद्युः, उभयद्युः, परुत्, परारि, ऐषमः, कर्हि, यथा, कथम्, पञ्चधा, ऐकध्यम्, द्वैधम्, द्वेधा, पञ्चकृत्वः, द्विः, सकृत्, बहुधा, प्राक्, दक्षिणतः, पश्चात्, पुरः, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्टात्, दक्षिणा, दक्षिणाहि, दक्षिणेन । द्वितीया करोति क्षेत्रम् । शुक्लीकरोति । अग्निसात् संपद्यते

देवत्रा करोति । बहुशः । अधणिति किम् ? पथिद्वैधानि, संशयत्रैधानि । आ शस इति किम् ? पचतिरूपम् ।।32।।

न्या०स०–अधण०–तस्वादयः प्रत्ययाः, ते च प्रकृत्यविनाभाविन इति तैः प्रकृतिरनुमीयते, तस्याश्चै ते विशेषणत्वेनाऽऽश्रीयन्ते, ततः, ``विशेषणमन्तः'' (7. 4. 113.) इति तदन्तविज्ञानं भवतीत्याह–*तदन्तमिति* । किञ्च प्रत्ययस्यैवाव्ययत्वे अर्जुनत इत्यादौ प्रत्ययमात्रादव्ययादर्थवत्त्वेन नामत्वे स्याद्युत्पत्तौ ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति वचनात् प्रत्ययमात्रस्यैव प्रकृतित्वेन तदन्तत्वे पूर्वस्य च ``नाम सिद०'' (1. 1. 31.) इति पदत्वे ``सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा'' (2. 1. 32.) इति विकल्पप्रसङ्गः, तस्मात् तदन्तः समुदाय एवाव्ययम्, न प्रत्ययमात्रमिति । *अर्जुनत* इति-अत्र सप्तम्येकवचनस्य लुप् ।।32।।

विभक्ति-थमन्ततसाद्याभाः ।।1. 1. 33.।।

विभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः, थमवसाना ये तसादयः प्रत्ययास्तदन्तप्रतिरूपकाश्च शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । अहंयुः, शुभंयुः । अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । कुतः, यथा, तथा, कथमिति । अहम् 1; शुभम्, कृतम्, पर्याप्तम् 2; येन, तेन, चिरेण, अन्तरेण 3; ते, मे, चिराय, अह्नाय 4; चिरात्, अकस्मात् 5; चिरस्य, अन्योन्यस्य, मम 6; एकपदे, अग्रे, प्रगे, प्राह्णे, हेतौ, रात्रौ, वेलायाम्, मात्रायाम् 7 । एते प्रथमादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः । अस्ति, नास्ति, असि, अस्मि, विद्यते, भवति, एहि, ब्रूहि, मन्ये, शङ्के, अस्तु, भवतु, पूर्यते, स्यात्, आस, आह, वर्त्तते, नवर्त्तते, याति, नयाति, पश्य, पश्यत, आदह, आदङ्क, आतङ्क इति तिवादिविभक्त्यन्तप्रतिरूपकाः ।।33।।

न्या०स०–विभक्ति-आदङ्केति-अत्र ``तकु कृच्छ्रजीवने'' इत्यस्य स्थाने दकुरिति पठन्ति ।।33।।

वत्-तस्याम् ।।1. 1. 34.।।

वत्-तस्याम्प्रत्ययान्तः शब्दोऽव्ययसंज्ञो भवति । वत्-तसिसाहचर्याद् `आम्' इति तद्धितस्य ``किंत्याद्येऽव्यय०'' (7. 3. 8.) इत्यादिना विहितस्यामो ग्रहणम् । मुनेरर्हं मुनिवद् वृत्तम्, ``तस्यार्हे क्रियायां वत्'' (7. 1. 51.) इति वत् । क्षत्रिया इव क्षत्रियवद् युद्ध्यन्ते, ``स्यादेरिवे'' (7. 1. 52.) इति वत् । पीलुमूलेनैकदिक्-पीलुमूलतो विद्योतते विद्युत्, ``तसिः''

(6. 3. 211.) इति तसिः । उरसैकदिक्-उरस्तः, ``यश्चोरसः'' (6. 3. 212.) इति तसिः । आम्-उच्चैस्तराम् । उच्चैस्तमाम् ।।34।।

न्या०स०—वत्तस्याम्०—आमिति षष्ठीबहुवचनस्य तद्धितस्य परोक्षास्थाननिष्पन्नस्य चाविशेषेण त्रयाणामपि ग्रहणं प्राप्नोति, द्वयोरेव चेष्यतेऽतोऽतिव्याप्त्युपहतत्वादलक्षणमेतद् इत्याह-*वत्तसीति* । *तद्धित्तस्येत्युपलक्षणम्*, ततः ``धातोरनेकस्वरात्०'' (3. 4. 46.) इत्यादिना विहितस्याप्यामो ग्रहणम्, तेन पाचयाञ्चक्रुषेत्यादौ टालोपे पदत्वादनुस्वारसिद्धिः । न चोपलक्षणात् षष्ठीबहुवचनस्यापि ग्रहणं किं न स्यादिति वाच्यम्, यतो य आम् आमेव भवति स एव गृह्यते, अयं तु नाम् साम् वा भवतीति । यद्वा वत्तसी अविभक्ती, तत्साहचर्यादामोऽपि अविभक्तेरेव ग्रहणम्, ततो दरिद्राञ्चकृवद्भिरित्यत्र क्वसुस्थाननिष्पन्नस्य पचतितरामित्यत्र ``किंत्याद्येऽव्यय०'' (7. 3. 8.) इति विहितस्य च ग्रहणं भवति, यत एतावेव तयोर्वत्-तस्योरविभक्तित्वेन हिताविति व्युत्पत्त्या तद्धितावित्यभिधीयते । अस्मिंश्च व्याख्याने ``किंत्याद्येऽव्यय०'' (7. 3. 8.) इत्यनेन इत्यन्तेन इदमेव सूत्रं संपूर्णं गृह्यते, आदिशब्देन तु ``धातोरनेकस्वर०'' (3. 4. 46.) इति विहितस्य क्वसु-कानस्थानस्येति । तथा दरिद्राञ्चकृवद्भिरित्यत्रामन्तस्याव्ययत्वेऽपि कुत्सिताद्यर्थे ``अव्ययस्य को द् च'' (7. 3. 31.) इति अक् न भवति, अपरिसमाप्तार्थत्वेनामन्तस्य कुत्सितार्थासंभवाद् इति । *उच्चैस्तरामिति*—``क्वचित् स्वार्थे'' (7. 3. 7.) इति प्रकृष्टे चार्थे तरप् ।।34।।

क्त्वातुमम् ।।1. 1. 35.।।

क्त्वा, तुम्, अम् इत्येतत्प्रत्ययान्तं शब्दरूपमव्ययसंज्ञं भवति । क्त्वा कृत्वा, हृत्वा, प्रकृत्य, प्रहृत्य । तुम्-कर्त्तुम्, हर्त्तुम् । अमिति णम्ख्णमोरुत्सृष्टानुबन्धयोर्ग्रहणम्, न द्वितीयैकवचनस्य क्त्वा-तुम्साहचर्यात् । यावज्जीवमदात् । स्वादुंकारं भुङ्क्ते ।।35।।

न्या०स०—क्त्वा-तुम०—क्त्वेति ककारोऽसंदेहार्थः, अन्यथा त्वा इति निर्देशे संदेहः स्यात्-किमयं क्त्वाप्रत्ययस्य निर्देशः ? किं वा विदितं गोत्वं यकाभिस्ता विदितगोत्वा इति त्वप्रत्ययस्याबन्तस्य ? इति, *न द्वितीयैकवचनस्येति* । द्वितीयैकवचनान्तस्याव्ययत्वे ``अव्ययस्य को द् च'' (7. 3. 31.) इति अक् स्यात् । तथा देवस्य दर्शनं कुर्वित्यादौ ``तृन्नुदन्त०'' (2. 2. 10.) इत्यनेन षष्ठी न स्यात् । नन्वेवं ह्यस्तन्यद्यतन्यमन्तस्याव्ययत्वं कथं निषिध्यते ? सत्यम्-द्वितीयं च तदेकवचनं चेति विग्रहे तस्यापि संग्रहः, द्वितीयापेक्षया द्वितीयं चैकवचनं ह्यस्तन्यद्यतन्योरमिति ।।35।।

गतिः ॥1. 1. 36.॥

गतिसंज्ञाः शब्दा अव्ययसंज्ञा भवन्ति । अदःकृत्य, अत्राऽव्ययत्वे ``अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-कुशाकर्णी-पात्रेऽनव्ययस्य'' (2. 3. 5.) इति सकारो न भवति ॥36॥

अप्रयोगीत् ॥1. 1. 37.॥

इह शास्त्र उपदिश्यमानो वर्णस्तत्समुदायो वा यो लौकिके शब्दप्रयोगे न दृश्यते स एत्यपगच्छतीति इत्संज्ञो भवति । अप्रयोगित्वानुवादेनेत्संज्ञा-विधानाच्चास्य प्रयोगाभावः सिद्धः । उपदेशस्तु धातु-नाम-प्रत्यय-विकाराऽऽगमेषु कार्यार्थः । धातौ-एधि, एधते । शीङ्-शेते; इङित्त्वादात्मनेपदम् । यजीं-यजते, यजति । चिंगट्-चिनुते, चिनोति । कण्डूग्-कण्डूयते, कण्डूयति; ईगित्त्वात् फलवत्यात्मनेपदम् । टुदु-दवथुः; ट्वित्त्वादथुः । नाम्नि-चित्रङ् आश्चर्ये चित्रीयते । माङ्-मा भवान् कार्षीत्; अत्र माङ्यद्यतनी । प्रत्यये–(वित्–) भवति । विकारे–(ख्यांग्–) व्याख्यातासे, व्याख्यातासि । आगमे–(इट्–) पपिथ । इत्प्रदेशाः-``इङितः कर्तरि'' (3. 3. 22.) इत्यादयः ॥37॥

न्या०स०–अप्रयोगी०–प्रयोगः शब्दस्योच्चारणम्, सोऽस्यास्तीति प्रयोगी, न प्रयोगी अप्रयोगी इति संज्ञिनिर्देशः, इदिति च संज्ञेति । *लौकिक* इति-लोकस्य ज्ञाते ``लोकसर्वलोकाज्ज्ञाते'' (7. 4. 84.) इतीकण् ॥37॥

अनन्तः पञ्चम्याः प्रत्ययः ॥ 1. 1. 38 ॥

पञ्चम्यर्थाद् विधीयमानः शब्दः प्रत्ययसंज्ञो भवति । अनन्तः–न चेदन्तशब्दोच्चारणेन विहितो भवति । ``नाम्नः प्रथमैकद्विबहौ'' (2. 2. 31.) वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः । ``स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङीः'' (2. 4. 1.) राज्ञी, कर्त्री । ``आत्'' (2. 4. 18.) खट्वा । ``गुपौ-धूप-विच्छि-पणि-पनेरायः'' (1. 4. 1.) गोपायति, धूपायति । ``ऋवर्ण-व्यञ्जनाद् घ्यण्'' (5. 1. 17.) कार्यम्, पाक्यम् । अनन्त इति किम् ? अन्तशब्दोच्चारणेन विहितस्याऽऽगमस्य मा भूत्, यथा ``उदितः स्वरान्नोऽन्तः'' (4. 4. 99.) इत्यादि । प्रत्ययप्रदेशाः–``प्रत्यये च'' (1. 3. 2.) इत्यादयः ॥38॥

न्या०स०–अनन्त०ः–न विद्यतेऽन्तशब्दो वाचकोऽभिधायको यस्य स तथा पञ्चमीति प्रत्ययोऽभिधीयते, स च प्रकृत्यविनाभावीति तेन प्रकृतिराक्षिप्यते, तया चार्थ इत्याह–

पञ्चम्यर्थादित्यादि । *शब्द* इति–स च शब्दो वर्णस्तत्समुदायो वा भवति, शब्द्यत इति कृत्वा शब्दशब्देनोच्यत इति । ननु नागमस्य प्रत्ययत्वे को दोष इति ? सत्यम्-`अनन्दत्' इत्यादौ नागमेन धातोः खण्डितत्वाद् `नन्द्' धातोः प्राक् ``अड् धातो०'' (4. 4. 29.) इत्यडागमो न स्यात् । अथ `अरुणद्' इत्यादौ श्नप्रत्ययवत् ❉ तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ❉ इति भविष्यति, तर्हि अस्य न्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थमन्तग्रहणम्, तेन यका सका इत्यादौ इत्वप्रतिषेधः सार्थकः, कस्य प्रकृत्यवयवत्वे त्वित्वप्राप्तिप्रसङ्ग एव न स्यात् ।

तथाऽन्तग्रह्णाभावे लाङ्काकायनिरित्यत्र ``चर्मिवर्मि०'' (6. 1. 112.) इत्यायनिञि कागमे तस्य प्रत्ययत्वे ``ङ्यादीदूतः के'' (2. 4. 104.) इत्यनेन ह्रस्वः स्याद् इति । तथाऽन्तग्रह्णाभावे पञ्चम्यर्थाद् विधीयमानत्वेना-ऽऽगमस्यापि ❉ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ❉ इति न्यायात् `प्रेण्वनम्' इत्यादावेव ``वोत्तरपदान्त०'' (2. 3. 75.) इत्यनेन णत्वं स्यात्, न तु `भद्रबाहुना कुलेन' इत्यादौ ``अनाम् स्वरे०'' (1. 4. 64.) इति षष्ठ्यन्ताद् विधीयमानस्य प्रत्ययत्वाभावात् । अपरञ्च- ``ऋत्तृष-मृष०'' (4. 3. 24.) इत्यत्र ``श्रथुङ् शैथिल्ये'' इत्यस्य ❉ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ❉ इति न्यायेन नाऽऽगमस्य प्रत्ययत्वे सत्येव ग्रहणं स्यात्, न तु ``श्रन्थश् मोचन-प्रतिहर्षयोः इत्यस्य तस्मादन्तग्रहणं विधेयम् । उभयथाऽपि पञ्चम्यां सम्भवन्त्याम् ``परः'' (7. 4. 118.) इति परिभाषया प्रत्ययो नियन्त्र्यते-प्रकृतेः पर एवेति । तर्हि स्वरात् पूर्वो नोऽन्त इत्यपि कथं न लभ्यते ? इति चेत्, सत्यम्-``नो व्यञ्जनस्या०'' (4. 2. 45.) इत्यत्रानुदित इति भणनात्, अन्यथोपान्त्यत्वाभावात् प्राप्तिरेव नास्तीति ॥38॥

डत्यतु सङ्ख्यावत् ॥1. 1. 39.॥

डतिप्रत्ययान्तमतुप्रत्ययान्तं च नाम सङ्ख्यावद् भवति, एक-व्यादिका लोकप्रसिद्धा सङ्ख्या, तत्कार्यं भजत इत्यर्थः । कतिभिः क्रीतः–कतिकः, ``सङ्ख्या-डतेश्चा-शत्तिष्टेः कः'' (6. 4. 130.) इति कः । कतिभिः प्रकारैः– कतिधा, ``सङ्ख्याया धा'' (7. 2. 104.) इति धा । कति वारा अस्य–कतिकृत्वः, ``वारे कृत्वस्'' (7. 2. 109.) इति कृत्वस् । एवम्–यतिकः, यतिधा, यति कृत्वः; ततिकः, ततिधा, ततिकृत्वः । अतु-यावत्कः, यावद्धा, यावत्कृत्वः; तावत्कः, तावद्धा, तावत्कृत्वः; कियत्कः, कियद्धा, कियत्कृत्वः ॥39॥

न्या०स०–डत्यत्वित्यादि–वत्करणाभावे ❉ कृत्रिमाकृत्रिमयोः ❉ इति न्यायाद् एक-द्व्यादीनामकृत्रिमाणां न स्यादिति ॥39॥

बहु-गणं भेदे ।।1. 1. 40.।।

'बहु' 'गण' इत्येतौ शब्दौ भेदे वर्तमानौ सङ्ख्यावद् भवतः, भेदो नानात्वमेकत्वप्रतियोगि। बहुकः, बहुधा, बहुकृत्वः। गणकः, गणधा, गणकृत्वः। भेद इति किम् ? वैपुल्ये सङ्घे च सङ्ख्याकार्यं मा भूत्। बहुगणौ न नियतावधिभेदाभिधायकाविति सङ्ख्याप्रसिद्धेरभावाद् वचनम्, अत एव भूर्यादिनिवृत्तिः ।।40।।

*न्या०स०—बहुगणमि*त्यादि। *वैपुल्य* इति—यथा रजोगणः, रजःसंघात इत्यर्थः। अथ बहु-गणशब्दयोर्भेदवचनत्वात् सङ्ख्यात्वमस्त्येव, यतो भेदः परिगणनं सङ्ख्येति, ततश्चैक-व्यादीनामिव बहु-गणशब्दयोरपि लोकादेव सङ्ख्यात्वसिद्धौ किमनेनातिदेश-वचनेन ? अतिदेशो हि अन्यत्र प्रसिद्धस्यान्यत्र प्रसिद्धिप्रापणार्थ इत्याह-*बहुगणावि*त्यादि-लोके ह्येक-व्यादीनां नियतावधिभेदाभिधायित्वे सङ्ख्याप्रसिद्धिः, अनयोश्च न तथेति सङ्ख्याप्रसिद्धेरभाव इति ।।40।।

क-समासेऽध्यर्थः ।।1. 1. 41.।।

अध्यर्धशब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये सङ्ख्यावद् भवति। अध्यर्धेन क्रीतम्-अध्यर्धकम्, ``सङ्ख्या-डतेश्चाशत्तिष्टेः कः'' (6. 4. 130.) इति कः। अध्यर्धेन शूर्पेण क्रीतम्-अध्यर्धशूर्पम्, अत्र सङ्ख्यापूर्णत्वेन द्विगुत्वे क्रीतार्थस्येकणः ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुप्। क-समास इति किम् ? धादिप्रत्ययविधौ न भवति ।।41।।

अर्धपूर्वपदः पूरणः ।।1. 1. 42.।।

समासावयवभूते पदे पूर्वपदमुत्तरपदं चेति प्रसिद्धिः, अर्धपूर्वपदः पूरणप्रत्ययान्तः शब्दः कप्रत्यये समासे च विधातव्ये सङ्ख्यावद् भवति। अर्ध-पञ्चमकं अर्धपञ्चमशूर्पम् ।।42।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनबृहद्वृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।।

हरिरिव बलिबन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव।
कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ।।1।।

अथ द्वितीयः पादः

समानानां तेन दीर्घः ॥1. 2. 1.॥

समानसंज्ञकानां वर्णानां तेन परेण समानेन सहितानां दीर्घो भवति, आसन्नः (7. 4. 120.) । दण्डाऽग्रम् । तवाऽऽयुः । खट्वाऽत्र । साऽऽगता । दधीदम् । दधीहते । नदीन्द्रः । नदीहते । मधूदकम् । मधूहनम् । वधूदरम् । वधूढा । पितॄषभः । मातॄकारः । कॄकारः । समानानामिति किम् ? वागत्र । तेनेति किम् ? दधि शीतम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेनोत्तरसूत्रेण लृ-ऋतो-रपि ऋृ-लृति ह्रस्वो भवति—क्लृऋषभः, होतृलृकारः, अन्यथा ``ऋस्तयोः'' (1. 2. 5.) इति परत्वाद् ऋृरेव स्यात् ॥1॥

न्या०स०—समानामित्यादि—अत्राऽनन्तराऽनन्तरिभावसम्बन्धे षष्ठी । 'तेन' इति तृतीयानिदशः स्थानित्वप्रतिपत्त्यर्थः । ननु 'तेन' स्थाने 'स्वेन' क्रियताम्, किं 'तेन' इति ? एवं सति ``इवर्णादेरस्वे स्वरे०'' (1. 2. 21.) इत्यत्रास्वग्रहणं न कृतं स्यादिति फलम्; उच्यते—'इवर्ण-चवर्ग-य-शास्तालव्याः' इति न्यायाद् 'दधि शीतम्, इत्यत्र दीर्घत्वं स्यात्, तन्मा भूदित्येवमर्थम् । ननु 'तेन' इति सहार्थे (2. 2. 45.) तृतीयेति द्वयोर्दीर्घत्वं प्राप्नोति, यथा-पुत्रेण सह स्थूल इति, नैवम्—अत्र 'अजाक्षीरेण सहौषधं पिबेद्' इतिवद् एक एव दीर्घ इति ज्ञातव्यम् । '*दण्डाऽग्रम्*' इत्यत्र ``वृत्त्यन्तोऽसष'' (1. 1. 25.) इत्यग्रशब्दस्य पदत्वाभावे दण्डशब्दाऽकारस्य ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2. 1. 113.) इति कथं न लुग् भवति ? इति चेत्, उच्यते—❈ सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति ❈ इति न्यायाद् 'अपदे' इति सावधारणं व्याख्येयम्-अपदे एव यद्यकारो भवतीति, अयं तु वाक्यावस्थायां पदेऽपीति । तर्हि ❈ गतिकारक० ❈ इति न्यायात् 'प्रायणम्' इत्यादौ विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे कथं न भवतीति ? सत्यम्-'अपदे' इत्युत्तरपदमपि गृह्यते, उत्तरं च तत् पदं चेति कृते ``ते लुग् वा'' (3. 2. 108.) इत्युत्तरशब्दलोपादिति ॥1॥

ऋ-लृति ह्रस्वो वा ॥1. 2. 2.॥

समानानामृकारे लृकारे च परे ह्रस्वो वा भवति । बालऋश्यः बालर्श्यः । खट्वऋश्यः, खट्वर्श्यः । महऋषिः, महर्षिः धूलिऋतुः, धूल्यृतुः । नदि ऋच्छति, नद्युच्छति । तनुऋजुता,

तन्वृजुता । वधुऋणम्, वध्वृणम्, कर्तृऋषभः, कर्तृषभः । बालऌकारः, बालल्कारः । कन्यऌकारः, कन्यल्कारः, इत्यादि । ह्रस्वकरणसामर्थ्यादेव कार्यान्तरं न भवति, अत एव ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः क्रियते । समानानामित्येव ? वृक्षावृच्छति । ऋ-ऌतीति किम्? ? दण्डाग्रम्, कन्याया ऋकारः कन्यर्कारः । तकार उच्चारणार्थः । कश्चिद् ह्रस्वत्वाभावपक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति, तन्मते-खट्वाऋश्यः, नदीऋश्य इत्याद्यपि भवति । प्राच्र्छतीत्यादौ तु परत्वादारेव भवति । ``ह्रस्वोऽपदे वा'' (1. 2. 22.) इत्येव सिद्धेऽवर्णार्थं पदार्थं स्वार्थं च वचनम् ।।2।।

न्या०स०—*ऋ-ऌतीत्यादि*-अत्र तकारमन्तरेण ऌकारात् सप्तम्येकवचने लत्वे च ऌस्वरूपस्य विकृतत्वात् किमयं लकारः ? उत ऌकारः ? इति सन्देहः स्यात् ।।2।।

ऌत ॠ-ॡ ऋ-ऌभ्यां वा ।।1. 2. 3.।।

ऌतः स्थाने ऋता ऌता च परेण सहितस्य यथासंख्यम् `ॠ ॡ' इत्येतावादेशौ वा भवतः । `ॠ' इति स्वरसमुदायो वा स्वर-व्यञ्जनसमुदायो वा वर्णान्तरं वा, तदपीषत्स्पृष्टकरणं द्विरेफतुरीयमध्यर्धस्वरमात्रमित्येके, संवृततरं सकलरेफकरिमर्धमात्रस्वरभक्तिकमित्यन्ये, द्विरेफश्रुतिकमध्यर्धस्वरमात्रमित्यपरे । एवम् `ॡ' इत्यपि । ऋता-कॄकारः, पक्षे पूर्वेण ह्रस्व उत्तरेण ॠकारश्च-क्लृऋकारः, कृकारः । ऌता-क्लॄ कारः, पक्षे दीर्घत्वं ह्रस्वत्वं च, क्लॄकारः, क्लृऌकारः । ऌवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ।।3।।

न्या०स०—*ऌत* इत्यादिः । ॠ इति दीर्घश्चेद् उत्तरेण सिद्धत्वादत्र विधानमनर्थकमिति सविशेषमादेशमाह— *`ॠ' इति स्वरसमुदायो वेति* । वर्णान्तरत्वे मतभेदानाह—*तदपीति* । *द्विरेफतुरीयमि*ति-रेफस्य तुरीयौ रेफतुरीयौ, एकस्य रेफस्य चतुर्भागीकृतस्य द्वौ चतुर्थभागावित्यर्थः, द्वौ रेफतुरीयावस्मिन्निति । अधिकमर्धं यस्याः सा, अध्यारूढाऽर्धेन वा अध्यर्धा, स्वरस्य मात्रा स्वरमात्रा, अध्यर्धा स्वरमात्राऽस्मिन्निति अध्यर्धस्वरमात्रम्, पादोनं मात्राद्व्यमित्यर्थः । *सकलरेफर्कारमि*ति-सकलः परिपूर्णो रेफ ऋकारश्चात्र तत् तथा । अर्ध मात्रा यस्याः सा अर्धमात्रा, स्वरस्य भक्तिर्भागः स्वरभक्तिः अर्धमात्रा स्वरभक्तिर्यस्य तत् तथा ।।3।।

ऋतो वा तौ च ।।1. 2. 4.।।

ऋकारस्य स्थाने ऋता ऌता च परेण सहितस्य यथासंख्यम् `ॠ-ॡ' इत्यादेशौ वा भवतः, तौ च ऋकार-ऌकारौ ऋता ऌता च सह ऋकारस्य वा भवतः । ऋता-पितॄषभः,

पितॄषभः, पितृऋषभः। लृता-होत्लॄ कारः, पक्षे होतॄ कारः. होतृलृकारः। तौ च-पितृषभः, होत्लृकारः, पक्षे यथाप्राप्तम्। अत्रापि ऋवर्णस्य स्थानित्वमिच्छन्त्येके ॥4॥

न्या०स०—*ऋतो०* इत्यादि—*होत्लृकार* इति-होतुर्लृकार इति षष्ठीसमासः, होतृसंबन्धी, होत्रा लिखित उच्चारितो वा लृकार इत्यर्थः ॥4॥

ॠस्तयोः ॥1. 2. 5.॥

तयोः-पूर्वस्थानिनोर्लृ कार-ऋकारयोः स्थाने यथासंख्यमृता लृता च परेण सहितयोर्ॠकारो द्विमात्र आदेशो भवति। कॄषभः। होतॄ कारः ॥5॥

न्या०स०—*ऋस्तयोरिति*। अथ ऋकार-लृकारयोः सजातीयत्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वात् ``समानानां तेन०'' (1. 2. 1.) इत्यनेनैव द्विमात्र ॠकारः सेत्स्यति, किमनेन ? न च वाच्यं क्लृऋषभ इत्यत्र लृकारस्य स्थानित्वाद् दीर्घत्वे, प्रत्यासन्नत्वाद् लृकारः स्यादित्यादि, यतो द्व्योः स्थानित्वमुक्तं तत्र ऋकारमेव स्थानिनमाश्रित्य दीर्घे क्रियमाणे प्रत्यासत्त्या ऋकार एव भविष्यति, सत्यम्—स्यादेवं यदि ऋकारस्यैव स्थानित्वे किञ्चिन्नियामकं स्यात्, यावता द्व्योः षष्ठी-तृतीयानिर्दिष्टयोः स्थानित्वमिति पूर्वं परं। वा लृकाररूपं स्थानिनमाश्रित्य दीर्घे क्रियमाणे लृकारोऽपि स्यात्, ऋकार एव चेष्यते इत्येतदर्थमस्यारम्भ इति ॥5॥

अवर्णस्येवर्णादिनैदोदरल् ॥1. 2. 6.॥

अवर्णस्य स्थाने इवर्णोवर्ण-ऋवर्ण-लृवर्णैः परैः सहितस्य यथासंख्यमेत् ओत् अर् अल् इत्येते आदेशा भवन्ति। देवेन्द्रः। तवेहा। मालेयम् सेक्षते। तवोदकम्। तवोढा। गङ्गोदकम्। सोढा। वृक्ष इन्द्रम्, त इन्द्रमित्यादौ च डौ जस इकारे चैकपदाश्रयत्वेनान्तरङ्गमेत्वमेव भवति, न तु परपदाश्रितं बहिरङ्गमिकारस्य दीर्घत्वम्। परमर्षिः। तवकरिः। महर्षिः। सर्कारेण। तवल्कारः। सल्कारेण। त्रिमात्रादेरपि स्थानिनः स्थाने द्विमात्रावेवैदोतौ भवतः, सूत्रे तयोरेव विवक्षितत्वात्। अवर्णस्येति किम् ? दधीदम्। मधूदकम् पितॄषभः। क्लृॄकारः। इवर्णादिनेति किम् ? दण्डाग्रम् ॥6॥

ऋणे प्र-दशार्ण-वसन-कम्बल-वत्सर-वत्सतरस्याऽऽर् ॥1. 2. 7.॥

प्रादीनामवर्णस्य ऋणशब्दे परे परेण ऋकारेण सहितस्यारित्ययमादेशो भवति।

अरोऽपवादः । प्रगतमृणं प्रार्णम् । दशानामृणं दशार्णम्, दश ऋणान्यस्य दशार्णः क्षत्रियः, दश ऋणानि जलदुर्गाण्यस्यां दशार्णा नदी । ऋणस्यावयवतया संबन्धि ऋणम्-ऋणार्णम् । वसनानामृणम्-वसनार्णम् । एवम्, कम्बलार्णम् । वत्सरार्णम् । वत्सतरार्णम् । समानानामिति बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वेनोक्तत्वादिहोत्तरत्र च ह्रस्वोऽपि भवति—प्रऋणम्, दशऋणमित्यादि । वत्सरशब्दस्याऽऽरं नेच्छन्त्येके ॥7॥

न्या०स०—*ऋणे* प्रेत्यादि—*दश ऋणानि अस्ये*ति-वर्णानुपूर्वीविज्ञानार्थं व्युत्पत्ति-मात्रमेतत् यावता संज्ञाशब्दोऽयम् । यद्यपि परत्वात् सर्वत्रार् प्राप्नोति तथाप्यर एवं बाधक आरादेशो न ह्रस्वस्येत्याह—*समानानामि*ति ॥7॥

ऋते तृतीयासमासे ॥1. 2. 8.॥

ऋतशब्दे परे यदवर्णं तस्य स्थाने परेण ऋकारेण सहितस्याऽऽरित्ययमादेशो भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र तृतीयासमासे भवतः । शीतेन ऋतः—शीतार्तः । दुःखेन ऋतः—दुःखार्तः । ह्रस्वोऽपि भवति—शीतऋतः, दुःखऋतः । ऋत इति किम् ? सुखेतः, दुःखेतः । तृतीयाग्रहणं किम् ? परमर्तः । समास इति किम् ? सुखेनर्तः, दुःखेनर्तः ।

ऋतेन कृतः— ऋतकृतः, परमश्चासौ ऋतकृतश्च-परमर्तकृत इत्यत्र तु निमित्त-निमित्तिनौ नैकत्र तृतीया- समास इति न भवति । अवर्णस्येत्येव ? पितृतः । कथम् ``क्षुधार्तः सन् शालीन् कवलयति मांस्पाकवलितान्'' ? क्षुध्शब्दस्य हि व्यञ्जनान्तत्वात् `क्षुदृत' इति प्राप्नोति, नैवम्-आङ्पूर्व ऋते तृतीयान्तस्यासमस्तस्यायं प्रयोगः । आ ऋत इति उत्तरेणार्-आर्तः, तत क्षुधेत्यनेन संबन्धः । यस्य तु व्यञ्जनान्तादप्याप् तन्मते-क्षुधया ऋत इति समस्तप्रयोग एवायम् ॥8॥

न्या०स०—*ऋते* इत्यादि । *क्षुधार्त* इति-अत्र तृतीयान्तस्य `क्षुध्' शब्दस्य ``ओमाङि'' (1. 2. 18.) इति आलोपे ❉ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❉ इति न्यायान्न धस्य दत्वम् ॥8॥

ऋत्यारुपसर्गस्य ॥ 1. 2. 9. ॥

उपसर्गस्य संबन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्यारादेशो भवति । सर्वापवादः । प्रार्च्छति । परार्च्छति । प्रार्ध्नोति । परार्ध्नोति । ऋतीति किम् ? उपेतः । उपसर्गस्येति किम् ? इहच्छेति, इहऋच्छति । ❉ येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तं प्रति गत्युपसर्ग-संज्ञाः ❉ तेनेह न भवति—प्रगता ऋच्छका अस्मात् प्रच्छेको देशः, एवम्, प्रर्षभं प्रर्श्यं वनम् । आरिति वर्तमाने पुनरार्ग्रहणमारेव यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेनेहोत्तरयोश्च ह्रस्वत्वं बाध्यते ॥9॥

न्या०स०–*ऋत्ये*त्यादि-उपसृत्य धातुमर्थविशेषं सृजतीति लिहाद्यचि न्यङ्क्वादित्वाद् गत्वे उपसर्गः । *सर्वापवाद* इति-पूर्वसूत्रविहित आरादेशः ``अवर्णस्य०'' (1. 2. 6.) इत्यर एव बाधको न ह्रस्वस्य, अयं त्वरो ह्रस्वस्य च सर्वस्य प्राप्नुवतो बाधक इत्यर्थः । *प्राच्छती*ति ऋच्छेरर्त्तेर्वा ``श्रोति०'' (5. 2. 108.) इति ऋच्छादेशे *येन धातु*नेति-यद्येवं प्रणसं मुखमित्यादी प्रशब्दस्योपसर्गत्वाभावे ``उपसर्गात्'' (7. 3. 162.) इत्यनेन नसादेशो न प्राप्नोति, उच्यते ❇ यत्रोपसर्गत्वं न संभवति तत्रोपसर्गशब्देन प्रादयो लक्ष्यन्ते, न तु संभवत्युपसर्गत्वे ❇ इति । नन्वेवं प्रगता ऋच्छका यस्मात् स प्रर्च्छक इत्यादौ प्रादित्वेन प्रशब्दस्योपसर्गत्वादार प्राप्नोति, नैवम्–प्रशब्दोऽत्र गतार्थमन्तर्भाव्य प्रवर्त्तमानो णकप्रत्ययस्यार्थं कर्तारं विशिनष्टि न ऋच्छेर्धातोरर्थमित्येतद्धातुसंबन्धाभावाद् एनं प्रति अनुपसर्गत्वमस्योच्यते इति ।।9।।

नाम्नि वा ।।1. 2. 10.।।

उपसर्गसम्बन्धिनोऽवर्णस्य स्थाने ऋकारादौ नाम्नि-नामावयवे धातौ परे परेण ऋकारेण सहितस्य `आर्' आदेशो वा भवति । प्रार्षभीयति, प्रर्षभीयति । केचित् तु पक्षे ह्रस्वत्वमपि मन्यन्ते-प्रऋषभीयति । उपसर्गस्येत्येव ? इहर्षभीयति । ऋतीत्येव ? उपोष्ट्रीयति, ऋकारमिच्छति-उपर्कारीयति ।।10।।

न्या०स०–*नाम्नी*त्यादि । नाम्नीत्यनेन ऋकारकादिर्धातुः सामानाधिकरण्येन विशेषयितुं न शक्यत इत्यवयवद्वारेण ऋकारादिसमुदायो धातुर्नाम्नीत्यनेन विशेष्यत इत्याह-*नामावयवे* इति ।।10।।

लृत्याल् वा ।।1. 2. 11.।।

उपसर्गसम्बन्धिनोऽवर्णस्य लृति-लृकारादौ नामावयवे धातौ परे परेण लृकारेण सहितस्य `आल्' वा भवति । अलोऽपवादः । उपाल्कारीयति, उपल्कारीयति । अत्रापि पक्षे ह्रस्वत्वमिच्छन्त्येके-उपलृकारीयति । उपसर्गस्येत्येव ? इहल्कारीयति । लृतीत्येव ? लृ कार-मिच्छति-उपल्कारीयति ।।11।।

ऐदौत् सन्ध्यक्षरैः ।।1. 2. 12.।।

अवर्णस्य स्थाने सन्ध्यक्षरैः परैः सहितस्य `ऐत् औत्' इत्यादेशावासन्नौ भवतः, एवं चैकारैकाराभ्यां सहितस्य `ऐकारः' ओकारौकाराभ्यां सहितस्य तु `औकारः' । तवैषा, खट्वैषा,

तवेन्द्री, सैन्द्री, तवौदनः, खट्वौदनः, तवौपगवः, खट्वौपगवः । अवर्णस्येत्येव ? दध्येतत्, दध्यैच्छत्, मध्वोदनः, साध्वौषधम् । 'सन्ध्यक्षरैः' इत्यैत्वनिर्देशाद् 'उपसर्गस्य' इति निवृत्तम् । ॥12॥

न्या०स०–ऐदौदित्यादि । नन्वत्र त्रिमात्र-चतुर्मात्रयोरादेशिनोः स्थाने कथं द्विमात्रावेवादेशौ भवतः ? यावता ❊ स्थान्यासन्नः ❊ इति न्यायात् त्रिमात्रौ चतुर्मामौ च प्राप्नुत इति, सत्यम् 'सन्ध्यक्षरैः' इति बहुवचनं द्विमात्रादेशप्रतिपत्त्यर्थम्, अन्यथैकवचनेन निर्दिशेत्; एतदर्थं च सद् उपसर्गनिवृत्तिमपि करोतीत्याह–सन्ध्यक्षरैरिति ॥12॥

ऊटा ॥1. 2. 13.॥

अवर्णस्य परेणोटा सहितस्य स्थाने औकारादेशो भवति, आसन्नः । धौतः, धौतवान् । लावयति पावयतीति क्विपि णिलोपे ''अनुनासिके च च्छ्वः शूट्'' (4. 1. 108.) इत्यूटि–लौः, पौः । ओकारापवादो योगः ॥13॥

न्या०स०–ऊटेति । 'ऐदौद्' इति समुदायानुवृत्तावपि ''आसन्नः'' (7. 4. 120.) इति न्यायाद् श्रौदेव भवतीत्याह–*औकारादेश* इति । *लौः, पौः*, इति-अकारस्याप्युदाहरणमिदमेव, लू-पूभ्यामजन्ताभ्यामलन्ताभ्यां वा लवमाचष्टे पवमाचष्टे ''णिज् बहुलम्०'' (3. 4. 42.) इति णिचि क्विबादिः पूर्ववत् ॥13॥

प्रस्यैषैष्योढोढ्यूहे स्वरेण ॥1. 2. 14.॥

प्रशब्दसम्बन्धिनोऽवर्णस्य 'एष एष्य ऊढ ऊढि ऊह' इत्येतेषु परेषु परेण स्वरेण सहितस्य स्थाने 'ऐदौतौ' आदेशौ भवतः, आसन्नौ । प्रैषः, प्रैष्यः, प्रौढः, प्रौढिः, प्रौहः । ऊहे नेच्छन्त्येके । प्रस्येति किम् ? अपोढः, उपोढः । एषादिष्विति किम् ? प्रेतः, प्रोतः । कथं प्रेषः, प्रेष्यः ? ईषे ईष्ये च भविष्यति, यदापि 'आ + ईष्य-एष्य' तदापि ''ओमाङि'' (1. 2. 18.) इत्यवर्णलोपे प्रेष्य इत्येव भवति, ❊ यस्मिन् प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ❊ इति न्यायाद् ''उपसर्गस्याऽनिणेधेदोति'' (1. 2. 19.) इत्यस्यैवायं बाधकः, न ''ओमाङि'' (1. 2. 18.) इत्यस्य । अथेह कस्मान्न भवति-'प्रेषते, प्रेष्यते, प्रोढवान्' इति ? ❊ अर्थवद्ग्रहणेऽनर्थकस्याग्रहणात् ❊ कथं तर्हि 'ऊढि' शब्दस्य ण्यन्तस्य सार्थकस्य प्रयोगे प्रोढयतीति ? 'ऊढ' शब्देन सार्थकेन स्याद्यन्तेन साहचर्याण्ण्यन्ते औत्वाभावात्, प्रौढादिशब्दात् तु णौ प्रौढयतीत्यादि भवत्येव ॥14॥

*न्या०स०–प्रस्ये*त्यादि । अवर्णस्य कार्यिणोऽनुवृत्तेस्तस्य च प्रशब्देन सामानाधिकरण्याऽयोगाद् अवयवावयविसम्बन्धे षष्ठीत्याह-*प्रशब्दसम्बन्धिनोऽवर्णस्ये*ति । यदा 'आ + ईष्य' इति क्रियते तदापि ''*ओमाङि*'' (1. 2. 18.) इत्यस्य विषयेऽपि ''उपसर्गस्याऽनिणे०'' (1. 2. 19.) इत्यस्य प्राप्तिरेव ❊ उभयोः स्थाने० ❊ इति न्यायेन 'आङ् + ई' इत्येतयोरुभयोः स्थाने निष्पन्नस्य एतो यदा आङा व्यपदेशस्तदा ''ओमाङि'' (1. 2. 18.) इत्यस्य, अन्यथा ''उपसर्गस्य०'' (1. 2. 19.) इत्यस्येत्यत आह–*यस्मिन् प्राप्ते०* इति-प्राप्त एवेत्यवधारणं व्याख्यानात् ।।14।।

स्वैर-स्वैर्यक्षौहिण्याम् ।।1. 2. 15.।।

'स्वैर स्वैरिन् अक्षोहिणी' इत्येतेषु अवर्णस्य परेण स्वरेण सहितस्य 'ऐत् औत्' इत्येतावादेशौ भवतः । स्वस्येरः– स्वैरः, घञ्; स्व ईरोऽत्रेति–स्वैरमास्यताम्; स्वयमीरति ईर्ते वा स्वैरः, नाम्युपान्त्यलक्षणः कः । स्वयमीरितुं शीलमस्येति-स्वैरी, ❊ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ❊ इति स्वैरिणी । अक्षाणामूहोऽस्यामस्तीति–अक्षौहिणी । स्वैरशब्दान्मत्वर्थीयेनैव इना सिद्धे पृथक् 'स्वैरिन्' ग्रहणं ताच्छीलिकादिणिन्नन्तेऽपीरिन्शब्दे ऐत्वार्थम् । ।।15।।

*न्या०स०–-स्वैरे*त्यादि-सममात्रौषधनिष्पन्नश्चूर्णोऽपि सम इत्यवयवधर्मेण समुदायस्य व्यपदेशः, एवमिहापि स्वैरावयवयोगात् समुदायोऽपि त्र्यात्मकः स्वैरः, स्वैर्यवयवयोगात् स्वैरी, अक्षौहिण्यवयवयोगादक्षौहिणी, ततः स्वैरश्चासौ स्वैरी च, स चासौ अक्षौहिणी चेति कर्मधारयः, यथा–''मर्यादाभिविधौ च यः०'' इत्यत्र समुदायोऽवयवशब्देन मर्यादावयवत्वाद् मर्यादा, अभिविध्यवयवत्वाभिविधिरिति व्यपदिश्यते ततो विशेषणसमासो भवति, समुदाये च स्वैरस्वैर्यक्षौहिणीरूपे कार्यासम्भवाद् अवयव एव स्वैर इत्यादिः कार्यभागिति; सौत्रो वा निर्देशः, तेनेतरेतरयोगे बहुवचनं समाहारे च ह्रस्वत्वं न भवति, एवमन्यत्रापि । तथाऽत्र सूत्रे विषयसप्तमी, तेन स्वैरादिषु निष्पत्स्यमानेषु योऽकार इत्यर्थः । स्वेन आत्मना ईरः–स्वैरः ''कारकं कृता'' (3. 1. 68.) इति समासः, ईर इति सामान्येन घञन्तस्य कान्तस्य च परिग्रह इत्युभयत्रापि कार्यम्, स्वैरशब्दम्य घञन्तस्यापि अभ्रादिदर्शनान्मत्वर्थीयेनाप्रत्ययेन कर्त्रभिधानं भवति । *स्वयमीरती*ति–युजादित्वात् पाक्षिकणिजन्ततया प्रयोगोऽयम् । *एत्वार्थमि*ति–अन्यथा णिनि स्वेरीत्यनिष्टरूपमापद्येत ।।15।।

अनियोगे लुगेवे ।।1. 2. 16.।।

नियोगो नियमोऽवधारणम्, तदभावोऽनियोगोऽनवक्लृप्तिः, तद्विषये एवशब्दे परेऽवर्णस्य लुग्-लोपोऽदर्शनं भवति । इहेव तिष्ठ, अद्येव गच्छ; स्वेच्छावृत्तिरत्र गम्यते, नावधारणम्; नियोगे तु इहैव तिष्ठ, मा गाः । ये त्वनियोगे अव्यापारणे इच्छन्ति तन्मते शास्त्र-लोकप्रतीतप्रयोगविरोधः, तथाहि-``अमैवाऽव्ययेन'' (पाणि० 2. 2. 20.) ``धातोस्तन्निमित्तस्यैव'' (पाणि० 6. 1. 80.) ``तपस्तपःकर्मकस्यैव'' (पाणि० 3. 1. 88.) ``लङः शाकटायनस्यैव'' (पाणि० 3. 4. 111.) 'येनैव हेतुना वाक्यं तेनैव वृत्तिरपि प्राप्नोति' (पाणि० सू०,–भाष्ये) 'यथैव तर्हि' (पाणि० स० 1. 1. 3. भाष्ये) 'इहैव स्याद्' (पाणि० सू० 1. 1. 20. भाष्ये) इति; ``यदैव पूर्वे जनने शरीरम्०'' (कुमारसं० 1. 53.) ``०दृशैव कोपारुणया रिपोरुरः०'' (कादम्बरीमङ्गल श्लो० 3) ``अद्यैवाऽऽवां रणमुपगतौ तातमम्बां च नत्वा०'' (वेणीसंहारे, 4. 15.) ``तरसैव कोऽपि भुवनैकपुरुष ! पुरुषस्तपस्यति० (किरातार्जु० 12. 26.) इति कथम् ? 'शकानामन्धुः–शकन्धुः; अटतीति–अटा, कुलात् कुलस्य वा अटा-कुलटा; पततीति–पतः; पतोऽञ्जलेः– पतञ्जलिः; सीम्नोऽन्तः–सीमन्तः, केशविन्यास एव; प्रार्थनायाऽध्ययनम्–प्रध्ययनम्; हलस्य ईषा-हलीषा, एवम्–लाङ्गलीषा; मनस ईषा-मनीषा; हलीशा; लाङ्गलीशा' इत्यादि, पृषोदरादित्वाद् भविष्यति । कथं तुवै त्वै, नुवै न्वै ? निपातान्तरमेतत् ॥16॥

न्या०स०–अनियोग इत्यादि । *अवधारणम्* अवश्यम्भाव इत्यर्थः । *इहेवेति*-वाक्यालङ्कारे एवशब्दः । *अमैवेति*–एतेषु सर्वेष्वपि स्वरूपाख्यानमेवास्ति, न तु व्यापारणमिति । यद्यव्ययेन सह समासस्तदा *अमा*-अमन्तेनैवेत्यर्थः, निमूलकाषं कषतीत्यादाविति । *वृत्तिरपीति*–'मुमूर्ष' इत्येवंरूपा सन्प्रत्ययस्य वा वृत्तिः प्रवृत्तिरित्यर्थः । सीम्नोऽन्त एकदेशः । *प्रध्ययनमिति*–प्रशब्दस्य डेप्रत्ययान्तस्य हितादित्वात् समासः । त्वै इतितुशब्दस्योकारलोपे त्वै इति रूपं मन्यते परः, ततः केन सूत्रेणावर्णलोप इति परस्याशयः । ॥16॥

वौष्ठौतौ समासे ॥1. 2. 17.॥

ओष्ठशब्दे ओतुशब्दे च परेऽवर्णस्य लुग् वा स्यात्, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र समासे भवतः । बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठो, बिम्बोष्ठा, बिम्बौष्ठा; स्थूलोतुः, स्थूलौतुः । समास इति किम् ? हे राजपुत्रौष्ठं पश्य, हे छात्रौतुस्वरं शृणु । अवर्णस्येत्येव ? शुच्योष्ठी ॥17॥

न्या०स०–वौष्ठौतावित्यादि-अत्र सोत्रत्वात् समाहारः, अन्यथा ``प्राणितूर्य०''

(3. 1. 137.) इति 'स्वैः' इति व्यावृत्त्या निषेधः स्यात्, यद्वा पुटापुटिकेतिवद् ओष्ठावयवयोगात् समुदायोऽप्योष्ठ इति प्रक्रियया कर्मधारयः। *तौ चेन्निमितेति*–तेन आ ईषद् ओष्ठः–अनेनैवाऽऽङो लोपे ओष्ठः, परम ओष्ठो यासां ताः परमौष्ठा इत्यत्र लुग् न भवति। बिम्ब्याः फलं *बिम्बम्*, ''हेमादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 45.) ॥17॥

ओमाङि ॥1. 2. 18.॥

अवर्णस्य ओमि आङादेशे च परे लुग् भवति, आङि दीर्घत्वेनैव सिद्धे लुग्विधानमनर्थकं स्यादिति 'आङ्' इति आङादेशो गृह्यते। अद्योङ्कारः, सोमित्यवोचत्; आङि–आ+ऊढा–ओढा, अद्य+ओढा–अद्योढा; सा+ओढा–सोढा; आ+ऋश्यात्-अर्श्यात्, अद्य+अर्श्यात्–अद्यर्श्यात्, खट्वा+अर्श्यात्–खट्वर्श्यात्, आ+इहि–एहि; उप+एहि–उपेहि; परा+एहि–परेहि; एवम्–उपेतः। ओमाङीति किम् ? तवोदनः। अवर्णस्येत्येव ? आ+ऋतोः–अर्तोः, दध्यर्तोः ॥18॥

न्या०स०–ओमाङीति। *आ + ऊडा-ओढेति*-''गति-क्वन्य०'' (3. 1. 42.) इति समासः। ऋशेः सौत्राद् गत्यर्थात् स्तुत्यर्थाद् वा ''ऋशि-जनि०'' (उणा० 361.) इति किति ये ऋश्यः, *खट्वर्श्यात्* 'निक्षेपणीया' इत्यादिक्रिया योज्या, तथा 'दध्यर्तोः' इति 'भक्षणीयं वर्जनीयं वा' इति योगः ॥18॥

उपसर्गस्यानिणेधेदोति ॥1. 2. 19.॥

उपसर्गसम्बन्धिनोऽवर्णस्य इण् एधतिवर्जिते एकारादावोकारादौ च धातौ परे लुग् भवति। प्रेलयति, परेलयति, प्रोखति, परोखति। उपसर्गस्येति किम् ? प्रगता एलका अस्मात् प्रैलको देशः। अनिणेधिति किम् ? उपैति, परैति, उपैधते, परैधते। एदोतीति किम् ? उपायते, प्लायते ॥19॥

*न्या०स०–उपसर्गस्ये*त्यादि-इण, च एच्च-इणेत्, न इणेत्-अनिणेत्, अनिणेच्च तत् एच्च-अनिणेधेत्, अनिणेच्च ओच्चेत्यादिविग्रहः, न विद्येते इणेधौ यत्र सोऽनिणेध्, स आसावेच्च, ततो द्वन्द्व इति वा ॥19॥

वा नाम्नि ॥1. 2. 20.॥

नामावयवे एकारादावोकारादौ च धातौ परे उपसर्गसम्बब्धिनोऽवर्णस्य लुग् वा भवति । उपेकीयति, उपैकीयति; प्रोषधीयति, प्रौषधीयति ।।20।।

*न्या०स०—वा नाम्नी*ति । *उपेकीयती*ति-अत्र पस्य ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति बत्वं न ❈ असिद्धं बहिरङ्गम् ❈ इति न्यायात्, न च वाच्यम्-``स्वरस्य परे०'' (7. 4. 110.) इत्यस्य ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इत्यादिना बाधितत्वात् प्राप्नोतीति, यतस्तत्र परिभाषाऽपि ❈ असिद्धं बहिरङ्गम् ❈ इत्यनेन न्यायेनाबाधि, तत्र सूत्रे सन्धावपि सिद्धे द्विग्रहणात् ।।20।।

इवर्णादेरस्वे स्वरे य-व-र-लम् ।।1. 2. 21.।।

इवर्णोवर्ण-ऋवर्ण-ऌवर्णानामस्वे स्वरे परे यथासङ्ख्य `य्, व्, र्, ल्' इत्येते आदेशा भवन्ति । दध्यत्र, नद्येषा, मध्वत्र, वध्वासनम्, पित्र्यर्थः, क्रादयः, लनुबन्धः, लाकृतिः । इवर्णादेरिति किम् ? पचति । अस्व इति किम् ? दधीदम् । स्वर इति किम् ? मधु पिबति । केचित् तु `इवर्णादिभ्यः परान् य-व-र-लान्' इच्छन्ति-दधियत्र, तिरियङ्, मधुवत्र, भूवादयः, तन्मत-सङ्ग्रहार्थम् `इवर्णादेः' इति पञ्चमी व्याख्येया ।।21।।

*न्या०स०—इवर्णे*त्यादि । *केचिदि*ति देवनन्द्यादयः। *`अस्वे स्वरे'* इति-असमस्त-निर्देशः स्वरसम्बन्धनिवृत्त्यर्थः, तेन ``एदैतोऽयाय्'' (1. 2. 23.) इत्यादौ स्वरस्यैवानुवृत्तिर्न तु `अस्वे' इत्यस्य, तेन ``रायैन्द्री'' इत्यादौ स्वेऽपि भवति । *पित्रर्थ* इति-पित्रे अयमिति अस्वपदेन विग्रहः, ``तदर्थार्थेन'' (3. 1. 72.) इति अर्थशब्देनैव चतुर्थ्या अभिहितत्वाद् वाक्याभावेऽर्थशब्देनैव नित्यसमासः ।।21।।

ह्रस्वोऽपदे वा ।।1. 2. 22.।।

इवर्णादीनामस्वे स्वरे परे ह्रस्वो वा भवति, अपदे-न चेत् तौ निमित्त-निमित्तिनावेकत्र पदे भवतः । नदि एषा, नद्येषा; दधि अत्र, दध्यत्र; मधु अत्र, मध्वत्र; अति एति, अत्येति; अनु एति, अन्वेति । ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः ❈पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तेः❈, ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च कार्यान्तरं न भवति । कश्चित् तु पक्षे प्रकृतिभावमपीच्छति—कुमारी अत्र । अपदे इति किम्, नद्यौ, बध्वौ, नद्युदकम्, वध्वासनम्, नद्यर्थः, गौर्याराधः, अन्तर्वर्तिविभक्त्यपेक्षया पदभेदेऽपि समासे सत्यैकपद्यम्, एवम्-अनुव्यचलत् अथवा `अनुप्राविशद्' इत्यादिवदखण्डमव्ययं विभक्त्यन्तत्वाच्चैकपदत्वम्, अत एवैतद्योगे ``सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा'' (2. 1. 32.) इति

विकल्पेन वस्नसादयो भवन्ति-अथो अनुव्यचलद् वो देवदत्तः, अथो अनुव्यचलद् युष्माकं देवदत्तः, अथो अनुप्राविशद् वो जिनदत्तः, अथो अनुप्राविशद् युष्माकं जिनदत्त इत्यादि। इवर्णादेरित्येव ? हे मुनयाचर, हे साधवाचर। स्वर इत्येव ? नदी वहति। अस्व इत्येव ? दधीदम् ॥22॥

न्या०स०–*ह्रस्व* इत्यादि। *अति एतीति*–ह्रस्वोऽपि सन्धिकार्यमिति ``नित्या धातूपसर्गयोः'' इति प्रवर्तत एवेति। *ह्रस्वस्यापी*ति–अयमर्थः–❊ **व्यक्तिः पदार्थः** ❊ तत्र प्रतिव्यक्तिलक्षणेन प्रवर्तितव्यम्, अप्रवृत्तौ चानर्थक्यं तस्य स्यात्, इति पर्जन्यवत् फलाभावेऽपि तेन प्रवर्तितव्यम्, पर्जन्यो हि यावदूनं पूर्णं च सर्वमभिवर्षति। *वध्वावि*ति–ननु ऊकारस्य औकारस्य च औष्ठ्यत्वाद् अस्वस्वराभावेन 'अपदे' इति व्यावृत्तेर्द्व्यङ्गविकलतेति, सत्यम्-मतान्तरेण औकारः कण्ठ्यौष्ठ्य इति ऊकारमोष्ठ्यं प्रति अस्व इति न द्व्यङ्गविकलतेति, एवं 'नद्येषा' इत्यत्राप्यस्वस्वरत्वमभ्यूह्यम्।

'नद्युदकम्' इत्यादौ षष्ठीसमासे सत्यष्यन्तर्वर्तिविभक्त्य-पेक्षया पदत्वमपीति युगपत् पदत्वापदत्वे अत्र, सूत्रे 'अपदे' इति सूत्रांशे नञः प्रसज्यस्याऽऽश्रयणम्, तत्र विधेः सामर्थ्यप्राप्ततया गौणत्वात् प्रतिषेधस्य च विधीयमानतया प्राधान्यात् तदाश्रितमेव कार्यं भवतीति भावः। *एवमि*ति–``नाम नाम्नैकार्थ्ये०'' (2. 1. 18.) इति समासे सतीत्यर्थः, ततः 'अनुव्यचलत्' इत्यतः समासात् सेर्लुग् ``दीर्घङ्याप्०'' (1. 4. 45.) इत्यनेन। *अथवे*ति–स्वरादेराकृति-गणत्वाद् विभक्त्यन्ताभत्वाद् वा अव्ययत्वमित्यर्थः, अव्ययत्वात् स्याद्युत्पत्तिः, अर्थश्च स एवेति ॥22॥

एदैतोऽयाय् ॥1. 2. 23.॥

एकारैकारयोः स्थाने स्वरे परे यथासङ्ख्यम् 'अय् आय्' इत्येतावादेशौ भवतः। नयनम्, नायकः। 'अस्वे' इति इवर्णादिसम्बद्धं तन्निवृत्तौ निवृत्तम्, तेन स्वेऽपि भवति-वृक्षयेव, रायैन्द्री। स्वर इत्येव ? जले पद्मम्, रैधृतिः। ॥23॥

न्या०स०–*एदैत* इत्यादि–राय ऐन्द्रीति षष्ठीसमासः। ``धृङ् त् स्थाने'' ध्रियते स्वेन रूपेणाऽऽत्माऽनयेति ``श्रादिभ्यः'' (5. 3. 92.) इति क्तो धृतिः, ततः षष्ठीसमासः। ॥23॥

औदौतोऽवाव् ॥1. 2. 24.॥

ओकारौकारयोः स्थाने स्वरे परे यथासङ्ख्यम् 'अव् आव्' इत्येतावादेशौ भवतः। लवनम्, लावकः, पटवोतुः, गावौ। स्वर इत्येव ? गोशृङ्गम्, नौकाष्ठम् ॥24॥

य्यक्ये ।।1. 2. 25.।।

ओकारौकारयोः स्थाने क्यवर्जिते यकारादौ प्रत्यये परे यथासङ्ख्यम् 'अव् आव' इत्येतावादेशौ भवतः । गव्यति, गव्यते, नाव्यति, नाव्यते, लव्यम्, पव्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम्, गव्यम्, नाव्यम्, यीति किम् ? गोभ्याम्, नौभ्याम् । अक्य इति किम् ? उपोयते, औयत, लौयमानिः । क्यवर्जनाद् यकारादिः प्रत्ययो गृह्यते, तेनेह न भवति-गोयूतिः, नौयानम्, कथं 'गव्यूतिः– क्रोशद्वयम्' ? क्रोश-योजनादिवदव्युत्पन्नः संज्ञाशब्दोऽयम्, गवां यूतिर्गव्यूतिरिति व्युत्पत्तिपक्षे तु पृषोदरादित्वाद् भविष्यति । शरव्यमिति तु शरसमानार्थात् शरुशब्दादुवर्णान्तलक्षणे ये, शरान् व्ययतीति वा डे भविष्यतीति । ।।25।।

न्या०स०–य्यक्य इति । *गव्यमि*ति-गोशब्दस्य युगादौ पाठो हितादावर्थे तदन्तार्थः, तेन 'सुगव्यम्, अतिगव्यम्' इत्यादावपि "उवर्णयुगादेर्यः" (7. 1. 30.) इति यः सिद्धः । शरशब्दाद् यप्रत्यये ओकाराभावादवादेशाभावे कथं शरव्यमित्याशङ्क्याऽऽह–*शरण्यमिती*ति ।।25।।

ऋतो रस्तद्धिते ।।1. 2. 26.।।

ऋत ऋकारस्य यकारादौ तद्धिते परे रादेशो भवति । पितरि साधु पित्र्यम्, भ्रात्र्यम् । तद्धित इति किम् ? कार्यम् ।।26।।

न्या०स०–ऋत इत्यादि । ननु '*कार्यम्*' इत्यत्र परत्वाद् 'घ्यण्' इत्यत्र णोपदेशाद् वा वृद्धिरेव भविष्यति, किं तद्धितग्रहणेन ? सत्यम्-अत्र तद्धितग्रहणं विना 'जागृयात्, इयृयात्' इत्यनयो रत्वं स्यात् । ननु 'परिसर्या' इत्यत्रापि प्राप्नोति, न–तत्रान्यदपि वक्तुं शक्यम्–क्यपोऽधिकारे यग्रहणं गुणार्थमिति ।।26।।

एदोतः पदान्तेऽस्य लुक् ।।1. 2. 27.।।

एदोद्भ्यां पदान्ते वर्तमानाभ्यां परस्याकारस्य लुग् भवति । तेऽत्र, पटोऽत्र, यजन्तेऽत्र । एदोत इति किम् ? दध्यत्र । पदान्त इति किम् ? नयनम्, लवनम् । अस्येति किम् ? तयिह, पटविह ।।27।।

न्या०स०–एदोत इत्यादि–यद्यपि 'पदान्ते' इति व्यधिकरणं विशेषणमकारस्यैतदोतश्च

सम्भवति, तथाप्येदोतोरेव कर्तव्यम्, ``गोर्नाम्न्य०'' (1. 2. 29.) इत्यत्राकारलोपबाधनार्थमवा देशविधानात्, अकारस्य पदान्त इति विशेषणे गवाक्ष इत्यत्रापदान्तत्वादकारस्य लोपप्राप्तिरेव नास्ति, कुतस्तदपवादोऽवादेशः सम्भवति ?, किञ्च, ``एदोतः०'' (1. 2. 27.) इत्यत्रैव सूत्रे `अस्य' इत्यस्मिन्नेव सूत्रांशेऽकारस्य ``नाम सिद्०'' (1. 2. 21.) इति पदत्वे ``एदोतः पदान्ते०'' (1. 2. 27.) इत्यनेन लोपप्राप्तिर्नान्यत्रेति एदोतोरेव पदान्त इति विशेषणमिति ॥27॥

गोर्नाम्न्यवोऽक्षे ॥1. 2. 28.॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्याक्षशब्दे परे नाम्नि-संज्ञायां गम्यमानायाम् `अव' इत्ययमादेशो भवति । गोरक्षीव अप्राण्यङ्गत्वात् समासान्तेऽति गवाक्षः–वातायनः । नाम्नीति किम् ? गवामक्षाणि गोऽक्षाणि, गोअक्षाणि । कश्चित् त्वसंज्ञायां गवाक्षाणीत्यपीच्छति ॥28॥

न्या०स०–गोर्नाम्नीत्यादि । *नाम्नि संज्ञायामिति*–❈ कृत्रिमाऽकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः ❈ इति न्यायेन नात्र पारिभाषिकस्य नाम्नो ग्रहणं गोऽक्षयोर्नामत्वाव्यभिचारात्, किन्तु निरूढं लौकिकमेवेत्याह-*नाम्निसंज्ञायामिति* । सा च समुदायेनैव गम्यते नावयवैरित्याह–*गम्यमानायामिति* ॥28॥

स्वरे वाऽनक्षे ॥1. 2. 29.॥

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य स्वरे परे `अव' इत्ययमादेशो वा भवति, अनक्षे-स चेत् स्वरोऽक्षशब्दस्थो न भवति । गवाग्रम्, गवाजिनम्, गवोष्ट्रः, गवौदनः गवेश्वरः, पक्षे यथाप्राप्तम्-गोऽग्रम्, गोअग्रम्, गोऽजिनम्, गोअजिनम्, गवुष्ट्रः, गवोदनः, गवीश्वरः । स्वर इति किम् ? गोकुलम् । अनक्ष इति किम् ? गोऽक्षम्, गोअक्षम् । पदान्त इत्येव ? गवि । ओत इत्येव ? चित्रग्वर्थः । गोरित्येव ? द्योऽग्रम् । हे चित्रगवुदकमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वाद् गोशब्दस्य न भवति ॥29॥

न्या०स०–स्वरे वेत्यादि । न अक्षोऽनक्ष इति प्रसज्यवृत्तिर्नञ्, पर्युदासे हि विधेः प्राधान्यात् प्रतिषेधस्य तु सामर्थ्यप्रापितत्वाद् गोऽक्षसंघात इत्यादावनक्षविधिरेव स्यात्, न त्वक्षाश्रितः प्रतिषेधः, प्रसज्ये तु प्रतिषेधस्य प्रधानत्वादक्षादिसमुदायस्थेऽप्यक्षशब्देऽक्षाश्रितः प्रतिषेधः सिद्ध्यतीत्याह–स *चेत् स्वर* इत्यादि । *ओत इत्येव* इति-चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः, पुंवद्भावो ह्रस्वत्वं च, ततश्चित्रगवेऽयं चित्रग्वर्थ इति, अत्र `ओतः' इत्यनुवृत्तिमन्तरेण

ह्रस्वत्वे कृते ❊ एकदेशविकृतमनन्यवद् ❊ इत्येकदेशविकृतोऽप्ययं गोशब्द एवेत्यत्रापि स्यादित्यर्थः ।।29।।

इन्द्रे ।।1. 2. 30.।।

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्येन्द्रस्थे स्वरे परे 'अव' इत्ययमादेशो भवति । गवेन्द्रः, गवेन्द्रयज्ञः । नित्यार्थं वचनम् ।।30।।

न्या०स०—*इन्द्र* इति—'स्वरे' इत्यस्याधिकरणम् 'इन्द्रे' इति, ततस्तदादाविति वक्तव्यं गवेन्द्रयज्ञ इत्याद्यर्थम्, केवले च व्यपदेशिवद्भावाद् भवति ।।30।।

म्वाऽत्यसन्धिः ।।1. 2. 31.।।

गोरोकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य, अति-अकारे स्वरे परे, असन्धिः—प्रकृतिभावो वा भवति । गोअग्रम्, गोअजिनम्; पक्षे यथाप्राप्तम्-गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गोऽजिनम्, गवाजिनम् । अतीति किम् ? गवेङ्गितम्, गवाननम् । गोरित्येव ? द्योऽग्रम् । ओत इत्येव ? चित्रग्वग्रम् । हे चित्रगोऽग्रमित्यत्र तु लाक्षणिकत्वान्न भवति । पदान्त इत्येव ? गौरिवाचरति गवति ।।31।।

प्लुतोऽनितौ ।।1. 2. 32.।।

इतिशब्दवर्जिते स्वरे परे प्लुतोऽसन्धिर्भवति, सन्धिकार्यभाग् न भवतीत्यर्थः । देवदत्त3 अत्र न्वसि ?, जिनदत्त३ इदमानय, सुश्लोक3 आगच्छ, सुमङ्गल3 इदमानय । अनिताविति किम् ? सुश्लोकेति, सुमङ्गलेति । केचित् तु इतिशब्दे विकल्पमिच्छन्ति-सुश्लोक3 इति, सुश्लोकेति; सुमङ्गल3 इति, सुमङ्गलेति ।।32।।

न्या०स०—*प्लुत* इत्यादि । 'अति' इति नानुवर्तते इतिशब्दवर्जनवैयर्थ्यादित्याह—*इतिशब्देत्यादि* । *असन्धिरिति* न विद्यते सन्धिर्यस्येति बहुव्रीहिणा व्याख्येयम्, एवमुत्तरत्र । *देवदत्त3 अत्र न्वसीति*-देवदत्तशब्दादामन्त्र्यविहितस्य सेः ''अदेतः स्यमोर्लुक्'' (1. 4. 44.) इति लुकि ''दूरादामन्त्र्यस्य०'' (7. 4. 99.) इति प्लुतः, 'आगच्छ भो देवदत्त !' इति कस्यचिद् वाक्यस्यान्ते इदमामन्त्र्यपदं द्रष्टव्यम्, वाक्यान्ते प्लुतस्य विधानादिति ।।32।।

इ3 वा ।।1. 2. 33.।।

इ3 इति प्लुतः स्वरे परे वाऽसन्धिर्भवति, इतावप्राप्तेऽन्यत्र च प्राप्ते उभयत्र विकल्पोऽयम्। लुनीहि3 इति, लुनीहीति, चिनुहि3 इदम्, चिनुहीदम्। *कथं* वशा3 इयम्, वशेयम्? छान्दसावेतौ ॥33॥

न्या०स०—इ3 वेति। 'वशा3 इयम्' इत्यत्र प्लुतोऽपि छान्दसत्वाद् भवति ॥33॥

ईदूदेद् द्विवचनम् ॥1. 2. 34.॥

'ईत् ऊत् एत्' इत्येवमन्तं द्विवचनं स्वरे परेऽसन्धिर्भवति। त्रपुणी अत्र, मुनी इह, साधू एतौ, अमू इति, कुण्डे अत्र, माले इति, पचेते इति, पचेथे इति, पचावहे आवाम्। ईदूदेदिति किम्? वृक्षावत्र। द्विवचनमिति किम्? कुमार्यत्र। एषां प्लुतानामितावपि सन्धिर्न भवति—अग्नी3 इति, वायू3 इति। स्वर इत्येव? तव ई-कामौ तवे। प्रत्यासत्तेः स्वरनिमित्तककार्यप्रतिषेधादिह भवत्येव-तव ई तवे आसाते। केचित् तु ''मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम'' (महाभारते) इति प्रयोगदर्शनाद् 'मणी इव-मणीव' इत्यादावसन्धिप्रतिषेधं वर्णयन्ति, तदयुक्तम्—वाशब्देनोपमानार्थेन सिद्धत्वात्, ''मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषौ'' इत्यादावसन्धिदर्शनाच्च। अन्ये तु यथादर्शनं सन्धिमसन्धिं चेच्छन्ति—मणीव, दम्पतीव, रोदसीव, मणी इव ॥34॥

न्या०स०—ईदूदेदित्यादि— '*अग्नी3 इति*' इत्यादौ ''दूरादामन्त्र्यस्य०'' (7. 4. 99.) इति प्लुतः। तथे इति-यथा स्वरे परे सन्धिकार्यनिषेधस्तथा पूर्वस्थितेऽपि किं नेति? सत्यम्—❈सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य❈ इति न्यायात् स्वरापेक्षया पूर्वदेशव्यवस्थितस्यैव ईदादेः सन्धिनिषेधः, न तु पूर्वस्थिते स्वरे। यद्यप्येवं यत्र परत्र स्वरो भवति—'तवे आसाते' इति, तत्र पूर्वेणापि सह सन्धिप्रतिषेधः प्राप्नोतीत्यत आह—*प्रत्यासत्तेरि*त्यादि। अयमर्थः—यस्मिन् सति यद् भवति तत् तस्य निमित्तमिति परस्वराश्रितत्वात् प्रथमं यत्वस्य तदनु अयादेशस्य च निषेधः, ते एव च परस्य स्वरस्य प्रत्यासन्ने, एत्वं तु परं स्वरमन्तरेणापि भवतीति न तत् स्वनिमित्तम्, न तत् प्रत्यासन्नं चेति प्रत्यासत्तिन्यायात् तन्निमित्तकस्यैव कार्यस्य निषेधः, नातन्निमित्तकस्येति। *वाशब्दे*नेत्यादि-भाष्यकारवार्तिककारयोरसम्मतत्वाच्चेति। '*दम्पती*' इत्यत्र राजदन्तादित्वाद् जायाया दम्भावः। द्योश्च पृथिवी च पृषोदरादित्वाद् 'रोदसि' इदन्त आदेशः, ततो द्विवचनम् ॥34॥

अदोमु-मी ।।1. 2. 35.।।

अदस्शब्दसम्बन्धिनौ `मु मी' इत्येतावसन्धी भवतः स्वरे परे । अमुमुईचा, अमी आसाते, अमी अश्वाः । अदसिति किम् ? अम्यत्र ।।35।।

न्या०स०–अद इत्यादि-अदसो मु-मी इति विग्रहः । ननु अमुष्य मु-मी इति विग्रहः प्राप्नोति, कथमदस इति ? सत्यम् अविवक्षितार्थस्य प्रायोगिकस्यादस्शब्दस्यात्र प्रयोगः, तत्र तु सार्थको गृह्यत इति अदसशब्दसम्बन्धिकार्याभावेऽदस इति भवति । ह्रस्वत्वाभावे तु स्वैरादिवत् सर्वं द्रष्टव्यम्, सौत्रत्वाद् वा समाहारेऽपि न ह्रस्वः । *अम्यत्रे*ति–``अम गतौ'' इत्यतो भावे घञि अमः, सोऽस्यास्तीति इन् ।।35।।

चादिः स्वरोऽनाङ् ।।1. 2. 36.।।

आङ्वर्जितश्चादिरव्ययसंज्ञकः स्वरे परेऽसन्धिर्भवति । अ अपेहि, आ एवं किल मन्यसे, आ एवं नु तत्, इ इन्द्रं पश्य, ई ईदृशः संसारः, उ उत्तिष्ठ, ऊ ऊषरे बीजं वपसि, ए इतो भव, ओ ओश्रावय । चादिरिति किम् ? अ ! (विष्णो !) आगच्छ-आगच्छ । कथं तितउः–परिवपनम् ? ``तनेर्डउः'' (उणा० 748) इति डउविधानबलादसन्धिर्भविष्यति । उत्तरत्रान्तग्रहणादिह केवलो गृह्यते, तेनेह न भवति–चेति, इतीह, नन्विति, वेति । स्वर इत्येव ? जानु उ-जानू । स्वरे परे इति प्रत्यासत्तेस्तन्निमित्तकसन्धिप्रतिषेधादिह दीर्घत्वलक्षणः सन्धिर्भवत्येव–जानु उ अस्य रुजति-जानू अस्य रुजति । केचित् तु चाद्यचादिस्थानस्याचादिरूपत्वात् स्वरनिमित्तकमपि सन्धिमिच्छन्तिजानु उ अस्य रुजति–जान्वस्य रुजति । अनाङिति किम् ? आ ईषद् उष्णम्-ओष्णम्, आ इहि-एहि, आ उदकान्ताद्-ओदकान्तात् प्रियप्रोथमनुव्रजेत्, आ आर्येभ्यः–आर्येभ्यो यशो गतं गौतमस्य,

``ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्य-स्मरणयोरङित् ।।36।।

न्या०स०–चादिरित्यादि । `अनाङ्' इत्यत्र पर्युदासाश्रयणेन सदृशग्रहणात्, चादिना स्वरस्य विशेषणात् तदन्तत्वासम्भवात् सामानाधिकरण्यलाभात् केवलस्य ग्रहणमित्याह-*आङ्वर्जितश्चादिरव्ययसंज्ञकः स्वर* इति-वृत्तौ तु द्वितीयमुत्तरम् । *आ एवं किल मन्यसे* इति-अत्राकारो वाक्यालङ्कारे, पूर्ववाक्यार्थविपर्ययद्योतको वा । ऊष्यते पीड्यते बीजादि वस्त्वनेनेति

``व्यञ्जनाद्०'' (5. 3. 132.) घञि ऊषः, सोऽस्मिन्नस्ति ``मध्वादिभ्यो रः'' (7. 2. 26.) इति रे ऊषरः । शृणोतेर्णिगि अलि श्रावः, ओः श्रावः–ओश्रावः, तं करोति णिचि पूर्ववद् हौ *'ओश्रावय'* इति क्रियापदमखण्डम् । *आ उदकान्ता*दिति-अत्राङ् मर्यादायाम्, तेन प्रियप्रोथानुव्रजनस्योदकमर्यादाभाव आङा द्योत्यते । *आ आर्येभ्य* इति-अत्राङ् अभिविधौ, तेन यशोगति प्रति आर्याणामभिविधित्वं द्योत्यते । *मर्यादाऽभिविधौचे*ति-अवधिमताऽसम्बद्धोऽवधिः, अभिविधिः-अभिव्याप्तिः, अवधिमपि यो व्याप्नोतीत्यर्थः, अवधिमताऽसम्बद्धो योऽवधिः स मर्यादा, तं परित्यज्य यो वर्तत इत्यर्थः । *वाक्यस्मरणयो*रिति-वाक्यशब्देन वाक्यार्थ उच्यते, चादीनां द्योतकत्वाद् अर्थस्यैव द्योत्यत्वात्, न तु शब्दस्येति । *आ एवं किल मन्यसे* पूर्वप्रक्रान्तवाक्यार्थस्यान्यथात्वद्योतनायायमत्राकारः, अन्ये तु वाक्यशब्देन वाक्यमेवाहुः, तत आ एवं किल मन्यसे, 'नैवं पूर्वममंस्थाः, सम्प्रति मन्यसे' इति वाक्यसूचनायाऽऽकारः प्रयुज्यते । तथा स्मृतेः सूचक आकारः प्रयुज्यते, ततः स्मृत्यर्थो निर्दिश्यते–*आ एवं नु त*दिति ॥36॥

ओदन्तः ॥1. 2. 37.॥

ओकारान्तश्चादिः स्वरे परेऽसन्धिर्भवति । अहो अत्र, उताहो इदम्, अहो एतत्, अथो अस्मै, हंहो आगच्छ, अङ्गो एहि, नो इन्द्रियम् । चादिरित्येव ? गवीश्वरः, अगौर्गौः समपद्यत–गोऽभवत्; मिथोऽत्र, मिथोशब्दः स्वरादिर्न तु चादिः, 'तिरोऽभवत्; नमोऽकरोत्; अदोऽभवद्' इत्यादिषु लाक्षणिकत्वाच्च न भवति । 'अहो' इत्यादयोऽखण्डाश्चादय इति पृथग् योगः ॥37॥

न्या०स०–ओदन्त इति ।? *'समपद्यत'* इति वृत्तावर्थकथनम्, न तु च्वेरारम्भकमिदं वाक्यम्, ``कुभ्वस्ति'' (7. 2. 126.) योगे एव च्वेर्विधानात् । *गोऽभवदि*ति–अत्र ``अधण् तसु०'' (1. 1. 32.) इति, ``गतिः'' (1. 1. 6.) इति वाऽव्ययत्वे सेर्लुपि ``एदोतः पदान्तेऽस्य'' (1. 2. 27.) इति अलोपः । *इत्याद्यपी*ति–'तिरस् नमस् अदस्' इत्याद्यपि स्वरादिर्न तु चादिरित्यर्थः । *अहो इत्यादय* इति-अह + उ-अहो इति, उत + अह + उ-उताहो इति, आह + उ-आहो इत्यादावर्थाभेदात् चादिसमुदायस्यापि चादित्वात् पूर्वेणैव सिद्धत्वादनर्थक-मिदमिति परस्याशयः, नैवम् एकनिपातत्वाच्चादिषु तथैव पाठात् पूर्वेण न प्राप्नोतीति पृथग्योगारम्भ इत्याह–*अहो इत्यादय* इति ॥37॥

सौ नवेतौ ।।1. 2. 38.।।

सिनिमित्तो य ओदन्तः स इतौ परेऽसन्धिर्वा भवति । पटो ! इति, पटविति; साधो ! इति, साधविति । साविति किम् ? अहो इति । गवित्ययमाह, गौरिति वक्तव्येऽशक्त्या 'गो' इत्युक्तमनुक्रियते, स्याद्वादाश्रयणाच्चानुकार्याऽनुकरणयोरभेदविवक्षायामसत्यर्थवत्त्वे विभक्तिर्न भवति । इताविति किम् ? पटोऽत्र ।।38।।

न्या०स०—सौ नवेत्यादि-आमन्त्र्यार्थविहितः सिरत्र ग्राह्यः, अन्येन स्वरस्य व्यवधानाद् ओकारस्यासम्भवाच्च प्राप्तेरभावात् प्रतिषेधोऽनर्थकः। 'वा' इत्युक्तेऽपि विकल्पे सिद्धे 'नवा' इत्यधिकारार्थं कृतम्, तेन सर्वत्र यत्र नवेति तत्राधिकारः, यत्र तु वेति तत्र नाधिकार इति ।।38।।

ॐ चोञ् ।। 1. 2. 39. ।।

उञ्शब्दश्चादिरितिशब्दे परे वाऽसन्धिर्भवति, असन्धिपक्षे च उञ् 'ऊँ' इत्येवंरूपो दीर्घोऽनुनासिको वा भवति, तथा च सति त्रैरूप्यं सिद्धं भवति—उ इति, ऊँ इति, विति । इतावित्येव ? उ उत्तिष्ठ । ञित्करणं स्वरूपपरिग्रहार्थम्, तेन विकृतस्य न भवति—अह + उ-अहो, अहो इति; एवम्—उताहो इति । अथ ऊँ इत्येव चादिषु पठ्यताम्, किमादेशेन ? नैवम्-तस्यानितावपि प्रयोगः प्रसज्येत तन्निषेधार्थमादेशवचनम् ।।39।।

*न्या०स०—ॐ चोञिति । तेन विकृतस्ये*ति—विकृतस्याञितो विकृतौ सत्याम्, स्वरूपहानेरित्यर्थः, अयमभिप्रायः द्वाविमावुकारौ-एको निरनुबन्धोऽपरः सानुबन्ध इति, तत्र यो निरनुबन्धस्तस्य 'अहो' इत्यत्रौकारादेश इष्यते नापरस्य, अतोऽहो इत्यत्राञित एव कृतादेशत्वादिदं सूत्रं न प्रवर्तत इत्यर्थः, अत एव 'जान्वस्य रुजति' इत्यत्रोत्तरसूत्रेण वत्त्वं सिद्धम्, उञा सह जानोरुकारस्य दीर्घीभूतत्वात्, अथवा अत्र सूत्रे उकारप्रश्लेषाद् 'उ उञ् ऊञ्' इत्युकारेण उञो विशेषणाद् उकाररूपस्य उञो ग्रहणाद् 'अहो' इत्यादौ न भवति, उत्तरत्र तु जात्याश्रयणाद् दीर्घीभूतस्यापि 'जान्वस्य रुजति' इत्यादौ वत्वं भवति ।।39।।

अञ्वर्गात् स्वरे वोऽसन् ।।1. 2. 40.।।

ञकारवर्जितेभ्यो वर्गेभ्यः पर उञ् स्वरे परे वकारो वा भवति, स चासन्-अभूतवत् ।।

क्रुङ्ङ्वास्तेक्रुङ्ङु आस्ते; किम्वावपनम्, किमु आवपनम्, किम्वुष्णम्, किमु उष्णम्; किम्विति, किमु इति, किमूँ इति, किं विति, किवँ् विति; जानु उ जानू, जान्वस्य रुजति, जानू अस्य रुजति; तद् वस्य मतम्, तदु अस्य मतम्। वर्गादिति किम् ? स्वरु उपैति, अन्तरु उपैति। अञिति किम् ? घञु एति। स्वर इति किम् ? किमु गच्छति। असत्त्वाद् द्वित्वमनुस्वारानुनासिकाभावश्च ॥40॥

*न्या०स०–अञ्वर्गे*त्यादि नञ् तत्पुरुषगर्भकर्मधारयात् पञ्चमी। अत्र 'असन्' इत्युक्ते यदि वकाररूपादेशस्य स्वरूपेणाभावो विधीयते तदाऽऽदेशविधानमनर्थकं स्यात्, अथ उञ् रूपस्य स्थानिनो निवृत्त्यर्थं तदिति चेत ? सत्यम्–एवं सति उञ एव निवृत्तिं कुर्यात्, तस्माद् 'असन्' इति मुख्यार्थबाधायां गुणकल्पनाऽऽश्रीयत इत्याह-*असन्-अभूत*-वदिति-असिद्धवत्, अकृतवदित्यर्थः, ततश्च स्थान्याश्रय कार्यं सिद्धं भवति, ननु 'असन्' इति विनाऽपि प्रथममेव द्वित्वे क्रुङ्ङ् वास्ते इति सेत्स्यति, तत् किमनेनात्र दर्शितेन ? सत्यम्-अत्र परत्वाद् ``ह्रस्वान्ङ-ण-नो द्वे'' (1. 3. 27.) इत्यनेन जायमानं द्वित्वं बाधित्वा नित्यत्वादनेन वकारः, तस्य चासत्त्वाद् द्वित्वम्। *किं विति; किवँ् विती*ति-अत्र ``इवर्णादेः०'' (1. 2. 21.) इति वत्वे कृते ``तौ मु-मो व्यञ्जने०'' (1. 3. 14.) इत्यनुस्वारानुनासिकौ। *तद् ब्वस्य मतमि*ति–यत्र ``ततोऽस्याः'' (1. 3. 34.) इत्यस्य प्राप्तिस्तत्र ``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इति प्राप्तमपि द्वित्वं न प्रवर्तते नित्यत्वादिकारणेभ्यः। *असत्त्वाद् द्वित्वमि*ति–``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इति, ``ततोऽस्याः'' (1. 3. 34.) इति च द्वित्वादौ कर्तव्ये सन्नेव, यतोऽसन्नित्यत्रापि वा योजनीयः, वकारादेशोऽपि वाऽसन् भवतीत्यर्थः, ततः पक्षेऽसत्त्वविधानात् कार्यविशेषं प्रति सत्त्वमेव, तेन तद्ब्वस्य मुखम् (मतम्), जान्व्वस्य रुजति इत्याद्यपि सिद्धम् ॥40॥

अ-इ-उ-वर्णस्यान्तेऽनुनासिकोऽनीदादेः ॥1. 2. 41.॥

अवर्णस्येवर्णस्योवर्णस्य चान्ते-विरामे वर्तमानस्यानुनासिक आदेशो वा भवति, अनीदादेः–न चेदयम् ``ईदूदेद् द्विवचनम्'' (1. 2. 34.) इत्यादिसूत्रसम्बन्धी भवति। पदान्ताधिकारेऽन्तग्रहणं विरामप्रतिपत्त्यर्थम्, स च विरामो भवन् पदस्यान्ते भवति, केवलमुपसर्गस्य समासान्तर्वर्तिनश्च न भवति। सामँ, साम; खट्वाँ खट्वा; दधिँ, दधि; कुमारीँ, कुमारी; मधुँ, मधु; वृक्षेणँ, वृक्षेण; नामँ अत्र, नाम अत्र; दधिँ अत्र, दधि अत्र; मधुँ अत्र, मधु अत्र; वृक्षेणँ अत्र, वृक्षेण अत्र; विरामत्वाच्च सन्धिर्न भवति। अ-इ-उवर्णस्येति किम् ? कर्तृ, हर्तृ। अन्त इति किम् ? दधि करोति, मधु करोति, वृक्षः। अनीदादेरिति किम् ?

अग्नी, वायू, अमू, अमी, किमु । चादिसूत्रे चादेः स्वरस्य केवलस्याङ्वर्जितस्य च ग्रहणादिह भवत्येव-अँ ! इति विष्णोः सम्बोधनम्, प्लक्षश्ँच, न्यग्रोधश्ँच, पाटलिपुत्रादाँ ॥41॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनबृहद्वृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ॥2॥

पूर्वभवदारगोपीहरणस्मरणादिव ज्वलितमन्युः ।
श्रीमूलराजपुरुषोत्तमोऽवधीद् दुर्मदाभीरान् ॥2॥

ग्रन्थाग्रम्-217॥

*न्या०स०–अ-इ-उवर्णस्ये*त्यादि । *वृक्ष* इति–``कादिर्व्यञ्जनम्'' (1. 1. 10.) इति सूत्रे कस्यादिरिति तत्पुरुषसमासे विसर्गस्यापि व्यञ्जनत्वे ``नाम सि०'' (1. 1. 21.) इति वृक्षाकारस्य पदत्वाद् `अन्ते' इति व्यावृत्तेर्न द्वयङ्गविकलतेति ॥41॥

इति द्वितीयः पादः संपूर्णः ॥

अथ तृतीयः पादः

तृतीयस्य पञ्चमे ।।1. 3. 1.।।

'वा' इति, 'पदान्ते' इति, 'अनुनासिकः' इति चानुवर्तते, वर्गतृतीयस्य पदान्ते वर्तमानस्य वर्गपञ्चमे परे वाऽनुनासिको भवति, स्थान्यासन्नः । वाङ् ङबते, वाग् ङवते; वाङ्ञकारः, वाग्ञकारः; वाङ् णकारीयति, वाग् णकारीयति; वाङ् नयति, वाग् नयति; वाङ्मधुरा, वाग्मधुरा; एवम्-षण् नयाः, षड् नयाः; तन्नयनम्, तद्नयनम्; ककुम्मण्डलम्, ककुब्मण्डलम् । तृतीयस्येति किम् ? स्वर्नयति, हल्मात्रम् । पदान्त इत्येव ? विघ्नः । पञ्चम इति किम् ? वागत्र, षड् गच्छन्ति । केचित् तु व्यञ्जनस्य स्थानेऽनुनासिके परे वाऽनुनासिकमिच्छन्ति, तस्य तु ``ह्रस्वान्ङ-ण-नो द्वे'' (1. 3. 27.) इति द्वित्वं च नेच्छन्ति, तन्मते–त्वङ्ँ इति, त्वगँ इति; श्वलिणँ इति, श्वलिड्ँ इति; तनँ इति, तदँ इति; हल्मात्रम्, हल्माँत्रम् । ननु 'षड् नयाः' इत्यादौ ``अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने'' (1. 3. 31.) इत्यनेन तृतीयस्य द्वित्वे कृतेऽन्त्यस्यानुनासिके च तृतीयस्यापि श्रुति प्राप्नोति, नैवम्-अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावात्, तेन 'षण्ण् नयाः षड्ड् नयाः' इत्यादि सिद्धम् ।।1।।

*न्या०स०–तृतीये*त्यादि तृतीयस्येत्युत्तरार्थम्, अन्यथा वर्गस्येति क्रियेत, तेन प्राङ्, हसतीति सिद्धम्, 'वा' इतीति–``सौ नवेतौ'' (1. 2. 38.) इत्यतो नवेति, *'एदोतः'* (1. 2. 27.) इत्यतः 'पदान्ते' इति, ``अ-इ-उवर्ण०'' (1. 2. 41.) इत्यतो-ऽनुनासिक इत्यधिकारत्रयं पादान्तरगतमप्यनुवर्तते ❉ अपेक्षातोऽधिकारः ❉ इति न्यायात् । प्रथम-द्वितीय-तृतीयादित्वं वर्गस्यैव धर्म इति वर्गस्यैव तृतीयः पञ्चमश्चेत्याह-*वर्गतृतीयस्ये*ति । *स्थान्यासन्न* इति–यद्वर्गसत्कस्तृतीयस्तद्वर्गसत्क एवानुनासिक इत्यर्थः । *तन्नयनमि*ति-अत्र तृतीयस्य दस्यासत्त्वे तत्स्थानस्य नस्याप्यसत्त्वाद् नलोपो न भवति । *ककुम्मण्डलमि*ति-अत्र ``तौ मु-मः०'' (1. 3. 40.) इत्यनेन नानुस्वारः, ``अञ्वर्गात्०'' (1. 2. 40.) इत्यतोऽसदधिकारस्य प्रयोजनवशादिष्टत्वाद् लाक्षणिकत्वात्, ❉ असिद्धं बहिरङ्गम० ❉ इत्यसिद्धत्वाद् वा, इति । *केचित् त्वि*तिः विश्रान्तविद्याधरादयः । मात्रमवधारणे, हल् च तत् मात्रं च, हल् मात्राऽस्येति वा–*हल्मात्रमि*ति, *हल्मात्रमि*ति–अत्र लकारस्य सानुनासिको लकार इति । ननु 'षण्ण् नयाः' इत्यत्र परत्वात् तृतीयस्यानुनासिकं बाधित्वा ``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इत्यनेन द्वित्वे कृते 'षड्ण, नयाः'

इति प्राप्नोतीत्याह—*अनुनासिके कृते पश्चाद् द्वित्वस्य भावादिति*—``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इत्यनेन पूर्वं द्वित्वं न प्रवर्तते, तत्रान्वित्यधिकारात्, कृते त्वनुनासिके प्रवर्तत। इत्यर्थः ॥1॥

प्रत्यये च ॥1. 3. 2.॥

पदान्ते वर्तमानस्य तृतीयस्य स्थाने पञ्चमादौ प्रत्यये परेऽनुनासिको भवति। नित्यार्थं वचनम्। वाङ्मयम्, गुडलिण्मान्, षण्णाम्। पदान्त इत्येव ? यज्ञः, सद्म। चकार उत्तरत्र विकल्पानुवृत्त्यर्थः ॥2॥

न्या०स०—प्रत्यये चेति। *वाङ्मयमिति*—वाचां विकारोऽवयवो वा ``एकस्वरात्'' (6. 2. 48.) इति मयट्, वाच आगतं ``नृ-हेतुभ्यः०'' (6. 3. 156.) इति मयट् वा। *गुडलिण्मानिति*-अत्र ``माऽवर्ण०'' (2. 1. 94.) इति वत्वे कर्तव्ये हस्य ढत्वमसिद्धं द्रष्टव्यमिति। *चकार* इति-अयमर्थः—अत्र चकारः पूर्वयोगस्यैवास्य योगस्य शेषतां प्रतिपादयन् आत्मनि 'वा' इत्यस्य सम्बन्धाभावं वाऽनुवृत्तेश्चोत्तरत्राव्यवधानं च सूचयतीति ॥2॥

ततो हश्चतुर्थः ॥1. 3. 3.॥

पदान्ते वर्तमानात् ततस्तृतीयात् परस्य हकारस्य स्थाने प्रत्यासत्त्या पूर्वसवर्गश्चतुर्थो वा भवति। वाग्धीनः, वाग्हीनः; अज्-झलौ, अज्-हलौ; षड् ढलानि, षड् हलानि; तद्धितम्, तद्हितम्; ककुब्भासः, ककुब्हासः। तत इति किम् ? प्राङ् हसति, भवान् हरति ॥3॥

न्या०स०—ततो ह इत्यादि। ननु हस्य कण्ठ्यत्वात् तदासन्नेन हस्य घेनैव भाव्यम्, न झ-ढ-ध-भैरित्यतः पूर्वचतुर्थ इति कर्तव्यमिति, नैवम्-चतुर्थ इति गुरुकरणात् पूर्वप्रत्यासत्तिर्लभ्यते, अन्यथा 'ततो हो घः' इत्येव कुर्यात्, इत्याह—*प्रत्यासत्त्या पूर्वसवर्ग* इति। *अज्-झलाविति*-अत्र संज्ञाशब्दत्वात् कत्वाभावः, यतोऽर्थप्रत्यायनाय शब्दप्रयोगः, 'अच' इति हि स्वरप्रत्यायनमिष्टम्, कत्वे तु कृते 'अक्' इत्युक्ते समानप्रतीतिः स्यादिति, अत एव च ``सिजद्यतन्याम्'' (3. 4. 53.) इत्यादौ विवक्षितार्थप्रतीत्यभावात् सिचश्चकारस्य कत्वं न कृतमिति, अन्यथौणादिकस्य सिक्प्रत्ययस्याद्यतन्यां सत्यां प्रतीतिः स्यादिति ॥3॥

प्रथमादधुटि शश्छः ॥1. 3. 4.॥

पदान्ते वर्तमानात् प्रथमात् परस्य शकारस्य स्थानेऽधुटि परे छकारादेशो वा भवति। वाक्छूरः, वाक्शूरः; वाक्छ्लक्षणः, वाक्श्लक्षणः; तच् छ्वेतम्, तच् श्वेतम्, उच्छ्मश्रुः, उच्श्मश्रुः, तच् छ्मीलति, तच् श्मीलति ; षट्छ्यामाः, षट्श्यामाः; त्रिष्टुप्छ्रुतम्, त्रिष्टुप्श्रुतम्। प्रथमादिति किम् ? प्राङ् शूरः, भवाञ् शोभनः। अधुटीति किम् ? वाक् श्च्योतति ॥4॥

*न्या०स०—प्रथमे*त्यादि। 'वाक्छूरः' इत्यादिप्रयोगेषु सर्वेषु तृतीयस्य प्रथमे कृते तादृक्षात् प्रथमात् शकारस्थानेन छः प्रवर्तते, ततस्तृतीयाधिकारेणैव सिद्ध्यति, न च करत्वात् ''अघोषे प्रथमोऽशिटः'' (1. 3. 50.) इति प्रागेव प्रथमो भविष्यति, ततस्तृतीयाभावात् कथं शस्य छादेशो भविष्यतीति वाच्यम्, यतस्तत्रान्वित्यधिकारात् न प्रागेव प्रथमत्वमिति, सत्यम्-तृतीयाद् विधीयमाने छे तृतीयस्य प्रथमत्वं पश्चाद् न प्राप्नोति विधानसामर्थ्यात् यथा ''ङ्नः सः त्सोऽश्चः'' (1. 3. 18.) इत्यत्र सूत्रे डकारात् परे त्से हते टत्वं न भवति षड्त्सीदन्तीत्यत्र। किञ्च, प्राङ्क् छेते, सुगण्ट् छेते' इत्यादौ तृतीयाभावात् छत्वं न स्यादिति विध्यर्थमिति। शोभत इत्येवं शीलः *शोभनः* ''इङितो व्यञ्जन'' (5. 2. 44.) इत्यनः। अधुटीति पर्युदासात् स्वरा-ऽन्तस्था-ऽनुनासिकपरस्य शस्य छो भवतीति, तेन 'वाक्श्' इत्यत्र छो न भवतीति। वाक्छूर इत्यादौ ''ऊनार्थ-पूर्वाद्यैः'' (1. 3. 67.) इति समासः ॥4॥

रः कख-पफयोः≍क ⌣ पौ ॥1. 3. 5.॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य क-खे प-फे च परे यथासंख्यं ≍ क-) (पौ-जिह्वामूलीयोपध्मानीयावादेशौ वा भवतः। ककार-पकारा-ऽकारा उच्चारणार्थाः। क ≍ करोति, क≍खनति, क) (पचति, क) (फलति, अन्त≍करोति, अन्त) (फलति; पक्षे ''रः पदान्ते विसर्गस्तयोः'' (1. 3. 53.) इत्यनेन विसर्गः कः करोति, कः खनति, कः फलति, अन्तः फलति, अन्तः फलति। विसर्गापवादोऽयम्, एवमुत्तरावपि ॥5॥

*न्या०स०—रःक-खे*त्यादि। ननु ❉ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य ❉ इति न्यायात् कः करोतीत्यादौ सानुबन्धस्य रेफस्यादेशो न प्राप्नोति, सत्यम्-''अरोः सुपि०'' (1. 3. 57.) इत्यत्र रुवर्जनाद् रोरप्यादेशः, तद्धि ''रः पदान्ते०'' (1. 3. 53.) इति सूत्राद् निरनुबन्धे रेफेऽनुवर्तमाने स्वयमेव सिद्धं सत् ज्ञापयति—❉ निरनुबन्धग्रहणे सामान्य-ग्रहणम् ❉ इत्यपि न्यायोऽस्तीति ॥5॥

श-ष-शे श-ष-सं वा ॥1. 3. 6.॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य श-ष-सेषु परेषु यथासंख्यं 'श ष स' इत्येते आदेशा वा भवन्ति। कश्शेते, कः शेते; कष्षण्डः, कः षण्डः; कस्साधुः, कः साधुः; अन्तश्शेते, अन्तः शेते; मातष्षण्डे !, मातः षण्डे !, पयस्सु, पयःसु। कथं गीर्षु, धूर्षु ? अरो रेफस्य सुपि रेफो वक्ष्यते। 'कः श्शकार' इत्यादिषु त्वघोषे शिट्परे विसर्जनीयस्य विधानाद् रेफ एव नास्तीति न भवति; एवं पूर्वोत्तरयोरपि योगयोर्द्रष्टव्यम्-वासः क्षौमम्, अद्भिः प्सातम्, असेः त्सरुः। नवाधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र विकल्पनिवृत्त्यर्थम् ॥6॥

न्या०स०—श-ष-स इत्यादि-ननु 'श-ष-से सो वा' इत्येवं सकार एव विधीयताम्, तस्य च ''सस्य शषौ'' (1. 3. 61.) इति कृते ''कश्शेते, कष्षण्डः'' इत्यादौ शकार-षकारो सेत्स्यतः, एवमुत्तरत्रापि 'कश्चरति, कष्टीकते, भवाँश्चरति, भवाँष्टीकते इत्यादौ श-षौ सेत्स्यत इत्युत्तरार्थमिति न वक्तव्यम्, तथा 'कश्शेते' इत्यादौ ''धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इत्यस्मिन् कर्तव्ये रुत्वस्य, 'अन्तश्शेते' इत्यादौ तु ❋ असिद्धं बहिरङ्गम् ❋ इति न्यायेन शत्वस्यासिद्धत्वे तृतीयत्वमपि न प्रवर्त्स्यति, तत् किं श-षयोः पृथग्विधानेनेति ? सत्यम्-❋ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❋ इति न्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्, तेन ''बभूवुषा'' इत्यादौ स्वरनिमित्तमुवादि सिद्धम्। किञ्च, श-ष-स-ग्रहणं व्यक्त्यर्थम्, तेनैतेषु कृतेष्वेतद्विलक्षणं कार्यान्तरं न भवति, ततश्चान्तश्शेते मातष्षण्ड इत्यादौ ''धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति जत्व-डत्वादिकं न भवति, 'कश्शेते' इत्यादौ तु तृतीयाभावो रोः परेऽसत्त्वादपि सिध्यतीति न्यासः। कथं तर्हि 'सर्पिष्षु' इत्यादौ षत्वमिति ? सत्यम्—श-ष-सविलक्षणं तृतीयत्वादिकं न भवति, श-ष-सरूपं तु भवत्येवेति दिक् ॥5॥

च-ट-ते सद्वितीये ॥1. 3. 7.॥

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य च-ट-तेषु सद्वितीयेषु परेषु यथासंख्यं 'श, ष, स' इत्येते आदेशा भवन्ति। च-छयोः शः—कश्चरति, कश्छादयति, अन्तश्चरति, अन्तश्छादयति। ट-ठयोः षः-कष्टीकते, कष्ठकारेण, पुनष्टीकते, पुनष्ठकारेण। त-थयोः सः-कस्तरति, कस्थुडति, अन्तस्तरति, अन्तस्थुडति ॥7॥

न्या०स०–च-ट-त इत्यादि । नन्वत्रासंदेहार्थं `च-छ-ट-ठ-त-थे' इत्येव किं न क्रियते सद्वितीयग्रहणमपनीयेति ? सत्यम् निमित्तबहुत्वे यथासंख्यं न स्याद्, अत आह–*यथासंख्यमि*ति । न च सद्वितीयग्रहणे सत्यपि चकाराक्रान्तश्छकारो यत्र, एवं टकाराक्रान्तष्टकारः, तकाराक्रान्तस्थकारश्च यत्र भवेत् तत्रैव कार्यं प्राप्नोतीत्याशङ्कनीयम् ``उदश्चरः साप्यात्,'' (3. 3. 31.) ``चरेष्टः'' (5. 1. 138.) ``व्रीह्यादिभ्यस्तौ'' (7. 2. 5.) इत्यादिज्ञापकात् केवलेष्वेव भवतीति ।।7।।

नोऽप्रशानोऽनुस्वारा-ऽनुनासिकौ च पूर्वस्याऽधुट्परे ।।1.3.8.।।

पदान्ते वर्तमानस्य प्रशान्वर्जितशब्दसम्बन्धिनो नकारस्य स्थाने च-ट-तेषु सद्वितीयेष्वधुट्परेषु परेषु यथासंख्यं `श, ष, स' इत्येते आदेशा भवन्ति, अनुस्वाराऽनुनासिकौ च पूर्वस्य–अनुस्वार आगमोऽनुनासिकश्चादेशः पूर्वस्य क्रमेण भवत इत्यर्थः । भवाँश्चरति, भवांश्चरति; भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति; भवाँष्टीकते, भवांष्टीकते; भवाँष्ठकारेण, भवांष्ठकारेण; भवाँस्तरति, भवांस्तरति; भवाँस्थुडति, भवांस्थुडति । अप्रशान इति किम् ? प्रशाञ् चरति, प्रशाण् टीकते, प्रशान् तरति । अधुट्पर इति किम् ? भवान् त्सरुकः । पदान्त इत्येव ? भवन्तः । विरामे प्रतिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वादिह न भवति-भवान् चरति, भवान् टीकते, भवान् तरति ।।9।।

*न्या०स०–नोऽप्रे*त्यादि । *अधुट्पर* इति-अधुट् परो यस्मादिति कार्यम्, न तु धुट् परोऽस्मादिति कृत्वा नञा योगः कार्यः, यतः प्रसज्यशङ्कया वर्णाभावेऽपि स्यात् `भवान् त्' इत्यत्रेति । ननु परग्रहणं किमर्थम् ? यावताऽधुटीत्युक्तेऽपि अधुटि परतो यच्च-ट-तं तस्मिन् नस्य शादयो विज्ञातु शक्यन्त एवेति ? नैवम्-च-ट-ते परतो योऽधुट् तस्मिन् नकारस्यैते भवन्तीति कस्मान्न विज्ञायते ? ततश्च `भवानाचरति, भवानाच्छादयति' इत्यादावेव स्यात्, न तु भवाँश्चरतीत्यादौ, परग्रहणे तु वर्तिपदार्थापेक्षयाऽन्तरङ्गमपि तत्पुरुषं बाधित्वा बहुव्रीहेराश्रयणात् पूर्वोक्तदोषाभाव इति । अनुस्वारापेक्षयाऽवयवावयविभावेऽनुनासिकापेक्षया स्थान्यादेशभावे पूर्वस्येति षष्ठी ।।8।।

पुमोऽशिट्यघोषेऽख्यागि रः ।।1. 3. 9.।।

पुमिति पुम्सोः कृतसंयोगान्तलोपस्यानुकरणम्, अधुट्परेऽघोषे शिट्ख्याग्वर्जिते परे पुमित्येतस्यरोऽन्तादेशो भवति, अनुस्वारा-ऽनुनासिकौ च पूर्वस्य । पुंस्कामा, पुँस्कामाः

पुंस्कोकिलः, पुँस्कोकिलः, पुंस्खातम्, पुँस्खातम्, पुंश्चली, पुँश्चली, पुंश्छत्रम्, पुँश्छत्रम्, पुंष्टिट्टिभः, पुँष्टिट्टिभः, पुंस्पुत्रः, पुँस्पुत्रः, पुंस्फलम्, पुँस्फलम्। अशिटीति किम् ? पुंशरः। अघोष इति किम् ? पुंदासः, पुंगवः। अधुट्परे इत्येव ? पुंक्षुरः, पुंक्षारः। अख्यागीति किम् ? पुंख्यातः, पुंख्यातिः ॥9॥

न्या०स०—पुम इत्यादि। अत्र रमपनीय स इति कृते विधानसामर्थ्याद् रुत्वाभावे पुंश्चलीत्यादि न सिध्यतीति स इति न कृतम्। *पुंस्कामे*ति पुमांसं कामयते। ``शीलिकामि०'' (5. 1. 73.) इति णः, यद्वा कमेर्णिङन्तात् कामना कामः ``युवर्ण०'' (5. 3. 28.) इत्यल्, णिङभावे कमनं वा घञि वृद्धौ कामः, पुंसः कामोऽस्या आपि ``पुंसः'' (2. 3. 3.) इति सः। *पुंश्चलो*ति-पुमांसं चलयति ``कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.)। शीर्यते परपक्षोऽनेन ``पुंनाम्नि०'' (5. 3. 130.) घे *शरः*। *क्षुर* इति—``क्षुरत् विलेखने'' ``नाम्न्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति कः। *क्षार* इति ज्वलादित्वाण्णः। अत्र ख्याग एव वर्जनात् ``ख्यांक् प्रकथने'' इत्यस्मिन् पुंस्ख्यातः, पुँस्ख्यात इति भवत्येव ॥9॥

नॄ नः पेषु वा ॥1. 3. 10.॥

नॄ निति शसन्तस्य नृशब्दस्यानुकरणम्, नॄ नः पकारे परे रोऽन्तादेशो वा भवति, अनुस्वारा-ऽनुनासिकौ च पूर्वस्य। नृं) (पाहि, नॄँ) (पाहि; नृं पाहि, नॄँः पाहि, नॄन् पाहि; नृं) (प्रीणीहि, नॄँ) (प्रीणीहि; नॄँ प्रीणीहि, नॄँः प्रीणीहि, नॄ न् प्रीणीहि। पेष्विति किम् ? नॄ न् योजयति। बहुवचनस्य व्याप्त्यर्थत्वादधुट्पर इति निवृत्तम् ॥10॥

*न्या०स०—*नॄ न इत्यादि। *व्याप्त्यर्थत्वादि*ति-अधुट्परे धुट्परे च पकारमात्रे निमित्तेऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्व्याप्तिस्तदर्थत्वादित्यर्थः, तेन नृं : प्सातीत्यादि सिद्धम् ॥10॥

द्विः कान कानि सः ॥1. 3. 11.॥

काननिति किमः शसन्तस्यानुकरणम्, द्विरुक्तस्य कानः कानि परे सकारान्तादेशो भवति, अनुस्वाराऽनुनासिकौ च पूर्वस्य। काँस्कान्, कांस्कान्। द्विरिति किम् ? कान् कान् पश्यति, अत्रैकः किं प्रश्नेऽन्यस्तु क्षेपे कानीति किम् ? कांस्कान् पश्यति। रस्याधिकारेणैव सिद्धे सविधानं रुत्वबाधनार्थम् ॥11॥

न्या०स०—द्विः कान इत्यादि-अनुकार्याऽनुकरणयोर्भेदस्य विवक्षितत्वात् शसन्तानुकरणादपि षष्ठी, तथा सप्तम्यपि। '*द्विः*' इति कान्सत्कभवनक्रियापेक्षया क्रियाविशेषणमिदम्। अथात्र सकारे कृते ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वं कथं न भवतीत्याह—*रस्येत्यादि*-अयमर्थः—यदि सस्य रुत्वं स्यात् तदा रेफाधिकारेणैव सिद्धम्, किं सविधानेन ? प्रक्रियागौरवं च परिहृतं भवति। अथात्रानुस्वारस्य व्यञ्जनत्वात् ``पदस्य'' (2. 1. 96.) इति संयोगान्तलोपः कथं न भवति ? नैवम्-तत्र मुख्यव्यञ्जनसंयोगस्यै-वाऽऽश्रितत्वात्, अस्य तु सामर्थ्यप्रापितत्वेना मुख्यव्यञ्जनत्वात् ॥11॥

स्सटि समः ॥1. 3. 12.॥

समित्येतस्य स्सटि परे सकारोऽन्तादेशो भवति, अनुस्वाराऽनुनासिकौ च पूर्वस्य। संस्स्कर्ता, सँस्स्कर्ता; सँस्स्कर्तुम्, संस्स्कर्तुम्। स्सटीति किम् ? संकृतिः। संचस्कारेत्यत्र तु व्यवधानान्न भवति। सम इति किम् ? उपस्कर्ता ॥12॥

न्या०स०—स्सटीत्यादि। '*समः*' इति प्रादिपठितस्यैव समो ग्रहणम्, न तु ``षम ष्टम वैक्लव्ये'' इत्यस्य विजन्तस्य ``संस्कृते भक्ष्ये'' (6. 2. 140.) इत्यादिज्ञापकात्। मअनुस्वारस्य व्यञ्नत्वाद् ``धुटो धुटि स्वे वा'' (1. 3. 48.) इति पक्षे सकारलोपे द्विसकारमेकसकारं च '*संस्कर्ता, संस्स्कर्ता*' इति रूपद्वयं द्रष्टव्यम्। *संकृतिरित्यत्र* गर्गादिपाठात् सट् न। *संचस्कारेति*-न चात्र 'सम् स्कृ' इति स्थिते प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागेवादेश-*प्रसङ्गः* इति वाच्यम्, यतोऽत्र परत्वान्नित्यत्वाद् धातुमात्राश्रयेणाऽन्तरङ्गत्वाच्च प्रथममेव प्रत्ययस्ततस्तदाश्रितं कार्यं द्वित्वम्, तेन च सटो व्यवधानमिति। ननु ``अघोषे शिटः'' (4. 1. 45.) इति लुप्तस्य सस्य ``स्थानीव०'' (7. 4. 109.) इति स्थानित्वे सति कथं न भवति, न च वाच्यमवर्णविधौ स्थानित्वमिति, स्सटीति वर्णसमुदायाश्रयणेन वर्णविधित्वाभावात्, न-स्सडिति सकारादिः सद् स्सट् इति कृते वर्णविधित्वात्। ननु ❈ निमित्ताभावे० ❈ इति न्यायेन द्वित्वेन समो व्यवधानात् कृगः सडभावः प्राप्नोति, ❈ नैवम्-स्वाङ्गमव्यवधायकम् ❈ इति न्यायाद् द्वित्वरूपस्य स्वाङ्गस्य कृगं प्रति व्यवधायकत्वायोगादिति ॥12॥

लुक् ॥1. 3. 13.॥

समित्येतस्य स्सटि परे लुगन्तादेशो भवति, पृथग्योगादनुस्वाराऽनु-नासिकौ पूर्वस्येति च निवृत्तम्। सस्कर्ता, सस्कर्तुम्। केचित् त्वत्राप्यनुनासिकमिच्छन्ति-सँस्कर्ता, सँस्कर्तुम् ॥13॥

*न्या०स०–लुगि*ति । ननु पृथग्योगः किमर्थम् ?, पूर्वसूत्र एव लुगुच्यताम्, न च वाच्यम्-तथा सति लुक्पक्षेऽपि अनुस्वारानुनासिकौ स्याताम्, सकारप्रतिबध्यत्वात् तयोस्तन्निवृत्तौ न प्रवृत्तिः, नैवम्-अनुस्वारानुनासिकौ हि कार्यप्रतिबद्धावेव विज्ञायेते, लुचोऽपि कार्यतया तत्प्रतिबद्धतया लुक्पक्षेऽपि स्यातामित्याह–*पृथग्योगादि*ति ॥14॥

तौ मु-मो व्यञ्जने स्वौ ॥1. 3. 14.॥

मोर्म्वागमस्य पदान्ते वर्तमानस्य च मकारस्य व्यञ्जने परे तस्यैव स्वौ तावनुस्वाराऽनुनासिकौ वर्णौ पर्यायेण भवतः, मग्रहणेनैव सिद्धे मुग्रहणमपदान्तार्थम्, स्वेत्यनुनासिकस्य विशेषणम्, नानुस्वारस्यासम्भवात् । चंक्रम्यते, चङ्क्रम्यते; चंचूर्यते, चञ्चूर्यते; दंद्रम्यते, दन्द्रम्यते; बंभण्यते, बम्भण्यते; यंयम्यते, यय्यँम्यते; वंवम्यते, ववँम्यते । म-वहंलिहो गौः, वहल्लिँहो गौः; त्वं करोषि, त्वङ्करोषि; त्वं चरसि, त्वञ्चरसि; त्वं टीकसे, त्वण्टीकसे; त्वं तरसि, त्वन्तरसि, नकारस्य लाक्षणिकत्वादत्र ``नोऽप्रशान०'' (1. 3. 8.) इत्यादिना सकारो न भवति; त्वं पचसि, त्वम्पचसि; संयतः, सय्यँतः; अहंयुः, अहय्युँः; त्वं लोकः, त्वँल्लोकः; संवत्सरः, सव्वँत्सरः; कंवः कव्वँः; किंतराम्, किन्तराम् । पदान्त इत्येव ? गम्यते, रम्यते । व्यञ्जन इति किम् ? किमत्र । स्वाविति किम् ? रंरम्यते, शंशम्यते, त्वं रमसे, त्वं शण्ढः, त्वं षण्ढः, त्वं साधुः, त्वं हससि ॥14॥

न्या०स०–तौ मु-म इत्यादि । ननु तौग्रहणं किमर्थम् ? स्वाविति विशेषणस्य विशेष्यसापेक्षत्वात् समानाधिकरणौ अधिकारानुविद्धौ अनुस्वारानुनासिकावेवानुवर्त्स्यतः, सत्यम्-तौग्रहणमवधारणार्थम्, अन्यथाऽनन्तरोक्ता लुगनुवर्तेत पूर्वस्य चेति, ततश्च मुमो- र्लुग् भवति पूर्वस्य चानुस्वारः, 'चंक्रम्यते' इत्यादौ निमित्तभूतवर्णापेक्षया पूर्वस्याकारादेः स्थानेऽनुनासिकश्चेति सूत्रार्थेऽनिष्टं रूपं 'च्ङ्क्रम्यते' इत्याद्यापद्येत । तौग्रहणात् तु तावेवेति नियमितावनुस्वाराऽनुनासिकावनुवर्तेते । तच्छब्दस्य पूर्ववस्तुपरामर्शित्वेऽपि सकारलुकोः स्वत्वासम्भवाद्, अनुनासिकस्य च संभवात्, तस्यैव परामर्शः, द्विवचनोपादानात् तत्प्रतिबद्धस्यानुस्वारस्य चेत्याह–*तावि*ति ॥14॥

म-न-य-व-लपरे हे ॥1. 3. 15.॥

म-न-य-व-लपरे हकारे परे पदान्ते वर्तमानस्य मकारस्य स्थानेऽनुस्वारा-ऽनुनासिकौ स्वौ पर्यायेण भवतः । किं ह्मलयति, किम् ह्मलयति; किं ह्नुते, किन् ह्नुते; किं ह्यः, कियँ

ह्यः; किं ह्वलयति, किवँ ह्वलयति; किं ह्लादते, किलँ ह्लादते । मादिपर इति किम् ? किं हसति । ह इति किम् ? किं ज्वलति ॥15॥

न्या०स०—*म*-*नेत्यादि*-म-न-य-व-लाः परे यस्मादिति बहुव्रीहिर्न तु तत्पुरुषः परग्रहणात् । यद्येवं 'म-न-य-व-ले' इति कस्मान्नोक्तम् ? सप्तम्येव हि परशब्दार्थं प्रतिपादयिष्यति मकारादौ परे यो हकारस्तस्मिन्निति, नैवम् विपर्ययोऽपि विज्ञायेत हकारपरे मकारादाविति, ततश्च 'किं लिह्यते' किं नह्यति, किं याहि किं वहसि, किं लिह्यते' इत्यत्रैव स्यात् । अकारादिना व्यवधानान्न भविष्यतीति चेत् ? न—येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात् इति न्यायाद् एकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते; अथ प्रथमपक्षे किं ह्मलयतीत्यादौ सूत्रं चरितार्थमिति किमिति व्यवधानमाश्रीयत इति चेत् ? न—येन प्रतिपादकेन हकारपरे मकारादावित्येष सूत्रार्थः स्वीकृतस्तं प्रति पक्षान्तरस्यासम्भवात्; विपरीतप्रतीतिः स्यादिति तन्निरासाय परग्रहणं कर्तव्यमेवेत; तथापि न कर्तव्यम्, विपर्ययप्रतीतौ हि अस्य वैयर्थ्यं स्यात् ''तो मु-मौ०'' (1. 3. 14.) इत्यनेनैव रूपद्वयस्य सिद्धत्वात् ।

सत्यम्-तर्हि नियमार्थमेतत् स्यात्, ततो मकारादौ हपरे एव स्यात् नान्यत्र; ततश्च 'स्वं मन्यसे' इत्यादौ पूर्वेणापि न स्यादिति परग्रहणम् । तथा हकारस्य स्वो नास्तीति व्यवहितमकाराद्यपेक्षया स्वोऽनुनासिको भवन् मकारादिरूप एव भवतीति । मस्य पदान्ते वर्तमानस्येति व्याप्त्यर्थम्, यावताऽपदान्तेऽपि म्वागमे पूर्वसूत्रोपात्तानुवृत्ते लकारस्य सानुनासिकत्वेऽङ्गीक्रियमाणे 'जंह्मल्यँते, जम्ह्मल्ँयते, जवँ ह्वल्यँते' इत्याद्यपि भवति, यथा चञ्चलाँदि ॥15॥

सम्राट् ॥1. 3. 16.॥

समो मकारस्य राजतौ किबन्ते परेऽनुस्वाराभावो निपात्यते । सम्राट् भरतः, सम्राजौ, सम्राजः, साम्राज्यम् ॥16॥

न्या०स०—*सम्राडिति* । रेफस्य स्वत्वाभावादनुनासिकप्राप्तिरेव नास्तीत्याह—*अनुस्वाराभाव* इति । एकवचनस्यातन्त्रत्वाद् द्विवचनादपि भवति ॥16॥

ङ्-णोः क-टावन्तौ शिटि नवा ॥1. 3. 17.॥

पदान्ते वर्तमानयोर्ङकार-णकारयोः शिटि परे यथासंख्यं 'क ट' इत्ये-तावन्तौ वा भवतः । प्राङ्क् शेते, प्राङ्क् छेते, प्राङ् शेते; प्राङ्क् षण्डे, प्राङ् षण्डे; प्राङ्क् साये, प्राङ्

साये; सुगण् ट् शेते, सुगण् ट् छेते, सुगण् शेते; वण्ट् षण्डे, वण् षण्डे; वण्ट् साये, वण् साये; क्रुङ्क्षु, क्रुङ्षु; सुगण्ट्सु, सुगण्सु । ङ्णोरिति किम् ? भवाञ् शेते, महान् षण्डे । शिटीति किम् ? प्राङ् करोषि, सुगण् चरति । पदान्त इत्येव ? बभण्षि ।।17।।

*न्या०स०—ङ्णो*रित्यादि । नन्वत्रान्तग्रहणं किमर्थम् ? 'ङ्-णोः क-टाटौ' इत्येवोच्यताम्, नैवम्-एवं कृते ङ्-णोः षष्ठ्यन्तत्वेन क-टयोरादेशत्वं स्यात्, तन्निरासायान्तग्रहणम्; तर्हि ''ङ्-णः क-टम्'' इति समाहारं कृत्वा 'ङ्-णः' इति पञ्चम्यन्तमादेशत्वनिरासाय व्याख्यायताम्, न—अन्तग्रहणाभावे कस्य प्रत्ययत्वे (सन्धि-नाम-कारक-समासरूप) चतुष्कवृत्तित्वादैकार्थ्ये सति विभक्तेर्लुपि नकारस्य निवृत्तिः स्याद् धुङ्निमित्तत्वात् तस्य, तथा च 'प्राङ्क् शेते' इति न स्यात् । 'प्राङ्क् छेते' इत्यत्र पूर्वपदभक्तत्वेन पदान्तत्वात् ''प्रथमादधुटि शश्छः'' (1. 3. 4.) इति शकारस्य छत्वं भवति । अन्तग्रहणे सति ''प्राङ्क् साये'' इत्यत्र ककारस्य पदान्तत्वात् ''नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यनेन पदमध्ये विधीयमानं षत्वं न भवति, अन्यथा परादित्वेन ककारेण सकारस्य पदादित्वविघातात् षत्वं स्यादिति । तथा ''सुगण्ट्सु'' इत्यत्र ''नाम सिदय्०'' (1. 1. 21.) इति टकारस्य पूर्वपदभक्तत्वेन पदान्तत्वे ''पदान्ताट्टवर्गात्०'' (1. 3. 62.) इति प्रतिषेधात् ''सस्य श-षौ'' (1. 2. 61.) इति सकारस्य षत्वं न भवति, परावयवत्वे त्वपदान्तत्वात् प्रतिषेधाभावात् स्यादेवेति । अन्यच्च, क-टयोः प्रत्ययत्वान्नामत्वे 'यावक' इत्यादिवत् हेत्वर्थयोगे तृतीयादयो विभक्तयः स्युः । ''वण शब्दे'' इत्यतो विचि *वण्*, क्विपि तु दीर्घत्वे *वाण्* । तथा *'सुगण्'* इत्यत्राकार-णिगोर्लोपस्य ''अहन्पञ्चमस्य०'' (4. 1. 107.) इति स्थानित्वाभावात् कथं न दीर्घ इति चेत् ? सत्यम्-तत्र हन्वर्जनस्योपदेशावस्थायां पञ्चमान्तग्रहणार्थत्वेन व्याख्यास्यमानत्वात् । *महान् षण्डे* इति-अत्र ''षि तवर्गस्य'' (1. 3. 64.) इति निषेधात् ''तवर्गस्य०'' (1. 2. 60.) इति णत्वं न ।।17।।

ड्नः सः त्सोऽश्चः ।।1. 3. 18.।।

पदान्ते वर्तमानाद् डकाराद् नकाराच्च परस्य सकारस्य स्थाने, 'त्स' इत्ययं तकारादिः सकारादेशो वा भवति, अश्चः—श्च्संयोगावयवश्चेत् शकारो न भवति । षड् त्सीदन्ति, डकारनिर्देशाट्टत्वं न भवति, केचित् तु टत्वमपीच्छन्ति-षट् त्सीदन्ति, भवान् त्साधुः; पक्षे षट् सीदन्ति, भवान् साधुः । स इति किम् ? षड् भवन्ति, महान् षण्डः । अश्च इति किम् ? षट् श्च्योतन्ति, भवान् श्च्योतति । श्च्युतेः सोपदेशत्वाच्छकारस्य सकारोपदिष्टं कार्यं विज्ञायते, तेन मधु श्च्योततीति क्विप्, मधुश्च्युतमाचष्ट इति णावन्त्यस्वरादिलोपे, पुनः क्विपि,

णिलोपे, सौ, तल्लुकि च, यलोपे, ``संयोगस्यादौ स्कोर्लुक्'' (2. 1. 88.) इति शलोपे, चस्य कत्वे 'मधुग्' इति सिद्धम् ।।18।।

न्या०स०—*ङ्-न* इत्यादि-ङश्च नश्च ङ्-नम्, ततोऽस्वराद् ङसिः, विग्रहस्तु उच्चारणार्थं स्वरेण क्रियते, यथा 'घृतादिकमानय' इत्युक्ते द्रवद्द्रव्यत्वात् केवलस्य दुरानयनत्वाद् भाजने आनीयते । *षड् त्सोदन्तीति*-``पदान्ताट् टवर्गात्'' (1. 3. 62.) इति निषेधात् ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इति न टत्वम् । 'षड्' इति प्रयोगस्थो डकारः सूत्रे अनुकृतस्तत एव ``अघोषे प्रथमोऽशिटः'' (1. 3. 50.) इति टत्वं न भवतीत्याह—*डकारनिर्देशादिति* । *भवान् त्साधुरिति*—अथात्र नकारस्य ``नोऽप्रशान०'' (1. 3. 8.) इत्यनुस्वाराऽनुनासिकपूर्वः सकारः कस्मान्न भवति ? उच्यते-'अधुट्परे' इति वचनात्, अत्र हि धुट्परस्तकार इति । *षट्च्योतन्तीति*-अत्र ``सस्य श-षौ'' (1. 3. 61.) इत्यत्र 'अनु' इत्यधिकारे वर्तमाने श्चवर्जनाभावे दन्त्यसकारस्य त्सः स्यादिति । ननु तर्हि उपदेशावस्थायामेव तालव्यः पठनीयः, किं दन्त्यपठनेनेति, ? सत्यम्-दन्त्यं पठन्नेवं ज्ञापयति-❊ दन्त्यापदिष्टं कार्यं तालव्यस्यापि भवति ❊ परं दन्त्यस्थाननिष्पन्नस्य न सर्वस्य, तेन 'भवान् शेते' इत्यादौ त्सो न भवति । ननु 'मधुग्' इत्यत्र ``स्वरस्य परे०'' (7. 4. 110.) इति सूत्रेण णिलोपरूपस्य स्वरादेशस्य स्थानिवत्त्वात् शलोपो न प्राप्नोति, न च वाच्यं ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इत्युपतिष्ठत इति, 'अस्कलुकि' इति वचनात्, यथा सुपूर्वात् कुस्मयतेः सुकूरित्यत्र, न-'अस्कलुकि' इत्यत्र नञ् निर्देशेन ❊ नञा निर्दिष्टमनित्यम् ❊ इति न्यायात् स्थानित्वाभाव इति ।।18।।

नः शि ञ्च् ।।1. 3. 19.।।

पदान्ते वर्तमानस्य नकारस्य स्थाने शि—शकारे परे 'ञ्च्' इत्ययमादेशो वा भवति, अञ्चः-ञ्च्संयोगावयवश्चेच्छकारो न भवति । भवाञ्च् छूरः, भवाञ्च् शूरः, पक्षे-भवाञ् शूरः; एवम् कुर्वञ्च् छेते, कुर्वञ्च् शेते, कुर्वञ् शेते; आदेशबलात् कत्वं न भवति । शीति किम् ? भवान् करोति । अञ्च इत्येव ? भवाञ् ? श्च्योतति । 'राजा शेते' इत्यत्र तु परत्वान्नलोपः ।।19।।

न्या०स०—*नः शीत्यादि* । *कत्वं न भवतीति*-अत्रोपलक्षणव्याख्यानात् ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इत्यपि न भवति ।।19।।

अतोऽति रोरुः ।। 1. 3. 20. ।।

वेति निवृत्तम्, अतोऽकारात् परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने अति-अकारे परे उकारादेशो भवति । कोऽत्र, कोऽर्थः । अत इति किम् ? अग्निरत्र, देवा अत्र, सुश्रोत3यत्र न्वसि ! अतीति किम् ? क इह, सर्वज्ञ आस्ते, पय अ3श्वदत्त !। रोरिति किम् ? पुनरत्र ।।20।।

न्या०स०—अतोऽतीत्यादि । *वेति निवृत्तमिति* 'कार्यी, निमित्तम्, कार्यम्' इत्येष हि निर्देशक्रमः, अत्र तु कार्यिणः पूर्वं निमित्तोपादानेन निर्देशक्रमातिक्रमं कुर्वन्नधिकारातिक्रमं सूचयति, शिङ्निवृत्तेर्वा । तथाऽतोऽतीति निर्देशात् ❁ सन्निपातलक्षण ❁ न्यायो नोपतिष्ठते, तथा ''इवर्णादे०'' (1. 2. 21.) इति वत्वं प्राप्नोति, परम् ❁ अन्तरङ्गबहिरङ्गयोः० ❁ इति न्यायान्न भवति वत्वम् । ननु 'तरावयनम् तर्वयनम्' इत्यत्र रुशब्दस्यैव ग्रहणं कस्मान्न विज्ञायते, किमित्युदित एवेति ? सत्यम्—''अतोऽति रो रुः'' (1. 3. 20.) इत्यत एव ज्ञापकात् । किञ्च, एतत्सुत्रोपात्तस्य रोरेवोत्तरत्रानुवृत्तिस्तत्र च भो-भगोऽघोभ्यः परस्य पदान्तस्थस्य रोरन्यस्यासम्भवात् सानुबन्धस्यैव ग्रहणं भवतीति । *सुश्रोत3यत्रन्वसीति*—'अतः' इति तपरनिर्देशेन स्वरूपग्रहणात् प्लुते सति न भवति, परत्वादन्तरङ्गत्वाच्चोकारात् पूर्वमेव प्लुतः ।।20।।

घोषवति ।। 1. 3. 21.।।

अतः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने घोषवति परे उकारो भवति । को गच्छति, धर्मो जयति, अहोभ्याम् । घोषवतीति किम् ? कः करोति । अत इत्येव ? मुनिर्गच्छति, सुश्रोत3 देहि । रोरित्येव ? स्वर्याति, पुनर्वक्ति । उत्तरेण लुकि प्राप्तेऽपवादोऽयम् ।।21।।

अवर्ण-भो-भगो-ऽघोर्लुगसन्धिः ।। 1. 3. 22.।।

अवर्णाद् भो-भगोऽघोभ्यश्च परस्य पदान्तस्थस्य रोर्घोषवति परे लुग् भवति, स चासन्धिः— सन्धेर्निमित्तं न भवति । श्रमणा गच्छन्ति, धार्मिका जयन्ति, अकारात् तु परस्य रोः पूर्वेणापवादत्वादुत्वमेव; भो गच्छसि, भगो हससि, अघो यासि । 'भो, भगो, अघो' इत्येते आमन्त्रणार्थाः सकारान्ता अव्ययाः । केचित् तु भवद्-भगवद्-अघवतां संबोधने सौ परतो वशब्दस्योत्वं तकारस्य च रुत्वं कृत्वा एतानि रूपाणीच्छन्ति, तेषां द्विवचन-बहुवचनयोः स्त्रियां च न सिध्यति भो ब्राह्मणौ !, भो ब्राह्मणाः !, भो ब्राह्मणि !, भगो ब्राह्मणौ !, भगो ब्राह्मणाः ! भगो ब्राह्मणि!, अघो ब्राह्मणौ !, अधो ब्राह्मणाः !, अघो ब्राह्मणि !। घोषवतीत्येव ? कुमाराः क्रीडन्ति । असन्धिरित्युत्तरार्थम् ।।22।।

*न्या०स०–अवर्णे*त्यादि । ननु सन्धिरूपतायां सत्यामसन्धिरिति प्रतिषेधो युक्तः, लुक् तु अभावरूपत्वात् सन्धिरूप एव न भवतीति कथं निषिध्यते ?– स चासन्धिरित्यत आह– *सन्धेरि*त्यादि–अत्र सन्धिशब्देन सन्धिनिमित्तस्योपचारादभिधानम् । *केचित् त्वि*ति-इन्द्रगोमि-कालापकप्रभृतयः । *भवद्-भगवद्-अघयतामि*ति-भज्यन्ते-सेव्यन्ते स्वेन रूपेण स्थाप्यन्ते पदार्था अनेनेति ``गोचर-संचर०'' (5. 3. 131.) इति घे भगम्, ``तदस्यास्त्य०'' (7. 2. 1.) इति मतौ भगवदिति रूपम्; ``अघण् पापकरणे'' अतोऽलि मती अघवत्, अनवहितस्यान्यत्र व्यासक्तस्याभिमुखीकरणं संबोधनम्, आमन्त्रणमित्यर्थः । *असन्धिरित्युत्तरार्थमि*ति–ननु तर्हि ``स्वरे वा'' (1. 2. 24.) इत्यत्रैव ``असन्धिः स्वरे वा'' इत्येवमसन्धिग्रहणं क्रियताम् ?, नैवम्-लुक्सन्नियोगशिष्टत्वज्ञापनार्थत्वादत्रोपादानस्य, तेन यत्रानेनाधिकारेण लुक् तत्रैवासन्धिः, ततश्चात्रागच्छतीत्यादौ सन्धिप्रतिषेधो न भवति । किञ्च, एवं कृते संदेहः स्यात्–स्वरे निमित्ते सन्धिर्वा भवतीति, ततो दण्ड अग्रमित्यनिष्टरूपं स्यादिति । तथा असन्धिरित्यस्य संनियोगशिष्टत्वे यत्र लुग्निवृत्तिस्तत्र तत्संबद्धोऽसन्धिरित्यपि निवर्तत इति ।।22।।

व्योः ।।1. 3. 23.।।

अवर्णात् परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्व्योर्वकार-यकारयोर्घोषवति परे लुग् भवति, स चासन्धिः । वृक्षं वृश्चति क्विप्, वृक्षवृश्चमाचष्टे इति णावन्त्यस्वरादिलोपे वृक्षवयतीति विचि सिद्धं वृक्षव्, वृक्ष गच्छति, एवम्-माला हसति, अव्य गच्छति । घोषवतीत्येव ? वृक्षव् करोति, अव्यय् करोति । अवर्णादित्येव ? तरुव् गच्छति । पदान्त इत्येव ? भव्यम्, जय्यम् । कश्चित् तु स्वरजयोरनादिस्थयोर्यकार-वकारयोर्घोषवत्यवर्णादन्यतोऽपि लोपमिच्छति–अध्यारूढ उम्-ईशम् अध्युः, स चासाविन्दुश्च-अध्विन्दुः; साधोरीः–श्रीः साध्वी, तस्या उदयः–साध्युदय इत्यादि ।।23।।

*न्या०स०–व्योरि*ति । 'वृक्षव्' इत्यत्र क्विपि सत्यूट् स्यादिति *विचि सिद्धमि*त्युक्तम् । न च ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति णिलुकः स्थानित्वम्, ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इत्युपस्थानात्; तर्हि ``य्वोः'' (4. 4. 121.) इति कथं वस्य लुक् न ? सत्यम्-तदा स्थानित्वात् । अव्यवयतीति विच् क्विप् वा, विचि तावद् यस्य न लुक् ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति णिचः स्थानित्वात्, क्विपि तु यद्यपि णिचः स्थानियवत्त्वं न भवति ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इति निषेधात्, तथापि न यस्य लुक् ``इसासः०'' (4. 4. 118.) इत्यनेन व्यञ्जनद्वारा सिद्धे ``क्वौ'' (4. 4. 109.) सूत्रं क्विपि क्वचित् ❊ व्यञ्जनकार्यमनित्यम् ❊ इति ज्ञापनार्थम्, ततो

यलुग् न भवतीति, यद्वा लुगिति संज्ञा ❈ संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ❈ इति । ननु वृक्षव् करोतीत्यत्र पदान्तत्वं नास्ति णिलोपस्य स्थानित्वत्त्वात्, ततो द्व्यङ्गविकलत्वं व्यावृत्तेरिति, नैवम्-``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इत्यनेन सन्धिविधौ स्थानित्वाभाव इति । *कश्चित् त्विति*-विश्रान्तविद्याधरः ।।23।।

स्वरे वा ।।1. 3. 24.।।

अवर्ण-भो-भगो-ऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार-यकारयोः स्वरे परे लुग् वा भवति, स चासन्धिः । पट इह, पटविह, अवर्णादीत्स्पृष्टतरस्य विकल्पेन विधास्यमानत्वात् त्रैरूप्यम्-पटविँह; वृक्ष अत्र, वृक्षवत्र, वृक्षवॅत्र; वृक्षा इह, वृक्षाविह, वृक्षाविह; त आहुः, तयाहुः, तयॅाहुः; तस्मा इदम्, तस्मायिदम्, तस्मायिँदम्; क आस्ते, क यास्ते, कयॅास्ते; देवा आहुः, देवा याहुः, देवायॅाहुः; भो अत्र, भोप्रभृतिभ्य उत्तरेणेषत्स्पृष्टतरस्य नित्यं विधानाद् द्वैरूप्यम्-भो अत्र, भोयॅत्र; भगो अत्र, भगो यॅत्र; अघो अत्र, अघो यॅत्र; उञ्यपि द्वैरूप्यमेव-पट उ, पटवुँ इत्यादि । पदान्त इत्येव ? लवनम्, नयनम् । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मध्वत्र, दध्यत्र । स्वर इति किम् ? वृक्षव्? करोति ।।24।।

न्या०स०—स्वरे वेति । '*कयास्ते, तयाहुः*' इत्यादिषु स्यादिविधौ ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रोरसत्त्वात् ❈ असिद्धं बहिरङ्गम्० ❈ इति न्यायाच्च ``अत आः स्यादौ०'' (1. 4. 1.) इति न दीर्घः ।। 24।।

अस्पष्टाववर्णात्त्वनुञि वा ।।1. 3. 25.।।

अवर्ण-भो-भगो-ऽघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्वकार-यकारयोः स्थानेऽस्पष्टा-वीषत्स्पृष्टतरौ प्रत्यासत्तेर्वकारयकारावेवादेशौ स्वरे परे भवतः, अवर्णात् तु परयोर्व्योरुञ्वर्जिते स्वरे परेऽस्पष्टौ वा भवतः । पटवुँ, वृक्षवुँ, असावुँ, कयुँ, देवायुँ, भोयॅत्र, भोयुँ, भगोयॅत्र, भगोयुँ, अघोयॅत्र, अघोयुँ ; अवर्णात् त्वनुञि वा-पटविह, पटविँह; असाविन्दुः; असाविँन्दुः; तयिह, तयिँह; तस्मायिदम्, तस्मायिँदम्; कयिह, कयिँह; देवायाहुः, देवायॅाहुः । अनुञीति किम् ? उञि अस्पष्टावेव यथा स्याताम्, तथा चोदाहृतम् । केचित् तु रुस्थानस्य यकारस्योञि परे लोपमेवेच्छन्ति—क उ आगतः, भो उ एहि, भगो उ एहि, अघो उ याहि । अपरे तु भो-भगो-ऽघोभ्यः स्वरे नित्यं लोपमेवेच्छन्ति-भो अत्र, भगो अत्र, अघो अत्र ।।25।।

*न्या०स०—अस्पष्टे*त्यादि-स्पर्शाणजन्तात् क्ते णौ ``दान्त०'' (4. 4. 74.) इति निपातनात् स्पष्टः । *अपरे त्वि*ति-काशिकाकारादयः ।।25।।

रोर्यः ।। 1. 3. 26.।।

अवर्ण-भो-भगो-ऽघोभ्यः परस्य पदान्ते वर्तमानस्य रोः स्थाने स्वरे परे यकार आदेशो भवति । कयास्ते देवायासते, भोयत्र, भगोयत्र, अघोयत्र । रोरिति किम् ? पुनरिह । अवर्णादिभ्य इत्येव ? मुनिरत्र । स्वर इत्येव ? कः करोति, भोः करोषि ।।26।।

न्या०स०—रोर्य इति-अत्रानन्तरोऽप्यवर्णादित्येव नानुवर्तते, भोप्रभृतिभ्यो यकारस्यास्पष्टयकारविधानाद्, इति व्यवहितोऽपि अवर्णादिसमुदाय एवानुवर्तते इत्याह—*अवर्ण-भो* इत्यादि । ननु 'तरोरयनं तर्वयनम्, चार्वयनम्' इत्य*त्रैव* ``रोर्यः'' (1. 3. 26.) इति प्राप्नोति, उकारसद्भावात्, नैवम्—एवं कृते भोः प्रभृतिभ्यो यकारासम्भवात् ``स्वरे वा'' (1. 3. 21.) इत्यादीनि सूत्राणि निरर्थकानि स्युः ।।26।।

ह्रस्वान्ङ-ण-नो द्वे ।।1. 3. 27. ।।

ह्रस्वात् परेषां पदान्ते वर्तमानानां 'ङ् ण् न्' इत्येषां वर्णानां स्वरे परे द्वे रूपे भवतः । क्रुङ्ङास्ते, सुगण्णिह, पचन्नास्ते । 'कुर्वन्नास्ते, कृषन्नास्ते' इत्यत्र तु बहिरङ्गस्य द्वित्वस्यासिद्धत्वाद् णत्वं न भवति । ह्रस्वादिति किम् ? प्राङास्ते, वाणास्ते, भवानास्ते, राज3निह । ङ-ण-न इति किम् ? त्वमत्र । स्वर इत्येव ? प्रत्यङ् शेते, गच्छन् भुङ्क्ते । पदान्त इत्येव ? वृत्रहणौ, दण्डिनौ । ``उणादयः'' (5. 2. 63.) इत्यादौ स्वरूपनिर्देशात्, ``अनन्तः०'' (1. 4. 56.) इत्यादौ त्वन्विन्धानबलान्न भवति ।।27।।

*न्या०स०—ह्रस्वे*त्यादि । *कुर्वन्नास्ते* इत्यादि-नन्वत्र द्वित्वे पूर्वस्य नस्यानन्त्यत्वाद् णत्वं प्राप्नोतीत्याह-*बहिरङ्गस्ये*ति । *उभयपदापेक्षत्वेने*ति-वणतीति क्विप्, ``अहन्पञ्चमस्य'' (4. 1. 107.) इति दीर्घत्वे वाण । *राज3निहे*ति परत्वात् प्रथमं प्लुतः, ``नामन्त्र्ये'' (2. 1. 12.) इति नलोपाभावः । *प्रत्यङ् शेते* इति-अत्र मा भूदनेन द्वित्वम्, ``अदीर्घाद् विरामैक०'' (1. 3. 32.) इत्यनेन भविष्यति, तत् किमर्थमेतन्निवृत्तये स्वर इत्युच्यते ? उच्यते-यद्यनेन स्यात् नित्यं स्यात् तेन तु विकल्पेनेति तदर्थं स्वर इत्युच्यते । *वृत्रहणावि*ति—अत्र संज्ञायां ``पूर्वपदस्थाद्०'' (2. 3. 64.) इति, असंज्ञायां तु ``कवर्गकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इति णत्वम् ।।27।।

अनाङ्-माङो दीर्घाद् वा छः ॥1. 3. 28. ॥

आङ्-माङ्वर्जितपदसम्बन्धिनो दीर्घात् पदान्ते वर्तमानात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । कन्याच्छत्रम्, कन्याछत्रम्; कुटीच्छाया, कुटीछाया; जम्बूच्छाया, जम्बूछाया; मुनेच्छाया, मुने छाया; रैच्छाया, रैछाया; गोच्छाया, गोछाया, नौच्छाया, नौछाया । अनाङ्माङ इति किम् ? आच्छाया, आच्छिनत्ति, आ च्छायायाः, मा च्छिदत्, ``स्वरेभ्यः'' (1. 3. 30.) इति नित्यमेव । ङित्करणादेषु विकल्प एव–आ च्छायां मन्यसे, आ छायां मन्यसे; आ च्छाया मा भूत्, आ छाया मा भूत्; वाक्यस्मरणयोरयमाकारः; मा च्छिन्धि, मा छिन्धि; प्रमाच्छन्दः, प्रमाछन्दः; पुत्रो मा च्छिनत्ति, पुत्रो मा छिनत्ति । आङ्साहचर्येणाव्ययस्य माङो ग्रहणा-दिहापि विकल्प एव-प्रमिमीते इति प्रमाः, विच्, प्रमाच्छात्रः, प्रमाछात्रः । दीर्घादिति किम् ? श्वेतच्छत्रम्, वाक्छत्रम् । पदान्त इत्येव ? ह्रीच्छति ॥28॥

*न्या०स०–अनाङि*त्यादि । *'पदान्ते'* इति दीर्घस्य विशेषणम्, न छस्यासम्भवात्, पदान्ते हि तस्य विकारेण भाव्यम्-'शब्दप्राट्' इति । आङ्-माङ् वर्जनादेव दीर्घादिति पदे लब्धे किमर्थं दीर्घादित्यूचे ? सत्यम्-आङ-माङावव्ययौ तत्पर्युदासादन्यस्मादप्यव्ययाद् दीर्घादित्यपि प्रसङ्गः स्यादिति । *मुने छायेति*–'मुनि छाया' इति स्थिते ``स्वरेभ्यः'' (1. 3. 30.) इति द्वित्वं प्राप्नोति ``आमन्त्र्ये'' (2. 2. 22.) इति सिश्च, तत्रान्तरङ्गत्वाद् नित्यत्वाच्च ``आमन्त्र्ये'' (2. 2. 22.) इति पूर्वं सिः, ``ततो ह्रस्वस्य गुणः'' (1. 4. 41.) इति सिना सह गुणे अनेन विकल्पेन छस्य द्वित्वमिति । ``स्वरेभ्यः'' (1. 3. 30.) इति नित्यं द्वित्वे प्राप्ते विकल्पार्थोऽयमारम्भ इति । आङो ङित ईषदर्थादिषु चतुर्ष्वर्थेषु वर्तमानस्य प्रतिषेधः, माङस्तु प्रतिषेधवचनस्य इति क्रमेणोदाहरति-*आच्छाये*ति ईषदर्थे । *आच्छिनत्ती*ति क्रियायोगे, छदिरत्र हठाद् ग्रहणे विद्यते, स चाङा विशिष्यते । *आ च्छायाया* इति-अत्राङ् मर्यादायाम्, छायां परिहृत्येत्यर्थः, अभिविधौ तु छायामभिव्याप्येत्यर्थः । *वाक्य-स्मरणयोरि*ति-वाक्यं पूर्व-वाक्यार्थविपरीतकरणरूपम्, स्मरणं विस्मृतार्थपरिज्ञानम् । *प्रमाछन्द* इति-प्रमीयत इति ``उपसर्गादातः'' (5. 1. 110.) इत्यङ्, प्रमा चासौ छन्दश्च प्रमाछन्दः ॥28॥

प्लुताद् वा ॥ 1. 3. 29. ॥

पदान्ते वर्तमानाद् दीर्घस्थानात् प्लुतात् परस्य छकारस्य द्वे रूपे वा भवतः । आगच्छ भो इन्द्रभूते3 च्छत्रमानय, आगच्छ भो इन्द्रभूते3 छत्रमानय । दीर्घादित्येव ? आगच्छ भो देवदत्त3 च्छत्रमानय ॥29॥

न्या०स०–प्लुतादित्यादि । दीर्घादित्यनुवृत्तावपि द्विमात्रत्रिमात्रयोर्विरोधात् सामानाधिकरण्यासम्भवेऽपि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादिवत् स्थानोपचारात् तद्व्यपदेशाद् विशेषण-विशेष्यभावः, दीर्घोऽस्यास्ति स्थानित्वेनेत्यभ्रादित्वाद् अति वा दीर्घशब्देन प्लुतोऽभिधीयते इत्यत आह– *दीर्घस्थानादिति* । ननु किमर्थमिदम् ? यतो दीर्घत्वमाश्रित्य ''अनाङ्-माङो०'' (1. 3. 28.) इत्यनेनैव द्वित्वं वा भविष्यति, सत्यम्-इदमेव ज्ञापकम्–❊ दीर्घापदिष्टं न प्लुतस्य ❊ इति, ह्रस्वकार्यं च न, यथा–*आगच्छ भो देवदत्त* 3, प्लुतात् प्रथमं सेर्लुक् ''अदेतः०'' (1. 4. 44.) इत्यनेन, अन्यथा प्रथमं न कुर्यात्, यदि पश्चादपि स्यात् ।।29।।

स्वरेभ्यः ।। 1. 3. 30. ।।

बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन 'पदान्ते' इति निवृत्तम्, स्वरात् परस्य छकारस्य पदान्तेऽपदान्ते च द्वे रूपे भवतः । इच्छति, (ऋच्छति), गच्छति, ह्रीच्छति, म्लेच्छति, चाच्छायते, चोच्छुप्यते, वृक्षच्छाया । स्वरेभ्य इति किम् ? वाक्छत्रम् ।।30।।

न्या०स०–स्वरेभ्य इति । *पदान्त इति निवृत्तमिति*–''गच्छति पथि दूते'' (6. 3. 203.) इत्यत्र गच्छतीति निर्देशाच्च ।।30।।

र्हादर्ह-स्वरस्याऽनु नवा ।। 1. 3. 31. ।।

स्वरेभ्यः परौ यौ रेफ-हकारौ ताभ्यां परस्यार्हस्वरस्य-रेफ-हकार-स्वरवर्जितस्य वर्णस्य स्थाने द्वे रूपे वा भवतः, अनु-यदन्यत् कार्यं प्राप्नोति तस्मिन् कृते पश्चादित्यर्थः । अर्क्कः, अर्कः; मूर्क्खः, मूर्खः; स्वर्ग्गः, स्वर्गः; अर्ग्घः, अर्घः; अर्च्चा, अर्चा; ब्रह्म्मः, ब्रह्मः; जिह्म्मः, जिह्मः; वाह्य्यम्, वाह्यम्; जिह्व्वा, जिह्वा । अर्हस्वरस्येति किम् ? पद्मह्रदः, अर्हः, करः । स्वरेभ्य इत्येव ? अभ्रयते, ह्नुते । अन्विति किम् ? प्रोर्ण्णुनाव, अत्र द्विर्वचने कृते (द्वित्वं) यथा स्यात् ।।31।।

न्या०स०–र्हादित्यादि । अर्च्यते इति ''भीण् शलि०'' (उणा० 21) इति के ''च-जः क-गम्'' (2. 1. 86.) इति कत्वम्, अर्च्यत इति घञि न्यङ्क्वादित्वात् कत्वे अनेन वा द्वित्वम्, औणादिकेऽर्क्के प्रथममेव कस्य द्विरूपत्वान्नानेन द्वित्वम् । बहिर्जातम् ''बहिषष्टीकण्, च'' (6. 1. 16.) ञ्यः, यदा तु बहिर्भवं तदा ''गम्भीर-पञ्च०'' (6. 3. 135.) इति ञ्यः (बाह्यम्) ।

पद्मह्रव इति-ह्लादते इत्यच्, पृषोदरादित्वाद् ह्रस्वः । नन्वत्र द्वित्वे कृतेऽपि ``रो रे लुग्०'' (1. 3. 41.) इत्यनेन रलोपे सति न किञ्चिद् विनङ्क्ष्यति, सत्यम्-यद्यत्र रवर्जनं न स्यात् तदोत्तरसूत्रेऽपि वर्जनाभावेऽर्ह इत्यत्रोत्तरेण द्वित्वे रो रे लुकि आर्ह इति अनिष्टं रूपं स्यादिति । ननु कर इत्यत्र द्वित्वे कृतेऽपि ``लुगस्या०'' (2. 1. 113.) इत्यादिनाऽस्य लुग् भविष्यति, किं स्वरवर्जनेन ? सत्यम्-`चारु, दारु, वारि, इत्यादौ चारू दारू वारीत्याद्यनिष्टं भवेदिति स्वरवर्जनम् । *प्रोण्णु नावे*ति–अत्रान्वित्यस्याभावे सत्यन्तरङ्गत्वाद द्वित्वे कृते पश्चात् परोक्षानिमित्तत्वेन बहिरङ्ग द्विर्वचनं स्यात्, ततश्च प्रोर्णुन्नावेत्यनिष्टरूपापत्तिः । ननु द्वित्वं कृतमपि ❉ निमित्ताभावे० ❉ इति निवर्त्स्यति किमनुग्रहणेन ? सत्यम्-अनुग्रहणादेवायं न्यायोऽनित्य इति, यद्वा नायं सार्वत्रिको न्यायः कुम्भकारस्य विनाशे घटस्य दर्शनात् ॥31॥

अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने ॥ 1. 3. 32. ॥

अदीर्घात् खरात् परस्य र्ह-स्वरवर्जितस्य वर्णस्य स्थाने विरामैक-व्यञ्जने–विरामेऽसंयुक्तव्यञ्जने च परेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । त्वक्क्, त्वक्, त्वग्ग्, त्वग्, षट्ट्, षट्, षड्ड्, षड्, तत्त्, तत्, तद्द्, तद् । एकव्यञ्जने–दद्ध्यत्र, दध्यत्र, पत्थ्यदनम्, पथ्यदनम्, मद्ध्वत्र, मध्वत्र, पित्त्रर्थः, पित्रर्थः, त्वङ्ङ् मधुरा, त्वङ् मधुरा, त्वङ्ङ् करोषि, त्वङ् करोषि; सय्यँ्यतः, सयँ्यत; उर ⌣⌢ ⌣⌢ कः, उर ⌣⌢ कः; उर) ( ) (पः, उर) (पः; उरः:कः, उरःकः; गो3त्त्रात !, गो3त्रात ! नौ3त्त्रात !, नौ3त्रात !। अन्वित्यधिकारात् कत्व-गत्वादिषु कृतेषु पश्चाद् द्वित्वम् । अदीर्घादिति किम् ? वाक्, भवान्, सूत्रम्, पात्रम्, नेत्रम्, होत्रम् । विरामैकव्यञ्जन इति किम् ? इन्द्रः, चन्द्रः, कृत्स्नम्, मृत्स्ना, उष्ट्रः, दधि, मधु । संयुक्तव्यञ्जनेऽपीच्छन्त्येके प्रत्त्तम्, प्रत्तम् । अर्ह-स्वरस्येत्येव ? वर्या, वह्यम्, तितउ । अत एवादेशबलात् संयोगान्तलोपो न भवति, प्रथमत्वादिकं तु द्वित्वस्याबाधनाद् भवत्येव ॥32॥

*न्या०स०–अदीर्घादि*त्यादि । अदीर्घादिति पर्युदासाद् अनुवृत्तस्य स्वरस्य विशेषणमित्याह–*अदीर्घात् स्वरा*दिति । अथ संयोगान्तलोपो मा भूत्, `त्वक्क्' इत्यत्र प्रथमककारस्य ``संयोगस्यादौ०'' (2. 1. 88.) इति लुक् कस्मान्न भवति ? न च वाच्यम्-अयं द्वित्वादेशोऽनर्थक इति, अन्यत्र द्वित्वश्रुतेश्चरितार्थत्वादिति, सत्यम्-अर्ह-स्वरस्येति र्होपादानाद् ❉ व्यक्तिः पदार्थः ❉ आश्रीयते, तत्र च ककारविषयस्य द्वित्वस्यानर्थक्यं, मा भूदिति न भवति। ननु ``लि लौ'' (1. 3. 65.) इति सूत्रे द्विवचनेनेदं ज्ञापितम्–यथा ❉ सानुनासिकस्यापि निरनुनासिक एवादेशः ❉

इति, तत् कथं सानुनासिको यकारः सय्यँ‌यत इत्यत्रेति, सत्यम्-स एव सानुनासिको यकारो द्विरूपो भवति, न त्वयं भिन्न आदेशः क्रियत इति सानुनासिक एव भवतीति, एकयाऽपि चार्धकलया द्वावपि यकारौ सानुनासिको ज्ञायेते, सानुनासिकयकारस्यैव द्वित्वापन्नत्वादिति एकैव कलोदाहरणे । *गो3त्रात* ! गाव एनं त्रायीरन्निति ``तिक्कृतौ नाम्नि'' (5. 1. 71.) इति क्तः । *इच्छन्त्येके* इति इन्द्र-गोमिचन्द्रप्रभृतयः । व्रियते इति *वर्या*, ``वर्योपसर्य०'' (5. 1. 35.) इति यः, अत्र द्वित्वे कृते रलोपे च वार्येति स्यात् । डउविधानस्य पुंसि विसर्गान्तस्य चरितार्थत्वान्नपुंसके *'तितउ'* इत्यत्र विरामस्थस्योकारस्य द्वित्वं स्यात् । *प्रथमत्वादिकमिति*-पत्थ्यदनमित्यादिषु ।।32।।

अञ्वर्गस्याऽन्तस्थातः ।। 1. 3. 33. ।।

अन्तस्थातः परस्य ञकारवर्जितस्य वर्गस्य स्थानेऽनु द्वे रूपे वा भवतः । उल्क्का, उल्का; वल्म्मीकः, वल्मीकः; वृक्षव् क्करोति, वृक्षव् करोति । वर्गस्येति किम् ? सव्यम् । अञिति किम् ? हल्-ञकारौ । अन्तस्थात इति किम् ? भवान् मधुरः ।।33।।

न्या०स०—अञ्वर्गस्येत्यादि । *अन्तस्थात* इति-अत्राद्यादित्वात् तस् ।।33।।

ततोऽस्याः ।। 1. 3. 34. ।।

ततोऽञ्वर्गात् परस्या अस्या अन्तस्थायाः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । दध्य्यत्र, दध्यत्र; मध्व्वत्र, मध्वत्र । तत इति किम् ? बाल्यम् । अस्या इति किम् ? वाग् जयति ।।34।।

न्या०स०—तत इत्यादि । दध्यत्रेत्यादौ ❊ असिद्धं बहिरङ्गम् ❊ इति न्यायाद् अन्तरङ्गे द्वित्वे कर्तव्ये बहिरङ्गो याद्यादेशोऽसिद्धः कस्मान्न भवति ?, न चास्यासिद्धत्वे सूत्रमिदमनर्थकमिति वाच्यम् ध्यानमित्यादावनादेशरूपे यादौ तस्य सावकाशत्वादिति, उच्यते-``न सन्धि-ङी-य-क्वि०'' (7. 4. 111.) इत्यत्र द्वित्वस्य सन्धिविधित्वेन स्थानिवद्भावप्रतिषेधे सिद्धे द्विग्रहणम् ❊ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❊ इति न्यायस्य बाधनार्थमिति द्वित्वमुपपद्यते । तथात्रेत्यत्र रस्य न द्वित्वम् अर्हस्वरस्येत्यधिकारात्, लस्य तु द्वित्वे क्ल्लाम्यतीत्यादि द्रष्टव्यम् ।।34।।

शिटः प्रथम-द्वितीयस्य ।। 1. 3. 35. ।।

शिटः परयोः प्रथम-द्वितीययोः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । त्वं क्करोषि, त्वं करोषि; त्वं

क्खनसि, त्वं खनसि; कः क्खनति, कः खनति; कः प्पचति, कः पचति; क ≍ क्खनति, क ≍ खनति; क ≍ प्फलति, क ≍ प्फलति; कश्च्चरति, कश्चरति; कश्च्छादयति, कश्छादयति; कष्ट्टीकते, कष्टीकते, कष्ठ्ठकारः, कष्ठकारः, स्त्थाली, स्थाली; स्प्फीता, स्फीता । शिट इति किम् ? भवान् करोति । प्रथम-द्वितीयस्येति किम् ? आस्यम् । अनुनासिकादप्यादेशरूपात् केचिदिच्छन्ति त्वञ्छ्छात्रः, त्वञ्छात्र इत्यादि ॥35॥

न्या०स०–शिट इत्यादि । ``ष्ठल स्थाने'' इत्यतः कर्तरि ``वा ज्वला०'' (5. 1. 62.) इति *णे* वृद्धौ ``जातेरयान्त०'' (2. 4. 54.) इति ङ्यां *स्थाली*, स्थालयतीति वा ``स्वरेभ्य इः'' (उणा० 606) स्थालिः । अस्यत इति घ्यणि, ``शिक्याऽऽस्य०'' (उणा० 364) इति वा *आस्यम्* । *केचिदिति*–शाकटायनादयः । *त्वञ्छ्छात्र* इति-`त्वम् छात्रः' इति स्थिते ``तो मुमो०'' (1. 3. 14.) इत्यनुनासिको ञकारः, ततश्छस्य द्वित्वे ``अघोषे प्रथमो०'' (1. 2. 50.) इति छस्य चः ॥35॥

ततः शिटः ॥1. 3. 36.॥

ततः प्रथम–द्वितीयाभ्यां परस्य शिटः स्थाने द्वे रूपे वा भवतः । तच् श्शेते, तच् शेते; षट् षण्डे, षट् षण्डे; तत् स्साधुः तत्साधुः; वत्स्सः, वत्सः; कष्षीरम्, क्षीरम्; अप्स्सराः, अप्सराः । तत इति किम् ? भवान् साधुः । शिट इति किम् ? मथ्नाति, ख्याति ॥36॥

न्या०स०–तत इत्यादि । ताभ्यां *ततः*, तच्छब्दस्यानन्तरपूर्ववस्तुपरामर्शित्वेन प्रथम-द्वितीययोरनुकर्ष इति । ``शिट्याद्यस्य०'' (1. 3. 59.) इति पकारस्य फकारे कृते द्वितीयादपि सस्य द्वित्वे अफस्सरा इत्यपि दृश्यम् ॥36॥

न रात् स्वरे ॥1. 3. 37.॥

रात् परस्य शिटः स्थाने स्वरे परे द्वे रूपे न भवतः । दर्शनम्, विमर्शः, कर्षति, वर्षति, वृस्या इदं वार्सम्, कृसराया इदं कार्सरम् । रादिति किम् ? तंच् श्शेते, षट् षण्डे वत्स्सः । स्वर इति किम् ? कश्र्श्यते, वर्ष्ष्यते । शिट इत्येवं ? अर्क्कः, वर्च्चः । ``हदिर्हस्वरस्य०'' (1. 3. 31.) इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः ॥37॥

न्या०स०—न रादित्यादि । नरा ब्रुवन्तः सीदन्ति अस्यामिति पृषोदरादित्वात् वृसी । *कश्र्श्यंत* इति णिगन्तस्य, एवम्-*वर्ष्य्यंत* इत्यपि ।।37।।

पुत्रस्याऽऽदिन्-पुत्रादिन्याक्रोशे ।।1. 3. 38. ।।

आदिन्शब्दे पुत्रादिन्शब्दे च परे पुत्रशब्दसम्बन्धिनस्तकारस्याक्रोश-विषये द्वे रूपे न भवतः । ``अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने'' (1. 3. 32.) इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः । पुत्रादिनी त्वमसि पापे !, पुत्रपुत्रादिनी भव । आदिन्-पुत्रादिनीति किम् ? पुत्त्रहती, पुत्रहती; पुत्त्रजग्धी पुत्रजग्धी; ``अनाच्छादजात्यादेर्नवा'' (2. 4. 47.) इति वा ङीः । आक्रोश इति किम् ? पुत्त्रादिनी शिशुमारी, पुत्रादिनीति वा; पुत्त्रपुत्रादिनी नागी, पुत्रपुत्रादिनीति वा ।।38।।

*न्या०स०—पुत्रस्ये*त्यादि-नकारान्तताऽभिव्यक्त्यर्थमादिन्निति सूत्रांशे लक्षण-प्राप्तोऽपि नलोपो न कृतः । आदिन्-पुत्रादिन्नपादानेऽपि ❊ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ❊ इति न्यायात् स्त्रियामुदाहृतम्, तत्रैव प्रायेणाक्रोशसम्भवात्; स्त्रीवत् पुंसोऽपि पुत्रादनाक्रोशे तत्रापि प्रतिषेधो भवत्येव-पुत्रादी भवेति । अभीक्ष्णं पुत्रानत्सीति ``व्रताऽऽभीक्ष्ण्ये'' (5. 1. 157.) इति णिन् । *पुत्रादिनी शिशुमारी*ति-अध्यारोपेण हि निन्दा आक्रोशः, तत्त्वाख्याने तु तदसम्भव इति प्रतिषेधाभावात् ``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इति द्वित्वं भवत्येव । *नागी*ति–``जातेरयान्त०'' (5. 4. 54.) इति ङीः ।।38।।

म्नां धुड्वर्गेऽन्त्योऽपदान्ते ।।1. 3. 39. ।।

अन्विति वर्तते, अपदान्ते वर्तमानानां मकार-नकाराणां धुट् संज्ञके वर्गे परे प्रत्यासत्तेर्निमित्तवर्गस्यैवान्त्योऽनु भवति । म्-गन्ता, गन्तुम् । न्-शङ्किता, शङ्कितुम्, अञ्चिता, अञ्चितुम्, कुण्ठिता, कुण्ठितुम्, नन्दिता, नन्दितुम्, कम्पिता, कम्पितुम् । म्नामिति बहुवचनं वर्णान्तरबाधनार्थम्, तेन–`कुर्वन्ति, कृषन्ति, विस्रम्भः, संरम्भः' इत्यत्र नकारस्य णत्वं बाधित्वा अनेन वर्गान्त्य एव भवति; `क्रान्त्वा, भ्रान्त्वा' इत्यत्रापि नकारे कृते णत्वबाधनार्थं पुनर्नकारः । धुडिति किम् ? आहन्महे, प्रहन्मः । धुड्वर्ग इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अपदान्त इति किम् ? भवान् करोति । अन्वित्यधिकाराद् व्यङ्क्ता, व्यङ्क्तुमित्यत्राञ्जेर्गत्वे कत्वे च कृते पश्चात् कवर्गान्त्यः, अन्यथा चवर्गान्त्यः स्यात् ।।39।।

*न्या०स०—म्नां धुडि*त्यादि-यद्यत्र वर्गग्रहणं न स्यात् तदा `गन्ता' इत्यत्र थकारः

स्यात्, तस्यापि तकारापेक्षयाऽन्त्यत्वात्, इत्यव्यवस्थानिरासाय वर्गग्रहणमिति । *निमित्त-वर्गस्यैवेति*-मकारनकारापेक्षयाऽन्यस्य वर्णस्यान्त्यस्याभावादिति । *बहुवचनमिति*-अयमर्थः– ❇ वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ❇ इति जातिनिर्देशे प्राप्ते बहुवचनं व्यक्तिनिर्देशार्थम्, तेन यावान् मकारो नकारश्चापदान्तस्तत्र सर्वत्र व्यक्त्यपेक्षया वैयर्थ्यं मा भूदिति प्रवर्तमानोऽन्त्यः कार्यान्तरबाधायै प्रभवति, तेन 'शङ्किता' इत्यत्र ''अदीर्घा०'' (1. 3. 32.) इत्यादिभिर्द्वित्वा-दिकार्यान्तराणि न स्युः । *'गम्यते, हन्यते'* इत्यत्र म्नोनिमित्तयकारस्याऽन्त्यो रः स्यात् ॥39॥

शिड्-हेऽनुस्वारः ॥1. 3. 40. ॥

अपदान्ते वर्तमानानां म्नां स्थाने शिटि हकारे च परे अनुस्वार आदेशोऽनु भवति । म्-पुंसि, गंस्यते; न्-दंशः, सुदिंशि कुलानि, वपूंषि, धनूंषि, यशांसि, पुयांसि, गुडलिहि, स्वनड्वांहि कुलानि । म्नामिति बहुवचनाद् बृंहणमित्यत्र णत्वं, दंश इत्यादौ अत्वं च बाधित्वाऽनेनाऽनुस्वार एव भवति; एवम्-सर्पींषि, सुदृंशि । शिड्-ह इति किम् ? गम्यते, हन्यते । अपदान्त इत्येव ? भवान् साधुः, श्रेयान् हेतुः । अन्वित्येव ? पिण्ढि, शिण्ढि, अत्र पिष्-शिषोर्हौ तस्य धित्वे षस्य डत्वे च शिडभावाच्छ्ननकारस्यानुस्वारो न भवति ॥40॥

न्या०स०–शिड्-ह इत्यादि । ननु 'पिण्ड्ढ' इत्यादौ श्नस्यालुकः स्थानिवत्त्वाद-कारेण षस्य व्यवधानाद् अनुस्वारो न प्राप्नोति, किमन्वित्याश्रयणेन ? नैवम्–''न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इति सन्धिविधौ स्थानित्वनिषेधात् । ननु हस्य शिट्संज्ञां कृत्वा ''शिट्यनुस्वारः'' इत्येवोच्यताम्, सत्यम्-यदि हस्य शिट्संज्ञां कृत्वा इह हग्रहणं न क्रियते तदा 'औजढद्' इत्यत्र 'अघोषे शिटः' (4. 1. 45.) इति हलोपेऽनिष्टं रूपं स्यादिति ॥40॥

रो रे लुग् दीर्घश्चाऽदिदुतः ॥1. 3. 41. ॥

अपदान्त इति नानुवर्तते, रेफस्य रेफे परे लुग् भवति, अकारेकारोकाराणां चानन्तराणां दीर्घो भवति । पुना रमते, प्राता रौति, अग्नी रथेन, नीरक्तम्, दूरक्तम्, पटू राजा, उच्चै रौति । अन्वित्येव ? अहोरूपम्, अत्र पूर्वमेव रोरुत्वे रेफाभावाल्लुग्-दीर्घाभावः सिद्धः ॥41॥

न्या०स०–रो र इत्यादि । नन्वपदान्त इत्यधिकारात् 'अजर्घाः, अपास्पाः, अचोकूः, अचाखाः, अचाकाः, अपापाः' इत्यादिष्वेव प्राप्नोति, न तु स्वाराज्यमित्यादाविति, नैवम्–अदिदुत इति इद्ग्रहणादपदान्त इति नानुवर्तते, यत इकारात् परस्य रेफस्य रेफेऽपदान्ते

संभवो नास्तीति, भिन्नस्थानिनिमित्तभणनाद् वा । किं पुनरिदं सानुबन्धस्य कार्यिणो रेफस्य ग्रहणं निरनुबन्धस्य वा ? तत्राद्यपक्षे–अग्नी रथेनेत्यादि सिध्यति, न तु 'पुना रमते' इत्यादि । द्वितीयपक्षे 'पुना रमते' इत्यादि सिध्यति, न त्वग्नी रथेनेत्यादि, न चोभय-परिग्रहे किञ्चिन्नियामकमस्ति, उच्यते-अत्र ''रो रे लुग्०'' (1. 3. 41.) इत्येकप्रयत्ने नैव सूत्रे उभयोच्चारणादेकत्र सानुबन्धस्यापरत्र निरनुबन्धस्य च निर्देशाद् ❉ निरनुबन्धग्रहणे सामान्यग्रहणम् ❉ इति न्यायाच्च सामान्येन ग्रहणं भवतीत्याह–*रेफस्ये*ति । *अनन्तराणा*मिति-ननु सामान्यनिर्देशादनन्तराणामेवेति कुतो लभ्यते ? इति चेद्, उच्यते-'रे' इत्युपश्लेषसप्तमीनिर्देशाद् लुगिव दीर्घोऽपि रेफोपश्लिष्टस्यैव भवतीति ।।41।।

ढस्तड्ढे ।। 1. 3. 42. ।।

तन्निमित्तो ढस्तड्ढः, ढकारस्य तड्ढे परेऽनु लुग् भवति, अकारेकारोकाराणां च दीर्घो भवति । महतेः क्तौ माढिः, लीढम्, मीढम्, गूढम् । तड्ढ इति किम् ? मधुलिङ् ढौकते, नायं लुप्यमानढकारनिमित्तो ढः, एवम्–'चक्कृड्ढवे, लुलुविड्ढ्वे' इत्यादावपि ढकारस्य द्वित्वे सति ढकारयोर्निमित्त-निमित्तिभावो नास्तीति लुग् न भवति । अदिदुत इत्येव ? आतृढम्, आवृढम् । अन्वित्येव ? लेढा, मोढा, अत्र गुणे कृते पश्चाद् ढलोपः, अन्यथा हि पूर्वमेव ढलोपे दीर्घे च लीढा, मूढेत्यनिष्टं रूपं स्यात् ।।42।।

न्या०स०–ढस्तड्ढ इत्यादि । *अन्वि*ति-इदं सूत्रं पदान्ते ''धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इत्यस्य बाधकम्, अपदान्ते तु ''तृतीयस्तृतीय-चतुर्थे'' (1. 3. 49.) इत्यस्य चेति, ततोऽन्वित्यधिकार एतयोः सूत्रयोर्विषयं मुक्त्वा ज्ञातव्यः, अत एव 'मधुलिङ् ढौकते' इत्यत्र पूर्वं तृतीयत्वाभावे सति न द्वयङ्गविकलतेति । *चकृड्ढ्वे* इति-अत्र ''नम्यिन्तात्०'' (2. 1. 80.) इति धस्य ढत्वे ''अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इति तस्य द्वित्वे ''तृतीयस्तृतीय०'' (1. 3. 49.) इति ढस्य डः । *आतृढम्, आवृढमि*ति–''तृहौ, तृंहौत् हिंसायाम्'' ''वृहौत् उद्यमने'' इति धातू ''वेटोऽपतः'' (4. 6. 62.) इतीण्निषेधः । *लेढा* इति-नन्वत्र परत्वाद् गुणो भविष्यति, किमन्वित्यधिकारेण ? सत्यम्-ढलोपस्याल्पाश्रितत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रथमं ढलोपो दीर्घत्वं च प्राप्नोति । ननु ढस्यात्सत्त्वात् सर्वमप्यसत, ततो गुणो भविष्यति, सत्यम्-तथापि ❉ असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे ❉ इति ढत्वे सति दीर्घत्वं स्यात्, ❉ वार्णो विधिः ❉ (वार्णात् प्राकृतम्) इति न्यायेनान्तरङ्गं ढत्वम्, ततस्तस्मिन् विधेये गुणोऽसिद्धः, यतो गुणोऽवार्णो विधिरिति, कार्यासत्त्वपक्षे इदमुक्तम्; शास्त्रासत्त्वपक्षे तु गुणे कृते ढत्वं भवति ।।42।।

सहि-वहेरोच्चावर्णस्य ।।1. 3. 43. ।।

'सहि वहि' इत्येतयोर्ढस्य तड्ढे परेऽनु लुग् भवति, अवर्णस्य चौकारो भवति । सोढा, वोढा, उदवोढाम् । अवर्णस्येति किम् ? ऊढः ।।43।।

उदः स्था-स्तम्भः सः ।।1. 3. 44. ।।

उदः परयोः 'स्था स्तम्भ' इत्येतयोः सकारस्य लुग् भवति । उत्थाता, उत्थातुम्, उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम् । उद इति किम् ? संस्थाता, संस्तम्भिता स्था-स्तम्भ इति किम् ? उत्स्तोता, उत्स्कन्नः । स इति किम् ? उत्तिष्ठति, उदस्थात्, उदस्तभत्, उत्तिस्तम्भिषति । प्रत्यासत्तेः स्था-स्तम्भविशेषणस्यैवोदो ग्रहणादिह न भवति-ऊर्ध्वं स्थानमस्योत्स्थानः । कथमुत्स्कन्दतीति उत्कन्दको रोग इति ? पृषोदरादित्वाद् भविष्यति ।।44।।

*न्या०स०—उदः स्थे*त्यादि । ननु *उदस्थादि*त्यत्र सकारलोपः कस्मान्न भवति ? न च वाच्यम्-अडागमेन व्यवधानम्, यतोऽङ्गिनोऽङ्गं व्यवधायकं न भवति, सत्यम्—आवृत्य उद इति पदं स्था-स्तम्भः सकारस्य च सम्बन्धनीयम् 'उदस्थात्, उदस्तभत्' इत्यनयोः सिद्ध्यर्थम्, उदस्थादित्यत्राडागमात् पूर्वमन्वित्यधिकाराद् न भवति, अडागमे च सति ''पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य'' (7. 4. 104.) तच्चानन्तरस्यैव, न व्यवहितस्येति न भवति । *उत्स्थान* इत्यत्र स्थानस्य विशेषणम् उत्, न तु तिष्ठतेरिति ।।44।।

तदः से स्वरे पादार्था ।।1. 3. 45.।।

तदः परस्य सेः स्वरे परे लुग् भवति, सा चेत् पादार्था-पादपूरणी भवति । 'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः' । 'सौषधीरनुरुध्यते' पादार्थेति किम् ? 'स एष भरतो राजा' ।।45।।

*न्या०स०—तदः से*रित्यादि । तद इत्यनेन तदादेशस्य सस्य ग्रहणम्, अन्यथा व्यञ्जनात् सिलोपः सिद्ध एव, अनुकरणत्वात् तद इत्यत्र त्यदाद्यत्वाभावः, शब्दार्थानुकरणे हि ❉ प्रकृतिवदनुकरणम् ❉ इति न्यायः प्रवर्तते, शब्दानुकरणे तु नेति; कथमिदमिति चेत् ? ''तदः सेः स्वरे०'' (1. 3. 45.) इति ''परिव्यवात् क्रियः'' (3. 3. 27.) इति सूत्रसूत्रणात् । पादाय इयम्, पादोऽर्थो यस्यामिति वा *पादार्था* । ननु ''सोऽहं तथापि तव०'' (भक्तामरस्तोत्रे

श्लो० 5) इत्यस्मिन् प्रयोगे ``तदः सेः स्वरे पादार्था'' (1. 3. 45.) इत्यनेन प्रतिष्णातेन निमित्तस्वरे परत्रावतिष्ठमाने सति सेर्लुक् कथं न भवति ? उच्यते– ``तदः सेः स्वरे०'' (1. 3. 45.) इति सूत्रं ``रोर्यः'' (1. 3. 26.) सामान्यस्वरनिमित्तसूत्रविषये ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इत्यस्य बाधकम्, न पुनः स्वरविशेषनिमित्तस्य ``अतोऽति रोरुः'' (1. 3. 20.) इत्यस्य विषये, कुतः ? सर्वत्रापि ❈ विशेषेण सामान्यं बाध्यते, न सामान्येन विशेषः ❈ इति न्यायात् ।।45।।

एतदश्च व्यञ्जनेऽनग्-नञ्समासे ।। 1. 3. 46. ।।

एतदस्तदश्च परस्य सेर्व्यञ्जने परे लुग् भवति, अकि नञ्समासे च सति न भवति । एष ददाति, स ददाति, परमैष करोति, परमस ददाति एतदश्चेति किम् ? को दाता, यो धन्यः । सेरित्येव ? एतौ गच्छतः, तौ तिष्ठतः । अनुबन्धग्रहणादिह न भवति–एतेषु चरति, तेषु याति । अनग्-नञ्समास इति किम् ? एषकः करोति, सको याति, ❈ तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ❈ इति साकोऽपि प्राप्तिरिति प्रतिषेधः, अनेषो गच्छति, असो याति । व्यञ्जन इति किम् ? एषोऽत्र, सोऽत्र ।।46।।

न्या०स०–एतद इत्यादि । प्रकृतेः परः श्रूयमाणश्चकारः प्रकृत्यन्तरसद्वितीयतां गमयन् पूर्वसूत्रश्रुतप्रकृत्यैव सद्वितीयतां गमयति, नञः समासो नञ्समासस्ततो द्वन्द्वगर्भो नञ्तत्पुरुषः, *'नञ् समासे च सति न भवति'* इत्यनेन नञः क्रियासम्बन्धं दर्शयन् 'अनग्-नञ् समासे' इति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयमिति दर्शयति, पर्युदासे हि सति ❈ नञ्युक्तं तत्सदृशे ❈ इति न्यायेन नञ्समासादन्यत्रापि समास एव वर्तमानाभ्याम् एतत्-तच्छब्दाभ्यां सिलोपः स्यादिति । 'अनग्-नञ्समासे' इति प्रतिषेधात् परमैष करोतीत्यादौ तदन्तादपि सेर्लुक् । धनं लब्धा ``धनगणाल्लब्धरि'' (7. 1. 9.) इति ये *धन्यः । अनुबन्धग्रहणादि*ति–अयमर्थः–'व्यञ्जने' इत्ति विषयसप्तम्यामपि सेरिति इदनुबन्धग्रहणाद् अन्यानुबन्धसमुदायस्य लोपाभावः–एतेषु चरतीत्यादौ । अथात्र परत्वादेत्वे षत्वे च कृते सकारस्याभावाल्लोपो न भविष्यति, सत्यम्-विशेषविहितत्वादेत्वषत्वाभ्यां पूर्वमेव लोपः स्यादिति । किञ्च, एतत् स्कुभ्नातीत्यादावपि स्यात् ।।46।।

व्यञ्जनात् पञ्चमा-ऽन्तस्थायाः सरूपे वा ।। 1. 3. 47. ।।

व्यञ्जनात् परस्य पञ्चमस्यान्तस्थायाश्च सरूपे वर्णे परे लुग् वा भवति । क्रुञ्चो ङ्ङौ क्रुङ्ङौ, क्रुङ्ङ्ङौ; अदितेरयमादित्यः, स देवता अस्य आदित्यः स्थालीपाकः, आदित्य्य

इति वा। व्यञ्जनादिति किम् ? अन्नम्, भिन्नम्। सरूप इति किम् ? वर्ण्यते, पित्र्यम्। केचित् तु पञ्चमाऽन्तस्थायाः पञ्चमाऽन्तस्थामात्रे लोपमिच्छन्ति, न तु सरूप एव, तन्मते– 'वभ्यते, वभ्र्यते, मभ्यते, मभ्र्यते इत्यादावपि भवति। अपरे तु अभ्र-वभ्र-मभ्राणां त्रयाणां धातूनां धुटि रेफलोपं नित्यमिच्छन्ति-अभ्रतेः ``तिक्कृतौ नाम्नि'' (5. 1. 71.) इति तिकि अब्धिः, वभ्र-मभ्रोर्यङ्लुपि वावब्धि, मामब्धि, सिद्धान्ते तु अभ्रितः, वावभ्रित, मामभ्रित ॥47॥

*न्या०स०–व्यञ्जनादि*त्यादि-समाहारेऽपि सौत्रत्वाद् ह्रस्वाभावः। आदित्यो देवताऽस्येत्या-दित्य इति-अत्राकारलोपे लुकः सन्धिविधित्वात् स्थानिवद्भावप्रतिषेधेऽनेन पक्षे यलुक्। *केचित् त्वि*ति-चान्द्रप्रभृतयः। *अपरे त्वि*ति-शाकटायनादयः। सिद्धान्त इति-शुद्धपक्षे, स्वमत इत्यर्थः। 'स्वे' इति कृते शार्ङ्ग इत्यादिष्वपि स्यात् ॥47॥

धुटो धुटि स्वे वा ॥1. 3. 48.॥

व्यञ्जनात् परस्य धुटो धुटि स्वे परे लुग् वा भवति। प्रत्तम्, प्रत्त्तम्; अवत्तम्, अवत्त्तम्; अत्र त्रयस्तकारा, मध्यमस्य वा लोपः; शिण्डि, शिण्ड्ढि; पिण्ढि, पिण्ड्ढ; भिन्थः, भिन्त्थः। धुट इति किम् ? शार्ङ्गम्, भार्ङ्गम्। धुटीति किम् ? सक्थ्ना, सक्थ्ने। स्व इति किम् ? तर्ता, दर्ता। व्यञ्जनादित्येव ? बोद्धा, योद्धा ॥48॥

न्या०स०–धुट इत्यादि। *प्रत्तमि*ति-प्रपूर्वाद् ददातेरारम्भेऽर्थे क्ते ``प्राद् दागस्त०'' (4. 4. 2.) इति त्तादेशः; (अवत्तम्) अवदीयते स्म क्तः, ``नि-वि-स्वन्ववात्'' (4. 4. 8.) इति त्तः। *शिण्ढि, पिण्ढी*ति शिष्-पिषोः पञ्चम्यां हौ ``रुधां स्वरा०'' (3. 4. 82.) इति श्नप्रत्यये ``श्नास्त्योर्लुक्'' (4. 2. 90.) इति अलोपे ``हु-धुटः०'' (4. 2. 92.) इति हेर्धिभावे ``तृतीयस्तृतीय०'' (1. 3. 49.) इति तृतीयत्वे ``तवर्गस्य'' (1. 3. 60.) इति ढत्वे ``म्नां धुट्०'' इति णत्वेऽनेन पक्षे डलोपे चेति। *भार्ङ्गमि*ति भृगो ``भृवृभ्यां नोऽन्तश्च'' (उणा० 94) इति किति गे नागमे च भृङ्गः, तस्येदमित्यणि ॥48॥

तृतीयस्तृतीय-चतुर्थे ॥1. 3. 49.॥

धुटः स्थाने तृतीये चतुर्थे च परे स्थानिप्रत्यासन्नस्तृतीयो भवति। मज्जति, भृज्जति, दोग्धा, दोग्धुम्, पिण्ड्ढ, शिण्ड्ढ, योद्धा, योद्धुम्, लब्धा, लब्धुम्, तृतीय-चतुर्थे इति किम् ? लिख्यते। धुट इत्येव ? वल्भते। पदान्ते ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति, अपदान्तार्थं वचनम् ॥49॥

न्या०स०—*तृतीय* इत्यादि । '*लिख्यते*' इत्यत्र खस्य गः, 'वल्भते इत्यत्र लस्य दं आसन्नः प्राप्नोति ।।49।।

अघोषे प्रथमोऽशिटः ।।1. 3. 50.।।

शिड्वर्जितस्य धुटः स्थानेऽघोषे परे प्रथमो भवति । वाक्पूता, देवच्छत्रम्, षट् कुर्वन्ति, दृषत्कल्पः, ककुप्सु, भेत्ता, लप्स्यते । अघोष इति किम् ? भज्यते, भिद्यते । धुट इत्येव ? भवान् खनति, कण्ठः, कन्था । अशिट इति किम् ? श्च्योतति, कष्टीकते, पयस्सु ।।50।।

न्या०स०—*अघोष* इत्यादि । ननु 'पयस्सु' इत्यत्र ''श-ष-से श-ष-सं वा'' (1. 3. 6.) इति विधानादपि न प्राप्नोति, किमशिट इति वचनेन ? सत्यम्-श्च्योतती-*त्याद्यर्थम्*, तथाऽशिट इत्यभावे 'वृक्षः पुरुषः' इत्यादौ कस्यादिः कादिरिति व्याख्यया विसर्गस्यापि ''अपञ्चमान्तस्थो०'' (1. 1. 11.) इति धुट्त्वे ''अवर्ण-ह-विसर्ग-कवर्ग्याः कण्ठ्याः'' इति कत्वं स्यात्, *श्च्योतती*त्यादि-प्रयोगत्रये यथासंख्यं च-ट-ताः स्युरिति; '*अस्थि (स्ति) आस्ते*' इत्यादिषु च सस्य तकारः स्यात् ।।50।।

विरामे वा ।।1. 3. 51. ।।

विरामे वर्तमानस्याशिटो धुटः स्थाने प्रथमो वा भवति । वाक्, वाग्; षट्, षड्; तत्, तद्; ककुप्, ककुब् । विराम इति किम् ? वागत्र । धुट इत्येव ? क्रुङ्, सुगण, भवान्, त्वम् ।।51।।

न्या०स०—*विरामे* वेति-वैषयिकमिदमधिकरणम् । *क्रुङ्* इत्यादि-चवर्गजो ञकारः ''पद-रुज-विश-स्पृशो घञ्'' (5. 3. 16.) इत्यादौ दृश्यः, 'क्रुङ्' इत्यादिचतुष्टये क-ट-त-पाः स्युः, घञ् इत्यत्र चः स्यादिति ।।51।।

न सन्धिः ।।1. 3. 52. ।।

उक्तो वक्ष्यमाणश्च विरामे सन्धिर्न भवति । दधि अत्र, ते आहुः, तत् लुनाति, भवान् लुनाति, कुर्वन् शेते, वृक्षस्य छाया, ब्राह्मणस्य छत्रम्, भवान् छादयति, नॄ न् पाहि, कुण्डम् हसति, वृक्षव् याति, कुर्वन् आस्ते । विरामादन्यत्र तु संहितायां सन्धिरेव, सा च—

``संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते'' ।।52।।

न्या०स०–न सन्धिरिति । *संहितायामिति*-सन्धीयन्ते वर्णा अस्यामिति ``शी-री-भू०'' (उणा० 201.) इति किति ते *संहिता*-वर्णानां परस्परं संनिकर्षः । *एकपद* इति-विषयसप्तमी ते भवन्तीत्यादौ एकपदे *नित्यं* संहिता । *धातूपसर्गयोरि*तिधातूपसर्गयोः प्रेलयतीत्यादौ नित्यसमुदितत्वात् समासस्यापि निरन्तरानेकपदात्मकत्वात्, पद-धातू पसर्ग-समासानां नियमेनैकप्रयत्नोच्चार्यत्वाच्च विरामाभावान्नित्यं संहितेति, वाक्ये तु सर्वत्रै कप्रयत्नोच्चार्यत्व-स्यानियमाद् विरामाभावेन संहितेति ।।52।।

रः पदान्ते विसर्गस्तयोः ।। 1. 3. 53. ।।

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य स्थाने विसर्ग आदेशो भवति, तयोर्विरामेऽघोषे च । वृक्षः, प्लक्षः, प्रातः, पुनः, अग्निः अत्र, पटुः इह; अघोषे-कः करोति, कः खनति, पुनः पचति, पुनः फलति, कः शेते, कः षण्डे, कः साधुः । कश्चरति, कष्टीकते, कस्तरतीत्यादिषु तु शादय एवापवादत्वाद् भवन्ति । पदान्त इति किम् ? इर्त्ते, अर्कः, शूर्पः, सर्पः । कथं नृपतेरपत्यं नार्पत्यः, नृकुट्यां भवो नार्कुटः, तवर्कारः, प्राच्र्छतीत्यादि ? ❊ असिद्धं बहिरङ्ग-मन्तरङ्गे ❊ इति वृद्ध्यरारादेशाश्रयस्य रेफस्यासिद्धत्वाद् विसर्गो न भवति, एवम्– ⌣⌢ क-) (पावपि । अन्वित्यधिकाराद् `गीः, धूः, सजूःषु, आशीःषु' इत्यादिषु दीर्घत्वे कृते पश्चाद् विसर्गः, अन्यथा हि पूर्वं विसर्गे कृते इरुरोरभवाद् दीर्घो न स्यात् ।।53।।

न्या०स०–रः पदान्त इत्यादि । *विसर्गः* शब्दपुरोवर्ति बिन्दुद्वयं रूढेः *तयोरि*त्यत्रैकाऽपि सप्तम्यर्थवशाद् द्विधा भिद्यते-एका वैषयिकेऽधिकरणेऽपरा त्वौपश्लेषिक इति । *असिद्धमि*ति-प्रत्ययाश्रितत्वेन बहुस्थान्याश्रितत्वेन च बहिरङ्गता, वर्णमात्राश्रितत्वेन त्वन्तरङ्गता, ❊ पदादेशः पदवद् ❊ इति च वृद्ध्यादौ कृते रेफस्य पदान्तत्वमिति ।।53।।

ख्यागि ।। 1. 3. 54. ।।

पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य ख्यागि परे विसर्ग एव भवति । कः ख्यातः, नमः ख्यात्रे । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्, तेन जिह्वामूलीयो न भवति ।।54।।

*न्या०स०–ख्यागी*ति । ख्याग्येव विसर्गनियमात् ``ख्यांक् प्रकथने'' इत्यस्मिन् जिह्वामूलीयोऽपि ।।54।।

शिट्यघोषात् ।। 1. 3. 55. ।।

अघोषात् परे शिटि परत: पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य विसर्ग एव भवति । परुष: त्सरुक:, सर्पि: प्सातम्, सर्पि: प्सातम्, वास: क्षौमम्, अद्भि: प्सातम् । इदमपि नियमार्थम्, तेन सत्व-षत्व ≍ क-) (पा न भवन्ति ।।55।।

*न्या०स०–शिट्ये*त्यादि । अघोषात् परस्य पदान्ते रेफस्यासम्भवाद् अघोषादिति शिटीत्यस्य विशेषणमित्याह–*अघोषात् परे शिटी*ति ।।55।।

व्यत्यये लुग् वा ।। 1. 3. 56. ।।

शिट: परोऽघोष इति व्यत्यय:, तस्मिन् सति पदान्ते वर्तमानस्य रेफस्य लुग् वा भवति । चक्षु श्चोतति, पक्षे-चक्षुश्श्चोतति, चक्षु: श्चोतति; क ष्ठीवति, कष्ष्ठीवति, क: ष्ठीवति; चेत स्खलति, चेतस्स्खलति, चेत: स्खलति; चक्षु स्पन्दते, चक्षुस्स्पन्दते, चक्षु: स्पन्दते; पुन स्पन्दते, पुनस्स्पन्दते, पुन: स्पन्दते ।।56।।

अरो: सुपि र: ।। 1. 3. 57. ।।

रुवर्जितस्य रेफस्य स्थाने सुपि परे रेफ एव भवति, कार्यान्तरबाधनार्थ: । गीर्षु, धूर्षु, वार्षु, द्वार्षु । विसर्ग-सकारौ न भवत: । श्ररोरिति किम् ? पय:सु, पयस्सु; अह:सु, अहस्सु । सुपीति किम् ? गी:, धू: । र इत्येव ? महत्सु ।।57।।

*न्या०स०– अरोरि*त्यादि । *विसर्गे*ति-अन्तरङ्गत्वात् ``श-ष-से०'' (1. 3. 6.) इति षत्वं प्राप्नोति, अत: सकार इत्युक्तम् । ननु `पय:सु' इत्यादिषु ``सो रु:'' (1. 3. 50.) इति कृते अन्तस्थाद्वारेण रेफात् पर: षकार: कथं न भवति ? सत्यम्-नित्यत्वाद् ``र: पदान्ते०'' (1. 3. 53.) इत्यादयो भवन्ति । रुवर्जनाल्लाक्षणिकन्यायो निरनुबन्धन्यायश्चानित्यस्तेन ``र: कखपफयो:०'' (1. 3. 53.) इत्यादौ लाक्षणिकस्यापि भवति ।।57।।

वाऽहर्पत्यादयः ॥1. 3. 58.॥

अहर्पत्यादयः शब्दा यथायोगमकृतविसर्गाः कृतोत्वाभावाश्च वा निपात्यन्ते। अहर्पतिः, अहःपतिः, अह) (पतिः; गीर्पतिः, गीःपतिः, गी) (पतिः; धूर्पतिः, धूःपतिः, धू) (पतिः, एषु पक्षे विसर्गाभावो निपात्यते; हे प्रचेता राजन् !, हे प्रचेतो राजन् ! अत्र पक्षे उत्वाभावो निपात्यते। बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ॥58॥

न्या०स०–वाऽहर्पतीत्यादि। निपातनात् पदान्ताधिकारो निवर्तते, तेनोत्तरसूत्रे न याति, तथा च खीरमित्यादि सिद्धम्। *गीर्पतिरि*ति-अत्र क्षीरस्वामिना भ्रातुष्पुत्रादित्वा*त्* षत्वमिष्यते। *प्रचेता राजन्नि*ति संबोधने विशेषज्ञापनाय, संबोधनादन्यत्राप्युदाहार्यम्, तच्च समास एव, अन्यत्र तु ``अभ्वादे०'' (1. 4. 90.) इति दीर्घत्वे विशेषाभावः, यदुत्पलः– कर्मधारयात् समासान्ते प्रचेताराजः, प्रचेतोराजः; शकटोऽप्याह–प्रचेतसो राजा प्रचेताराजः, प्रचेतोराजः, प्रचेता राजा अस्येति प्रचेताराजा, प्रचेतोराजेति। आकृति–गणार्थत्वाद् बहुवचनस्य वारि चरति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे वार्चो हंसः; उषसि बुध्यते ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के उषर्बुधः, अनयोः शत्वमुत्वं च न भवति, व्यवस्थितवाशब्दाच्च न विकल्पः ॥58॥

शिट्याद्यस्य द्वितीयो वा ॥ 1. 3. 59. ॥

आद्यस्य प्रथमस्य स्थाने शिटि परे द्वितीयो वा भवति। ख्षीरम्, क्षीरम्; तछ् शोभनम्, तच् शोभनम्; सम्राट्सु, सम्राट्सु; भवथ्सु, भवत्सु; अफ्सु, अप्सु; अफ्सराः, अप्सराः। आद्यस्येति किम् ? भवान् साधुः शिटीति किम् ? वाक् करोति, सत्यम् ॥59॥

न्या०स०–शिट्याद्ये त्यादि। अत्राद्यत्वं प्रतिवर्गपञ्चकं प्रथमाक्षरापेक्षम्, तदपेक्षं च द्वितीयत्वमिति, तेन क-च-ट-त-पानां ख-छ-ठ-थ-फाः शिटि भवन्ति। क्रमेणोदाहरणानि ॥59॥

तवर्गस्य श्चवर्ग-ष्टवर्गाभ्यां योगे च-टवर्गौ ॥ 1. 3. 60. ॥

तवर्गस्य स्थाने शकार-चवर्गाभ्यां षकार-टवर्गाभ्यां च योगे यथासंख्यं चवर्ग-टवर्गावादेशौ भवतः, स्थान्यासन्नौ। समुदायद्वयापेक्षया यथासंख्यार्थं तृतीयाद्विवचनम्। योगग्रहणं स्थानित्वाशङ्कानिरासार्थं पूर्वापरभावानियमार्थं च। शकारेण योगे-तच् शेते, तच् श्च्योतति, भवाञ् शेते, चवर्गेण योगे–तच् चरति तच् छादयति, तज् जयति, तज् झाषयति, तञ्

ञकारेण, अत्र दकारस्य जकारे ``तृतीयस्य पञ्चमे'' (1. 3. 1.) इति ञकारः, प्रशाञ् चरति, प्रशाञ् छिनत्ति, प्रशाञ् छादयति, भवाञ् जयति, भवाञ् झाषयति, भवाञ् ञकारेण, पूर्वेण चवर्गेण-याच्ञा, यज्ञः, राज्ञः । पूर्वेण शकारेण परेण च षकारेण प्रतिषेधो वक्ष्यते । पूर्वेण तु षकारेण-पेष्टा, पेष्टुम् । `पूष्णः, वृष्णः, पूष्णा, दोष्णा' इत्यादि णत्वेनापि सिध्यति । टवर्गेण-तट् टीकते, तद् ठकारेण, तड् डीनम्, तड् ढौकते, तण् णकारेण, अद्ड-अड्डति, अद्टि-अट्टते, भवाण् डीनः, भवाण् ढौकते, भवाण् णकारेण; पूर्वेण टवर्गेण-ईट्टे । तवर्गस्य चवर्गे कृते ``च जः क-गम्'' (2. 2. 86.) इति न भवति, ❁ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❁ इति, तत्र च प्रत्ययाधिकाराद् `मज्जति' इत्यादावपि न भवति, एयमुत्तरत्रापि शकारस्य षत्वमपि न भवति ।।60।।

न्या०स०—तवर्गस्येत्यादि । *स्थानित्वाऽऽशङ्केत्यादि*-अयमर्थः योगग्रहणं विना सहार्थतृतीयायाम् ``अवर्णस्येवर्णादिना०'' (1. 2. 6.) इत्यादिवत् श्चवर्गादेरपि स्थानि-त्वाशङ्का, परदिग्योगपञ्चम्यां तु ``पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य'' (7. 4. 104.) इति न्यायात् परस्यैव तवर्गस्य स्यात्, न पूर्वस्येति योगग्रहणम् । ननु तवर्गस्य कार्यित्वात् तेन च विशिष्टवर्णसमुदायस्याभि-धानात् । `तच् शेते' इत्यादिषु एकैकस्य तवर्गशब्दादप्रतीतौ कथं कार्यित्वमिति ? सत्यम्-समुदायैकदेशस्यापि तदात्मकत्वाद् ``ग्रामो दग्धः'' इतिवत् समुदायशब्देनाभिधानात् दस्यापि तवर्गत्वे सति दकाररूपतवर्गस्यानेन जकारः यद्वा, यथा-ग्रामे वसति, गृहे वसतीत्यादौ ग्रामाद्येकदेशादेरपि ग्रामादिशब्दादभिधानम्, नहि देवदत्तादिरेवमभिधीयमानो ग्रामं गृहं वा व्याप्य वसति, किन्तु तदेकदेशे, तत्र स एवैकदेशो ग्रामो गृहं चोच्यते, तद्वदत्रापीत्यदोषः । *तच् छादयती*ति ``छदण् संवरणे'' इत्यस्य ``छदण् अपवारणे'' इत्यस्य वा युजादेः स्वार्थणिजन्तस्य रूपम् । *तज् झाषयती*ति—प्रयोक्तृव्यापारे णिग्, ``हन्त्यर्थाश्च'' इति णिजन्तस्य वा रूपम् । *राज्ञ* इति-शसि ङसौ ङसि च रूपम्, एवम्-*मज्ज्ञ* इत्यपि। *पूर्वेण शकारेणे*ति—``न शात्'' (1. 3. 62.) इत्यनेन निषेधो वक्ष्यते । *परेण षकारेणे*ति—``षि तवर्गस्य'' (1. 3. 64.) इत्यनेन । अन्वित्य-धिकारात् `अड्डिडिषति' इत्यत्र द्वित्वे कृते पश्चात् टवर्गः, अन्यथा अडिड्डिषतीत्यनिष्टं रूपं स्यात्, एवम्-`अट्टिटिषते' इत्याद्यपि । एवमुत्तरसूत्रेऽपि *``च-जः क-गम्''* (2. 1. 86.) *इति न भवती*ति—तच् शेते, तच् चरतीत्यादौ उभयाश्रितत्वाच्चत्वं बहिरङ्ग पदमात्राश्रितत्वात् कत्वमन्तरङ्गमिति । *शकारस्य षत्वमपी*ति—``वृश्चति'' इत्यादौ ``सस्य श-षौ'' (1. 3. 61.) इति कृतस्य शकारस्य ``यज-सृज-मृज०'' (2. 1. 97.) इत्यनेन धुडाश्रितं षत्वं प्रत्ययाभावान्न भवतीत्यर्थः ।। 60।।

सस्य श-षौ ।।1. 3. 61. ।।

सकारस्य स्थाने श्चवर्ग-ष्टवर्गाभ्यां योगे यथासंख्यं शकार-षकारावादेशौ भवतः । चवर्गेण-श्च्योतति, वृश्चति, मज्जति, लज्जते, भृज्जति, सज्जति; षकारेण-सर्पिष्षु, धनुष्षु, दोष्षु, अत्र सो रुत्वं तस्य सत्वं, सुपः षत्वं, ततोऽनेन पूर्वसस्य षत्वम्; टवर्गेण-पापट्षि, बंभण्षि ।।61।।

न्या०स०–सस्येत्यादि । ननु ``वृश्चति'' इत्यादौ ❉ दन्त्यापदिष्टं कार्यं तालव्येऽपि भवति ❉ इति भणनात् ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इति षत्वं कथं न भवतीति ? उच्यते-पाठकाले यो दन्त्यसकारस्तस्य कृतत्वाभावादिति । `सर्पिष्षु' इत्यादिषु पदान्तत्वाद् ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यादिना षत्वं न भवति प्रकृतेः सस्य ।।61।।

न शात् ।। 1. 3. 62. ।।

शकारात् परस्य तवर्गस्य स्थाने यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम् ? चवर्गः । अश्नाति; अश्नुते, विश्नः प्रश्नः ।।62।।

न्या०स०–न शादिति । *तवर्गस्येति*–असंभवात् सस्येति न व्याख्यातम् ।।62।।

पदान्ताट्टवर्गादनाम्-नगरी-नवतेः ।। 1. 3. 63. ।।

पदस्यान्ते वर्तमानाट्टवर्गात् परस्य नाम्नगरी-नवतिसम्बन्धिवर्जितस्य तवर्गस्य सकारस्य च यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम् ? टवर्ग-षकारौ । षट्तयम्, मधुलिट् तरति, मधुलिट् थुडति, मधुलिड् दुनोति, मधुलिड् धुनोति, षण् नयाः; मधुलिट् सीदति, मधुलिट् साये, मधुलिट् स्यात्, मधुलिट्सु । टवर्गादिति किम् ? चतुष्टयम्, सर्पिष्ट्वम् । पदान्तादिति किम् ? ईट्टे । अनाम्-नगरी-नवतेरिति किम् ? षण्णाम्, षण्णगरी, षण्णवतिः । नामित्या-मादेशस्य ग्रहणादिह प्रतिषेधो भवत्येव–षड्नाम ।।63।।

न्या०स०–पदान्तादित्यादि । *तवर्गस्येति*–उत्तरत्र तवर्गस्येति भणनात् तवर्गस्य सस्य चेति लभ्यतेऽत्र । *नामित्यामादेशस्येति*-अन्प्रत्ययान्तस्य घञन्तस्य च नमतेरवयव एकः, अपरश्चामादेशः, अत्र य आमादेशो नाम् तस्यैवार्थवत्त्वात् ❉प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव❉ इति न्यायाद्वा ग्रहणमित्याह–*षड्नाम* । नामशब्दो नकारान्तोऽकारान्तो वाऽव्यय इति ।।63।।

षि तवर्गस्य ।।1. 3. 64. ।।

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने षकारे परे यदुक्तं तन्न भवति, किमुक्तम् ? टवर्गः । तीर्थकृत् षोडशः शान्तिः, भवान् षण्डः । षीति किम् ? तट्टीकते । तवर्गस्येति किम् ? सर्पिष्षु ।।64।।

लि लौ ।। 1. 3. 65. ।।

पदान्ते वर्तमानस्य तवर्गस्य स्थाने लकारे परे स्थान्यासन्नावनुनासिकाऽननुनासिकौ लकारौ भवतः । तल् लुनाति, भवाल्ँ लुनाति । ``आसन्नः (7. 4. 120.) इत्येव सिद्धे द्विवचनमन्यत्रानुनासिकस्यापि स्थानेऽननुनासिकार्थम्, तेन ``वाष्टन आः स्यादौ'' (1. 4. 52.) इत्यादावननुनासिक एव भवति ।।65।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु
शासनबृहद्वृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।।3।।

चक्रे श्रीमूलराजेन नवः कोऽपि यशोऽर्णवः ।
परकीर्तिस्त्रवन्तीनां न प्रवेशमदत्त यः ।।3।।

न्या०स०–लिलाविति । *अननुनासिक एव भवती*ति-विपरीतनियमस्तु ❊ निरनुनासिकस्य सानुनासिकः ❊ इति ``हृदयस्य हल्लास०'' (3. 2. 44.) इत्यत्र हल्लासेति करणान्न भवति । प्रायिकं चैतज्ज्ञापकम्, तेन ``समानानां तेन दीर्घः'' (1. 2. 1.) इत्यादौ आसन्न एव भवतीति ।।65।।

इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।3।।

अथ चतुर्थः पादः

अत आः स्यादौ जस्-भ्याम्-ये ॥1. 4. 1. ॥

स्यादौ जसि भ्यामि यकारे च परेऽतोऽकारस्याऽऽकारो भवति । वृक्षाः, प्लक्षाः, आभ्याम्, श्रमणाभ्याम्, श्रमणाय, संयताय । अत इति किम् ? मुनयः, मुनिभ्याम् । स्यादाविति किम् ? बाणान् जस्यतीति क्विप्-बाणजः, अग्नये, वृक्षयोः ॥1॥

न्या०स०—अत आ इत्यादि । अत्र ❈ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः ❈ इति सिद्धे स्यादिग्रहणं ``ण-षमसत्परे०'' (2. 1. 60.) इत्यादौ प्रयोजनार्थम्, तेन `राजभ्याम्' इत्यादौ नलोपस्य स्यादिविधौ विधेयेऽसिद्धत्वादाकारो न भवतीति । न चात्र स्यादिग्रहणाभावे ``त्रि-चतुर०'' (2. 1. 1.) इत्यादिविहितस्य स्यादेर्ग्रहणं भविष्यति, यतस्तत्र तस्य ग्रहणेऽपि न किमपि फलम्, अन्यच्च स्यादिग्रहणे शुचिशब्दात् ङ्यां प्रत्ययत्वात् ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इत्येव प्राप्त निषिध्यते । किञ्च, अत्र स्यादिग्रहणाभावे `वन्यः' इत्यत्रापि ``अवर्णेवर्णस्य '' (7. 4. 68.) इत्येतद् बाधित्वाऽऽकारः स्यात् । यद्वा, इत्थं चालना-❈ प्रत्ययाऽप्रत्यययोः० ❈ इति न्यायेन सिद्धे स्यादिग्रहणं ``ण-षमसत्०'' (2. 1. 60.) इति सूत्रेऽसदिति कार्यार्थम्, तेन `राजभ्याम्' इति सिद्धम् । इदं च न वक्तव्यम्, यत् वने साधुः ``तत्र साधौ'' (7. 1. 15.) इति ये प्रत्यये आकारः प्राप्नोतीति स्यादिग्रहणम्, यतो जस्भ्याम्साहचर्यात् यकारोऽपि स्यादेरेव लप्स्यते किं स्यादिग्रहणेन ? सत्यम्-तर्हि अधिकारार्थम्, तेन शुची स्त्रीत्यादौ ङीप्रत्यये ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इत्येकारो न भवतीति । *वृक्षा* इति-अत्र जसि अपवादत्वात् समानदीर्घत्वबाधकस्य ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2. 1. 113.) इत्यस्य बाधकोऽयमाकारः । *आभ्यामि*ति-इदम्शब्दस्य, अतते: ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे अप्रकृतेर्वा सिद्धम् । *श्रमणाभ्यामि*ति-स्यादेः पूर्वमेकपदत्वाभावात् कथम् ? ``रषृवर्णो०'' (2. 3. 63.) इति णत्वं श्रमणप्रकृतेः, उच्यते—❈ भाविनि भूतवत् ❈ इति न्यायाद् भवति । *श्रमणाये*ति-अकारसंनिपातेन विधीयमानो यकारस्तद्विघाताय कथं प्रभवतीति न वाच्यम्, यग्रहणवैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥1॥

भिस ऐस् ॥ 1. 4. 2. ॥

अकारात् परस्य स्यादेर्भिसः स्थाने `ऐस्' इत्ययमादेशो भवति । श्रमणैः, संयतैः, अतिजरैः । एसादेशेनैव सिद्धे ऐस्करणं ❈ संनिपातलक्षण० ❈ न्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थम्,

तेनातिजरसैरित्यपि सिद्धम् । अन्ये तु अतिजरै-रित्येवेच्छन्ति । अत इत्येव ? मुनिभिः, शालाभिः, दृषद्भिः । स्यादेरित्येव ? चैत्रभिस्सा, ओदनभिस्सटा ॥2॥

न्या०स०–भिस ऐसिति । *एसादेशेनै*वेति-एसादेशे कृते ``लुगस्या०'' (2. 1. 113.) इति तु न वाच्यम्, विधानसामर्थ्यात्, अन्यथा यदि देवेरित्यभीष्टं स्यात् तदा इसिति कुर्यात् । *अतिजरसै*रिति-एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् कृतह्रस्वोऽपि जराशब्द एवेति । *भिस्सटे*ति–`प्सांक् भक्षणे' इत्यस्याभिपूर्वस्याभिप्सायते इति ``उपसर्गादातः'' (5. 3. 110.) इति अङि पृषोदरादित्वादभेरकारलोपे पकारस्य सकारे आपि लक्ष्यानुरोधाद्, विकल्पेन टागमे भिस्सा, भिस्सटा ॥2॥

इदमदसोऽक्येव ॥ 1. 4. 3. ॥

`इदम् अदस्' इत्येतयोरक्येव सत्यकारात् परस्य भिस ऐस् भवति । इमकैः, अमुकैः । अक्येवेति किम् ? एभिः, अमीभिः । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम् । एवकारस्त्विष्टावधारणार्थः ॥3॥

न्या०स०–इदमदस इत्यादि । *इष्टावधारणार्थ* इति-तेन प्रत्ययनियमो न भवति, तदभावे च तकैः विश्वकैरित्यादि सिद्धम् ॥3॥

एद् बहुस्भोसि ॥ 1. 4. 4. ॥

बह्वर्थविषये सकारादौ भकारादावोसि च स्यादौ परेऽकारस्यैकारादेशो भवति । एषु, एषाम्, अमीषाम्, सर्वेषाम्, एभिः, एभ्यः, वृक्षेभ्यः, श्रमणयोः, संयतयोः । बह्विति किम् ? वृक्षस्य, वृक्षाभ्याम् । स्भोसीति किम् ? सर्वे । अत इत्येव ? साधुषु, साधुभ्यः, खट्वासु खट्वाभ्यः, अग्न्यीः, दृषदोः ॥4॥

टा-ङसोरिन्-स्यौ ॥ 1. 4. 5. ॥

अकारात् परयोष्टा-ङसोः स्याद्योः स्थाने यथासंख्यम् `इन स्य' इत्येता-वादेशौ भवतः । वृक्षेण, अतिजरेण, वृक्षस्य, अतिजरस्य । अत इत्येव ? अतिजरसा, अतिजरसः, अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च प्रागेव जरसादेशे कृते अकारान्तत्वाभावः । अन्ये तु प्रागेवेनादेशम् ❈ संनिपातलक्षण० ❈ –न्यायस्यानित्यत्वाश्रयणात् पश्चाज्जरसादेशं चेच्छन्तोऽतिजरसिनेत्यपि मन्यन्ते ॥5॥

न्या०स०—टा-ङसोरित्यादि । *अन्ये त्विति*-यदि हि 'अतिजरसिना' इत्येतत् सूत्रकारस्य साधुत्वेनाभिमतं स्यात् तदा 'टा' इत्येतस्य नकारादेशत्वमेव कुर्यात्, तत्रापि ह्ये त्वे कृते वृक्षेणेत्यादि सिद्धयत्येव, कथमेत्वमिति चेत् ? ''एद् बहुस्भोसि'' (1. 4. 4.) इत्यत्र टावचनप्रक्षेपात्, अत्र जयादित्यः— यथा तु भाष्यं तथा नैतल्लक्ष्यते ॥5॥

ङे-ङस्योर्या-ऽऽतौ ॥ 1. 4. 6. ॥

अकारात् परयोः 'ङे ङसि' इत्येतयोर्यथासंख्यं 'य आत्' इत्येतावादेशौ भवतः । वृक्षाय, वृक्षात्, अतिजराय, अतिजरात् । अत इत्येव ? अतिजरसे, अतिजरसः । केचित् तु प्रागेवाऽऽदादेशे जरसादेशमिच्छन्तोऽतिजरसादित्यपि मन्यन्ते ॥6॥

न्या०स०—ङे-ङस्योरित्यादि । नन्वत्र 'अत्' इत्येव क्रियताम्, किं दीर्घकरणेन ? न चैवं कृते ''लुगस्या०'' (2. 1. 113.) इति प्राप्स्यतीति, तदा हि 'त्' इत्येवं कुर्यात्, सत्यम्— मतान्तरेऽतिजरसादित्यपि मन्यन्ते, तत्सिद्धयर्थं दीर्घकरणम्, दीर्घकरणाच्च स्वमतेऽपि सम्मतमिति बोध्यम् ॥6॥

सर्वादेः स्मै-स्मातौ ॥ 1.4. 7. ॥

सर्वादेरकारान्तस्य सम्बन्धिनोर्ङे-ङस्योर्यथासंख्यं 'स्मैस्मात्' इत्येतावादेशौ भवतः । सर्वस्मै, परमसर्वस्मै, सर्वस्मात्, परमसर्वस्मात्, असर्वस्मै, असर्वस्मात्, किंसर्वस्मै, किंसर्वस्मात्, एवम्-विश्वस्मै, विश्वस्मात् । उभशब्दस्य द्विवचन-स्वार्थिकप्रत्ययविषयत्वात् स्मैप्रभृतयो न संभवन्ति, गणपाठस्तु हेत्वर्थप्रयोगे सर्वविभक्त्यर्थः-उभौ हेतू 1, उभौ हेतू 2, उभाभ्यां हेतुभ्याम् 4, उभाभ्यां हेतुभ्याम् 5, उभयोर्हेत्वोः 6, उभयोर्हेत्वोः 7 इति । उभयस्मै, उभयस्मात् । अन्यस्मै, अन्यस्मात् । अन्यतरस्मै, अन्यतरस्मात्, डतरग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरग्रहणं डतमप्रत्ययान्तस्यान्यशब्दस्य सर्वादित्वनिवृत्त्यर्थम्-अन्यतमाय, अन्यतमं वस्त्रम्, अन्यतमे; एके त्वाहुः—'नायं डतरप्रत्ययान्तोऽन्यतरशब्दः, किन्तु अव्युत्पन्नस्तरोत्तर-पदस्तरबन्तो वा, तन्मते—डतमान्तस्याप्यन्यशब्दस्य सर्वादिकत्वम्-अन्यतमस्मिन् । इतरस्मै, इतरस्मात् । डतर-डतमौ प्रत्ययौ, तयोः स्वार्थिकत्वात् प्रकृतिद्वारेणैव सिद्धे पृथगुपादानमत्र प्रकरणेऽन्यस्वार्थिकप्रत्ययान्तानामग्रहणार्थमन्यादिलक्षणदार्थं च, कतरस्मै, कतमस्मै, यतरस्मै, यतमस्मै, ततरस्मै, ततमस्मै, एकतरस्मै, एकतमस्मै; इह न भवति-सर्वतमाय, सर्वतमात् । त्वशब्दोऽन्यार्थः, त्वस्मै, त्वस्मात् त्वच्छब्दः समुच्चयपर्यायः, तस्य स्मायादयो न संभवन्तीति

हेत्वर्थयोगे सर्वविभक्तित्वमक्प्रत्ययश्च प्रयोजनम्-त्वतं हेतुम्, त्वता हेतुना वसति; अज्ञातात् त्वतस्त्वकतः। नेमशब्दोऽर्धार्थः, नेमस्मै, नेमस्मात्। सम-सिमौ सर्वार्थौ, समस्मै, समस्मात्, सिमस्मै, सिमस्मात्, सर्वार्थत्वाभावे न भवति-समाय देशाय, समाद् देशाद् धावति।

स्वाभिधेयापेक्षे चावधिनियमे व्यवस्थापर अर्याये गम्यमाने पूर्व-परा-ऽवरदक्षिणोत्तरा-ऽपरा-ऽधराणि, पूर्वस्मै, पूर्वस्मात्, परस्मै, परस्मात्, अवरस्मै, अवरस्मात्, दक्षिणस्मै, दक्षिणस्मात्, उत्तरस्मै, उत्तरस्मात्, अपरस्मै, अपरस्मात्, अधरस्मै, अधरस्मात्; व्यवस्थाया अन्यत्र न भवति-दक्षिणाय गाथकाय देहि, प्रवीणायेत्यर्थः, दक्षिणायै द्विजाः स्पृहयन्ति। आत्माऽऽत्मीय-ज्ञाति-धनार्थवृत्तिः स्वशब्दः, आत्माऽऽत्मीययोः– यत् स्वस्मै रोचते तत् स्वस्मै ददाति, यदात्मने रोचते तदात्मीयाय ददातीत्यर्थः, ज्ञाति-धनयोस्तु न भवति-स्वाय दातुं स्वाय स्पृहयति, ज्ञातये दातुं। धनाय स्पृहयतीत्यर्थः। बहिर्भावेन बाह्येन वा योगे उपसंव्याने उपसंवीयमाने चार्थे वर्तमानोऽन्तरशब्दः, न चेद् बहिर्योगेऽपि पुरि वर्तते, अन्यतरस्मै गृहाय, नगरबाह्याय चाण्डालादिगृहायेत्यर्थः, चाण्डालादिगृहयुक्ताय वा नगराभ्यन्तर-गृहायेत्यर्थः, अन्तरस्मै पटाय, पटचतुष्टये तृतीयाय चतुर्थाय चेत्यर्थः, प्रथम-द्वितीययोर्बहिर्योगेणैव सिद्धत्वात्; पुरि तु न भवति–अन्तरायै पुरे क्रुध्यति। चाण्डालादिपुर्यै इत्यर्थः; बहिर्योगोपसंव्यानादेरन्यत्र तु न भवति-अयमनयोर्ग्रामयोरन्तरात् तापस आयातः, मध्यादित्यर्थः।

त्यस्मै। तस्मै। यस्मै। अमुष्मै। अस्मै। एतस्मै। एकस्मै। द्वि-युष्मद्-भवत्वस्मदां स्मायादयो न संभवन्तीति सर्वविभक्त्यादयः प्रयोजनम्–(द्वौ हेतू)2, द्वाभ्यां हेतुभ्याम् 3, द्वयोर्हेत्वोः2; अज्ञाते द्वे-द्वके स्त्रियौ कुले वा, द्वकौ पुरुषौ युवाभ्यां हेतुभ्यां 3, युवयोर्हेत्वोः2, युवकाभ्याम्, युष्मादृशः। भवद्भ्यां हेतुभ्याम् 3, भवतोर्हेत्वोः 2, भवकान्, भवादृशः; स च भावांश्च भवन्तौ, अत्र त्यदादित्वात् परत्वाच्च भवच्छेषः, भवान् पुत्रोऽस्येति भवत्पुत्रः, अत्रसर्वादित्वात् पूर्वनिपातः; भवतोऽपत्यं भावतायनिः, अत्र त्यदादित्वादायनिञ्; भवत्याः पुत्रो भवत्पुत्रः अत्र सर्वादित्वात् पुंवद्भावः; भवन्तमञ्चतीति क्विपि, भवद्र्यङ्, अत्र ``सर्वादि-विष्वग्-देवाड्डद्रिः क्व्यञ्चौ'' (3. 2. 122.) इति डद्र्यागमः, उकारो नागमार्थो ङ्यर्थो दीर्घार्थश्च, भवती, भवान्। आवाभ्यां हेतुभ्याम् 3, आवयोर्हेत्वोः 2, आवकाभ्याम्, अस्मादृशः। कस्मै, कस्मात्। सर्वेऽपि चामी संज्ञायां सर्वादयो न भवन्ति, तेनेह न भवति-सर्वो नाम कश्चित्, सर्वाय, सर्वात्, उत्तराय कुरवे स्पृहयति। अत इत्येव ? भवते, भवतः। सर्वादेरिति षष्ठीनिर्देशेन तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियाः सर्वे यस्य तस्मै प्रियसर्वाय, सर्वानतिक्रान्तायातिसर्वाय, द्वावन्यावस्य तस्मै द्व्यन्याय, त्र्यन्याय, प्रियपूर्वाय। सर्व, विश्व,

उभ, उभयट्, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम, त्व, त्वत्, नेम, सम-सिमौ सर्वार्थौ, पूर्व-परा-ऽवर-दक्षिणोत्तरा-ऽपराधराणि व्यवस्थायाम्, स्वमज्ञाति-धनाख्यायाम्, अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोरपुरि, त्यद्, तद्, यद्, अदस्, इदम्, एतद्, एक, द्वि, युष्मद्, भवतु, अस्मद्, किम्, इत्यसंज्ञायां सर्वादिः। उभयडिति टकारो ङ्यर्थः, उभयी दृष्टिः ॥7॥

*न्या०स०–सर्वादेरि*त्यादि। *परमसर्वस्माये*ति-स्याद्याक्षिप्तस्य नाम्नः सर्वादि-विशेषणाद् विशेषणेन च तदन्तविधेर्भावात् ``न सर्वादिः'' (1.4.12.) इति द्वन्द्वे निषेधाद् वा ❁ ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ❁ इत्यस्यानुपस्थानात् तदन्तं `परमसर्वस्मै' इत्युदाहृतम्, केवलस्य व्यपदेशिवद्भावात् तदन्तत्वं दृश्यम्। *विश्वस्मै* इति-सर्वशब्द-साहचर्याद् विश्वशब्दस्यापि समस्तार्थस्यैव ग्रहणम्, न तु जगदर्थस्य। *स्वार्थिकप्रत्यये*ति-इत्थं वदतोऽयमाशयः– स्वार्थिकप्रत्ययोऽपि गणपाठफलमिति। सिमोऽश्वाद्यर्थोऽपि। *अधराणी*ति-शब्दरूपापेक्षया नपुंसकनिर्देशो नार्थापेक्षया, तेन स्त्री-पुं-नपुंसकेषु सर्वेष्वप्यर्थेषु सर्वादित्वमिति। *स्वाभिधेये*ति-पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेयो दिग्-देश-काल-स्वभावोऽर्थः, तमपेक्षते यः स स्वाभिधेयापेक्षः, *चो*ऽवधारणे, दिगादीनां ह्यर्थानां पूर्वादिशब्दाभिधेयानां यत् पूर्वादित्वं तद् नियमेन कञ्चिदवधिमपेक्ष्य संपद्यते, न त्ववधिनिरपेक्षम्, तथाहि–पूर्वस्य देशस्य यत् पूर्वत्वं तत् परं देशमवधिमपेक्ष्य भवति, परस्यापि यत् परत्वं तत् पूर्वदेशमपेक्ष्य भवति, तस्मात् पूर्वादिशब्दवाच्यापेक्षणेऽवश्यं केनचिदवधिना भाव्यम्, तत्र तस्यैवावधेर्यः पूर्वादिशब्दाभिधेयापेक्षोऽवधिभाव एकान्तिकः स नियमो व्यवस्थापरपर्यायः, तस्मिन् गम्यमाने पूर्वादीनां शब्दानां स्वाभिधेय एव वर्तमानानां सर्वादिकार्यम्, न तु वाच्ये, यो हि पूर्वादिशब्दाभिधेयादर्थादन्यस्यावधिभूतस्य नियमः स कथं पूर्वादिशब्दवाच्यो भविष्यति ? इति, अतस्तस्मिन्नान्तरीयकतया गम्यमाने `पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' इत्येतानि सप्त शब्दरूपाणि सर्वादीनि भवन्ति। अवधिमति दिगादिलक्षणे वर्तमानानि पूर्वादीनि सर्वादीनि भवन्तीत्युदाहरति-*पूर्वस्मै* इत्यादि। *दक्षिणायै* इति-यज्ञकर्मकृतां वेतनदानं दक्षिणा। *बहिर्भावेने*ति-धर्मे बहिष्ट्वे धर्मिणि च बहिर्भवे बहिः शब्दः। अन्तं रातीति ``आतो डोऽह्वा-वा०'' (5.1.76.) इति डः। *पुरि वर्तते* इति-`पुरि' इति शब्दप्रधानो निर्देशः, यदा अन्तरशब्दस्य पुर्यञ्जनान्तो वाच्यो भवति तदा सर्वादित्वस्य निषेधः, यदा अकारान्त ईकारान्तो वा पुरं पुरी द्रङ्गादयश्च वाच्या भवन्ति, तदा सर्वादित्वमस्त्येव। *द्वाभ्यामि*ति–``सर्वादेः सर्वाः'' (2.2.119) इत्यत्र मतद्वयाभिप्रायेण प्रथमा-द्वितीयावर्जनात् तृतीयां प्रारभ्यात्रोदाहरणानि दर्शितानि। स्वमते *'द्वौ हेतू'* इत्यादि भवत्येव। *सर्वविभक्त्यादय* इति–आदिशब्दाद् यथायोगमेकशेष-पूर्वनिपात-पुंवद्भाव डद्रि-आत्-आयनिञ्-मयट्-अकः

प्रयोजनानि ज्ञायन्त इति । अत्र सर्वमादीयते गृह्यतेऽभिधेयत्वेन येनेत्यन्वर्थाश्रयणात् सर्वेषां यानि नामानि तानि सर्वादीनि, संज्ञोपसर्जने च विशेषेऽवतिष्ठते, तथाहि–यदा सर्वशब्दः संज्ञात्वेन नियुज्यते तदा प्रसिद्ध-प्रवृत्तिनिमित्तपरित्यागात् स्वरूपमात्रोपकारी प्रवर्तत इति विशेष एवावतिष्ठते, उपसर्जनमपि जहत् स्वार्थमजहद् वाऽतिक्रान्तार्थविशेषणतामापन्नम् 'अतिसर्वाय' इत्यादावतिक्रान्तार्थवृत्ति भवति, एवं बहुव्रीहावपि प्रियसर्वाय द्वन्यायेत्यादावन्यपदार्थसंक्रमाद् विशेषार्थवृत्ति, वाक्ये त्वसंश्लिष्टार्थत्वात् स्वार्थमात्रं प्रतिपादयतो न विशेषेऽवस्थानमिति स्यात् सर्वादित्वम् । ``उभत् पूरणे'' अतो ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के उभ, तत्पूर्वाद् यातेः ``आतो डोऽह्वा-वा-मः'' (5. 1. 76.) इति डे निपातनात् टित्वे *उभयट्* । *डतरेति*-प्रत्ययानुकरणम् । *त्व* ``त्रित्वरिष् संभ्रमे'' अतः ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे, *त्वत्*-अस्यैव धातोः ``संश्चद्-वेहत्-साक्षादादयः'' (उणा० 882) इति , निपातनात् ।।7।।

ङे स्मिन् ।।1. 4. 8. ।।

सर्वादेरकारान्तस्य संबन्धिनः सप्तम्येकवचनस्य ङेः स्थाने स्मिन्नित्ययमादेशो भवति । सर्वस्मिन्, विश्वस्मिन् । अत इत्येव ? भवति । सर्वादेरित्येव ? सर्वो नाम कश्चित्, सर्वे; समे देशे धावति । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियसर्वे, अतिविश्वे ।।8।।

जस इः ।।1. 4. 9. ।।

सर्वादरकारान्तस्य सम्बन्धिनो जसः स्थाने इकार आदेशो भवति, एकवर्गोऽपि ``प्रत्ययस्य'' (7. 4. 108.) इति सर्वस्य भवति । सर्वे, विश्वे, उभये, ते । अत इत्येव ? भवन्तः, सर्वाः । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियसर्वाः पुमांसः । 'सर्वाणि कुलानि' इत्यत्र तु परत्वान्नपुंसके शिरेव ।।9।।

नेमा-ऽर्द्ध-प्रथम-चरम-तया-ऽया-ऽल्प-कतिपयस्य वा ।।1.4.10.।।

नेमादीनि नामानि, तया-ऽयौ प्रत्ययौ, तेषामकारान्तानां सम्बन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति, नेमस्य प्राप्ते, इतरेषामप्राप्ते विभाषा । नेमे, नेमाः; अर्धे, अर्धाः; प्रथमे, प्रथमाः; चरमे, चरमाः; द्वितये, द्वितयाः; त्रितये, त्रितयाः; द्वये, द्वयाः; त्रये, त्रयाः; उभयट्शब्दस्य त्वयट्प्रत्ययरहितस्याखण्डस्य सर्वादौ पाठात् पूर्वेण नित्यमेवेत्वं भवति-उभये; अल्पे, अल्पाः; कतिपये, कतिपयाः; परमनेमे, परमनेमा इत्यादि । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियनेमाः, अतिनेमाः । स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणादिह न भवति–अर्धकाः ।

सर्वादेरित्येव ? नेमा नाम केचित् । व्यवस्थितविभाषाविज्ञानाद् अर्धादीनामपि संज्ञायां न भवति अर्धा नाम केचित् । अत इत्येव ? नेमाः स्त्रियः ।।10।।

न्या०स०—*नेमार्धे*त्यादि । *तये*ति—``तयि रक्षणे च'' ``अयि गतौ'' इत्याभ्यामचि तया-ऽयो शब्दावपि स्तः, परं व्याख्यानात् तयायौ प्रत्ययौ, तयोश्च केवलयोरसंभवात् सदन्तस्य कार्य दर्शयति-*द्वितये* इत्यादि । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तयट्साहचर्यात् अयस्य तद्धितस्य ग्रहणम्, न तु ``गय-हृदय०'' (उणा० 370.) इत्यौणादिकस्य । *व्यवस्थित-विभाषे*ति-व्यवस्थितं मर्यादानतिक्रान्तं प्रयोगजातं विशेषणं भाषत इति । *अर्धा नाम केचिदि*ति-नामेत्यदन्तमव्ययम्, नाम नाम्ना संज्ञया, नाम प्रसिद्धार्थो वा, केचिद् वर्तन्ते, किं नाम ? अर्धा नाम, तदा क्लीबः ।।10।।

द्वन्द्वे वा ।।1. 4. 11. ।।

द्वन्द्वे समासे वर्तमानस्याकारान्तस्य सर्वादेः सम्बन्धिनो जसः स्थाने इर्वा भवति । पूर्वोत्तरे, पूर्वोत्तराः; कतरकतमे, कतर-कतमाः; दन्तकतमे, दन्त-कतमाः; परमकतर-कतमे, परमकतर-कतमाः । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकतर-कतमाः, वस्त्रान्तर-वसनान्तराः । उत्तरेण निषेधे प्राप्ते प्रतिप्रसवार्थो योगः ।।11।।

न्या०स०—*द्वन्द्वे वे*ति । कतरे च दशनाश्चेति कृते द्वन्द्वस्योभयपदप्राधान्येऽपि कतर-दशना इत्यत्र ``द्वन्द्वे वा'' (1. 4. 11.) इति न विकल्पः, सर्वादेरित्यानन्तर्यषष्ठीविज्ञानात्, यद्वा सर्वादेरित्यावृत्त्या पञ्चमी व्याख्येया, ``पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य'' (7. 4. 104.) इति न्यायाच्च स्यादेर्व्यवहितत्वान्न भवति । *वस्त्रान्तर-वसनान्तरा* इति-वस्त्रमन्तरं येषां ते वस्त्रान्तराः, सर्वादित्वादन्तरशब्दस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते राज-दन्तादित्वाद् वस्त्रस्य पूर्वं निपातः, एवं वसनान्तराः, ततो वस्त्रान्तराश्च वसनान्तराश्चेति कृते समानार्थत्वादेकशेषः प्राप्नोति, नैवम्—अत्र वसनशब्दो गृहपर्याय इति न समानार्थत्वम्; यद्वा एकोऽन्तरशब्दो व्यवधानार्थी, अन्यस्तु विशेषार्थी । ननु चान्तरशब्दो बहुव्रीहौ वर्तते, न द्वन्द्व इति कथमदः प्रत्युदाहरणम् ? न—तदवयवको बहुव्रीहिर्द्वन्द्व इति सोऽपि द्वन्द्व इति प्रत्युदाह्रियते ।।11।।

न सर्वादिः ।।1. 4. 12. ।।

द्वन्द्वे समासे सर्वादिः सर्वादिर्न भवति, सर्वं सर्वादिकार्यं न भवतीत्यर्थः । पूर्वा-ऽपराय,

पूर्वा-ऽपरात्, पूर्वा-ऽपरे, कतर-कतमानाम्, दक्षिणोत्तर-पूर्वाणाम्, अत्र ``सर्वादयोऽ-स्यादौ'' (3. 2. 61.) इति पुंवद्भावो भवत्येव, तत्र भूतपूर्वस्यापि सर्वादेर्ग्रहणात् । कतर-कतमकाः, अत्र सर्वादित्वनिषेधादक्प्रत्ययाभावे कप्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणाद् ``द्वन्द्वे वा'' (1. 4. 11.) इति जस इर्न भवति ॥12॥

न्या०स०—न सर्वादिरिति । *सर्वादिकार्यमि*ति-सर्वादिकार्यं कर्मतामापेदानं न प्राप्नोतीत्यर्थः, प्राप्तावपि परस्मैपदमते । *कतर-कतमकाः* स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणं डतर- डतमग्रहणेन ज्ञापितम्, तौ च प्रकृतेरन्ते समागच्छतस्ततोऽन्योऽपि स्वार्थिकः प्रत्ययो । योऽन्ते समभ्येति तदन्तस्यैवाग्रहणम्, तेन अक्प्रत्यये सति एतत्प्रकरणविहितं कार्यं भवत्येव, ततः 'सर्वके' इति सिद्धम् ॥12॥

तृतीयान्तात् पूर्वा-ऽवरं योगे ॥1. 4. 13. ॥

'पूर्व अवर' इत्येतौ सर्वादी तृतीयान्तात् पदात् परौ योगे-सम्बन्धे सति सर्वादी न भवतः । मासेन पूर्वाय, मासपूर्वाय; संवत्सरेणावराय, संवत्सरावराय; मासेनावराः, मासावराः । तृतीयान्तादिति किम् ? ग्रामात् पूर्वस्मै, पूर्वस्मै मासेन, अवरस्मै पक्षेण । पूर्वावरमिति किम् ? मासपरस्मै । योग इति किम् ? यास्यति चैत्रो मासेन, पूर्वस्मै दीयतां कम्बलः ॥13॥

*न्या०स०—तृतीयान्तादि*त्यादि । ``अश्ववडव०'' (3. 1. 131.) इति पूर्व-शब्दस्यावरेण स्वेन समाहृतिर्भणिष्यत इति सूत्रत्वात् समाहारः, कर्मधारयो वा पूर्वावयवयोगादि । *योगे सम्बन्धे* इति-योग एकार्थीभावो व्यपेक्षा चोभयं गृह्यते । *मासपूर्वाये*ति-``ऊनार्थ०'' (3. 1. 67.) इति समासः, लुप्ताया अपि तृतीयायाः ``स्थानीवा०'' (7. 4. 109.) इति स्थानित्वेन तृतीयान्तत्वम्, ``लुप्यय्वृल्लेनत्'' (7. 4. 112.) इति परिभाषया पूर्वस्य यत् कार्यं लुपि निमित्तभूतायां तदेव निषिध्यते, अतः ``स्थानीवा-वर्णविधौ'' (7. 4. 109.) इति स्थानित्वं ततस्तृतीयान्तत्वं सिद्धम् । ननु यास्यति चैत्रो मासेनेत्यत्र योगग्रहणं विनाऽपि ``समर्थः पदविधिः'' (7. 4. 112.) इति न्यायेन भविष्यति निषेधः, किं योगग्रहणेन ? उच्यते-योगग्रहणादन्यदपि सिद्धम्-अपरैः सामान्येन तृतीयान्तेन योगे प्रतिषेधः कृतः, न तृतीयान्तात्, तेषां मते पूर्वाय मासेनेत्यपि भवति, तन्मतसङ्ग्रहार्थं तु पूर्वदिग्योगेऽपि पञ्चमी व्याख्येया ॥13॥

तीयं ङित्कार्ये वा ॥1. 4. 14.॥

तीय प्रत्ययान्तं शब्दरूपं ङितां ङे-ङसि-ङस्-ङीनां कार्ये कर्तव्ये वा सर्वादिर्भवति। द्वितीयस्मै, द्वितीयाय; द्वितीयस्यै, द्वितीयायै; द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्; द्वितीयस्या द्वितीयाया आगतः, द्वितीयस्या द्वितीयायाः स्वम्, द्वितीयस्मिन्, द्वितीये; द्वितीयस्याम्, द्वितीयायायाम्। एवम्—तृतीयस्मै, तृतीयाय, इत्यादि। ङित्कार्ये इति किम्? तत्रैव सर्वादित्वं यथा स्यात्, नान्यत्र, तेनाक् न भवति, तथा च कप्प्रत्यये सति स्वार्थिकप्रत्ययान्ताग्रहणात् स्मैप्रभृतयो न भवन्ति-द्वितीयकाय, तृतीयकाय, द्वितीयकायै, तृतीयकायै इत्यादि। अर्थवतः प्रतिपदोक्तस्य च ग्रहणादिह न भवति-पटुजातीयाय, मुखतो भवो मुखतीयः, गहादिपाठादियः, मुखतीयाय; एवम्-पार्श्वती-याय ॥14॥

न्या०स०—तीयं ङिदित्यादि। *द्वितीयिकायै* इति-``स्व-ज्ञा-ऽज-भस्त्रा०'' (2.4.108.) इति आप इः, यत्र तु इत्वं न दृश्यते तत्र ``ङ्यादीदूतः के'' (2.4.104.) इति ह्रस्वत्वम् ॥14॥

अवर्णस्याऽऽमः साम् ॥ 1. 4. 15. ॥

अवर्णान्तस्य सर्वादेः सम्बन्धिनः षष्ठीबहुवचनस्यामः स्थाने `साम्' इत्ययमादेशो भवति। सर्वेषाम्, विश्वेषाम् ❉ संनिपातलक्षण० ❉ न्यायस्या-नित्यत्वादेत्वम्, सर्वासाम्, विश्वासाम्, परमसर्वेषाम्, परमसर्वासाम्। सर्वादेरित्येव? द्वयानाम्, द्वितयानाम्। कथं ``व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्'' (शिशुपालवधे सर्ग-12, श्लो० 13,) इति? अपपाठ एषः। तत्सम्बन्धि-विज्ञानादिह न भवति-प्रियसर्वाणाम्। अवर्णस्येति किम्? भवताम्, भवतीनाम् ॥15॥

न्या०स०—अवर्णस्येत्यादि। परस्पराद्यामः सामादेशे तत्रैव सामादेश एवोच्येत, मह्यामादेशं कृत्वा साम्वचने किञ्चित् प्रयोजनमस्ति, प्रक्रियागौरवं च परिहृतं भवति, परोक्षादेशस्तु आम् धातोर्विधीयमानः सर्वादेर्न संभवति, ``कर्तुः क्विप्०'' (3.4.25.) इति क्विप्प्रत्ययान्ततायां संभवेऽपि स्यादेरित्यधिकारान्निरस्यत इत्याह—*षष्ठीति*।

``संमूर्च्छदुच्छृङ्खलशङ्खनिस्वनः स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि।
सत्त्वानि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम्'' ॥

शिशुपालवधे, स० 12, श्लो० 13) माघोक्तम् ॥15॥

नवभ्यः पूर्वेभ्य इ स्मात् स्मिन् वा ॥ 1. 4. 16. ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो यथास्थानं ये `इ स्मात् स्मिन्' आदेशा उक्तास्ते वा भवन्ति । पूर्वे, पूर्वाः; पूर्वस्मात्, पूर्वात्; पूर्वस्मिन्, पूर्वे; परे, पराः, परस्मात्, परात्; परस्मिन्, परे । नवभ्य इति किम् ? त्ये, त्यस्मात्, त्यस्मिन् । पूर्वेभ्य इति किम् ? सर्वे, सर्वस्मात्, सर्वस्मिन् । `पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर' इति पूर्वादयो नव ।।16।।

आपो ङितां यै-यास्-यास्-याम् ।। 1. 4. 17. ।।

आबन्तसम्बन्धिनां स्यादेर्ङितां ङे-ङसि-ङस्-ङीनां स्थाने यथासंख्यं `यै यास् यास् याम्' इत्येते आदेशा भवन्ति । खट्वायै, खट्वायाः, खट्वायाः, खट्वायाम्; बहुराजायै, बहुराजायाः, बहुराजायाः, बहुराजायाम्; कारीष-गन्ध्यायै, कारीषगन्ध्यायाः, कारीषगन्ध्यायाः, कारीषगन्ध्यायाम् । आप इति पकारः किम् ? कीलालपे । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति—बहु-खट्वाय पुरुषाय । इह तु भवति-बहुखट्वायै विष्टराय इत्यादि ।।17।।

न्या०स०—आपो ङितामित्यादि । *आबन्ते*ति-पूर्वसूत्रेषु सर्वादेरव्यभिचारेऽपि उत्तरसूत्रे सर्वादिग्रहणाद् इह सामान्यमवगम्यते । *कारीषगन्ध्यायै* इति-ननु अणि अणन्तत्वात् ``अणञेये०'' (2. 4. 20.) इति, इञि तु ``नुर्जातेः'' (2. 4. 72.) इति ङीः प्राप्नोति, नैवम्-अत्र ष्यादेशः समजनि, ``अणञेयेकण०'' (2. 4. 20.) इति सूत्रे तु स्वरूपस्याणो ग्रहणं न ष्यादेशरूपस्य, एतत् व्याख्यानतो लभ्यते, इञस्तु इकारान्तस्य ङीरुक्तः ।।17।।

सर्वादेर्डस्पूर्वाः ।। 1. 4. 18. ।।

सर्वादेराबन्तस्य सम्बन्धिनां ङितां `यै-यास्-यास्-यामाः' ते डस्पूर्वा भवन्ति । सर्वस्यै, सर्वस्याः, सर्वस्याः, सर्वस्याम्, परमसर्वस्यै, परमसर्वस्याः, परमसर्वस्याः, परमसर्वस्याम्; अस्यै, अस्याः, अस्याः, अस्याम्, अत्र परत्वात् पूर्वमदादेशे पश्चाड्डस् । तीयस्य विकल्पेन ङित्कार्ये सर्वादित्वाद् द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । सर्वादेरिति किम् ? सर्वा नाम काचित्, सर्वायै । तत्सम्बन्धित्व-विज्ञानादिह न भवति-प्रियसर्वायै, अतिसर्वायै; दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं सा दक्षिणपूर्वा दिक्, तस्यै दक्षिणपूर्वायै, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाः, दक्षिणपूर्वायाम्; एषु बहुव्रीह्यादेरन्यपदार्थादिप्रधानत्वात् सर्वादित्वाभावः । यद्येवं कथं दक्षिणपूर्वस्यै, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याः, दक्षिणपूर्वस्याम् इति ? दक्षिणा चासौ पूर्वा चेति कर्मधारये भविष्यति । अथ च बहुव्रीह्यादेः सर्वादित्वाभावे कथं `त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः;

द्वकि-पुत्रः, ककिंसब्रह्मचारी' इत्यादावक् प्रत्ययः ? उच्यते-अन्तरङ्गत्वात् पूर्वमेवाक् भविष्यति । अन्ये तु बहुव्रीहावन्तरङ्गस्याप्यकः प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते कप्प्रत्यय एव-त्वत्कपितृको मत्कपितृकः ॥18॥

न्या०स०—सर्वादेर्ङस् इत्यादि । '*अस्यै*' इति इदम्-शब्दस्य ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यत्वे ``लुगस्या०'' (2. 1. 112.) इत्यकारलोपे ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्यापि ``आपो ङिताम्०'' (1. 4. 17.) इति यायाद्यादेशे ``अनक्'' (2. 1. 31.) इत्यदादेशे अनेन डस्पूर्वत्वे ``डित्यन्त्य०'' (2. 1. 114.) इत्यकारलोपे । अथात्र यायाद्यादेशे कृते सर्वादित्वेन तत्पृष्ठभावित्वात् ङसि कृते व्यञ्जनादित्वाभावात् कथमदादेश इत्याह-*परत्वादिति* । *प्रियसर्वायै* इति-सर्वशब्दस्य प्राग्निपाते प्राप्ते ``प्रियः'' (3. 1. 114.) इत्यनेन प्रियस्य प्राग् निपातः । *अथ बहुव्रीह्यादेरिति*-परेण बहुव्रीह्यादेरिति प्रागभिदधे तदेव अनूदितम्, अत आदेः फलं न निरीक्ष्यम्, त्वकं पिताऽस्य, अहकं पिताऽस्य, द्वकौ पुत्रावस्य, कके सब्रह्मचारिणोऽस्येति । *अन्ये त्विति*-उत्पलादयः ॥18॥

टौस्येत् ॥ 1. 4. 19. ॥

आबन्तस्य सम्बन्धिनोष्टौसोः परयोरेकारोऽन्तादेशो भवति । खट्वया, खट्वयोः, बहुराजया, बहुराजयोः, कारीषगन्ध्यया, कारीषगन्ध्ययोः । आप इत्येव ? कीलालपा ब्राह्मणेन । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-बहुखट्वेन पुरुषेण । इह तु भवति-ईषदपरिसमाप्तया खट्वया बहुखट्वया विष्टरेण ॥19॥

न्या०स०—टौस्येत्यादि । *एदिति* तकारोऽसन्देहार्थोऽन्यथाऽन्तरेण तकारमेरित्युच्यमाने किमेकार आदेशो भवत्याहोस्वित् इकारस्य टौसोः परयोः पूर्वे आदेशा इति सन्देहः स्यात् ॥19॥

औता ॥ 1. 4. 20. ॥

आबन्तस्य सम्बन्धिना औता प्रथमाद्वितीयाद्विवचनेनौकारेण सहाबन्तस्यैवैकारोऽन्तादेशो भवति । माले तिष्ठतः, माले पश्य; एवम्-बहुराजे 2 नगर्यौ, कारीषगन्ध्ये कन्ये । आप इत्येव ? कीलालपौ पुरुषौ । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति—बहुखट्वौ पुरुषौ । इह तु भवति-ईषदपरिसमाप्ते खट्वे बहुखट्वे मञ्चकौ ॥20॥

न्या०स०—औतेति-आबन्तस्येत्येकाऽपि षष्ठी द्विधाऽर्थवशाद् भिद्यते—सम्बन्धि-तया

स्थानितया चेत्याह—*आबन्तस्य सम्बन्धिना औता सह आबन्तस्यैव स्थाने* इति । *बहु-खट्वौ* ❁ एकदेश० ❁ इति, ``स्थानीवा०'' (7. 4. 109.) इति वा आबन्तत्वम् ।।20।।

इदुतोऽस्त्रेरीदूत् ।। 1. 4. .21. ।।

स्त्रिशब्दवर्जितस्येदन्तस्योदन्तस्य च औता सह यथासंख्यम् 'ईत् ऊत्' इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनी तिष्ठतः, मुनी पश्य; साधू तिष्ठतः, साधू पश्य । इदुत इति किम् ? वृक्षौ, नद्यौ, वध्वौ । औता इत्येव ? मुनिः, साधुः । 'सख्यौ, पत्यौ' इत्यत्र तु विधानसामर्थ्यान्न भवति । अस्त्रेरिति किम् ? अतिस्त्रियौ पुरुषौ । कथं शस्त्रीमतिक्रान्तौ अतिशस्त्री पुरुषौ ? ❁ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ❁ इति प्रतिषेधाभावात्, इदमेव चास्त्रिग्रहणं ज्ञापकम्— ❁ परेणाऽपीयादेशेनेत्कार्यं न बाध्यते ❁ इति, तेनातिस्त्रयः, सहस्त्रयस्तिष्ठन्ति, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः, अतिस्त्रीणाम्, अतिस्त्रौ निधेहीत्यादि सिद्धम् ।।21।।

न्या०स०—इदुत इत्यादि । स्त्रिवर्जनात् तत्सम्बन्धीति न सम्बध्यते । ``षष्ठ्यान्त्यस्य'' (7. 4. 106.) इति ❁ निर्दिश्यमान० ❁ इति वा इदुतौ स्थानिनौ । *विधाने*ति-अन्यथा ईकारमेव विदध्यात् । *सहस्त्रयः* ``सहात् तुल्ययोगे'' (7. 3. 178.) कच्निषेध ।।21।।

जस्येदोत् ।। 1. 4. 22. ।।

इदन्तस्योदन्तस्य च जसि परे यथासंख्यम् 'एत् ओत्' इत्येतावन्तादेशौ भवतः । मुनयः, साधवः, बुद्धयः, धेनवः, अतिस्त्रयः । जसीति किम् ? मुनिः साधुः ।।22।।

ङित्यदिति ।। 1. 4. 23. ।।

अदिति ङिति स्यादौ परे इदन्तस्योदन्तस्य च यथासंख्यमेदोतावन्तादेशौ भवतः । मुनये, साधवे, अतिस्त्रये, मुनेः, साधोः, अतिस्त्रेः आगतं स्वं वा, बुद्धये, धेनवे, बुद्धेः, धेनोः आगतं स्वं वा । ङितीति किम् ? मुनिः, साधुः । अदितीति किम् ? बुद्ध्यै, धेन्वै, बुद्ध्याः, धेन्वाः आगतं स्वं वा, बुद्ध्याम्, धेन्वाम् । स्यादावित्येव ? शुची, पट्वी ।।23।।

*न्या०स०—ङित्यदी*ति । *धेनवे* धीयते पयोऽस्या इति बाहुलकाद् अपादाने ``धेः शित्'' (उणा० 787) इति नुः, कर्मणि तु क्यः स्यात् । नपुंसकत्वे त्वसंभवित्वान्नदर्शितम्, तत्र हि ``अनाम्स्वरे०'' (1. 4. 64.) इति नान्तेन भाव्यम् । बुद्ध्यै इत्यादि—नन्विकारोकारमात्रापेक्ष-

त्वेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव एदोतौ स्याताम्, न दायाद्यादेशाः, तेषां स्त्रीत्वविशिष्टेकारोकारापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वात्, कृतयोरप्येदोतोरिकारोकाराभावाद् वर्णविधित्वाच्च स्थानित्वाभावाद् दै-दासाद्यादेशाभावात् प्रतिषेधो न युक्तः, न च तदन्ता-दादेशविधानाद् अवर्णविधित्वात् स्थानित्वम्, अप्रधानेऽपि वर्णविधिप्रतिषेधात्, एवं तर्हि अनवकाशत्वात् पूर्वं दैप्रभृतय आदेशाः प्रवर्तन्ते पश्चाददितीति प्रतिषेधः, तथापि इदुत्संनिपातेन जायमानत्वाद् दै-दासाद्यादेशेनैव एदोद्बाघो भविष्यतीत्यदितीति प्रतिषेधो व्यर्थः, यद्येवं यत्वमपि न प्राप्नोति, तस्माददितीति प्रतिषेधो वर्णविधावयं न्यायो नोपतिष्ठत इति ज्ञापनार्थः, तेन दै-दासादिषु कृतेषु एदोतौ न भवतः, यत्वं तु भवति ॥23॥

टः पुंसि ना ॥ 1. 4. .24. ॥

इदुदन्तात् परस्य पुंसि पुंविषयस्य टस्तृतीयैकवचनस्य स्थाने 'ना' इत्ययमादेशो भवति। मुनिना, साधुना, अतिस्त्रिणा, अमुना, अत्र ``प्रागिनात्'' (2. 1. 48.) इति वचनात् पूर्वमुत्वं पश्चान्नाभावः। पुंसि इति किम् ? बुद्ध्या, धेन्वा। कथममुना कुलेन ? ``अनाम्स्वरे नोऽन्तः'' (1. 4. 64.) इति भविष्यति ॥24॥

ङिर्डौ ॥ 1. 4. 25. ॥

इदुदन्तात् परो ङिः सप्तम्येकवचनं डौर्भवति, अभेदनिर्देशश्चतुर्थ्येकवचनशङ्कानिरासार्थः, डकारोऽन्त्यस्वरादिलोपार्थः। मुनौ, साधौ, बुद्धौ, धेनौ, अतिस्त्रौ, विंशतौ। अदिदित्येव ? बुद्ध्याम्, धेन्वाम् ॥25॥

न्या०स०–ङिर्डाविति। *बुद्ध्या*मिति-ननु दाम्करणसामर्थ्यादेव डौर्न स्यात्, उ किं व्यावृत्तावदितीति दर्शनेन ? न-``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इत्येत्वनिषेधकत्वेन तस्य चरितार्थत्वाद् डौः स्यादिति व्यावृत्तिः सफला, यथा ``इश्च स्था-दः'' (4. 3. 41.) इत्यत्र सिच्लोपविधायकत्वेन ह्रस्वकरणस्य चरितार्थत्वे गुणबाधकं कित्करणम्, किञ्च, यथासंख्यार्थं ``स्त्रिया ङिताम्०'' (1. 4. 28.) इत्यत्र दाम्ग्रहणं कार्यम्, अन्यथा इदं सूत्रमन्यथा उत्तरं चान्यथा कार्यं स्यात्, तथा च गरीयसी रचना स्यादिति ॥25॥

केवलसखि-पतेरौः ॥ 1. 4. 26. ॥

केवलसखि-पतिभ्यामिदन्ताभ्यां परो ङिरौर्भवति। सख्यौ, पत्यौ। पताविति कश्चित्।

इत इत्येव ? सखायमिच्छति क्यनि दीर्घत्वे सखीयतीति क्विपि यलोपे सखीः, सख्यि, एवम्-पत्यि । केवलग्रहणं किम् ? प्रियसखौ, नरपतौ, पूजितः सखा सुसखा, तस्मिन् सुसखौ; एवमतिसखौ, ईषदूनः सखा बहुसखा, बहुसखौ, एवम्-बहुपतौ; एषु पूर्वेण डौरेव । अन्ये तु बहुप्रत्यय-पूर्वादपि पतिशब्दादौकारमेवेच्छन्ति, तन्मते-बहुपत्यौ ॥26॥

*न्या०स०—केवले*त्यादि । *कश्चिदि*ति-दुर्गसिहश्रुतपालादिः । *सख्यि* इति-अत्र ``स्थानीवावर्णविधौ'' (7. 4. 109.) इति न्यायात् क्विपः स्थानित्वे सति ``य्वोः प्वय्०'' (4. .4 121.) इति यलोपः कस्मान्न भवति ? ❉ असिद्धं बहिरङ्गम्० ❉ इति न्यायात् अन्तरङ्गे क्विबाश्रिते कार्ये यत्वमसिद्धं द्रष्टव्यम् । *अन्ये त्वि*ति-शाकटायनादयः ॥26॥

न ना ङिदेत् ॥ 1. 4. 27. ॥

केवलसखि-पतेः परस्य टावचनस्य नादेशो ङिति परे एकारश्च य उक्तः स न भवति । सख्या, पत्या, सख्ये, पत्ये, सख्युः पत्युः आगतं स्वं वा, सख्यौ, पत्यौ । ङिदिति एतो विशेषणं किम् ? जस्येद्भवत्येव-पतयः । केवलादित्येव ? प्रियसखिना, सुसखिना, बहुसखिना, साधुपतिना, बहुपतिना, प्रियसखये, नरपतये, प्रियसखेः, नरपतेः आगतं स्वं वा ।

बहुप्रत्ययपूर्वादपि पतिशब्दात् प्रतिषेधं केचिदिच्छन्ति-बहुपत्या, बहुपत्ये, बहुपत्युः आगतं स्वं वा । अन्ये तु सख्यन्तादपि प्रतिषेधं पूर्वेण डेरौत्वं चेच्छन्ति बहवः सखायो यस्य तेन बहुसख्या, एवम्-बहुसख्ये, बहुसख्युरागतं स्वं वा, बहुसख्यौ निधेहि ॥27॥

*न्या०स०—न ना ङीत्या*दि । सखि-पतेर्ना-ङिदेता सह न यथासंख्यं ``खि-ति-खी-ती०'' (1. 4. 36.) इति सूत्रे खिग्रहणात् ``सख्युरितो०'' (1. 4. 83.) इति निर्देशाद् वा । *सख्यावि*ति-अत्रादेशे कृते ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इति प्राप्नोति, न तु पूर्वम्, यतस्तद्बाधकं ``ङिडौं'' (1. 4. 25.) ततोऽपि ``केवलसखि०'' (1. 4. 26.) इति औत्वम्, ततः ❉तदादेश❉ इति न्यायात् स्यादित्वे सति एत्वं प्राप्तं निषिद्धम् ॥27॥

स्त्रिया ङितां वा दै-दास्-दास्-दाम् ॥ 1. 4. 28. ॥

स्त्रियाः स्त्रिलिङ्गादिदुदन्ताच्छब्दात् परेषां तत्सम्बन्धिनामन्यसम्बन्धिनां वा स्यादेङितां ङे-ङसि-ङस्-ङीनां स्थाने यथासंख्यं 'दै दास् दास् दाम्' इत्येते आदेशा वा भवन्ति, दकारो ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इति विशेषणार्थः । बुद्ध्यै, बुद्धये; बुद्ध्याः, बुद्धेः 2 आगतं स्वं

वा; बुद्ध्याम्, बुद्धौ; धेन्वै, धेनवे; धेन्वाः, धेनोः 2; धेन्वाम्, धेनौ; एवम्-मुष्ट्यै, मुष्टये; इष्वै, इषवे; शुच्यै, शुचये; पट्वै, पटवे; पत्यै, पतये; जीवपत्यै, जीवपतये स्त्रियै; कन्या पतिर्यस्य यस्या वा कन्यापत्यै, कन्यापतये; एवम्-प्रियबुद्धय, प्रियबुद्धये; प्रियधेन्वै, प्रियधेनवे; प्रियाशन्यै, प्रियाशनये; अति-शकट्यै, अतिशकटये स्त्रियै पुरुषाय वा; एषु समासार्थस्य पुरुषत्वेऽपि पत्यादिशब्दानां स्त्रीत्वमस्ति ।

अन्ये तु पुरुषस्य समासार्थत्वे सति नेच्छन्ति, तन्मते-प्रियबुद्धये, प्रियधेनवे पुरुषायेत्येव भवति ।

अन्यस्तु पुरुषस्यैव समासार्थत्वे सति इच्छति, न स्त्रियाः, तन्मते–'अतिशकट्यै, प्रियधेन्वै पुरुषाय' इत्यत्रैव भवति, न तु अतिशकट्यै, 'प्रियधेनवे स्त्रियै' इत्यत्र । स्त्रिया इति किम् ? मुनये, साधवे । इदुत इत्येव ? गवे, नावे ॥28॥

न्या०स०–स्त्रिया ङितामित्यादि । ''पत्युर्नः'' (2. 4. 48.) इति निर्देशात् सखि-पती नानुवर्तेते, *स्त्रिया* इति विशेषणस्य विशेष्यसापेक्षत्वात् सखि-पतिभ्यां परेषांङितां ''खितिखीतीय उर्'' (1. 4. 36.) इत्येवमादिभिर्विशेषविधिभिराघ्रातत्वाद् दित्करणस्य तु प्रयोजनवत्त्वात् सामान्यमिदुदन्तमधिकृतं गम्यत इत्याह–*इदुदन्ताच्छब्दादिति* । 'कन्यापत्यै' इत्यादौ नपुंसके तु परत्वान्नागमे कन्यापतिनः कुलस्य ''वाऽन्यतः०'' (1. 4. 62.) इति कन्यापत्याः, कन्यापतेर्वा । *अन्ये त्विति*-चन्द्रेन्दुगोमि-प्रभृतयः । *अन्यस्त्विति*-क्षीरस्वामी । *मुनय* इति-अत्र पुंस्त्रीत्वेऽपि पुंस्त्वमेव विवक्षितम् ॥28॥

स्त्रीदूतः ॥1. 4. 29. ॥

नित्यस्त्रीलिङ्गादीकारान्तादूकारान्ताच्च शब्दात् परेषां तत्सम्बन्धिनामन्यसम्बन्धिनां वा स्यादेङितां स्थाने यथासंख्यं 'दै, दास्, दास्, दाम्' इत्येते आदेशा भवन्ति ।

नद्यै, नद्याः, नद्याः, नद्याम्; लक्ष्म्यै, लक्ष्म्याः, लक्ष्म्याः, लक्ष्म्याम्; कुरोरपत्यं स्त्री ''दुनादि०'' (6. 1. 118.) इत्यादिना ञ्यः, तस्य ''कुरोर्वा'' (6. 1. 122.) इति लुपि, ''उतोऽप्राणिनश्च०'' (2. 4. 73.) इत्यादिनोङि कुरूः, कुर्वे, कुर्वाः, कुर्वाः, कुर्वाम्; वध्वै, वध्वाः, वध्वाः, वध्वाम्; एवम्-ब्रह्मबन्ध्वै, ब्रह्मबन्ध्वाः 2, ब्रह्मबन्ध्वाम्; वर्षाभ्वै, वर्षाभ्वाः 2, वर्षास्वाम्; अतिलक्ष्म्यै अतितन्त्र्यै अतिवध्वै स्त्रियै पुरुषाय वा; कुमारीमिच्छतीति क्यनन्तात् कुमारीवाचरतीति क्विबन्ताद् वा कर्तरि क्विप् कुमारी, तस्मै कुमार्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा; खरकुटीव खरकुटी, तस्मै खरकुट्यै ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा । स्त्रिया इत्यनुवर्तमाने पुनः

स्त्रीग्रहणं नित्यस्त्रीविषयार्थम्, तेनेह न भवति-ग्रामण्ये खलप्वे स्त्रियै ।

ईदूत इति किम् ? मात्रे, दुहित्रे, बुद्ध्यै धेनवे । 'आमलक्याः फलाय आमलकाय, अतिकुरवे, अतिकुमारये' इत्यत्रेदूत इति वर्णविधित्वेन स्थानिवद्भावाभावादीकारोकारान्तता नास्तीति न भवति । ङितामित्येव ? नद्यः, वध्वः ।।29।।

न्या०स०–स्त्रीदूत इति । *(ग्रामण्ये) स्त्रियै* इति-ग्रामण्यादिशब्दो हि क्रिया-शब्दत्वात् त्रिलिङ्गत्वात् नित्यस्त्रीविषयो न भवतीति स्त्रियामपि वर्तमानादादेशाभावः । *आमलक्या* इति-आमलकाद् उणादिप्रत्ययान्तात् ङ्याम् आमलकी वृक्षवाची ध्वनिः यद्वा आमलकस्य फलस्य विकारो वृक्षः, दुसंज्ञकस्य मयटो यदा बाहुलकाल्लुप् गौरादित्वाद् ङीः, तदापि आमलकीशब्दस्तरुवाची । *वर्णविधित्वेने*ति-ईकारोकारौ वर्णौ तदाश्रिता दायादयः ।।29।।

वेयुवोऽस्त्रियाः ।। 1. 4. 30. ।।

इयुवोः सम्बन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्ताच्छब्दात् परेषां तत्सम्बन्धिना-मन्यसम्बन्धिनां वा स्यादेर्ङितां स्थाने यथासंख्यं 'दै, दास्, दास्, दाम्' इत्येते आदेशा वा भवन्ति ।

अस्त्रियाः– स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रियै, श्रिये; श्रियाः, श्रियः; श्रियाः, श्रियः; श्रियाम्, श्रियि; भ्रुवै, भ्रुवे; भ्रुवाः, भ्रुवः; भ्रुवाः, भ्रुवः; भ्रुवाम्, भ्रुवि; धियै, धिये; धियाः, धियः; धियाः, धियः; धियाम्, धियि, भुवै, भुवे; भुवाः, भुवः; भुवाः, भुवः; भुवाम्, भुवि; श्रियमतिक्रान्ताय अतिश्रियै अतिश्रिये ब्राह्मणाय ब्राह्मण्यै वा; एवम्-अतिभ्रुवै, अतिभ्रुवे; पृथुः श्रीर्यस्य तस्मै पृथुश्रियै पृथुश्रिये पुरुषाय स्त्रियै वा; एवम्-पृथुभ्रुवै, पृथुभ्रुवे ।

केचित् तु समासार्थस्य स्त्रीत्व एवेच्छन्ति, न पुंस्त्वे, तन्मते-''अतिश्रियै अतिश्रिये स्त्रियै'' इत्यत्र भवति, इह तु न भवति-अतिश्रिये अतिभ्रुवे पुरुषाय, पूर्वेण नित्यमपि न भवति । कश्चित् तु पूर्वमतविपर्यय- मेवेच्छति-अतिश्रियै अतिश्रिये पुरुषाय, इह न भवति-अतिश्रिये स्त्रियै ।

इयुव इति किम् ? आध्यै, प्रध्यै, वर्षाभ्वैः पुनर्भ्वै, पूर्वेण नित्यमेव । अस्त्रिया इति किम् ? स्त्रियै, स्त्रियाः, स्त्रियाः, स्त्रियाम्; परमस्त्रियै, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाः, परमस्त्रियाम्, अत्रापि पूर्वेण नित्यमेव ।

स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रिये कटप्रुवे स्त्रियै । अस्त्रिया इति निर्देशात् परादपि इयुव-यत्वादिकार्यात् प्रागेव स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं भवति, तेन 'स्त्रियै, स्त्रीणाम्, भ्रूणाम्, आध्यै' इत्यादि सिद्धम् ।।30।।

न्या०स०–वेयुव इत्यादि । *नित्यमपी*ति-कोऽर्थः- तन्मते ``स्त्रीदूतः'' इत्यत्रापि समासार्थस्य स्त्रीत्व एव भवति । *आध्यै* आध्यायति प्रध्यायति आदधाति प्रदधाति इत्येवंशीलाया बुद्धेर्वाचकौ वर्षाभूवद् नित्यस्त्रीलिङ्गौ आधी-प्रधीशब्दौ, क्रियाशब्दत्वेन सर्वलिङ्गत्वाद् ग्रामण्यादिशब्दवन्नित्यस्त्रीविषयौ नेति चिन्त्यमेतदित्येके ।।30।।

आमो नाम् वा ।। 1. 4. 31. ।।

इयुवोः सम्बन्धिनौ यौ स्त्रीदूतौ तदन्ताच्छब्दात् परस्य तत्सम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वा आमः षष्ठीबहुवचनस्य स्थाने `नाम्' इत्ययमादेशो वा भवति, अस्त्रियाः-स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रीणाम्, श्रियाम्, भ्रूणाम्, भ्रूवाम्; अतिश्रीणाम्, अतिश्रियाम्, पृथुश्रीणाम्, पृथुश्रियाम्, अतिभ्रूणाम्, अतिभ्रुवाम्, पृथुभ्रूणाम्, पृथुभ्रुवां स्त्रीणां पुरुषाणां वा; शोभना धीरेषां सुधीनाम्, सुधियाम् । इयुव इत्येव ? प्रधीनाम्, वर्षाभूणाम् । स्त्रीदूत इत्येव ? यवक्रियाम्, कटप्रुवाम्, सुष्ठु ध्यायन्तोति सुधियाम् । अस्त्रिया इत्येव ? स्त्रीणाम्, परमस्त्रीणाम्, उत्तरेण नित्यमेव; नपुंसकेऽपि ह्रस्वत्वेन भाव्यमित्युत्तरेण नित्यमेव-अतिश्रीणाम्, अतिभ्रूणां कुलानामिति ।।31।।

*न्या०स०–आमो नाम् वे*ति । *षष्ठीबहुवचनस्ये*ति-अत्र ङिस्थानिकस्य सानुबन्धत्वादपरस्य चासम्भवात् स्याद्यधिकाराच्च षष्ठीबहुवचनस्यैवामो ग्रहणम् ।।31।।

ह्रस्वाऽऽपश्च ।। 1. 4. 32.।।

ह्रस्वादाबन्तात् स्त्रीदूदन्ताच्च शब्दात् परस्यामः स्थाने `नाम्' इत्यय-मादेशो भवति । ह्रस्व-श्रमणानाम्, संयतानाम्, वनानाम्, धनानाम्, मुनी-नाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, पितॄणाम्, मातॄणाम्; आप्–खट्वानाम्, बहुराजानाम्; स्त्रीदूतः–नदीनाम्, वधूनाम्, स्त्रीणाम्, लक्ष्मीनाम् । स्त्रीशब्दर्जितयोरियुवादेशसम्बन्धिनोः स्त्रीदूतोः पूर्वेण विकल्प एव-श्रीणाम्, श्रियाम्; भ्रूणाम्, भ्रुवाम् । ह्रस्वापश्चेति किम् ? सोमपाम्, सेनान्याम् ।।32।।

*न्या०स०–ह्रस्वे*त्यादि । *पूर्वेण विकल्प एवे*ति-इयुवस्थानित्वेन विशेषविहि-तत्वादिति शेषः ।।32।।

संख्यानां र्ष्णाम् ।।1. 4. 33. ।।

रेफ-षकार-नकारान्तानां संख्यावाचिनां शब्दानां सम्बन्धिन आमः स्थाने `नाम्'

इत्ययमादेशो भवति । चतुर्णा (र्ण्णा) म्, षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, परमचतुर्णाम्, परमषण्णाम्, परमपञ्चानाम् । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियचतुराम्, प्रियषषाम्, प्रियपञ्चाम् । सङ्ख्यानामिति किम् ? गिराम्, विप्रुषाम्, यतिनाम् । ष्र्णामिति किम् ? त्रिंशताम्, पञ्चाशताम् । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन भूतपूर्वनान्ताया अपि-अष्टानाम्, परमाष्टानाम् ॥33॥

*न्या०स०—संख्यानामि*त्यादि । र् च ष् च न् च तेषां *ष्र्णाम्*, ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इति णत्वम्, ``रषृवर्ण०'' (2. 3. 63.) इति तु न एकपदत्वाभावात्, ``वोत्तरप-दान्त०'' (2. 3. 75.) इत्यपि न, यतः षकारो न पूर्वपदस्थः किन्तु मध्यम-पदस्थः, तर्हि रेफः पूर्वपदस्थोऽस्ति तदपेक्षया णत्वं भवतु, न—``पदेऽन्तरे०'' (2. 3. 93.) इति निषेधात् । ननु ष्र्णामिति शब्दनिर्देशः, संख्या चैकत्वादिरर्थः, ततः शब्दा-ऽर्थयोः सामानाधिकरण्यं न संगच्छते, सत्यम्-उपचारात् सङ्ख्यार्थाः शब्दाः संख्याशब्देनाभि धीयन्ते; यद्वा संख्यायते आभिरिति ``उपसर्गादातः'' (5. 3. 110.) इति ``करणाऽऽधारे'' (5. 3. 129.) इति परमप्यनटं बाधित्वा बहुलवचनादङि आपि च संख्याशब्देनैकादयः शब्दा एवोच्यन्ते इति ।

*त्रिंशतामि*ति ननु च त्रिंशदादयः शब्दाः संख्येयेष्वपि वर्तमानाः ``विंशत्याद्याः शताद् द्वन्द्वे'' (लिङ्गानुशा-सन० 2-6.) इति वचनात् एकत्वे एव वर्तन्त इत्यत्रैकवचनान्ता एव भवितुमर्हन्ति, कथं बहुवचनम् ? सत्यम्-एकशेषात्-त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशच्च त्रिंशतः । *अष्टानामि*ति-अथाऽष्टन्शब्दादामि परत्वाद् ``वाऽऽष्टन०'' (1. 4. 52.) इत्याकारे नान्तत्वाभावात् कथं नाम्भावोऽत आह—*भूतपूर्वे*ति ॥33॥

त्रेस्त्रयः ॥ 1. 4. 34. ॥

आमः सम्बन्धिनस्त्रिशब्दस्य त्रयादेशो भवति । त्रयाणाम्, परमत्रयाणाम् । आम्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतित्रीणाम्, प्रियत्रीणाम् । अतत्सम्बन्धिनोऽपि भवतीत्येके-अतित्रयाणाम्, प्रियत्रयाणाम् । स्त्रियां तु परत्वात् तिसृभावो भवति-तिसृणाम् ॥34॥

न्या०स०—त्रेस्त्रय इति । *आमः सम्बन्धिन* इति-सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वात् आमः सम्बन्धिन इत्यपि युक्तम्, आमः सम्बन्धित्वं च त्रेरर्थद्वारकम्, यस्मादामः सम्बन्धी त्रेरर्थ-स्ततः स आम इत्युच्यते; आमः सम्बन्धीति कार्यकारणभावे षष्ठी, त्रिशब्दः कारणम्, आम् च कार्यम्, यतस्त्रिशब्दबहुत्वे आम् ॥34॥

एदोद्भ्यां ङसि-ङसो रः ।। 1. 4. 35. ।।

एदोद्भ्यां परयोर्ङसि-ङसोः स्थाने रेफो भवति, अकार उच्चारणार्थः । मुनेः, मुनेः; साधोः; साधोः; गोः, गोः; द्योः, द्योः; परमश्चासाविश्च–परमेः, परमेः, नयतीति विच्-नेः, नेः; एवम्-लोः, लोः । वचनभेदो यथा-संख्यनिवृत्त्यर्थः ।।35।।

न्या०स०–एदोद्भ्यामित्यादि । *एदोद्भ्यामि*ति-अत्र तकारः स्वरूपग्रहणार्थः, तेन लाक्षणिकयोरप्येदोतोः परिग्रहः–*परमेरि*ति–"आतो नेन्द्रवरुणस्य" (7. 4. 29.) इति ज्ञापकात् पूर्वं पूर्वोत्तरपदयोः कार्यम्, ततः सन्धिकार्यम्, अतः परमैरिति प्राप्नोति, नैवम्-❉ ज्ञापकज्ञापिता विधयो ह्यनित्याः ❉ इति ।।35।।

खि-ति-खी-तीय उर् ।। 1. 4. 36. ।।

खि-ति-खी-तीसम्बन्धिन इवर्णस्थानाद् यकारात् परयोर्ङसि-ङसोः स्थाने उर् आदेशो भवति ।

खि-सख्युः, सख्युः, ति-पत्युः, पत्युः, खी ती-सह खेन वर्तते सखः, सखं सखायं वेच्छतीति क्यनि क्विपि सखीः, पततीति पतः, पत पतिं वेच्छतीति क्यनि क्विपि पतीः, सख्युः, पत्युः, तथा सुखमिच्छति, सातमिच्छति क्यनि क्विपि सुख्युः, सात्युः; लूनं पूनं चेच्छतः–लून्युः, पून्युः, "क्तादेशोऽषि" (2. 1. 61.) इति नत्वस्यासत्त्वात् तीरूपत्वम् । य इति किम् ? यत्र यत्वादेशस्तत्र यथा स्यात्, इह मा भूत्-अतिसखेः, अतिपतेः । खि ति–खी-तीति किम् ? मुख्यमपत्यं चाचष्टे णिच् विच्-मुख्यः, अपत्यः आगतं स्वं वा । अदिति इत्येव ? सख्याः, पत्याः ।।36।।

न्या०स०–*खि-ती*त्यादि । "षणूयी दाने" सनोति दत्ते परस्परं भोजनादिकमिति सखा, "सनेः डखिः" (उणा० 625.) पाति अपायादिति "पातेर्वा" (उणा० 659.) इति डतिः । *सात्युरि*ति-सायते स्म दीयते स्म पुण्यैरिति सातम्, "सातिः सौत्रः सुखे" सातति वा । *मुख्य* इति-अत्र विचि कृते "य्वोः प्वय्०" (4. 4. 121.) इति यस्य लुग् न, यतः "स्वरस्य परे०" (7. 4. 110.) इति णिलोपः स्थानी, न च "न सन्धिः०" (1. 3. 52.) इत्यस्यावकाशः,

❉ नञा निर्दिष्टस्यानित्यत्वात् ❉, भवतु वाऽवकाशस्तदेद-मुत्तरम्-"य्वोः प्वय्०"

(4. 4. 121.) इति सूत्रे लुक् इति संज्ञा, ❊ संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ❊ यद्वा ``क्वौ'' (4. 4. 119.) इति सूत्रकरणात्-क्विप्-विचोर्व्यञ्जन-कार्यमनित्यम्, न च वाच्यं कथं विच्यपि व्यञ्जनकार्यानित्यता, यतोऽप्रयोगिनामुपलक्षणः क्विप् ।।36।।

ऋतो डुर् ।। 1. 4. 37. ।।

ऋकारात् परयोर्ङसि-ङसोः स्थाने `डुर्' इत्ययमादेशो भवति । पितुः, पितुः; मातुः, मातुः । ङसि-ङस इत्येव ? पितॄन् । ऋत इति किम् ? ग्रः ।।37।।

न्या०स०–ऋतो डुरिति । ❊ ऋकारोपदिष्टं लृकारस्यापि ❊ तेन ``ऋफिडा०'' (4. 4. 119.) इति लत्वम्, कुल् लृकारः, यदाह उपाध्यायः–`आप्लृ' इत्येतस्मात् षष्ठ्यामापुल् इत्येव भवति ।।37।।

तृ-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्त्रो घुट्यार् ।।1. 4. 38.।।

तृच्-तृन्प्रत्ययान्तस्य स्वस्त्रादिशब्दानां च सम्बन्धिन ऋकारस्य स्थाने तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा घुटि परे `आर्' इत्ययमादेशो भवति । कर्तारम्, कर्तारौ, कर्तारौ, कर्तारः कटस्य; वदितारम्, वदितारौ, वदितारौ, वदितारो जनापवादान्; स्वसारम्, स्वसारौ, स्वसारौ स्वसारः; नप्तारम्, नप्तारौ, नप्तारौ, नप्तारः; नेष्टारम्, नेष्टारौ, नेष्टारौ, नेष्टारः; त्वष्टारम्, त्वष्टारौ, त्वष्टारौ, त्वष्टारः; क्षत्तारम्, क्षत्तारौ, क्षत्तारौ, क्षत्तारः; होतारम्, होतारौ, होतारौ, होतारः; पोतारम्, पोतारौ, पोतारौ, पोतारः; प्रशास्तारम्, प्रशास्तारौ, प्रशास्तारौ, प्रशास्तारः; अतिकर्तारम्, अतिकर्तारौ, अतिकर्तारौ, अतिकर्तारः ।

घुटीति किम् ? कर्तृ कुलं पश्य । सौ तु परत्वाद् डा-गुणौ कर्ता, हे कर्तः ! । तृशब्दस्यार्थवतो ग्रहणेन प्रत्ययग्रहणान्नप्त्रादी-नामव्युत्पन्नानां संज्ञाशब्दानां तृशब्दस्य ग्रहणं न भवतीति तेषां पृथगुपादानम्; इदमेव च ज्ञापकम्–❊ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणं भवति ❊ इति, व्युत्पत्तिपक्षे तु तृग्रहणेनैव सिद्धे नप्त्रादिग्रहणं नियमार्थम्, तेनान्येषामौणादिकानां न भवति-पितरौ, भ्रातरौ, मातरौ, जामातरौ । केचित् तु प्रस्तोतृ-उन्नेतृ-उद्गातृ प्रतिहर्तृ-प्रति-स्थातृशब्दानामौणादिकानामप्यारं मन्यन्ते प्रस्तोतारम्, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारौ, प्रस्तोतारः, इत्यादि ।।38।।

न्या०स०–तृ-स्वस्त्रित्यादि-सूत्रत्वाद् ``अनाम्स्वरे०'' (1.4.64.) इति न, सूत्रे ऋकारोपादानाद् वा, कथमिति चेत् ? प्रशास्तॄणाम् ऋः प्रशास्तॄः तस्य *अतिकर्तारमिति*-अत्र तत्पुरुषो न बहुव्रीहिः कच्प्रसङ्गात्, तेन च व्यवधानेन प्राप्त्यभावात् । नन्वत्र सूत्रे शौ निमित्ते किं न दर्शितम् ? ``स्वराच्छौ'' (1.4.65.) इतिः नागमेन व्यवधानान्न प्राप्नोतीति चेत्, न–नागमः प्रकृतेरेवांश इति, सत्यम्-अवयवेना-वयवस्य ऋल्लक्षणस्य व्यवधानं भवतीति न दर्शितम् । सुष्ठु अस्यति-क्षिपति भ्रातुरः माङ्गल्यमिति-*स्वसा* ``सोरसेः'' (उणा० 853) नमति पूर्वजेभ्य इति *नप्ता* ``नमेः प् च'' (उणा० 862), नयति प्राप्नोति वेदशाखाम् इति-*नेष्टा* ``नियः षादिः'' (ऊणा० 864) तृप्रत्ययः, ``त्विषी दीप्तौ'' त्वेषते दीप्तो भवती, स्वर्गनिर्माणनैपुणेनेति-*त्वष्टा*, ``क्षद खदने'' इति सौत्रः, *क्षत्ता* ``त्वष्टृ-क्षत्तृ-दुहित्रादयः'' (उणा० 865) इत्यनेन निपातः ।

जुहोति व्रीह्यादिकान्, पुनाति आत्मानं वेदपाठेन ``हु-पुग्गोन्नी-प्रस्तु०'' (उणा० 863) इत्यादिना–*होता*, *पोता*, प्रशास्ति दिशति शास्त्राणि इति–*प्रशास्ता* ``शासिशंसि-नी०'' (उणा० 857) इत्यादिना तृप्रत्ययः । जायत इति जा पुत्री ``क्वचित्'' (5.1.171.) इति ङः प्रत्ययः, जां मिनोति जाया मिगस्तृप्रत्ययः ``मिग्मीगः०'' (4.2.8.) इत्याकारः, *केचित् त्विति*–भोजप्रभृतयः ।।38।।

अर्डौं च ।। 1. 4. 39. ।।

ऋकारस्य स्थाने ङौ घुटि च परे 'अर्' इत्ययमादेशो भवति । पितरि, पितरम्, पितरौ 2, पितरः, मातरि, मातरम्, मातरौ 2, मातरः । ङौ चेति किम् ? पित्रा, मात्रा । 'कर्तॄणि कुले, कर्तॄणि कुलानि' इत्यत्र तु । परत्वात् पूर्वं न एव, तस्मिंश्च सति व्यवधानान्न भवति । ऋत इत्येव ? ग्रि ।।39।।

न्या०स०–अर्डौं चेति । *ङौ घुटि चेति*-अत्र निमित्तात् परः श्रूयमाणश्चकारो निमित्तान्तरसव्यपेक्षः प्रत्यासत्तेरनन्तरसूत्रोपात्तमेव निमित्तमुपस्थापयति । *कर्तॄणि कुले* इति-पितरि, वारिणीत्यादावुभयोः सावकाशत्वेन परत्वान्नागमे ऋकारान्तत्वाभावान्न भवतीति ।।39।।

मातुर्मातः पुत्रेऽर्हे सिनाऽऽमन्त्र्ये ।। 1. 4. 40. ।।

मातृशब्दस्याऽऽमन्त्र्ये पुत्रे वर्तमानस्य सामर्थ्याद् बहुव्रीहौ समासे सिना सह मात इत्यकारान्त आदेशो भवति, अर्हे–मातृद्वारेण पुत्रप्रशंसायां गम्य-मानायाम्, कचोऽपवादः ।

गार्गी माता यस्य तस्यामन्त्रणं हे गार्गीमात ! एवम्-हे वात्सीमात !, अत्र पुत्रः संभावितोत्कर्षया श्लाघ्यया मात्रा तत्पुत्र-व्यपदेशयोग्यतया प्रशस्यते ।

मातुरिति किम् ? हे गार्ग्यपितृक ! । पुत्र इति किम् ? हे मातः !, हे गार्गीमातृके वत्से ! । अर्ह इति किम् ? अरे गार्गीमातृक ! । आमन्त्र्य इति किम्? ? गार्गीमातृकः । सिनेति किम् ? हे गार्गीमातृकौ ! ।।40।।

न्या०स०–मातुर्मात इत्यादि । ननु कथं मातृशब्दस्य पुत्रार्थे वृत्तिः ? नह्यसौ पुत्रार्थे वर्तमानः क्वचिद् दृष्ट इत्याह–*सामर्थ्यादि*ति-अयमर्थः–केवलो न बर्तते, बहुव्रीहौ तु स्वार्थोपसर्जनतयाऽर्थान्तरं प्रतिपादयत्येव । *कचोऽपवाद* इति-अनन्तरानन्तरिभावे षष्ठी व्याख्येया, तेन कचा व्यवधाने न स्यात् । संभावित उत्कर्षो यस्याः सकाशात् (तया, *तत्पुत्रव्यपदेशयोग्यतया*) तत्पुत्र इति व्यपदेशः कथनं तस्य योगः (योग्यतया) । *अरे गार्गीमातृके*ति-अज्ञातपितृकत्वेनानेकपितृकत्वेन च निन्द्यया मात्रा विगुणः पुत्रो निन्द्यत इति ।।40।।

ह्रस्वस्य गुणः ।। 1. 4. 41. ।।

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्य ह्रस्वान्तस्य सिना सह श्रुतत्वाद् ह्रस्वस्यैव गुणो भवति, ``आसन्नः'' (7. 4. 120.) । हे पितः !, हे मातः !, हे कर्तः !, हे स्वसः !, हे मुने !, हे साधो !, हे बुद्धे !, हे धेनो ! । सिनेत्येव ? हे कर्तृ कुल !, हे वारि !, हे त्रपु !, अत्र परत्वात् पूर्वं सेर्लुपि सेरभावान्न भवति, ``नामिनो लुग् वा'' (1. 4. 61.) इति लुकि तु स्थानिवद्भावाद् भवत्येव–हे कर्तः कुल !, हे वारे !, हे त्रपो ! ।

आमन्त्र्य इत्येव ? पिता, मुनिः, साधुः । ह्रस्वस्येति किम् ? हे श्रीः !, हे भ्रूः ! । 'हे नदि !, हे वधु !' इत्यत्र तु ह्रस्वविधानसामर्थ्यात् सेरभावाच्च न भवति ।।41।।

*न्या०स०–ह्रस्वस्ये*त्यादि । *ह्रस्वस्यै*ति अधिकृतस्य नाम्नो विशेषणाद् विशेषणे च तदन्तविधिसंभवादाह–*ह्रस्वान्तस्ये*ति–*श्रुतत्वादि*ति-श्रुतो ह्रस्वो ह्रस्वान्तत्वं त्वनुमितम्, ❉ श्रुतानुमितयोश्च श्रौतो विधिर्बलीयान् ❉ इति न्यायः । *ह्रस्वविधाने*ति-❉ उभयोः स्थाने यः ❉ इति न्यायेन यदा सिव्यपदेशस्तदा सिर्ह्रस्वश्चापि, अतो विधानसामर्थ्याद्, यदा तु ह्रस्वव्यपदेशस्तदा सेरभावान्न भवति ।।41।।

एदापः ।। 1. 4. 42. ।।

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्याऽऽबन्तस्य सिना सह एकारान्तादेशो भवति । हे खट्वे !, हे बहुराजे !, हे बहुखट्वे विष्टर ! आ आप इत्याकार-प्रश्लेषादिह न भवति–हे प्रियखट्व ! । आप इति किम् ? हे कीलालपाः ! । आमन्त्र्य इत्येव ? खट्वा ॥42॥

न्या०स०–*एदाप* इति । आश्वासावाप् चेति आकारप्रश्लेषाद् *हे प्रियखट्व !* इत्यत्र ``गोश्चान्ते०'' (2. 4. 46.) इति ह्रस्वत्वे ❊ एकदेशविकृत० ❊ इति न्यायात् प्राप्तोऽपि एकारादेशो न भवति ॥42॥

नित्यदिद्-द्विस्वराऽम्बार्थस्य ह्रस्वः ॥1. 4. 43.॥

नित्यं दित्–दै-दास्-दास्-दाम्लक्षण आदेशो येभ्यस्तेषां द्विस्वराम्बार्थानां चाबन्तानामामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानानां सिना सह ह्रस्वान्तादेशो भवति । नित्यदित्-हे स्त्रि !, हे गौरि !, हे शार्ङ्गरवि !, हे अस्त्रि !, हे लक्ष्मि !, हे तन्त्रि !, हे ब्रह्मबन्धु !, हे करभोरु !, हे श्वश्रु!, हे वधु !, हे कर्कन्धु !, हे अलाबु !, हे वर्षाभु !, हे पुनर्भु !, हे अतिलक्ष्मि ! ; द्विस्वराम्बार्थ-हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अत्त!, हे अल्ल !, हे अनम्ब !, हे परमाम्ब !, हे प्रियाम्ब ! ।

नित्यदिदिति किम् ? हे वातप्रमीः !, हे हूहूः !, हे ग्रामणीः !, हे खलपूर्वधूटि ! । नित्यग्रहणादिह न भवति-हे श्रीः, हे ह्रीः !, हे भ्रूः ! । कथं हे सुभ्रु !, हे भीरु ! स्त्रीपर्यायत्वादूङि कृते भविष्यति ।

अम्बार्थानां द्विस्वरविशेषणं किम् ? हे अम्बाडे !, हे अम्बाले !, हे अम्बिके ! । आप इत्येव ? हे मातः ! ॥43॥

न्या०स०–*नित्यदिदित्यादि* । शृं गृणाति शृङ्गरुर्ऋषिस्तस्यापत्यं शार्ङ्गरवी यद्वा शृणोतीति ``शिग्रु-मेरु-नमेर्वादयः'' (उ० 811) इति निपातनाद्रौ अन्तस्य चाऽङ्-र्ग-देशे शर्ङ्गरुः, यदा तु अनेनैव शृङ्गरुरिति निपात्यते तदाऽणि ङ्यां च शार्ङ्गरवी, अथवा शार्ङ्गवत् रवो यस्या गौरादित्वाद् ङ्यां शार्ङ्गरवी । हे *अम्बे*ति-अबुङ् अम्बतेऽच् अम्बा । *हे अक्के*ति-``अक कुटिलायां गतौ'' इत्यस्य ``निष्क-तुरुष्क०'' (उणा० 26) इत्यादि-निपातनात् कप्रत्यये । अततेः ``पुत-पित्त०'' (उणा० 204.) इति निपातनात् ते *अत्ता* । ``अली भूषणादौ'' अस्य ``भिल्ला-ऽच्छ भल्ल०'' (उणा० 464) इति निपातनाल्ले *अल्ला* । हे *हूहूः* जहातेः पृषोदरादित्वाद् ऊप्रत्यये द्विर्वचनादौ । हे *वातप्रमीः* ! वातं प्रमिमीते ``वातात् प्रमः कित्'' (उणा० 713) इति ईप्रत्ययः । *हे ग्रामणीः* ! नायमीकारान्तो नित्यदित् किन्तु पुल्लिङ्गोऽपि ।

हे सुभ्रु ! इति-``केवयु-भुरण्टव०'' (उणा० 746) इति निपातनात् भ्राम्यतेर्भ्रू, शोभनं भ्रु भ्रमणं यस्याः सुभ्रु शब्दात् भीरुध्वनेश्च जातित्वादूङ्, परस्य विकल्पेन दित्त्वात् हे सुभ्रू: !, हे भीरो !, प्राप्तमित्यभिप्राय: । अम्बामडतीति लिहादित्वादच् । अम्बां लातीति ``आतो डोऽह्वा-वा-म:'' (5. 1. 76.) इति डप्रत्यय: । अम्बते: ``णक-तृचौ'' (5. 1. 48.) णक आप्, ``अस्याऽयत्त०'' (2. 4. 111.) इति इकार: ॥43॥

अदेत: स्यमोर्लुक् ॥ 1. 4. 44. ॥

अकारान्तादेकारान्ताच्चामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानात् परस्य सेस्तदादेशस्यामश्च लुग् भवति । हे श्रमण !, हे संयत !, अम्-हे वन !, हे धन !, हे उप-कुम्भ !, हे अतिहे !, परमश्चासाविश्च हे परमे !, हे से ! ।

अदेत इति किम् ? हे गौ: !, हे नौ: !, हे परमौ: ! । स्यादेशत्वेनैवामोऽपि लुचि सिद्धायां पृथग्वचनमन्यस्यादेशस्य लुगभावार्थम् !, तेन हे कतरद् ! इत्यादौ लुग् न भवति ॥44॥

न्या०स०–अदेत इत्यादि । आमन्त्र्य इति वर्तते, तत्र च स्यादेश एवाम् संभवतीत्याह–*स्यादेशे*ति । *हे कतरद्* इति । ननु अम्ग्रहणस्य अन्यदपि फलं कस्मान्न भवति ? यथा-कुम्भस्य समीपानि उपकुम्भमित्यत्र लुगर्थम्, नैवम्-सिसाहचर्यादेकवचनस्यामोग्रहणं न बहुवचनस्थानस्य ॥44॥

दीर्घङ्याब्-व्यञ्जनात् से: ॥ 1. 4. 45. ॥

दीर्घाभ्यां ङ्याब्भ्यां व्यञ्जनाच्च परस्य सेर्लुग् भवति । ङी-गौरी, कुमारी, बह्व्य: श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी चैत्र:, एवम्-बहुप्रेयसी, खरकुटीव खरकुटी ब्राह्मण:, कुमारीवाचरति क्विप् लुक् क्विप्-कुमारी ब्राह्मण:; आप्-खट्वा, बहुराजा; व्यञ्जन-राजा, तक्षा, हे राजन् ! ।

एभ्य इति किम् ? वृक्ष: । ङ्याब्ग्रहणं किम् ? लक्ष्मी:, तन्त्री:, ग्रामणी:, कीलालपा: दीर्घग्रहणं किम् ? निष्कौशाम्बि:, अतिखट्व: । नपुंसकेषु परत्वात् ``अनतो लुप्'' (1. 4. 56.) इति लुबेव, तेन यत् कुलं तत् कुलमिति सिद्धम् । ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति सिद्धे व्यञ्जनग्रहणं राजेत्यादौ सिलोपार्थम्, अन्यथा सावपि पदत्वात् ``पदस्य'' (2. 1. 89) इति च परेऽसत्त्वात् पूर्वं नलोपे सेर्लुप्, `उखास्त्रद्' इत्यादौ ``संयोगस्यादौ स्को:०'' (2. 1. 88.) इति लुकि दत्वं च न स्यात् ॥45॥

न्या०स०—*दीर्घङ्याबिति* । *'कुमारी ब्राह्मणः'* इत्यत्र नैषां क्विबादीनां डी-स्योर्व्यवधायकत्वे स्थानित्वम्, यतः स्थान्याश्रये वृद्ध्यादिके कार्ये कर्तव्ये स्थानित्वम्, न तु व्यवधायकत्वे, नहि व्यवधायकत्वं कार्यं नाम, अपि तु वृद्ध्यादीनि कार्याणीति । एवम्-'अच्योढ्वम्' इत्यादिषु सिचो लोपस्य ढत्वे कर्तव्ये न स्थानित्वम् । *दत्वं चेति*-सो परे लुकः पूर्वं दत्वं प्राप्नोतीति न वाच्यम्, परे लुकि ''स्त्रं स्-ध्वंस्०'' (2. 1. 68.) इति सूत्रस्यासिद्ध-त्वात् ।।45।।

समानादमोऽतः ।। 1. 4. 46. ।।

समानात् परस्यामोऽकारस्य लुग् भवति । वृक्षम्, खट्वाम्, मुनिम्, साधुम्, बुद्धिम्, धेनुम्, नदीम्, वधूम् । 'पितरम्' इत्यादिषु विशेषविधानात् प्रथममेवार् ।

समानादिति किम् ? रायम्, नावम् । अम इति किम् ? नद्यः । स्यादिरिति किम् ? अचिनवम् ।।46।।

न्या०स०—*समानादित्यादि* । *अचिनवमिति* न च वाच्यं परत्वान्नित्यत्वाच्च गुणेन भाव्यमिति, प्राप्तो सत्यां हि परत्वं नित्यत्वं च चिन्त्यत इति ।।46।।

दीर्घो नाम्यतिसृ-चतसृ-ष्रः ।। 1. 4. 47. ।।

तिसृ-चतसृ-षकार-रेफान्तवर्जितशब्दसम्बन्धिनः पूर्वस्य समानस्यामादेशे नामि परे दीर्घो भवति । श्रमणानाम्, मुनीनाम्, साधूनाम्, बुद्धीनाम्, धेनूनाम्, वारीणाम्, त्रपूणाम्, पितॄणाम्, मातॄणाम्, कर्तॄणाम् ।

अतिसृचतसृ-ष् इति किम् ? तिसृणाम्, चतसृणाम्, षण्णाम्, चतुर्णाम् ।

अष्र इति प्रतिषेधेन नकारेण व्यवहितेऽपि नामि दीर्घो ज्ञाप्यते-पञ्चानाम्, सप्तानाम् । नामीति किम् ? चर्मणाम् । स्यादावित्येव ? दधिनाम, चर्मनाम, अनर्थकत्वाद् वा ।।47।।

न्या०स०—*दीर्घो नाम्येत्यादि* । *आमादेश* इति स्याद्यधिकारादामादेश एव गृह्यतेऽत इदमुक्तम् । *अष्र* इति-ननु षकार-रेफाभ्यां व्यवधानादेव न भविष्यति दीर्घः, किं ष्रवर्जनेन ? इत्याह—*नकारेणे*ति-अन्यव्यञ्जनेन तु असम्भव इति ।।47।।

नुर्वा ।। 1. 4. 48. ।।

नृशब्दसम्बन्धिनः समानस्य नामि परे दीर्घो वा भवति । नॄणाम्, नृणाम्; अतिनॄणाम्, अतिनृणाम् ।।48।।

शसोऽता सश्च नः पुंसि ।। 1. 4. 49. ।।

शसः सम्बन्धिनोऽकारेण सह समानस्य प्रधानस्थान्यासन्नो दीर्घो भवति, तत्सन्नियोगे च पुंल्लिङ्गविषये शसः सकारस्य नकारो भवति । श्रमणान्, मुनीन्, साधून्, वातप्रमीन्, हूहून्, पितॄन्; पुंल्लिङ्गाभावे तु दीर्घत्वमेवशालाः, बुद्धीः, नदीः, धेनूः वधूः, मातॄः ।

'चञ्चाः खरकुटीः यष्टीः पुरुषान् पश्य' इत्यत्र चञ्चादयः शब्दाः पुरुषे वर्तमाना अपि स्त्रीलिङ्गत्वं नोज्झन्तीति नकारो न भवति, यदा तु शब्दस्य पुंल्लिङ्गत्वं तदा वस्तुनः स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे वा नकारो भवत्येव-दारान् भ्रुकुंसान् स्त्रीः पश्य, षण्ढान् पण्डकान् पश्य । दीर्घसन्नियोगविज्ञा-नादिह नो न भवति-एतान् गाः पश्य समानस्येत्येव ? रायः नावः पश्य । 'वनानि पश्य' इत्यत्र परत्वाच्छिरेव ।।49।।

*न्या०स०—शसोऽते*त्यादि । *समानस्ये*ति-अत्र यद्यपि समानस्य शसोऽकारस्य च स्थानित्वम्, तथापि ❈ प्रधानानुयायिनो व्यवहारा भवन्ति ❈ इति प्रधानस्थान्यासन्न एव दीर्घो भवति, प्रधानत्वं च षष्ठीनिर्दिष्टस्य समानस्यैवेति, प्रधानस्थान्यासन्न इति वचनाद् 'मुनीन्' इत्यादौ शसोऽकारस्य ''अवर्ण-हविसर्गо'' इति आसन्नत्वेऽप्याकारो न भवति । *वातप्रमी*निति-वातं प्रमिमते ''वातात् प्रमः कित्'' (उणा० 713) ईप्रत्ययः, देव-नन्दिना मृगेऽपि स्त्रीलिङ्ग उक्तः ।।49।।

संख्या-साय-वेरह्नस्याऽहन् ङौ वा ।। 1. 4. 50. ।।

संख्यावाचिभ्यः सायशब्दाद् विशब्दाच्च परस्याह्नशब्दस्य ङौ परे 'अहन्' इत्ययमादेशो वा भवति । द्वयोरह्नोर्भव इति विगृह्य ''भवे'' (6. 3. 123.) इत्यण् विषये ''सर्वांशसंख्या०'' इत्यादिनाऽट् अह्नादेशश्च, ततो ''द्विगोरनपत्ये०'' (6. 1. 24.) इत्यादिनाऽणो लुपि द्वयह्नस्तस्मिन् द्वयह्नि, द्वयहनि, द्वयह्ने; एवम्-त्र्यह्नि, त्र्यहनि, त्र्यह्ने; यावदह्नि, यावदहनि, यावदह्ने; तावदह्नि, तावदहनि, तावदह्ने; सायमह्नः सायाह्नस्तस्मिन् सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने ।

अत एव सूत्रनिर्देशात् सायं-शब्दस्य मकारलोपः, सायेत्यकारान्तो वा; विगतमहो व्यह्नस्तस्मिन् व्यह्नि, व्यहनि, व्यह्ने । संख्यासाय-वेरिति किम् ? मध्याह्नि । अह्नस्येति किम् ? द्वयोरह्नोः समाहारो द्वयहस्तस्मिन् द्वयहे । ङाविति किम् ? व्यह्नः ।।50।।

न्या०स०—संख्या-सायेत्यादि । *अण् विषये* इति द्वयोरह्नोर्भवः ``संख्या समाहारे च०'' (3. 1. 99.) इति तद्धितविषये द्विगुसमासेऽण् विषयेऽटि अह्नादेशः, शाकटायनस्तु ``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इति इकण् प्रत्ययविषयेऽट्प्रत्ययमिच्छति, स्वमते तु न 'द्व्यह्न' इत्यस्याकालवाचित्वात् । *यावदह्नि* इत्यादिषु दुसंज्ञकेषु ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) विषयेऽटि तत ईयः; तस्य च ``द्विगोरनपत्ये०'' (6. 1. 24.) इति लुक्? । *द्व्यहे* इति-``द्विगोरनह्न०'' (7. 3. 39.) इत्यत्र अहन्ग्रहणात् ज्ञापकात् ``सर्वांश०'' (7. 3. 118.) इति परमप्यटं बाधित्वा ``द्विगोरहन्न ह्नोऽट्'' (7. 3. 99.) इत्यट् ततोऽह्नाभावः ॥50॥

निय आम् ॥ 1. 4. 51. ॥

नियः परस्य ङेः स्थाने 'आम्' इत्ययमादेशो भवति । नियाम्, ग्रामण्याम् ॥51॥

न्या०स०—निय इत्यादि । ननु *ग्रामण्यामित्यत्र* नी साक्षान्नस्ति किन्तु णी इत्यामो न प्राप्तिः, सत्यम्-स्यादिविधी णत्वमसिद्धम् । अस्यामः ``आमो, नाम् वा'' (1. 4. 31.) इति नामादेशो न भवति, तत्र नित्यस्त्रीदूतोरधिकृतत्वात् । ननु ❊ एक-देशविकृत० ❊ इति क्लीबेऽपि प्राप्तिरस्ति, न-निय ई नी इतीकारप्रश्लेषात् ``निनि, ग्रामणिनि कुले'' इत्येव भवति, भोजेन तु भूतपूर्वन्यायेन नपुंसकेऽपि नियामित्युक्तम् ॥51॥

वाऽष्टन आः स्यादौ ॥ 1. 4. 52. ॥

अष्टन्शब्दस्य तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा स्यादौ परे आकारान्तादेशो वा भवति । अष्टाभिः, अष्टभिः; अष्टाभ्यः, अष्टभ्यः; अष्टासु, अष्टसु; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टा; प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टाः, प्रियाष्टानः; प्रियाष्टाम्, प्रियाष्टानाम्; प्रियाष्टौ, प्रियाष्टानौ; प्रियाष्टः, प्रियाष्ट्नः; प्रियाष्टाभिः, प्रियाष्टभिः; हे प्रियाष्टाः; हे प्रियाष्टन् ! ।

अन्यसम्बन्धिनो- जश्शसोर्नेच्छन्त्येके, तन्मते—प्रियाष्टानस्तिष्ठन्ति, प्रियाष्ट्नः पश्येत्येव भवति ।

स्यादाविति किम् ? अष्टकः संघः, अष्टता, अष्टत्वम्, अष्टपुष्पी । केचित् तु सकारभकारादावेव स्यादाविच्छन्ति ॥52॥

न्या०स०—वाष्टन इत्यादि । पूर्वसूत्राद् ङेरनुवृत्तिर्मा भूदिति स्यादिग्रहणम् । अथ ``अष्ट और्जस्-शसोः'' (1. 4. 53.) इत्यत्र 'अष्टः' इति ज्ञापकाद् ङेरनुवृत्तिर्न भविष्यति,

सत्यम्-तद्धि मतान्तरसंग्रहार्थम् ॥52॥

अष्ट औ जस्-शसोः ॥1. 4. 53. ॥

अष्ट इति कृतात्वस्याष्टन्शब्दस्य निर्देशः, अष्टाशब्दसम्बन्धिनोर्जस्-शसोः स्थाने औकारादेशो भवति। अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य, परमाष्टौ, अनष्टौ। कृतात्वस्य निर्देशादिह न भवति-अष्ट तिष्ठन्ति, अष्ट पश्य, परमाष्ट, अनष्ट। तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियाष्टास्तिष्ठन्ति, प्रियाष्टः पश्य। अतत्सम्बन्धिनोरपीच्छन्त्येके-प्रियाष्टौ तिष्ठन्ति, प्रियाष्टौ पश्य।

केचित् तु-अष्टावाचक्षत इति णिचि क्विपि 'अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य' इतीच्छन्ति, तदप्यष्ट इति तन्त्रेण संगृहीतम् ॥ 53॥

डति-ष्णः संख्याया लुप् ॥1. 4. 54. ॥

डति-षकार-नकारान्तायाः संख्यायाः सम्बन्धिनोर्जस्-शसोर्लुप् भवति। कति तिष्ठन्ति, कति पश्य; यति तिष्ठन्ति, यति पश्य; तति तिष्ठन्ति, तति पश्य; षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य; पञ्च तिष्ठन्ति, पञ्च पश्य; एवम्-सप्त, नव, दश; परमषट्, परमपञ्च।

डति-ष्ण इति किम् ? त्रयः, चत्वारः, तावन्तः। शतानि सहस्राणीत्यत्र ❊ सन्निपात-लक्षणत्वात् ❊ नान्तस्य न भवति। संख्याया इति किम् ? विप्रुषः, राजानः। तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति- प्रियकतयस्तिष्ठन्ति, प्रियकतीन् पश्य; प्रियषषः; प्रियषषः; प्रियपञ्चानः, प्रियपञ्च्नः। केचित् तु डत्यन्तात् कतिशब्दादेवेच्छन्ति ॥54॥

न्या०स०—*डतिष्ण* इत्यादि। *सन्निपातलक्षणत्वादि*ति-संनिपतति कार्यमस्मिन् संनिपातो निमित्तं शिलक्षणम्, स लक्षणं चिह्नं यस्य तस्य। *केचित् त्वि*ति-वामनादयः, तन्मते इदं न सिद्ध्यति—

यति ते नाग ! शीर्षाणि, तति ते नाग ! वेदनाः।
न सन्ति नाग ! शीर्षाणि, न सन्ति नाग ! वेदनाः ॥54॥

नपुंसकस्य शिः ॥ 1. 4. 55.॥

नपुंसकस्य सम्बन्धिनोर्जस्-शसोः स्थाने शिर्भवति। कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि

पश्य:, एवम्-दधीनि, मधूनि, कर्तॄणि, पयांसि, यशांसि । स्याद्यधिकारादिह न भवति–कुण्डशो ददाति ।

नपुंसकस्येति किम्? ? वृक्षा:, वृक्षान् । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति– प्रियकुण्डा:, प्रियकुण्डान् । इह तु भवति-परमकुण्डानि । शकार: ``शौ वा'' (4. 2. 65) इत्यादौ विशेषणार्थ: ।।55।।

*न्या०स०–नपुंसकस्ये*त्यादि-स्त्री च पुमाँश्च स्त्रीपुंसौ ``स्त्रिया: पुंसो०'' (7. 3. 96.) इति समासान्त:, न स्त्रीपुंसौ नखादित्वाद् नञोऽदभाव:, पृषोदरादित्वात् स्त्रीपुंसशब्दस्य पुंसक आदेश: ।।55।।

औरी ।। 1. 4. 56.।।

नपुंसकस्य सम्बन्धी औकार ईकारो भवति । कुण्डे तिष्ठत:, कुण्डे पश्य; एवम्–दधिनी, मधुनी, कर्तृणी, पयसी । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति–प्रियकुण्डौ पुरुषौ । इह तु भवति–परमकुण्डे ।।56।।

*न्या०स०–औरीरि*ति-कार्य-कार्यिणोरभेदनिर्देश: सर्वादेशार्थ:, अन्यथा ``षष्ठ्यान्त्यस्य'' (7. 4. 106.) इति न्यायाद् विश्लिष्टावर्णस्यौकारस्य स्यात्, यत: अओ इति प्रकृतौ ``ऐदौत् सन्ध्यक्षरै:'' (1. 2. 12.) इत्यनेन औकारो निष्पादित: ।।56।।

अत: स्यमोऽम् ।। 1. 4. 57. ।।

अकारान्तस्य नपुंसकलिङ्गस्य सम्बन्धिनो: स्यमोरमित्ययमादेशो भवति । कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य, कीलालपम्, अतिखट्वं कुलम्; हे कुण्ड !, अत्रामादेशे अति ``अदेत: स्यमोर्लुक्'' (1. 4. 44.) इत्यमो लुक् । नपुंसकस्येत्येव ? वृक्ष: ।

अत इति किम् ? दधि तिष्ठति, दधि पश्य । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियकुण्ड: पुरुष: । अमोऽकारोच्चारणं जरसादेशार्थम्, तेनातिजरसं कुलं तिष्ठतीति सिद्धम् ।।57।।

*न्या०स०–अत: स्ये*त्यादि । नन्वत्राद्ग्रहणं किमर्थम् ? नच वाच्यम्-अद्-ग्रहणाभावे दधीत्यत्राप्यमादेश: स्यात्, यत: ``अनतो लुप्'' (1. 4. 59.) इति सूत्रं बाधकं विद्यत इति,

ननु अनत इत्यत्र पर्युदासः प्रसज्यो वा नञ् गृह्यत इति संदेहः,

न च वाच्यम्-पर्युदासे हि ``नामिनो लुप्'' (1. 4. 61.) इति सूत्रं कुर्यात्, तस्मात् प्रसज्य एवेति, कुतः ? काष्ठा परं प्रकर्षमध्यापक इत्यत्र क्रियाविशेषणत्वेन आकारादप्यमो लुग् दृश्यते, अतोऽनत इति कर्तव्यमेव, अतः संदेहस्तदवस्थ एव, अतोऽद्ग्रहणेन ज्ञाप्यते-प्रसज्य एव गृह्यते, तथा च पय इत्यादौ लुप् सिद्धा, न त्वमादेशः। *अत* इति नपुंसकस्य विशेषणम्, अतस्तदन्तप्रतिपत्तिर्भवतीत्याह*अकारान्तस्ये*ति। अम्ग्रहणमुत्तरार्थम्, तेनान्यत् पश्येति सिद्धम् ।।57।।

पञ्चतोऽन्यादेरनेकतरस्य दः ।। 1. 4. 58. ।।

नपुंसकानामन्यादीनां सर्वाद्यन्तर्वर्तिनां पञ्चपरिमाणानां सम्बन्धिनोः स्यमोः स्थाने द इत्ययमादेशो भवति, एकतरशब्दं वर्जयित्वा; अकार उच्चारणार्थः। अन्यत् तिष्ठति, अन्यत् पश्य; एवम्-अन्यतरत्, इतरत्; कतरत् तिष्ठति, कतरत् पश्य; एवम्-कतरत्, ततरत्; कतमत् तिष्ठति, कतमत् पश्य; एवम्-यतमत्, ततमत्, एकतमत्; हे अन्यत् !, हे अन्यतरत् !, हे इतरत् !, हे कतरत् !, हे कतमत् !, हे एकतमत् ! ।

अनेकतरस्येति किम् ? एकतरं तिष्ठति, एकतरं पश्य । पञ्चत इति किम् ? नेमं तिष्ठति, नेमं पश्य । नपुंसकस्येत्येव ? अन्यः पुरुषः, अन्या स्त्री । अन्यादिसम्बन्धिनोः स्यमोर्ग्रहणादिह न भवति-प्रियान्यम्, अत्यन्यं कुलम् । इह तु भवति–परमान्यत् तिष्ठति, परमान्यत् पश्य, अनन्यत् ।।58।।

न्या०स०–पञ्चत इत्यादि–पञ्च संख्या परिमाणमस्य ``पञ्चद् दशद् वर्गे वा'' (6. 4. 175.) इति डत् प्रत्ययः ।।58।।

अनतो लुप् ।। 1. 4. 59. ।।

अनकारान्तस्य नपुंसकस्य सम्बन्धिनोः स्यमोर्लुप् भवति । दधि तिष्ठति, पश्य वा, एवम्-मधु, कर्तृ, पयः, उदश्वित् । अनत इति किम् ? कुण्डं तिष्ठति पश्य वा । लुकमकृत्वा लुप्करणं स्यमोः स्थानिवद्भावेन यत् कार्यं तस्य प्रतिषेधार्थम्-यत्, तत्, अत्र त्यदाद्यत्वं न भवति ।।59।।

न्या०स०—अनत इत्यादि । ननु अनत इति किमर्थम् ? न च वाच्यम्कुण्डमित्यत्रापि स्यात्, ``अतः स्यमोऽम्'' (1. 4. 57.) इति बाधकात्, अत्रोच्यते-अनत इत्यस्याभावे ``पञ्चतोऽन्यादे०'' (1. 4. 54.) इत्यतोऽन्यादेरित्यागच्छेत्, न च वाच्यम्-अन्याद्यभीष्टौ हि एकमेव योगं कुर्यात्, पूर्वमेकतरवर्जितस्यान्यादेर्ग्रहणम्, इह तु एकतरस्यापीति पृथग्योगस्य साफल्यात् । हे कर्तृ ! इत्यादौ परत्वात् प्रथमं सेर्लोपे ❁ प्रत्ययलोपलक्षण ❁ न्यायेन ``ह्रस्वस्य गुणः'' (1. 4. 41.) इति गुणः कस्मान्न भवतीत्याह—*लुकमकृत्वेति* ॥59॥

जरसो वा ॥1. 4. 60. ॥

जरसन्तस्य नपुंसकस्य सम्बन्धिनोः स्यमोर्लुग् वा भवति । अतिजरः, अतिजरसं कुलं तिष्ठति पश्य वा । अन्ये तु द्वितीयैकवचनस्यैवामो योऽमादेशस्तस्यैव लुब्विकल्पमिच्छन्ति, न स्यादेशस्य, तन्मते-अतिजरसं कुलं तिष्टतीत्येव भवति । केचिज्जरसः स्यमोर्लोपं नेच्छन्ति, तन्मते-अतिजरसं तिष्ठति पश्य वेत्येव भवति ॥60॥

न्या०स०—जरस इत्यादि । *अन्ये त्विति*-उत्पलादयः ॥60॥

नामिनो लुग् वा ॥ 1. 4. 61. ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिनोः स्यमोर्लुग् वा भवति । हे वारे !, हे त्रपो !, हे कर्तः !, हे कुल !, प्रियतिसृ कुलं तिष्ठति पश्य वा; पक्षे लुबेव हे वारि !, हे त्रपु !, हे कर्तृ !, प्रियत्रि ! कुलं तिष्ठति पश्य वा । अमो लुकं नेच्छन्त्येके, तन्मते प्रियत्रि कुलं पश्येत्येव भवति । नामिन इति किम् ? यद्, तद्, प्रियचतुष्कुलम् । चतुर्शब्दस्यापि लुग्विकल्पमिच्छन्त्यन्ये-प्रियचतसृ कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । लुपैव सिद्धे लुग्वचनं स्थानिवद्भावार्थम् ॥61॥

न्या०स०—नामिन इत्यादि । *प्रियतिसृ कुलमिति*-``ऋदुशनस्-पुरु०'' (1. 4. 84.) इत्यत्र घुटः सेर्ग्रहणादत्र क्लीबत्वेन घुट्त्वाभावे सेः स्थानित्वेऽपि न डाः । *नेच्छन्त्येके* देवनन्द्यादयः । *इच्छन्त्यन्ये* उत्पलादयः ॥61॥

वाऽन्यतः पुमांष्टादौ स्वरे ॥ 1. 4. 62. ॥

यो नाम्यन्तः शब्दोऽन्यतो विशेष्यवशान्नपुंसकः स टादौ स्वरे परे पुंवद् वा भवति, यथा पुंसि नागम-ह्रस्वौ न भवतस्तथाऽत्रापि न भवत इत्यर्थः । ग्रामण्या ग्रामणिना कुलेन, ग्रामण्ये ग्रामणिने कुलाय, ग्रामण्यः ग्रामणिनः कुलात्, ग्रामण्यः ग्रामणिनः कुलस्य, ग्रामण्योः ग्रामणिनोः कुलयोः, ग्रामण्याम्, ग्रामणीनां कुलानाम्, ग्रामण्याम् ग्रामणिनि कुले;

एवम्–कर्त्रा, कर्तृणा, कर्त्रे कर्तृणे, कर्तुः कर्तृणः, कर्त्रोः कर्तृणोः, कर्तॄणाम् 2, कर्तरि कर्तृणि; शुचये शुचिने, शुचेः शुचिनः, शुच्योः शुचिनोः, शुचौ शुचिनि; मृदवे मृदुने, मृदोः मृदुनः, मृद्वोः मृदुनोः, मृदौ मृदुनि; चित्रगवे चित्रगुणे, अतिराया अतिरिणा; अतिनावा अतिनुना; अहंयवे अहंयुने; कुमारीवाचरतीति क्विप्, कुमारीवेच्छतीति क्यन्, क्विप्, कुमार्ये कुमारिणे कुलाय । अन्यत इति किम् ? त्रपुणे, जतुने, पीलुने फलाय । टादाविति किम् ? ग्रामणिनी शुचिनी कुले । स्वर इति किम् ? ग्रामणिभ्यां कुलाभ्याम्, ग्रामणिभिः कुलैः । नामिनं इत्येव ? कीलालपेन कुलेन । नपुंसक इत्येव ? कल्याण्यै ब्राह्मण्यै ॥62॥

न्या०स०–वाऽन्यत इत्यादि । *पुंवद्?* वेति-परार्थे प्रयुज्यमानः शब्दो वतिमन्तरेणापि वत्यर्थं गमयति, यथाऽग्निर्माणवक इति, तथा अत्रापि परार्थो नपुंसकस्तत्र हि प्रयुक्तः पुमानिति । *ग्रामणिने*ति–ननु पूर्वं ``क्विब्वृत्तेरसुधियस्तौ'' (2. 1. 58.) इत्यादिना यत्वं कस्मान्न भवति ? सत्यम्-``इदुतोऽस्त्रेरीदूत्'' (1. 4. 21.) इत्यत्र स्त्रीवर्जनेन 'परमपि इत्युव्यत्वादि इदुदाश्रितेन बाध्यते' इति भणनात्, यद्वा ❁ आदेशादागम० ❁ इति न्यायाद् यत्वं बाधित्वा नोऽन्तः । *ग्रामण्ये*ति–ग्रामणीशब्दस्यानेन पूंवत्त्वे ह्रस्वनागमाभावः । *कर्तॄणामि*ति– द्वयोरपि ``ह्रस्वापश्च'' (1. 4. 32.) इति नाम्, न त्वपुंस्त्वपक्षे ``अनाम्स्वरे०'' (1. 4. 64.) इत्यनेन नोऽन्तः, तत्रामो वर्जितत्वात्, द्वितीयप्रयोगो रूपनिर्णयार्थो दर्शितः । न तु तस्य किञ्चिदत्रान्यत् फलम् । *चित्रगवे* इति-अत्र चित्रा गावो यस्येति ``क्लीबे'' (2. 4. 97.) ह्रस्वत्वम्, तत् पुंस्त्वे सति निवर्तते, ततश्च ``गोश्चान्ते ह्रस्वः०'' (2. 4. 96.) ह्रस्वः, ततो ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इत्योत्वम् । *कुमार्यै* इति-अत्र यद्यपि कुमारीशब्दः पुंवत् तथापि नित्यस्त्रीविषयत्वादी-कारस्य ``स्त्रीदूतः'' (2. 4. 29.) इति दैः ॥62॥

दध्यस्थि-सक्थ्यक्ष्णोऽन्तस्याऽन् ॥ 1. 4. 63. ॥

'दधि, अस्थि, सक्थि, अक्षि' इत्येतेषां नपुंसकानां नाम्यन्तानामन्तस्य तत्सम्बन्धि-न्यन्यसम्बन्धिनि वा टादौ स्वरे परे 'अन्' इत्ययमादेशो भवति । दध्ना, दध्ने, दध्नि,

दधनि; अस्थ्ना, अस्थ्ने, अस्थिन, अस्थनि; सक्थ्ना, सक्थ्ने, सक्थिन, सक्थनि; अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्षिण, अक्षणि; परमदध्ना, परमास्थ्ना, परमसक्थ्ना, परमाक्ष्णा, अतिदध्ना, अत्यस्थ्ना, अतिसक्थ्ना, अत्यक्ष्णा, प्रियदध्ना, समासान्तविधेरनित्यत्वात् कच् न भवति; प्रियास्थ्ना शुना, दृढसक्थ्ना शकटेन, स्थूलाक्ष्णा इक्षुणा, अस्वाङ्गत्वात् ``सक्थ्यक्ष्णः स्वाङ्गे'' (7. 3. 126.) इति समासान्तो न भवति ।

अतिदध्न्या स्त्रिया, प्रियास्थ्न्यै शुन्यै, अत्रानादेशे सति नान्तत्वाद् ङीः । टादावित्येव ? दधिनी, दधीनि । स्वर इत्येव ? दधिभ्याम्, दधिभिः । नपुंसकस्येत्येव ? दधातीत्येवंशीलो दधिः, दधिनामा वा, दधिना, दधये । दध्ना, अतिदध्ना कुलेनेत्यादौ विशेषविधानात् परमपि नागममनादेशो बाधते ॥63॥

*न्या०स०—दध्यस्थी*त्यादि । *कच् न भवती*ति—``दध्युरः—सर्पिः'' (7. 3. 172.) इत्यनेन प्राप्तः, ``अक्ष्णोऽप्राण्यङ्गे'' (7. 3. 85.) इत्यपि अनित्यत्वान्न । *अतिदध्न्या स्त्रिये*ति—यदाऽत्र ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इत्यनेन ङीस्तदा तद्व्यवधानादनेना-देशाभावे `अतिदध्या' इत्येव भवति, यदा तु दध्यतिक्रान्तं ययेति बहुव्रीहिस्तदा ``दध्युरः-सर्पि०'' (7. 3. 172.) इत्यनेन कचा भाव्यम् तस्माद् दध्यतिक्रान्तयेति तत्पुरुष एव न्याय्यः ।

ननु ``दध्यस्थि-सक्थ्यक्ष्णोऽन्'' इति क्रियताम्, किमन्तग्रहणेन ? सत्यम्-अन्त-ग्रहणाभावे प्रत्ययत्वात् पदान्तत्वे सति `दध्न्या' इत्यत्र ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 72.) इति धस्य दत्वं प्राप्नोति, न च वाच्यम्-व्यपदेशः स्थानी भविष्यति, (आदेशः स्थानीव भविष्यतीति) असद्विधित्वाद् नकारान्तं न स्त्रीत्वे वर्तते, किन्तु `दधि' इति `अतिदध्न्या' इत्यत्र ङीप्रत्ययोऽपि `न स्याद्, इत्येव-मर्थमन्तग्रहणम् ॥63॥

अनाम्स्वरे नोऽन्तः ॥ 1. 4. 64. ॥

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य संबन्धिन्याम्वर्जिते स्यादौ स्वरे परे नोऽन्तो भवति । वारिणी 2, वारिणा, वारिणे, वारिणः 2, वारिणोः 2, वारिणि; त्रपुणी 2, त्रपुणा, त्रपुणे, त्रपुणः 2, त्रपुणोः 2, त्रपुणि; कर्तृणी, कुले 2, कर्तृणा, कर्तृणे, कर्तृणः 2, कर्तृणोः 2, कंर्तृणि; प्रियगुरुणे, प्रियतिसृणः 2, अत्र परत्वात् तिस्त्रादेशे सति नोऽन्तः । अनामिति किम् ? वारीणाम्, त्रपूणाम्, कर्तॄणाम्, एषु नागमाभावे नामि सति ``दीर्घो नाम्यतिसृ०'' (1. 4. 147.) इत्यादिना दीर्घः सिद्धः । स्वरे इति किम् ? हे वारे !, हे त्रपो ! । स्यादावित्येव ? तौम्बुरवं चूर्णम् । नामिन इत्येव ? काण्डे, कुण्डे । नपुंसकस्येत्येव ? मुनी, साधू । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह

न भवति-प्रियवारये पुंसे, प्रियमधो: पुंस: ।।64।।

न्या०स०—*अनामि*त्यादि-अनाम् चासौ स्वरश्चानाम्स्वर: । *अथाम्*त्रर्जनात् स्वरे लब्धे स्वरग्रहणं टादावित्यधिकारनिवृत्त्यर्थम् । अन्तग्रहणं विना 'प्रियतिसृणि' इत्यादौ नस्य प्रत्ययत्वं स्यात्, तथा च प्रियतिसृणीत्यादौ ❈ निमित्ताभावे० ❈ इति तिस्रादेशो निवर्तेत, तथा ❈ प्रत्ययाप्रत्ययो:० ❈ इति न्यायेनास्य नकारस्य प्रत्ययस्यापि संभवे वनानीत्यादावेव दीर्घ: स्यात्, न तु राजानमित्यादौ । *प्रियतिसृण* इति-यदि पूर्वं नागम: स्यात् तदानीं किं विनश्येत् ? यत: ❈ स्वाङ्गमव्यवधायकम् ❈ इति कृत्वा कृतेऽपि नागमे तिस्रादेशो भविष्यति, तत् कथं परत्वादित्युक्तम् ? अत्रोच्यते—यस्मान्नागम: समानीतस्तस्य यदि किमपि प्राप्नोति, तदानीमयं न्याय उपतिष्ठते, अत्र तु 'प्रियत्रिन्' इत्यस्य न किमपि प्राप्नोति, अपि तर्हि अवयवस्य तिस्रादेश:, ततश्चावयवस्यावयवेन व्यवधानम्, न तु अवयवेनाव्यविन:, यथा-देवदत्तस्य श्मश्रु न दृष्टं हस्तेन व्यवहितत्वात्, नहि कोऽपीत्यं वदति-यदुत, *देवदत्तो* न दृष्ट:, हस्तेन व्यवहितत्वात् ।

तौम्बुरवं चूर्णं तुम्बुरुण: विकार: ``प्राण्योषधि०'' (6. 2. 31.) इत्यादिना अण्, तस्य लुप्, तस्य विकार:, विकारे पुनरण्, तुम्बुरुणो वृक्षस्य विकारश्चूर्णम्, एकस्मिन्नणि वा ``अस्वयम्भुवोऽव्'' (7. 4. 70.) इति, परत्वाद् भविष्यतीति न वाच्यम्, पु-स्त्रीलिङ्गयोरेव सावकाशो नपुंसके तु विशेषविधानादिदं प्राप्नोति । *नामिन इत्येवे*ति-क्लीबे नाम्यन्तस्य सत्त्वे स्यादौ विज्ञानात् कुलयोरित्यत्रेत्वे कृते न नागम:, द्वयोरित्यत्रापि ❈ आदेशा-दागम: ❈ इति न्यायेन नागम: प्राप्नोति, न-परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च ``आ द्वेर:'' (2. 1. 41.) इत्यत्वम्, पश्चाद्, एत्वे कृते ❈ सकृद्० ❈ इति न्याय: ।।64।।

स्वराच्छौ ।। 1. 4. 65. ।।

जस्-शसादेशे शौ परे स्वरान्तान्नपुंसकात् परो नोऽन्तो भवति । कुण्डानि, वनानि, प्रियवृक्षाणि कुलानि, वारीणि, त्रपूणि, कर्तॄणि । स्वरादिति किम् ? चत्वारि, अहानि, विमलदिवि, सुगणि । अत इत्येव सिद्धे स्वरग्रहणमुत्तरार्थम् ।।65।।

न्या०स०—*स्वराच्छावि*ति । *अत इत्येवे*ति-ननु इवर्णादे: ``अनाम्स्वरे नोऽन्त:'' (1. 4. 64) इति शौ नागम: सिद्ध एव, आकारान्तस्य तु अन्त्यस्य नपुंसके ह्रस्व-विधानात् स्थितिरेव नास्तीति 'अत:' इत्येव युज्यते, किं स्वरग्रहणेन ? अत आह—*उत्तरार्थमि*ति ।।65।।

धुटां प्राक् ॥ 1. 4. 66. ॥

स्वरात् परा या धुट्जातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य धुड्भ्य एव प्राक् शो परे नोऽन्तो भवति। पयांसि तिष्ठन्ति, पयांसि पश्य, उदश्विन्ति, सर्पींषि, धनूंषि, अतिजरांसि कुलानि। धुटामिति बहुवचनं जातिपरिग्रहार्थम्, तेन-काष्ठतङ्क्षि, गोरङ्क्षि कुलानीति सिद्धम्। स्वरादित्येव ? गोमन्ति कुलानि। शावित्येव ? उदश्विता ॥66॥

न्या०स०—*धुटामि*त्यादि-प्रागित्यनेन सह सम्बन्धाभावाद् धुटामित्यत्र ``प्रभृत्यन्यार्थ०'' (2. 2. 57.) इति न पञ्चमी। *गोमन्ति* ``ऋदुदितः'' (1. 4. 70.) इत्यनेन परत्वान्नागमेऽनेन नोऽन्तो न भवति ॥66॥

र्लो वा ॥1. 4. 67. ॥

रेफ-लकाराभ्यां परा या धुडजातिस्तदन्तस्य नपुंसकस्य धुटः प्राग् नोऽन्तो वा भवति, शौ परे। बहूर्ञ्जि, बहूर्जि; सूर्ञ्जि, सूर्जि; सुवल्ङ्गि, सुवल्गि। र्ल इति किम् ? काष्ठतङ्क्षि, पूर्वेण नित्यमेव। धुटामित्येव ? सुफुल्लि वनानि। शावित्येव ? बहूर्जा कुलेन ॥67॥

घुटि ॥ 1. 4. 68. ॥

अधिकारोऽयम्, निमित्तविशेषोपादानमन्तरेणापादपरिसमाप्तेर्यत् कार्यं वक्ष्यते तद् घुटि वेदितव्यम् ॥68॥

न्या०स०—घुटीति। *अधिकारोऽयमि*ति—`नपुंसकस्य घुटि परतो नोऽन्तो भवति' इति विधिरेव कस्मान्न भवति ? उच्यते-नपुंसकस्य शिमन्तरेणान्यस्य घुट्त्वाभावात्, तत्र च ``स्वराच्छौ'' (1. 4. 65.) इत्यादिभिर्नागमस्य विहितत्वात् पारिशेष्यादधिकारोऽयमिति ॥ 68॥

अचः ॥ 1. 4. 69. ॥

अञ्चतेर्धातोर्धुडन्तस्य तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा घुटि परे धुटः प्राग् नोऽन्तो भवति। प्राङ्, अतिप्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, प्राञ्चम्, प्राञ्चि कुलानि। घुटीत्येव ? प्राचः पश्य ॥69॥

ऋदुदितः ॥ 1. 4. 70.॥

ऋदित उदितश्च धुडन्तस्य तत्सम्बन्धिन्यसम्बन्धिनि वा घुटि परे धुटः प्राक् स्वरात् परो नोऽन्तो भवति । (ऋदितः–) कुर्वन्, अधीयन्, महान्, सुदन् बालः । उदितः– चक्रिवान्, विद्वान्, गोमान्, श्रेयान् । घुटीत्येव ? गोमाता । पृथग्योगो भ्वादिव्युदासार्थः– सम्राट् ॥70॥

न्या०स०–ऋदुदीत्यादि । *पृथग्योगो भ्वादिव्युदासार्थ* इति-अयमभिप्रायः–``उदितः स्वरान्नोऽन्तः'' (4. 4. 98.) इत्यत्र धात्वधिकाराद् भ्वादेरुदितः ``उदितः स्वरान्नोऽन्तः'' (4. 4. 98.) इत्यनेनैव सिद्धत्वादत्र उदितः पृथगारम्भादुदितोऽभ्वादेरेव तत्साहचर्यादृदितोऽपि अभ्वादेरेवेति नियमात् 'सम्राट्' इत्यादौ न भवति ॥70॥

युज्रोऽसमासे ॥ 1. 4. 71. ॥

``युजूं पी योगे'' इत्यस्यासमासे धुडन्तस्य धुटः प्राग् घुटि परे नोऽन्तो भवति । युङ्, युञ्जौ, युञ्जः; युञ्जम्, युञ्जि कुलानि, ईषदपरिसमाप्तो युङ्–बहुयुङ्, बहुयुञ्जौ, बहुयुञ्जः । असमास इति किम् ? अश्वयुक्, अश्व-युजौ, अश्वयुजः । ऋदिन्निर्देशः किम् ? ``युजिंच् समाधौ'' इत्यस्य मा भूत्-युजमापन्ना मुनयः, समाधिं प्राप्ता इत्यर्थः । घुटीत्येव ? युजः पश्य, युंजी कुले ॥71॥

न्या०स०–युज्र इत्यादि । *असमास* इति-स्याद्याक्षिप्तस्य नाम्नो युज्र इति विशेषणात् तत्र च तदन्तविधेर्भावात् समासेऽपि प्राप्तिरिति असमासग्रहणम्, इदमेव ज्ञापयति-अत्र प्रकरणे तदन्तविधिरस्तीति ॥71॥

अनडुहः सौ ॥ 1. 4. 72. ॥

अनडुह् शब्दस्य धुडन्तस्य तत्सम्बन्धिन्यसंबन्धिनि वा सौ परे धुटः प्राग् नोऽन्तो भवति । अनड्वान्, प्रियानड्वान्, हे अनड्वन् !, हे प्रियानड्वन् ! । साविति किम् ? अनड्वाहौ ॥72॥

न्या०स०–अनडुह इत्यादि । सत्यपि ❊ नामग्रहणे ❊ इति न्याये 'अनडुही' इत्यत्र धुडन्तत्वाभावान्न भवति । ननु 'अनड्वान' इत्यत्र ``स्रंस्-ध्वंस्-क्वस्व०'' (2. 1. 68.) इत्यादिना दकारः कथं न भवति ? सत्यम्-प्राप्नोति परं विधानसामर्थ्यान्न भवति ॥72॥

पुंसोः पुमन्स् ॥ 1. 4. 73. ॥

'पुंसु' इत्येतस्योदितस्तत्संबन्धिन्यसंबन्धिनि वा घुटि परे 'पुमन्स' इत्ययमादेशो भवति । पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, पुमांसम्, ईषदूनः पुमान्–बहुपुमान्, प्रियपुमान्, प्रियपुमांसि कुलानि, हे पुमन् ! । घुटीत्येव ? पुंसः पश्य, बहुपुंसी कुले । पुंसोरुदित्त्वात् 'प्रियपुंसितरा, प्रियपुंस्तरा, प्रियपुंसीतरा' इत्यादौ ङीर्ह्रस्वपुंवद्विकल्पश्च भवति ॥73॥

न्या०स०–पुंसोरित्यादि । *पुंसोरुवित्त्वादिति*–ननु ''पातेर्डुम्सुः'' (उणा० 1002) इति उदनुबन्धः कृतोऽस्ति, तेनापि प्रियपुंसीतरेत्यादि रूपत्रयं सेत्स्यति, किमत्रोदनुबन्धेन ? उच्यते–यदा अव्युत्पत्त्याश्रयणं तदाऽत्र सूत्रे कृतस्योकारस्य फलम्, व्युत्पत्तौ तु फलमौणादिकस्य, यथा–भवतुशब्दो ''भातेर्डवतुः'' (उणा० 886) इति व्युत्पादितोऽपि सर्वादौ उदनुबन्धः पठितोऽव्युत्पत्तिपक्षार्थम् । *प्रियपुमानिति*–बहुत्वे वाक्यम्, एकत्वे तु ''पुमनडुन्नौ०'' (7. 3. 173.) इति कच् स्यात् । ङीर्ह्रस्वपुंवद्विकल्पेति-ङीर्नित्यं ह्रस्व-पुंवत्त्वयोश्च विकल्पः ॥73॥

ओत औः ॥ 1. 4. 74. ॥

ओकारस्य ओत एव विहिते घुटि परे औकार आदेशो भवति । गौः, गावौ, गावः; द्यौः, द्यावौ, द्यावः; लुनातीति विच्-लौः, शोभनो गौः- सुगौः, एवम्-अतिगौः; प्रियद्यावौ, अतिद्यावौ, हे गौः !, हे द्यौः !, किंगौः, अगौः । ओत इति किम्? चित्रा गौर्यस्य–चित्रगुः, चित्रगू । विहितविशेषणादिह न भवति-हे चित्रगवः ! । घुटीत्येव ? गवा, द्यवा ॥74॥

न्या०स०–ओत औरिति । *चित्रगुरिति*-अत्र परत्वात् पूर्वं ह्रस्वत्वे कृते पश्चाद् घुटि ओकाराभावाद् 'ओतः' इति वचनादौकारौ न भवति, वर्णविधित्वाच्च स्थानिवद्भावो नास्ति । अथ 'हे चित्रगो !' इत्यत्र ओकारस्य विद्यमानत्वाद् ❁ उभयोः स्थानिनोः स्थाने ❁ इति न्यायेन सेर्व्यपदेशे सति प्राप्नोति कस्मान्न भवति ? उच्यते-यदा उकार-व्यपदेशस्तदा सेरभावाद् यदा तु सेर्व्यपदेशस्तदा लाक्षणिकत्वान्न भवति ॥74॥

आ अम्-शसोऽता ॥ 1. 4. 75. ॥

ओकारस्याम्-शसोरकारेण सह आकारो भवति । गाम्, सुगाम्, गाः, सुगाः पश्य; द्याम्, अतिद्याम्, द्याः, सुद्याः पश्य । स्यादावित्येव ? अचिनवम् ॥75॥

न्या०स०—आ अमित्यादि । नन्वत्र अतेति किमर्थम् ? यत एतद्विनाऽपि 'गाः' इत्यादि प्रयोगजातं समानानां० (1. 2. 1.) इति दीर्घे सिद्ध्यतीति, उच्यते—अतेति पदं विना पुंलिङ्गे ''शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इति स्त्रीलिङ्गे ''सुगातोऽनापः'' (2. 1. 107.) इति प्रवर्तेयाताम्, ततश्च 'गान्, गः' इत्याद्यनिष्टं स्यात्, स्थिते तु ''शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इत्यनेनैव दीर्घस्य संनियोगे नकारोऽभाणि । *अचिनयमि*ति-अत्र आदौ ''समानादमोऽतः'' (1. 4. 46.) इत्यमोऽकारस्यापि लुग् न भवति, तत्रापि स्याद्यधिकारात् ।।75।।

पथिन्-मथिनृभुक्षः सौ ।। 1. 4. 76. ।।

'पथिन्, मथिन् ऋभुक्षिन्' इत्येतेषां नकारान्तानामन्तस्य सौ परे आकारो भवति । पन्थाः, हे पन्थाः !; मन्थाः, हे मन्थाः !; ऋभुक्षाः, हे ऋभुक्षाः !; अमन्थाः, सुमन्थाः, बहुऋभुक्षाः । साविति किम् ? पन्थानौ । कथं हे सुपथिन् ! हे सुपथि कुल ! हे सुमथिन् ! हे सुमथि कुल !, अत्र नित्यत्वान्नपुंसकलक्षणायाः सेर्लुपि सेरभावान्न भवति । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति—पन्थानमिच्छति क्यनि नलोपे क्विपि च—पथीः, मथीः, ऋभुक्षीः ।।76।।

*न्या०स०—पथिनि*त्यादि-अत्र घुटीति सम्बन्धात् साविति श्लिष्टनिर्देशेन सुप् न गृह्यते । *पन्था* इति-अत्र सानुनासिकस्याप्यादेशो भवन् ''लि लौ'' (1. 3. 65.) इत्यत्र द्विवचनेनैव ज्ञापितत्वाद् निरनुनासिक एव भवति । *पथीरि*ति—पन्थानमिच्छति क्यनि नलोपः, स च ''दीर्घश्च्वियङ्०'' (4. 3. 108.) इति परे कार्येऽसन्न भवति, यतः ''रात् सः'' (2. 1. 90.) इत्यतः प्रागेव यत् सूत्रं तदेवासद् भवति, इदं तु ''रात् सः'' (2. 1. 90.) इत्यतः परमिति नासत्, ततः पथीयतीति क्विपि अलोपे यलोपे चेदं रूपम् । नन्वनेनाऽऽत्वरूपे स्यादिविधौ विधातव्ये नलोपस्यासिद्धत्वान्नान्तत्वमस्ति, न च वाच्यम् ''अतः'' (4. 3. 82.) इत्यल्लुकः ''स्वरस्य परे०'' (7. 4. 110.) इति स्थानिवद्भावेन नान्तत्वानुपपत्तिरिति, यतः प्रत्यासत्तेर्यन्निमित्तो लुक् विधिरपि यदि तन्निमित्तो भवतीति व्याख्यानात्, अत्र तु अस्य लुक् क्विपि, आत्वं तु सौ प्रत्यये प्राप्नोतीति कृत्वात्र नान्तत्वमस्त्येवेति प्राप्नोत्यात्वम्,

सत्यम्-नान्तेति व्यावृत्तिबलादेव न भवति, अन्यथा यत्र कुत्रापि नलोपस्तत्र सर्वत्राप्यमीषां पथ्यादीनां ध्वनीनामनेनाऽऽत्वलक्षणे स्यादिविधी कर्तव्ये ''ण-षमसत्परे०'' (2. 1. 60.) इति न्यायेन नलोपस्यासिद्धत्वे नान्तत्वसद्भावादनेनात्वं भवेदेवेत्यत्र सूत्रे नान्तनिर्देशोऽनर्थकः

स्यात्, तस्माद् यत्र साक्षान्नन्तत्वममीषां भवति तत्रेदं प्रवर्ततेऽन्यत्र तु व्यावृत्तिरिति सर्वं समीचीनम् ।

तर्हि ``दीर्घङ्याब्०'' (1. 4. 45.) इति सूत्रेण सेर्लुक् कस्मान्न भवति ? यतोऽयमपि स्यादिविधिः, स्यादिविधौ च नलोपोऽसन् भवतीति, सत्यम्-``दीर्घङ्याब्०'' (1. 4. 45.) इत्यत्र सावधारणं व्याख्येयम् व्यञ्जनान्तादेव यदि सिर्भवतीति, विहितविशेषणाद् वा यत्र एभ्यः परः सिर्विहितो भवति तत्र लुग् भवति, अत्र त्वीकारान्ताद् विहितो न व्यञ्जनान्तादिति । तर्हि 'या सा' इत्येवमादिषु सेर्लुक् न प्राप्नोति, सत्यम्-यत्रेतेषां मध्यादेकस्माद् विहितो भवति, कार्यान्तरेषु च कृदेषु पश्चादेतेषामेव मध्येऽन्यतमस्मात् परो भवति, तत्रापि भवति, तेनानयोः प्रयोगयोर्व्यञ्जनान्तात् परो विहितः कार्यान्तरेषु च सत्सु विद्यते आबन्तादिति सेर्लुग् भवत्येव । 'यः सः' इत्यनयोस्तु व्यञ्जनान्ताद् विहितोऽस्ति, परम् ``आद्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यादिकार्येषु कृतेषु सत्सु पश्चादमीषां मध्यादेकस्मादपि परो नास्तीति न सेर्लुक् । *बहुऋभुक्षा* इति– ``ऋ-लृति ह्रस्वो वा'' (1. 2. 2.) इति ह्रस्वः, स्त्रीत्वाभावादितः कच् न भवति । *हे सुपथिन् !, हे सुपथि !* इति–``क्लीबे वा'' (2. 1. 93.) इत्यनेन वा नस्य लोपः ।।76।।

एः ।। 1. 4. 77. ।।

पथ्यादीनां नकारान्तानामिकारस्य घुटि परे आकारो भवति । पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ; मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ; ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ; सुपन्थानि वनानि ``पूजास्वतेः प्राक् टात् (7. 3. 72.) इति समासान्त-प्रतिषेधः, बहुमन्थानि कुलानि; अनृभुक्षाणि बलानि, सुपन्थानौ, परम-मन्थानौ । नकारान्तनिर्देशादेरभावाच्चेह न भवति-पन्थानमिच्छति क्यन् क्विप्-पथ्यौ, पथ्यः, पथ्यम् । घुटीत्येव ? सुपथी वने, पथिभ्याम्; सुमथी कुले, मथिभ्याम् ।।77।।

न्या०स०–एरिति । पथ्यादीनामेकारस्यासम्भवाद् 'एः' इति इकारात् षष्ठी-त्याह– *इकारस्येति* ।।77।।

थो न्थ् ।। 1. 4. 78. ।।

'पथिन्, मथिन्' इत्येतयोर्नकारान्तयोस्थकारस्य स्थाने घुटि परे 'न्थ्' इत्ययमादेशो भवति । तथैवोदाहृतम् । घुटीत्येव ? सुपथी, बहुपथी कुले, पथः पश्य ।।78।।

*न्या०स०—थो स्थि*ति-अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य प्राप्तौ 'थः' इति स्थानिविशेषार्थ-मृभुक्षिन्निवृत्त्यर्थं च ।।78।।

इन् डी-स्वरे लुक् ।। 1. 4. 79. ।।

पथ्यादीनां नकारान्तानां डीप्रत्यये अघुट्स्वरादौ परे 'इन्' अवयवो लुक् भवति । सुपथी स्त्री कुले वा, पथः, पथा, पथे, पथः 2, पथोः 2, पथाम्, पथि; एवम्-सुमथी स्त्री कुले वा, मथः, मथा; अनृभुक्षी सेना कुले वा ऋभुक्षः, ऋभुक्षा । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।।79।।

*न्या०स०—इन् डीत्यादि । अघुट्स्वरादावि*ति—डीसाहचर्याद् अघुटीति विशेषणं ज्ञेयम्, तर्हि स्यादिमन्तरेणापि प्राप्नोतीति न वाच्यम्, स्याद्यधिकाराश्रयणात्, डीग्रहणस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, निमित्तविशेषानुपादाने घुटीत्यधिकारस्य निर्णीतत्वात् 'स्वरे' इति निमित्तविशेषोपादानाद् घुटि च पथ्यादीनामिनो विशेषविधिविषयत्वादघुट्स्वरे इत्यवसीयते ।

सुपथी स्त्री कुले वेति-व्युत्पत्तिपक्षे सुभ्र्वादित्वात्, उणादीनामव्युत्पन्नानि नामानीति पक्षाश्रयणाद् इन्नन्तत्वाभावादिनः कच् न भवति, समासान्तविधेरनित्यत्वाद् ''ऋक्पूः०'' (7. 3. 76.) इत्यपि न, नान्तत्वात् ''स्त्रियां नृतो०'' (2. 4. 1.) इति डीः ।।79।।

वोशनसो नश्चामन्त्र्ये सौ ।। 1. 4. 80. ।।

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्योशनस्-शब्दस्य सौ परे नकारो लुक् चान्तादेशौ वा भवतः । हे उशनन् !, हे उशन !, पक्षे हे उशनः ! । आमन्त्र्य इति किम् ? उशना । साविति किम् ? हे उशनसौ ! ।।80।।

न्या०स०—वोशनस इत्यादि । यदा ❊ सर्वविधिभ्यो लोपः ❊ इति न्याय आश्रीयते तदा सेः स्थानिवद्भावेन कार्यम् ।।80।।

उतोऽनडुच्चतुरो वः ।। 1. 4. 81. ।।

'अनडुह्, चतुर्' इत्येतयोरामन्त्र्येऽर्थे वर्तमानयोरुकारस्य सौ परे 'व' इति सस्वरवकारादेशो भवति । हे अनड्वन् !, हे प्रियानड्वन् !, हे अतिचत्वः !, हे प्रियचत्वः ! । आमन्त्र्य इत्येव ? अनड्वान्, प्रियचत्वाः। सावित्येव ? हे अनड्वाहो !, हे प्रियचत्वारः ।।81।।

न्या०स०—उतोऽनडुच्चेत्यादि-उत्तरत्र शेषग्रहणादामन्त्र्यसिरेवानुवर्तते, न तु विशेषनिमित्तानुपादनाद् घुटीति । सत्यपि ❉ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्य० ❉ इति 'हे अनडुहि !' इत्यत्र गौरादिनिपातनाद् वत्वाभावः, एवमुत्तरत्रापि । चतुःशब्दस्यार्थः प्राधान्येन एकामन्त्रणासम्भवे समासे उपसर्जनीभूत एवोदाहियते ।।81।।

वाः शेषे ।। 1. 4. 82. ।।

आमन्त्र्यार्थविहितात् सेरन्यो घुट् इह शेषः, तस्मिन् परे 'अनडुह्, चतुर्' इत्येतयोरुकारस्य 'वा' इत्याकारान्तो वकार आदेशो भवति । अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः, अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, प्रियानड्वांहि कुलानि; प्रियचत्वाः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः, प्रियचत्वारम्, प्रियचत्वारौ, चत्वारि, चत्वारः । शेष इति किम् ? हे प्रियानड्वन्? !, हे प्रियचत्वः ! । घुटीत्येव ? अनडुहः पश्य, चतुरः पश्य, प्रियानडुही कुले, प्रियचतुरी कुले । इह शेषे घुटि वादेशविधानात् पूर्वत्रामन्त्र्ये साविति संबध्यते ।।82।।

न्या०स०—वाः शेष इति । *इह शेष* इति-अत्र सूत्रे शेषस्य घुट आघ्रातत्वाद् एतत्सूत्रमुक्तः प्राक्तनसूत्रविषय इति भावः ।।82।।

सख्युरितोऽशावैत् ।। 1. 4. 83. ।।

सखिशब्दस्येकारान्तस्य तत्सम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा शिवर्जिते शेषे घुटि परे ऐकारोऽन्तादेशो भवति । सखायौ, सखायः, सखायम्, सखायौ, हे सखायौ !, हे सखायः !, सुसखायौ, प्रियसखायः । अशाविति किम् ? अतिसखीनि, प्रियसखीनि कुलानि तिष्ठन्ति, पश्य वा । इत इति किम् ? इमे सख्यौ, सखीयतीति क्यनि क्विपि-सख्यौ, सख्यः । घुटीत्येव ? सखीन्, सख्या । शेष इत्येव ? हे सखे ! । इदमेवेद्ग्रहणं ज्ञापयति-'❉ नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ❉ एकदेश विकृतमनन्यवद्❉' इति च ।।83।।

न्या०स०—सख्युरित्यादि । ननु प्रक्रियालाघवार्थं ''सख्युरितोऽशावाय्'' इति क्रियताम्. किमेत्करणेन ? न—''अनेकवर्णः'' (7. 4. 107.) इति सकलस्यापि स्यात् । न च ❉ निर्दिश्यमानाना० ❉ इति इत एवायमिति वाच्यम्, यतो विभक्तिसामान्येन सखि-शब्दस्य विशेष्यत्वेन इकारस्य विशेषणत्वेन च निर्दिश्यमानत्वाभावात् ।

*अशावि*ति-अथ शौ सति ❉ आदेशादागमः ❉ इति न्यायाद् ऐत्वात् प्रथममेव नागमेन भाव्यम्, ततस्तेन व्यवधानादैकारो न भविष्यतीति, न च द्वयोरप्यन्यत्र सावकाशत्वादैकारः

स्यादिति वाच्यम्, कृतेऽप्यैकारे ``क्लीबे'' (2. 4. 97.) इति ह्रस्वत्वे ततो नागमे दीर्घत्वे च न कश्चिद् दोषः, नैवम्-❁ असिद्धं बहिरङ्गम् ❁ इति धुट्निमित्तस्यैकारस्य बहिरङ्गत्वाद् ह्रस्वत्वे कर्तव्येऽसिद्धत्वात् । ननु भवत्येवं तथापि कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् पूर्वं नागम इति घुट्व्यवधायको भविष्यति, नैवम्-कृतेऽपि नागमे प्रकृतिभक्तत्वेनाव्यवधायकत्वाद् ऐकारोऽपि नित्य इति द्वयोर्नित्ययोः परत्वादैकार एव स्यादिति शिप्रतिषेधः *अतिसखीनि* पूजितः सखा येषु कुलेषु, यद्वा सखिशब्दो नपुंसकोऽपि लक्ष्येषु दृश्यते ।।83।।

ऋदुशनस्-पुरुदंशोऽनेहसश्च सेर्डाः ।। 1. 4. 84. ।।

ऋकारान्ताद् 'उशनस्, पुरुदंशस्, अनेहस्' इत्येतेभ्यः सख्युरितश्च परस्य शेषस्य सेः स्थाने 'डा' इत्ययमादेशो भवति । पिता, अतिपिता, कर्ता, उशना, पुरुदंशा, अनेहा, सखा, अत्युशना, प्रियपुरुदंशा, अत्यनेहा, किंसखा, सुसखा, प्रियसखा ।

सख्युरित इत्येव ? इयं सखी, सखीयतेः क्विप्-सखीः । सेरिति किम् ? उशनसौ, सखायौ । शेषस्येत्येव ? हे कर्तः !, हे उशनन् !, हे उशन !, हे उशनः ? हे पुरुदंशः !, हे अनेहः !, हे सखे ! ।।84।।

न्या०स०–ऋदुशनसित्यादि-ऋकारान्तस्य ``अर्डौं च'' (1. 4. 39.) इत्यरि त्रयाणां ``दीर्घङ्याब्०'' (1. 4. 45.) इति सिलोपे ``अभ्वादे०'' (1. 4. 90.) इति दीर्घत्वे ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वे च, सखिशब्दस्य तु ऐत्वे प्राप्ते डाऽऽरम्भः । *हे अनेहः !* इत्यत्र ``न सन्धिः'' (1. 3. 52.) इति सन्धिनिषेधः ।।84।।

नि दीर्घः ।। 1. 4. 85. ।।

शेषे घुटि परे यो नकारस्तस्मिन् परे पूर्वस्य स्वरस्य दीर्घो भवति । राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ; सीमा, सीमानौ, सीमानः, सीमानम्, सीमानौ; सामानि, दामानि, लोमानि, वनानि, धनानि, दधीनि, मधूनि, कर्तॄणि, हर्तॄणि । नोति किम् ? दृषद्, दृषदौ, दृषदः । ❁ स्वरस्य ह्रस्व-दीर्घ-प्लुताः ❁ इति स्त्रुग्घ्नयतेः क्विप्-'स्त्रुक्, स्त्रुग्, स्त्रुग्घ्नौ, स्त्रुग्घ्नः' इत्यत्र घकारस्य दीर्घो न भवति । घुटीत्येव ? चर्मणा, वारिणी, मधुनी । शेष इत्येव ? हे राजन् ! हे सीमन् ! ।।85।।

न्या०स०–नि दीर्घ इति । *राजेति*-स्यादिविधौ कर्तव्ये नलोपस्यासत्त्वात् प्रथमं लुक् न ।

*सुग्घ्नयते: क्विबि*ति-सुचो हन्ति ``अचित्ते टक्'' (5. 1. 83.) अधिकरणे तु ``स्थादिभ्य: क:'' (5. 3. 82.) ``गम-हन०'' (4. 2. 44.) इत्यलुक्, ``हनो ह्नो घ्न:'' (2. 1. 112.) दीर्घविधित्व द् णे: स्थानिवद्भावो न भवति, सौ ``नाम्नो नोऽनह्न:'' (2. 1. 91.) इति नलोप:, तत: ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति घलोप: ।।85।।

न्स्-महतो: ।। 1. 4. 86. ।।

न्सन्तस्य महच्छब्दस्य च संबन्धिन: स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घो भवति । श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांस, श्रेयांसम्, श्रेयांसौ, परमश्रेयान्, अतिश्रेयान्, प्रियश्रेयान्, श्रेयांसि, यशांसि, सर्पींषि, धनूंषि, प्रियपुमांसि कुलानि; महान्, महान्तौ, महान्त:, महान्तम्, महान्तौ, परममहान्, अतिमहान्, प्रिय-महान्, महान्ति ।

महत्साहचर्याच्छुद्धधातो: क्विबन्तस्य न भवति-सुहिंसौ, सुहिंस:, सुकंसौ, सुकंस: । नामधातोस्तु भवत्येव-श्रेयस्यति महत्यतीति क्विपि-श्रेयान्, महान् । घुटीत्येव ? श्रेयस:, महत: पश्य; श्रेयसी महती कुले । शेष इत्येव ? हे श्रेयन् !, हे महन् ! ।।86।।

*न्या०स०–न्स्-महतोरि*ति-अत्र औणादिको ``द्रुहिवृहि०'' (उणा० 884) इत्यनेन कर्तृप्रत्ययान्तो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नो वा महच्छब्दो ग्राह्य:, यस्तु शत्रन्तस्तस्य महन्नित्येव, न त्वनेन दीर्घ:, ❊ लक्षण-प्रतिपदोक्तयो:० ❊ इति न्यायात्, यत: शतृप्रत्ययान्तं महदिति रूपं लाक्षणिक कर्तृप्रत्ययान्तं तु प्रतिपदोक्तम्, एतच्च वत्स-ऋषभावूचतु: । *सर्पींषी*ति-अत्र ``न्स्-महतो:'' (1. 4. 86.) इत्यनेन दीर्घलक्षणे स्यादिविधी विधातव्ये ``ण-षमसत् परे०'' (2. 1. 60.) इत्यनेन षत्वमसत् ।

*महत्साहचर्यादि*ति–`महत्' इति शुद्धो धातु: क्विबन्तो न सम्भवति, तत्साहचर्यादन्यस्यापि शुद्धधातो: क्विबन्तस्य न भवति, नामधातुस्तु महदपि क्विबन्त: संभवति, अतोऽन्यस्यापि नामधातो: क्विबन्तस्य भवति, महच्छब्दस्तावन्नमत्वं न व्यभिचरति, तत्संनियोगनिर्दिष्टस्य न्सन्तस्यापि नामत्वाव्यभिचारिण एव ग्रहणम् । *महती कुले* इति–श्रेयस: पश्य, श्रेयसी कुले इति तु न दर्श्यते, न्सन्तत्वाभावेन द्वयङ्गविकलत्वात् ।।86।।

इन्-हन्-पूषाऽर्यम्ण: शिस्यो: ।। 1. 4. 87. ।।

इनन्तस्य हनादीनां च सम्बन्धिन: स्वरस्य शौ शेषे सौ च परे दीर्घो भवति । दण्डीनि, स्रग्वीणि, वाग्ग्मीनि कुलानि, दण्डी, स्रग्वी, वाग्ग्मी; भ्रूणहानि, बहुवृत्रहाणि, भ्रूणहा,

वृत्रहा; बहुपूषाणि, पूषा; स्वर्यमाणि, अर्यमा। ``नि दीर्घः'' (1. 4. 8.) इति सिद्धे नियमार्थं वचनम्—एषां शि-स्योरेव यथा स्यात्, नान्यत्र-दण्डिनौ, दण्डिनः, दण्डिनम्; वृत्रहणौ, वृत्रहणः, वृत्रहणम्; पूषणौ, पूषणः, पूषणम्; अर्यमणौ, अर्यमणः, अर्यमणम्। शेष इत्येव ? हे दण्डिन्!, हे वृत्रहन्! हे पूषन्! हे अर्यमन्!।

❊ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ❊ इति `प्लीहानौ, प्लीहानः, प्लीहानम्' इत्यत्र नियमो न भवति, `वाग्मिनौ वाग्मिनः' इत्यादौ तु ❊ अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति ❊ इति न्यायाद् भवति ॥87॥

न्या०स०—इन्-हनित्यादि। *भ्रूणहानी*ति हन्निति हन्तेः क्विबन्तस्येदं ग्रहणम्, न च हन्तेः केवलस्य क्विप् दृश्यते इति तदन्तमुदाहरति। *बहुपूषाणी*ति-पूषार्यम्णः स्वप्रधानायां वृत्ती शेरसंभवात् तौ समासे उपसजनभूतावुदाहरति-*एषां शि-स्योरेवे*ति-एषामेव शि-स्योरिति विपरीतनियमस्तु न भवति ``वश्य-ज्याय०'' (6. 1. 3.) इत्यत्र युवेति ``पराणि काना०'' (3. 3. 20.) इत्यत्र तु पराणीति निर्देशात्। *वृत्रहणावि*ति-संज्ञायां ``पूर्वपदस्था०'' (2. 3. 64.) इत्यनेन, असंज्ञायां तु ``कवर्गैकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इति णत्वम्। *तदन्तविधिमि*ति ननु ❊ अनिनस्मन्० ❊ इत्यत्रातोर-निर्देशात् अनर्थकेन तदन्तविधेरप्रयोगात् ❊ अर्थवद्ग्रहण ❊ न्यायात् `क्रियान' इत्यत्रैव दीर्घः प्राप्नोति, न गोमानित्यादौ, सत्यम्-अतुरनर्थकोऽपि तदन्तविधि प्रयोजयति, मत्वादीनामुकारानुबन्धकरणात्, अन्यथा तेषामपि शतृवद् ऋकारमेवानुबन्धं कुर्यात् ॥87॥

अपः ॥ 1. 4. 88. ॥

अपः स्वरस्य शेषे घुटि परे दीर्घो भवति। आपः, शोभना आपो यत्र-स्वाप्, स्वापम्, स्वापौ, स्वापः। `बह्वपाः' इत्यत्र तु समासान्तेन व्यवधानान्न भवति। घुटीत्येव ? अपः पश्य। शेष इत्येव ? हे स्वप्! ॥88॥

नि वा ॥ 1. 4. 89 ॥

अपः स्वरस्य नागमे सति घुटि परे वा दीर्घो भवति। स्वाम्पि, स्वम्पि; अत्याम्पि, अत्यम्पि; समासान्तविधेरनित्यत्वात् बह्वाम्पि, बह्वम्पि ॥89॥

अभ्वादेरत्वसः सौ ॥ 1. 4. 90. ॥

अत्वन्तस्यासन्तस्य च भ्वादिवर्जितस्य संबन्धिनः स्वरस्य शेषे सौ परे दीर्घो भवति । अतु-भवान्, कृतवान्, गोमान्, यवमान्, एतावान्; अस्-अप्सराः, अङ्गिराः, चन्द्रमाः, स्थूलशिराः, सुमनाः । अभ्वादेरिति किम् ? पिण्डं ग्रसते-पिण्डग्रः, चर्म वस्ते-चर्मवः । ❈ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ❈ इत्येव सिद्धे अभ्वादेरिति वचनम् ❈ अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ❈ इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेनात्रापि भवति-खरणाः, खुरणाः । अधातोरित्यकृत्वाऽभ्वादेरिति करणं भ्वादीनामेव वर्जनार्थम्, तेनेह भवति–गोमन्तमिच्छति क्यन् क्विप् गोमान्, एवम्–स्थूलशिराः । शेष इत्येव ? हे भवन् !, हे सुमनः ! । 'अतु' इति उदितकरणादृदितो न भवति–पचन्, जरन् ।।90।।

*न्या०स०–अभ्वादेरि*त्यादि । *भवानि*ति-नोऽन्ते सत्यपि ❈ आगमोऽनुपघातेन ❈ इति न्यायाद् भवत्येव दीर्घः ।।90।।

क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि ।। 1. 4. 91. ।।

क्रुशः परो यस्तुन् तस्य शेषे घुटि परे तृजादेशो भवति, पुंसि-पुंलिङ्ग-विषये । क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ, अतिक्रोष्टा, प्रियक्रोष्टा । बहुव्रीहौ ❈ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❈ इति ऋदिल्लक्षणः कच् न भवति । पुंसीत्येव ? कृशक्रोष्टूनि वनानि । घुटीत्येव ? क्रोष्टून् । शेष इत्येव ? हे क्रोष्टो ! । ''क्रोष्टोः क्रोष्टृ'' इत्यकृत्वा तृज्वचनं तृस्वस्रादि-सूत्रेणाऽऽरर्थम् ।।91।।

न्या०स०–क्रुशस्तुन इत्यादि-*तृजादेश* इति-आदेश इत्युक्ते सकलस्यापि तुनस्तृजादेशो भवति तथा चोक्तम्–

''एकस्यावयवस्य यो भवति स प्रोक्तो विकारो बुधै- ।
रादेशस्त्वसभूरिव प्रकटितः सर्वोपमर्दात्मकः ।।

पुंल्लिङ्गविषये इति समासेऽपि यदि पुंल्लिङ्गविषय एव, तेन प्रियः क्रोष्टा यस्याः, यस्य वा कुलस्येत्यत्र न भवत्येव आदेशः, अत एव व्यावृत्तिः क्लीबविषये दर्शिता । क्रोष्टोरिति– ''क्रोष्टोः क्रोष्टृ पुंसि'' इति दृश्यम् ।।91।।

टादौ स्वरे वा ।। 1. 4. 92. ।।

टादौ स्वरादौ परे क्रुशः परस्य तुनस्तृजादेशो वा भवति, पुंसि । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना; क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे; क्रोष्टुः, क्रोष्टोः; क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टरि, क्रोष्टौ । 'क्रोष्टूनाम्' इत्यत्र तु नित्यत्वात् पूर्वं नामादेशे स्वराभावान्न भवति । टादाविति किम् ? क्रोष्टून् । क्रोष्टॄ नित्यपीति कश्चित् । स्वर इति किम् ? क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः । पुंसीत्येव ? कृशक्रोष्टुने वनाय । यद्यपि तृप्रत्ययान्तो मृगवाची स्यात्, तथापि प्रयोगनियमो दुर्विज्ञान इत्यादेश-वचनम् ॥92॥

न्या०स०– *टादावित्यादि* । *नित्यत्वादिति*-❊ कृताकृतप्रसङ्गि ❊ न्यायेनेति । 'क्रोष्टॄन्' इत्यपि कश्चित् तन्मतसङ्ग्रहार्थं टाया आदिष्टादिरिति व्याख्यानं कर्तव्यम् । *मृगवाची*ति-मृगशब्दस्यारण्यपशुवाचित्वेऽपि शृगाल एवार्थेऽत्र वृत्तिर्द्रष्टव्या । *दुर्विज्ञान* इति-ननु यदा ऋदन्तेन प्रयोजनं तदा तृचि, यदा तु उदन्तेन तदा तुनि साध्यसिद्धिर्भविष्यति, किं तृजादेशविधानेन ? सत्यम् 'शेषे घुटि पुंसि च नित्यम्, 'टादौ स्वरे वा' इत्येतस्माद् विषयादन्यत्रापि तृच्प्रत्ययः स्यात् स्थिते तु यत्र तुनस्तृजादेशस्तत्रैव मृगवाचित्वम्, तृचि प्रत्यये तु क्रियाशब्दत्वमिति नियमसिद्धिः ।

तथापि प्रयोगनियम इति-अथ परो ब्रूते-'क्रोष्ट्रा, क्रोष्ट्रे, क्रोष्टुः, क्रोष्टुः, क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्रोः' इत्याद्यर्थं तृच् आनेष्यते, न च वक्तव्यम् तृच्प्रत्ययान्तस्य संज्ञित्वं न प्रतीयते, भीरु-रमणीत्यादिवत् प्रतीयते एव, क्रोष्टुना, क्रोष्टवे इत्यर्थ तुन् विधायिष्यते एव, अतो निरर्थकं सूत्रमिदम्, न-यद्यपि तृप्रत्ययान्तस्यापि मृगवाचित्वमुन्मज्जति तथापि प्रयोगनियमो दुर्घटः, सूत्रं विना न ज्ञायते-कस्मिन् विषये तुन्, कस्मिन् विषये तृच्, यदा व्यञ्जनादावपि तृच् स्यात् तथा चानिष्टानि रूपाणि स्युः–'क्रोष्टृभ्याम्, क्रोष्टृभिः; क्रोष्टृषु' इति, इष्टानि तु तुन्नन्तान्येव व्यञ्जनादौ, कृते सूत्रे मृगे वाच्ये टादौ स्वर एव तृः, पूर्वेण घुट्येव तृः, अन्यत्र तुन्नेव, क्रियाशब्दस्य तु सर्वत्रास्त्येव तृच् । *तथापी*ति-तुन्नन्तो मृगवाच्येव तृच्प्रत्ययान्तस्तु कस्मिन् विषये मृगवाचीति न ज्ञायते, तुनः स्थानप्रवृत्तेन तु तृचा ज्ञाप्यते-यत्र घुटि टादौ स्वरादौ च. तृच् तत्रैव मृगवाचित्वम्, तेन मृगे वाच्ये क्रोष्टुभ्यामित्यादि न भवतीति नियम-सिद्धिः ॥92॥

स्त्रियाम् ॥ 1. 4. 93. ॥

घुटीति न संबध्यते ''क्रुशस्तुनस्तृच् पुंसि स्त्रियां च'' इत्येकयोगाकरणात्, स्त्रियां वर्तमानस्य क्रुशः परस्य तुनस्तृजादेशो भवति, निर्निमित्त एव । क्रोष्ट्री, अत्र प्रागेव तृजादेशे

ऋदन्तत्वाद् ङीः; क्रोष्ट्र्यो, क्रोष्ट्र्यः, क्रोष्ट्रीम्, क्रोष्ट्र्या, क्रोष्ट्रीभ्याम्, हे क्रोष्ट्रि ! । पञ्चभिः क्रोष्ट्रीभिः क्रीतै-रिति विगृह्य ``मूल्यैः क्रीते'' (6. 4. 150.) इतीकण्, तस्य ``अनाम्न्यद्विः प्लुप्'' (6. 4. 141.) इति लुपि ``ङ्यादेर्गौणस्या०'' (2. 4. 95.) इत्यादिना ङीनिवृत्तौ पञ्चक्रोष्टृभी रथैः, अत्र निर्निमित्तत्वादादेशस्य ङीनिवृत्तावपि निवृत्तिर्न भवति, अत एव च ``क्यङ्मानिपित्तद्धिते'' (3. 2. 50.) इति पुंवद्भावो न भवति, पुंवद्भावेनापि हि आदेश एव निवर्तनीयः, स च निमित्तत्वाश्रयणेन ङीनिवृत्तावपि निवर्तते एव ॥93॥

इत्याचार्य*हेमचन्द्र*विरचितायां *सिद्धहेमचन्द्रा*भिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनवृत्तौ प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥4॥ ग्रन्थाग्र० 573॥

सोत्कण्ठमङ्गलगनैः कचकर्षणैश्च,
वक्त्राब्जचुम्बननखक्षतकर्मभिश्च ।
श्रीमूलराजहतभूपतिभिर्विलेसुः,
संख्येच खेऽपि च शिवाश्च सुरस्त्रियश्च ॥1॥

समाप्तोऽयं बृहद्वृत्तौ प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

*न्या०स०—स्त्रियामि*ति-``स्त्रियां च'' इत्येकयोगेऽपि ``स्त्रियां च'' इत्यसमस्त- निर्देशस्येदं फलम्-यत् `स्त्रियाम्' इत्युत्तरसूत्रे याति, अन्यथा ``पुं-स्त्रियोः'' इत्येव कुर्यात् । *निर्निमित्त एवे*ति—ननु निमित्तत्वाश्रयणे ऋकारान्तत्वाभावात् क्रोष्टुशब्दस्य कथं ङीः स्यात् ? सत्यम्- गौरादौ पाठात् ङीः स्यादेवेति ङीसिद्धिः, परं निमित्त-व्याख्यायां ``स्त्रियां ङ्याम्'' इति सूत्रं कुर्यात् ॥93॥

इति प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥4॥
इति प्रथमाध्यायः समाप्तः

प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

अथ प्रथमः पादः

त्रि-चतुरस्तिसृ-चतसृ स्यादौ ॥ 2. 1. 1. ॥

स्त्रियामित्यनुवर्तते, 'त्रि चतुर्' इत्येतयोः स्त्रीलिङ्गे वर्तमानयोस्तत्संबन्धिन्यन्यसंबन्धिनि वा स्यादौ विभक्तौ 'तिसृ चतसृ' इत्येतावादेशौ यथासंख्यं भवतः ।

तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य; चतस्रस्तिष्ठन्ति, चतस्रः पश्य; तिसृभिः, चतसृभिः; तिसृभ्यः, चतसृभ्यः; तिसृणाम्, चतसृणाम्; तिसृषु, चतसृषु । प्रियास्तिस्रोऽस्येति प्रियतिसा पुरुषः, प्रियतिस्रौ, प्रियतिस्रः; एवम्-प्रियचतसा, प्रियचतस्रौ, प्रियचतस्रः; प्रियास्तिस्रोऽस्य कुलस्य प्रियतिसृ कुलम्, प्रियतिसृणी, प्रियतिसृणि; एवम्-प्रियचतसृणी, प्रियचतसृणि; एषु विभक्त्याश्रयत्वेन बहिरङ्गलक्षणस्य तिसृ-चतस्रादेशस्यासिद्धत्वात् समासान्तः कज् न भवति, परत्वाच्च तिस्रादेशे कृते पश्चान्नागमः ।

स्यादाविति किम् ? प्रियत्रिकः, प्रियचतुष्कः, तिसृणां प्रियस्त्रिप्रियः, चतुष्प्रियः, प्रियत्रि कुलम्, प्रियचतुष्कुलम् । कथं तर्हि प्रियतिसृ कुलम् ? ``नामिनो लुग् वा'' (1. 4. 61.) इति लुकि सति स्थानिवद्भावाद् भविष्यति, यथा–हे त्रपो ! स्त्रियामित्येव–त्रयः, चत्वारः; त्रीणि, चत्वारि; प्रियास्त्रयः त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः, प्रियत्री, प्रियत्रयः; एवम्-प्रियचत्वाः, प्रियचत्वारौ, प्रियचत्वारः; अत्र त्रि-चतुरावस्त्रियाम्, समास एव तु स्त्रियामित्यादेशौ न भवतः । कथं तिसृका नाम ग्रामः ? संज्ञाशब्दोऽयम् ॥1॥

न्या०स०–त्रि-चतुर इति । *स्त्रियामित्यनुवर्तत* इति-पूर्वसूत्रादिति शेषः, तच्च श्रुतत्वात् 'त्रि-चतुरः' इत्यस्यैव विशेषणम् । *'तिस्रः'* इत्यादौ विधानसामर्थ्यान्न षत्वम् । *परत्वादिति*-ननु ❉ कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् ❉ ❉ आदेशादागमः ❉ इति च न्यायात् पूर्वं नागम एव प्राप्नोति, नैवम्-शब्दान्तरप्राप्त्या नागमोऽप्यनित्यः, यद्वा परत्वादिति कोऽर्थः ? प्रकृष्टत्वादित्यर्थः, प्रकृष्टत्वं च ❉ आगमात् सर्वादेशः ❉ इति न्यायात्; किञ्च, ``ऋतो रः स्वरेऽनि'' (2. 1. 2.) इत्यत्रानीति वचनमनर्थकं स्यात्, स्वरादौ पूर्वं नकारे तिस्राद्यादेशाभावाद्

रत्वप्रसङ्ग एव नास्तीति अनीति वचनात् पूर्वं नागमादेस्तिस्राद्यादेश इति *प्रियतिसृ कुलमि*ति । ``नामिनो लुग् वा'' (1. 4. 61.) इत्यत्र चतुर्शब्दस्यापि लुग्विकल्पमिच्छन्त्येके, तन्मते–प्रियचतसृ कुलम्, प्रियचतुर्वा कुलमिति । *प्रियत्रि*रित्यादि–स्त्रीलिङ्गविवक्षायामपि समासाद् ङीप्रत्यये प्रियत्र्येव, ``शेषाद् वा'' (8. 3. 175.) इति कचि प्रियत्रिकैव, आदेशो न भवति, प्रथमं ङीप्रत्यये पश्चाद् बहुव्रीहिसमासे ``ऋन्नित्यदितः'' (7. 3. 171.) इति कचेव, यदा तु केवलात् त्रिशब्दाद् ङीस्तदा तु एकदेशविकृतत्वेनादेशो भवति । *कथं तिसृका नामे*ति-त्रिशब्दात् संज्ञायां के आपि बहुवचने च स्यादेर्व्यवधानात् कथं तिसृभाव इति प्रष्टुः संशयः । समाधत्ते–*स्त्रीलिङ्गो बहुवचनविषयः संज्ञाशब्दोऽयमि*ति–तस्यन्ति परबलान्यासु ``निष्कतुरुष्क०'' (उणा० 36) इति निपात्यते ॥1॥

ऋतो रः स्वरेऽनि ॥ 2. 1. 2. ॥

तिसृ-चतसृसम्बन्धिन ऋकारस्य स्थाने तत्सम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा स्वरादौ स्यादौ परतो रादेशो भवति, अनि–नकारविषयादन्यत्र; समान-दीर्घत्वा-ऽर्डुरामपवादः । तिस्रः, चतस्रस्तिष्ठन्ति पश्य वा; प्रियतिस्रौ, प्रियचतस्रौ; प्रियतिस्रम्, प्रियचतस्रम्; प्रियतिस्रः प्रियचतस्र आगतं स्वं वा; प्रियतिस्रि प्रियचतस्रि निधेहि । स्वर इति किम् ? तिसृभिः, चतसृभिः । अनीति किम् ? प्रियतिसृणी, प्रियचतसृणी; प्रियतिसॄणि, प्रियचतसॄणि; तिसृणाम्, चतसृणाम् । ऋत इति तिसृ-चतस्रोः प्रतिपत्त्यर्थम्, इतरथा हि तदपवादस्त्रिचतुरोरेवायमादेशो विज्ञायेत ।

अन्ये तूपसर्जनयोस्तिसृ-चतसृ-शब्दयोर्ङौ घुटि चानि स्वरादौ रत्वविकल्पमिच्छन्ति, तन्मते–प्रियतिस्रि प्रियतिसरि; प्रियचतस्रि, प्रियचतसरि; प्रियतिस्रौ, प्रियतिसरौ; प्रियचतस्रौ, प्रियचतसरौ; प्रियतिस्रः, प्रियतिसरः; प्रियचतस्रः, प्रियचतसरः; प्रियतिस्रम्, प्रियतिसरम्; प्रियचतस्रम्, प्रियचतसरम्; प्रधानस्य तु नित्यमेव रत्वम्-तिस्रः, परमतिस्रः चतस्रः, परमचतस्रः । अपरे त्वनि स्वरे सर्वत्र विकल्पं जश्-शसोस्तु नित्यं मन्यन्ते, तन्मते प्रियतिस्रौ, प्रियतिसरौ; प्रिय-चतस्रौ, प्रियचतसरौ; प्रियतिस्रः, प्रियतिसुः, प्रियचतस्रः, प्रियचतसुः आगतं स्वं वा, इत्यादि । जस्-शसोस्तु-तिस्रः, चतस्रः, परमतिस्रः, परमचतस्रः, प्रियतिस्रः, प्रियचतस्रस्तिष्ठन्ति पश्य वेति नित्यमेव रत्वम् ॥2॥

न्या०स०–ऋतो र इत्यादि । *अनी*ति नकारः प्रत्ययरूप आगमरूपो वा । *समानदीर्घत्वे*ति–``शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इति ``अर्डौ च'' (1. 4. 39.) इति ``ऋतो डुर्'' (1. 4. 37.) इति

प्राप्तानाम् । *तदपवाद* इति-व्यञ्जनादौ स्यादौ पूर्वयोगः सावकाशः, स्वरादौ तु अयमेव स्यात् । *अन्ये तु* इति शाकटायनादयः। *अपरे तु* इति-विश्रान्तविद्याधरादयः ।।2।।

जराया जरस् वा ।। 2. 1. 3. ।।

जराशब्दस्य स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा स्वरादौ स्यादौ परतो 'जरस्' इत्ययमादेशो वा भवति । जरसौ, जरसः, जरसम्, जरसौ, जरसः, जरसा, जरसे, जरसः, जरसः, जरसोः, जरसाम्, जरसि, जरसोः; पक्षे-जरे, जराः, जराम्, जरे, जराः; जरया, जरायै, जरायाः 2, जरयोः 2, जराणाम्, जरायाम्; ❈ एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात् ❈ अतिजरसौ, अतिजरौ 2; अतिजरसः, अतिजराः; अतिजरसम्, अतिजरम्; अतिजरसः, अतिजरान्; अतिजरसा, अतिजरेण; अतिजरसैः, अतिजरैः; अतिजरसे, अतिजराय; अतिजरसः, अतिजरात्; अतिजरसः, अतिजरस्य; अतिजरसो, अतिजरयोः 2; अतिजरसाम्, अतिजराणाम्; अतिजरसि, अतिजरे; नपुंसके स्यमोरम्भावे-अतिजरसम्, अतिजरम्, ``जरसो वा'' (1. 4. 60.) इति लुपि-अतिजरः; अतिजरसी, अतिजरे तिष्ठतः पश्य वा; शौ परत्वाज्जरसादेशस्ततो नाऽऽगमः–अतिजरांसि, अतिजराणि तिष्ठन्ति पश्य वा । स्त्रियां तु विभक्ते रापा व्यवधानान्न भवति । स्वर इत्येव-जरा, जराभ्याम्, जराभिः । स्यादावित्येव–जराग्रम्, जारः, जारेयः ।।3।।

न्या०स०–जराया इत्यादि । 'जरसा, कुण्डानि' इत्यत्र द्वयोः सावकाशत्वात् परत्वाज्जरसादेश एवेत्याह-*शौ परत्वादिति* । ननु पूर्वमपि नागमे कृते सनागमस्यादेशे पुनर्धुडन्तलक्षणनागमे च रूपस्य सिद्धत्वात् किं परत्वचिन्तयेति ?

उच्यते-यदि पूर्वं नागमः स्यात् स च पूर्वभक्तः प्रकृतिमेवानन्यवद्विदध्यात्, अवयवस्य तु जरशब्दस्य विभक्तौ जरसादेशो विधीयमानो न प्राप्नोति; अथवा पूर्वं नागमस्ततः ❈ आगमोऽनुपघाती ❈ इत्यनेन न्यायेन जरसादेशे कृते सकारात् परस्य नागमस्य श्रवणं स्यात्, यथा–'अति-जरस्न्' इति तस्मात् परत्वाज्जरसादेश इति । *स्त्रियां त्विति*–'अतिज*रया*' इत्यत्र हि अतिजरशब्दात् प्रवृत्तेनाप्प्रत्ययेन जराशब्दो व्यवधीयते । *जारः, जारेयः*, जराया अयम् ``तस्येदम्'' (6. 3. 104.) इत्यण्, जराया अपत्यम् ``द्विस्वरादनद्याः'' (6. 1. 71.) इति एयण् ।।3।।

अपोऽद् भे ।। 2. 1. 4. ।।

'अप्' इत्येतस्य स्वसम्बधिन्यन्यसम्बन्धिनि वा भकारादौ स्यादौ परतः 'अद्' इत्ययमादेशो भवति । अद्भिः, अद्भ्यः, स्वद्भ्याम्, अत्यद्भ्याम् । भ इति किम् ? आपस्तिष्ठन्ति, अपः पश्य, अपाम्, अप्सु । स्यादावित्येव–अब्भक्षः ।।4।।

न्या०स०–अपोऽद् भे इति । *स्वद्भ्याम्*–शोभना अतिशयिता वा आपो ययोरिति विग्रहे ''पूजास्वतेः प्राक् टात्'' (7. 3. 72.) इति समासान्तप्रतिषेधे भ्यामि सत्यपि तदन्तग्रहणे ❊ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ❊ इत्यप एवादेशः । *अब्भक्ष* इति–''शीलि-कामि०'' (6. 1. 73.) इति णः ।।4।।

आ रायो व्यञ्जने ।। 2. 1. 5.।।

स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे रैशब्दस्या-ऽऽकारोऽन्तादेशो भवति । राः, हे राः !, अतिराः, राभ्याम् 3, राभिः, राभ्यः 3, रासु; ❊ एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् ❊ अतिराभ्यां कुलाभ्याम्, अतिरासु कुलेषु । व्यञ्जन इति किम् ? रायौ, रायः । स्यादावित्येव– रैसूत्रम्, रैभयम् । स्मीत्येव सिद्धे व्यञ्जनग्रहणमुत्तरार्थम् ।।5।।

न्या०स०–आ रायो इत्यादि । आकारस्यैकवर्णत्वात् ''षष्ठ्या अन्त्यस्य'' (7. 4. 106.) इति रैशब्दान्तस्यैव भवति । *स्मीत्येव सिद्धे* इति-आमि तु रायमतिक्रान्तानि यानि तेषां ''क्लीबे'' (2. 4. 97.) इत्यनेन ह्रस्वत्वे सति ❊ सन्निपात-लक्षण० ❊ इत्यादिन्यायाद् इकाररूपं ह्रस्वमाश्रित्य समुत्पन्नो नाम् तद्विघाताय नोत्सहते, तर्हि ''दीर्घो नामि०'' (1. 4. 47.) इत्यादिना दीर्घोऽपि न प्राप्नोति, सत्यम्-तदा अनित्यत्वादस्य न्यायस्य भवत्येव दीर्घः, यतो न्याया हि स्थविरयष्टिन्यायेन प्रवर्तन्ते । *उत्तरार्थमि*ति-यद्येवं तत्रैव क्रियताम्, किमत्रानेन सन्देहास्पदेन ? नैवम्-केचित् ❊ सन्निपात० ❊ न्यायमनित्यमाश्रित्य 'अतिराणाम्' इत्याकारमपीच्छन्ति, तन्मतसंग्रहार्थं व्यञ्जनग्रहणमिहार्थमपि, तेन स्वमतेऽपि सम्मतम् ।।5।।

युष्मदस्मदोः ।। 2. 1. 6. ।।

'युष्मद् अस्मद्' इत्येतयोः शब्दयोः स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा व्यञ्जनादौ स्यादौ परे आकारोऽन्तादेशो भवति । त्वाम्, माम्; अतित्वाम्, अतिमाम्; युवाम्, आवाम्; अतियुवाम्, अत्यावाम्; युष्मान्, अस्मान्; अतियुष्मान्, अत्यस्मान्; युवाभ्याम्, आवाभ्याम्; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्; युष्माभिः, अस्माभिः; अतियुष्माभिः, अत्यस्माभिः; युष्मासु, अस्मासु; अतियुष्मासु, अत्यस्मासु । युष्मयतेरस्मयतेश्च क्विप्-युष्म्, अस्म्; अनयोरमौभ्यांसु परत्वात्

त्व-माद्यादेशे कृते पश्चादात्वम्-त्वाम्, माम्; युवाम्, आवाम्; युवाभ्याम्; आवाभ्याम् । व्यञ्जन इत्येव-युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ।।6।।

*न्या०स०-युष्मदस्मदो*रिति अत्राविवक्षितार्थयोर्युष्मदस्मदोरेतावनुकरणे इति त्यदादिकार्यमेकशेषः ``टाङ्योसि०'' (2. 1. 7.) इत्यनेन युष्मदस्मदादिकार्यं च यत्वादि न प्रवर्तते । *अतित्वामि*ति नामाधिकारात् तदन्तप्रतिपत्तौ तदन्तमुदाहरति । *युष्मयते*-रित्यादि-युवां युष्मान् वेति विधेयम्, न तु त्वां मामिति णिचि सति त्व-मौ स्याताम् । *अमौभ्यांस्वि*ति-अयमर्थः- द्वयोरन्यत्र सावकाशत्वात् शब्दान्तरप्राप्त्या चानित्यत्वात् परत्वात् पूर्वं त्वमाद्यादेश इति, प्रथममात्वे तु सति मन्तत्वाभावात् त्व-मादयो न स्युः, णिज्वाक्यावस्थायां यद् बहुवचनं तत् क्विब्वृत्तौ गौणं बभूवेति त्वमौ भवतः । *व्यञ्जन इत्येवे*ति-ननु व्यञ्जनग्रहणं विनापि 'युष्मभ्यम्' इत्यादयः प्रयोगा अनेनात्वे कृते ``लुगातो-ऽनापः'' (2. 1. 107.) इत्याकारलोपे सिध्यन्ति, किं व्यञ्जनाधिकारेण ?

सत्यम्-सूत्रस्य व्यक्त्या प्रवर्तनाद् आत्वे कृते लुबादिकं न प्रवर्तत इति व्यञ्जनग्रहणम्, तथा व्यञ्जनाभावे 'युष्माकम्, युषाकम्, इत्यादावनेन सूत्रेण आकार एव स्यात्, न तु ``मोर्वा'' (2. 1. 9.) इति मकारलोपः । *युष्मभ्यमि*ति-ननु ``लुगस्य०'' (2. 1. 113.) इत्यल्लोपे ``मोर्वा'' (2. 1. 9.) कथं न ? उच्यते-स्वरस्य स्थानिवत्त्वात्, तर्हि युस्म्शब्दाद् भ्यसोऽभ्यमादेशे लुग् न प्राप्नोति ? नैवम्-प्रत्त्यासत्त्या यस्मिन् प्रत्यये लुग् भवति तस्मिन्नेव प्रत्यये पूर्वस्य यदि कार्यं भवति तदा स्थानिवत्त्वम्, अत्र तु प्रत्ययान्तरे लुक्, अतः स्थानिवत्त्वाभावः, ``मोर्वा'' (2. 1. 9.) इति सूत्रस्यानवकाशत्वाद् वा स्थानिवत्त्वाभावः ।।6।।

टाङ्योसि यः ।। 2. 1. 7. ।।

'युष्मद् अस्मद्' इत्येतयोः स्वसम्बन्धिष्वन्यसम्बन्धिषु वा 'टा ङि ओस्' इत्येतेषु स्यादिषु परेषु यकारोऽन्तादेशो भवति । (टा-) त्वया, मया; अतित्वया, अतिमया; अतियुवया, अत्यावया; अतियुष्मया, अत्यस्मया; (ङि-) त्वयि, मयि; अतित्वयि, अतिमयि; प्रिययुवयि, प्रियावयि; प्रिय-युष्मयि, प्रियास्मयि; (ओस्-) युवयोः, आवयोः; अतियुवयोः, अत्यावयोः; अतित्वयोः, अतिमयोः; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः । टाङ्योसीति किम् ? त्वत्, मत् । लुगपवादौ योगौ ।।7।।

न्या०स०-टाङ्यो० इत्यादि-ओश्च ओश्च-ओसौ ``स्यादावसंख्येयः'' (3. 1. 119.)

इत्येकशेषः, ततः टाश्च ङिश्च ओसौ च इति कार्य्यम्, तेन षष्ठी-सप्तम्योरपि ग्रहः, अन्यथा ङिना साहचर्यात् सप्तम्या एव ओसो ग्रहणं स्यात् । नन्वत्र ओस्ग्रहणाभावेऽपि ``शेषे लुक्'' (2. 1. 8.) इति दलोपे ``एद् बहुस्भोसि'' (1. 4. 4.) इत्यनेन एत्वे ``एदैतोऽयाय्'' (1. 2. 23.) इत्ययादेशे च 'अतियुवयोः' इत्यादि सिध्यति, सत्यम्–णिच्यन्त्यस्वरादिलोपे युवा-ऽवादेशे ``शेषे लुक्'' (2. 1. 8.) इत्यकारलोपे अकारस्याभावाद् ``युव्योः'' इत्यादौ यत्वं न सिध्यतीति ओस्ग्रहणम् ॥7॥

शेषे लुक् ॥ 2. 1. 8. ॥

यस्मिन् प्रत्यये आत्व-यकारौ विहितौ ततोऽन्यः शेषः, तस्मिन् स्यादौ परे युष्मदस्मदोरन्तस्य लुग् भवति । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; अतियुष्मभ्यम्, अत्यस्मभ्यम्; त्वद्, मद्; अतित्वद्, अतिमद्; युष्मद्, अस्मद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; युष्माकम्, अस्माकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम् । ``अलिङ्गे युष्मदस्मदी'' इति अन्तलोपे स्त्रियामाप् न भवति । शेष इति किम् ? त्वयि, मयि ॥8॥

न्या०स०–शेषे इत्यादि-शेषग्रहणाभावे टाङ्योसीत्यधिकार आगच्छेत्, न च वाच्यम्-टाङ्योसीत्यधिकारो यद्यभिप्रेतः स्यात् तदा ``टाङ्योसि य-लुकौ'' इत्येकमेव कुर्यात्, यतो 'लुग्' इति उत्तरार्थं पृथक्करणं कर्त्तव्यमेव, अन्यथा ``टाङ्योसि य-लुकौ'' इत्यधिकारोऽग्रेतनेऽपि सूत्रे गच्छेदित्याशङ्कायां शेषग्रहणम् ।

*स्त्रियामाप् न भविष्यती*ति-केवलयोर्युष्मदस्मदोः ``नन्ता सङ्ख्या०'' (लि० परलि० 4) इति लक्षणेनालिङ्गत्वभणनात् । अथ बहुव्रीहौ तत्पुरुषे च अन्यपदार्थादिप्रधानत्वेन युष्मदस्मदन्तस्य स्त्रीत्वे आप् कथं न भवति ? उच्यते-❁ सन्निपात० ❁ लक्षणन्यायाद् दलोपोऽभ्यमः सन्निधानव्यवधाने न निमित्तम्, तर्हि 'युष्मभ्यम्' इत्यादिषु केवलेष्वपि अत एव न्यायाद् आप् न भविष्यति, किं लिङ्गानुशासने तयोर्वर्जनेन ? सत्यम्–न्यायानां ❁ स्थविरयष्टि० ❁ न्यायेन प्रवृत्तेर्विश्वासः कर्तुमशक्यः ॥8॥

मोर्वा ॥ 2. 1. 9. ॥

'युष्मद् अस्मद्' इत्येतयोर्मकारान्तयोः स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा शेषे स्यादौ परे मकारस्य लुग् वा भवति । युवां युष्मान् वा आवामस्मान् वाऽऽचष्टे-णिचि क्विपि तल्लुकि

च—`युष्, अस्' इति मान्तत्वम् । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; युषभ्यम्, असभ्यम्; युष्मद्, युषद्; अस्मद्, असद्; युष्माकम्, युषाकम्; अस्माकम्, असाकम् ।

शेष इत्येव-युषान्, असान्; युषाभिः, असाभिः; युषासु, असासु; एषु पूर्वेण मकारस्याऽऽत्वम् । टाङ्योसि नित्यत्वात् त्व-मादिकार्येभ्यः प्रथममेव पूर्वेण मकारस्य यत्वे-युष्या, अस्या; युष्यि, अस्यि; युष्योः, अस्योः । अथ शब्दान्तरप्राप्त्या यत्वमप्यनित्यमित्याश्रीयते तदा परत्वात् पूर्वं त्व-माद्यादेशे अकारस्य यत्वे-त्व्या, म्या; त्व्यि, म्यि; युव्योः, आव्योः । अथ ❊ सकृद्गते स्पर्द्धे यद्बाधितं तद्बाधितमेव ❊ इत्याश्रीयते तदा यत्वाभावे-त्वेन, मेन; युवयोः, आवयोः; त्वे, मे; अत्रा-सर्वादिसम्बन्धित्वाद् ङेः स्मिन्नादेशो न भवति; अथ ❊ क्विबर्थं प्रकृतिरेवाह ❊ इति सर्वादिसम्बन्धित्वाद् तदा भवत्येव स्मिन्नादेशः; सि-जस्-ङे-ङस्प्रत्ययेषु तु परत्वात् त्वमहमादय एव आदेशा भवन्ति-त्वम्, अहम्; यूयम्, वयम्; तुभ्यम्, मह्यम्; तव, मम । एके तु मन्तयोर्युष्मदस्मदोरादेशान् नेच्छन्ति ।।9।।

न्या०स०—मोर्वेति । ननु `युवामाचष्टे' इति वाक्ये णिचि क्विपि स्यादौ युवादेशः कथं न भवति ? सत्यम्-यदा युष्मदस्मदी द्वित्वे तदा स्यादिर्न, यदा तु स्यादि-स्तदा न द्वित्वे इति न युवादेशः । *शब्दान्तरे*ति-प्राग् मकारस्य पश्चाद् अकारस्य यप्राप्तिः, अथवा पूर्वं युष्मिति प्रकृतेः पश्चात् त्वेति प्रकृतेः । *अत्रासर्वादिसम्बन्धित्वादि*ति-युष्मदस्मदी त्वमहंवाचके सर्वादिगणमध्ये दृश्येते, अत्र तु त्वां मां वक्ति यस्तद्वाचके इति न सर्वादिनी । *अथ क्विबर्थमि*ति-क्विबन्तयोर्युष्मदस्मदोर्योऽर्थस्तमर्थं क्विप्सहिता युष्म-दस्मद्रूपा प्रकृतिरेवाह० नहि प्रकृतिं विना क्विप् भवति । *स्मिन्नादेश* इति-तेन *त्वस्मिन्, मस्मिन्,* ❊ सन्निपात० ❊ न्यायस्याऽनित्यत्वे-*त्वास्मिन्, मास्मिन्,* इत्यपि । *सि-जसि*ति-एतेन प्रक्रियागौरवं निरस्तं भवति, अन्यथा अनेन मकारलोपेऽपि सिप्रत्ययादिना सह त्वमहमाद्यादेशे सर्वेऽपि प्रयोगाः सिध्यन्ति ।।9।।

मन्तस्य युवा-ऽऽवौ द्वयोः ।। 2. 1. 10. ।।

द्वित्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मन्तस्य मकारावसानस्यावयवस्य तत्सम्बन्धिन्यन्य-सम्बन्धिनि वा स्यादौ परे यथासंख्यं `युव आव' इत्येतावादेशौ भवतः । युवाम्, आवाम् 2; युवाभ्याम्, आवाभ्याम् 3; युवयोः, आवयोः 2; अतिक्रान्तौ युवाम् आवां वा-अतियुवाम्, अत्यावाम्; अतिक्रान्तं युवाम् आवां वा-अतियुवाम् अत्यावां पश्य; अतिक्रान्तौ युवामावां वा-अतियुवाम्, अत्यावां पश्य; एवम्-अतियुवान्, अत्यावान्; अतियुवया, अत्यावया; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्; अतियुवाभिः, अत्यावाभिः; अतियुवाभ्याम्, अत्यावाभ्याम्;

अतियुवत्, अत्यावत्; अतियुवाभ्याम् अत्यावाभ्यामागतम्; देहि अतियुवत्, अत्यावत्; अतियुवयोः अत्यावयोः स्वम्; अतियुवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुवयि, अत्यावयि; अतियुवयोः, अत्यावयोः; अतियुवासु, अत्यावासुः 'सि जस् ङे ङस्' इत्येतेषु पुनः परत्वात् त्वमहमादयः । मन्तस्येति किम् ? मकारावधेर्यथा स्यात्, न तु सर्वस्य, तेन 'युवकाभ्याम्, आवकाभ्याम्' इत्यत्राक्श्रुतिः, 'युवयोः, आवयोः' इत्यत्र तु दकारस्य यत्वं सिद्धम्, अन्यथा 'युव्योः, आव्योः' इत्यनिष्टं स्यात् । द्वयोरिति किम् ? युष्मान्, अस्मान्; युष्माभिः, अस्माभिः; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्; युष्मत्, अस्मत्; युष्माकम्, अस्माकम्; युष्मासु, अस्मासु । द्वयोरिति युष्मदस्मद्विशेषणं किम् ? युष्मानस्मानतिक्रान्तौ-अतियुष्माम्, अत्यस्माम् 2; अतियुष्माभ्याम्, अत्यस्माभ्याम् 3; अतियुष्मयोः, अत्यस्मयोः 2; अत्र समास एव द्वित्वविशिष्टेऽर्थे वर्तते न युष्मदस्मदी इति युवावादेशौ न भवतः । स्यादावित्येवयुवयोः पुत्रः–युष्मत्पुत्रः, आवयोः पुत्रः–अस्मत्पुत्रः; युवयोरिदं-युष्मदीयम्, आवयोरिदम्-अस्मदीयम् ॥10॥

न्या०स०–मन्तस्येत्यादि । *द्वित्वेति* वृत्त्यंशः–*द्वयोरित्यनेन* द्रव्यप्रधानत्वात् सामान्यवाचिनापि युष्मदस्मदर्थ एव द्वित्वविशिष्टो निर्दिश्यतेऽर्थाऽन्तरे तयोर्वृत्त्यभावात् । स्यादिविशेषणत्वे तु गुणाभिधायित्वात् स्यादेर्गुणप्रधानतया द्वित्वे इति भावप्रत्ययान्तेन निर्दिश्येत, यथा ''द्वित्वे वाम्नो'' (2. 1. 22.) इति । युवा-ऽऽज्वादेशयोः सस्वरत्वे णिगि क्विपि तल्लोपे च 'युव्योः, ग्राव्योः' इत्यादिषु फलं दृश्यम् । एवम्-उत्तरसूत्रे त्व्यि, म्यि । *परत्वात् त्वमहमादय* इति-यदि परत्वेन त्वमहमादयः करिष्यन्ते तर्हि ❁ परादन्तरङ्गं बलीयः ❁ इति न्यायात् युवा-ऽऽवादय एवादेशाः प्राप्स्यन्ति न त्वमहमादयः, सत्यम्-परत्वाद्-विशेषविहितत्वेन प्रकृष्टत्वादित्यर्थः ॥10॥

त्व-मौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकस्मिन् ॥ 2. 1. 11. ॥

एकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोर्युष्मदस्मदोर्मकारान्तस्यावयवस्य स्वसम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिनि वा स्यादौ परे प्रत्ययोत्तरपदयोश्च परयोर्यथासंख्यं 'त्व म' इत्येतावादेशौ भवतः । त्वाम्, माम्; त्वया, मया; त्वद्, मद्; त्वयि, मयि; अतिक्रान्तौ त्वाम्-अतित्वाम्, अतिमां तिष्ठतः; अतिक्रान्तं त्वां मां वा-अतित्वाम्, अतिमां पश्य; अतित्वान्, अतिमान्; अतित्वया, अतिमया; अतित्वाभ्याम्, अतिमाभ्याम्; अतित्वाभिः, अतिमाभिः; अतित्वाभ्याम्, अतिमाभ्यां देहि; अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्; अतित्वत्, अतिमत्; अतित्वाभ्याम्, अतिमाभ्यामागतम्; अतित्वद्, अतिमद्; अतित्वयोः, अतिमयोः स्वम्; अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अतित्वयि, अतिमयि; अतित्वयोः, अतिमयोः; अतित्वासु, अतिमासु ।

सि-जस्-ङे-ङस्सु पुनः परत्वात् त्वमहह्मादयो भवन्ति । प्रत्ययोत्तरपदयोः खल्वपि-तवायं त्वदीयः, मदीयः; त्वन्मयम्, मन्मयम्; त्वामिच्छति- (मामिच्छति वा-) त्वद्यति, मद्यति; त्वमिवाचरति त्वद्यते, मद्यते; त्वया कृतं मया कृतं- त्वत्कृतम्, मत्कृतम्; त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः; त्वद्धितम्, मद्धितम्; त्वत्प्रधानः, मत्प्रधानः । 'त्वामाचष्टे-(मामाचष्टे वा-) त्वदयति, मदयति' इत्यत्र नित्यत्वादन्त्यस्वरादिलोपात् प्रागेव त्वमादेशौ । कश्चित् तु 'पूर्वमन्त्यस्वरादिलोपे त्व-मादेशे अकारस्य वृद्धौ प्वागमे'-त्वापयति, मापयति; क्विपि तु-'त्वाप्, माप्' इत्याह । एकस्मिन्निति किम् ? युष्माकम्, अस्माकम् । एकत्वेन युष्मदस्मदोर्विशेषणादिह न भवति-अतिक्रान्तं युष्मान्-(अस्मान् वा-) अतियुष्माम्, अत्यस्माम्; अतियुष्मया, अत्यस्मया; अतियुष्मद्, अत्यस्मद्; अतियुष्मयि, अत्यस्मयि, । प्रत्ययोत्तरपदे चेति किम् ? त्वय्यधि, अधियुष्मद्, अध्यस्मद् । अन्तरङ्गत्वात् स्यादिद्वारेणैव त्व-मादेशे सिद्धे प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं ❈ बहिरङ्गाऽपि लुप् अन्तरङ्गान् विधीन् बाधते ❈ इति न्यायज्ञापनार्थम्, तेन-'यद्, तद्' इत्यादावन्तरङ्गमपि त्यदाद्यत्वादि न भवति । एके तु निमित्तनिरपेक्षमेकत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानयोस्त्व मादेशाविच्छन्ति, तन्मते-अधित्वत्, अधिमत् । मन्तस्येत्येव-त्वकं पिताऽस्य त्वकत्पितृकः, अत्राक्सहितस्य मा भूत् । प्रत्ययग्रहणेनैव सिद्धे स्यादावित्युत्तरार्थमनुवर्तते ।।11।।

न्या०स०-त्व-मौ० इत्यादि । *त्वदयती*ति-अत्र नित्यत्वादन्त्यस्वरादिलोपात् प्रागेव त्व-मादेशौ, पश्चादपि अन्त्यस्वरादिलोपो न ❈ लोपात् स्वरादेशः ❈ इति न्यायात् ''लुगस्ये०'' (2. 1. 113.) इत्येव प्रवर्त्तते, तस्मिन्नपि कृते न भवति ''नैकस्वरस्य'' (7. 4. 44.) इति निषेधात्; ''ञ्णिति'' (4. 3. 50.) इत्यादिना वृद्धिरपि न अधातुत्वात् । *कश्चित् त्वि*ति-उत्पलः । शब्दान्तरप्रवृत्त्या द्वयोरप्यनित्यत्वादन्यत्र सावकाशत्वात् परत्वादन्त्यस्वरादिलोप इत्यर्थः । *अकारस्य वृद्धावि*ति-अतो ''ञ्णिति'' (4. 3. 50.) इत्यनेन सूत्रेण ।

ननु प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं किमर्थम् ? स्यादावित्येव । सिद्धत्वात्, न च परत्वात् ''ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इति स्यादेर्लुपि ❈ प्रत्ययलोप ❈ इति न्यायस्य ''लुप्यय्वृल्लेनत्'' (7. 4. 112.) इति निषेधात् स्यादेरभाव इति वाच्यम्, यत ''ऐकार्थ्ये'' (3. 2. 8.) इति लुबुच्यते, ऐकार्थ्यं च प्रकृतिप्रत्ययौ पूर्वोत्तरपदे चाश्रित्य भवतीति तस्य बहिरङ्गत्वात् तदाश्रया लुबपि बहिरङ्गा, विभक्तिमात्रमाश्रित्य विधानात् त्व-मादेशयोरन्तरङ्गत्वम्, ततः ❈ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❈ इति न्यायान्नित्यादपि अन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् त्वमादेशयोः कर्तव्ययोः लुपोऽसिद्धत्वात् ताभ्यामेव पूर्वं प्रवर्त्तितव्यं ततो लुबिति न किञ्चिदनिष्टमित्याह-*अन्तरङ्गत्वादि*ति । ननु यदा स्यादिग्रहणमेव क्रियते न प्रत्ययोत्तरपदग्रहणं तदा त्वदीयः, त्वत्पुत्रः इत्यादौ प्रागेव परत्वात्

ङसा सह तव-ममादेशौ प्राप्नुत, तत्कथमन्तरङ्गत्वात् स्यादिद्वारेणैव सिध्यतोति ? सत्यम्-यौ त्व-मौ भवतस्तावल्पाश्रितौ, यतः प्रकृतिमेवाश्रयतः, यौ तु तव-ममौ तौ प्रकृतेः प्रत्ययस्य च स्थाने भवत इति वह्वाश्रितावित्यन्तरङ्गत्वात् त्व-मौ प्राप्नुत इति स्यादिद्वारेणैव सिध्यतोति; तव-ममादेशे तु कर्त्तव्ये एकस्थानित्वेनान्तरङ्गत्वात्? परत्वाच्च ङसो लुबेवेति । एके त्विति चन्द्रादयः ।।11।।

त्वमहं सिना प्राक् चाऽकः ।।2. 1. 12.।।

युष्मदस्मदोः स्वसम्बन्धिनाऽन्यसम्बन्धिना वा सिना सह यथासंख्यं 'त्वम् अहम्' इत्येतावादेशौ भवतः, तौ चाक्प्रत्ययप्रसङ्गोऽकः प्रागेव भवतः । त्वम्, अहम्; अतिक्रान्तस्त्वाम्-अतित्वम्. अत्यहम्; अतिक्रान्तो युवाम्–अतित्वम्, अत्यहम्; अतिक्रान्तो युष्मान्-अतित्वम्, अत्यहम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य स प्रियत्वम्, प्रियाहम्; एषु परत्वात् त्व-मौ युवा-ऽऽवौ च बाधित्वा त्वमहमावेव भवतः ।

सिनेति किम् ? युष्माभिः, अस्माभिः; सिलुपि च ``लुप्यय्वृल्लेनत्'' (7. 2. 112.) इति निषेधान्न भवति–त्वं पुत्रोऽस्य त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः एवमुत्तरेष्वपि । प्राक् चाक इति किम् ? 'त्वकम्' 'अहकम्' इत्यत्राकः श्रुतिर्यथा स्यात्, अन्यथा पूर्वमकि सति ❈ तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ❈ इति न्यायात् साकोरप्यादेशः स्यात् । केचित् तु 'त्वां मां चाऽऽचष्टे' इति णौ त्व-मादेशे वृद्धौ क्विपि मन्तयोरेव त्वा-ऽहादेशविधानात् सौ-त्वाम्, माम्, इति, धातोरेव वृद्धिरिति मते त्वम्, मम्, इत्येव च भवतीति मन्यन्ते, ते हि प्रकृतिमात्रस्याऽऽदेशान् ङे-जस्-सी-नाममादेशं ङसस्त्वकारं चेच्छन्ति ।।12।।

न्या०स०–त्वमहनित्यादि । *सिनेति किम् ?* ननु साविति कृते ``दीर्घङयाब्०'' (1. 4. 45.) इत्यादिना सेर्लुकि च सर्वे प्रयोगा निष्पद्यन्त इति, न-``युष्मदस्मदोः'' (2. 1. 6.) इत्यात्वं स्यात्; आदेशविधानसामर्थ्यान्न भविष्यतीति चेत् ? सत्यम्-तदा आत्वाभावेऽस्यापि सेः शेषत्वं स्यात्, तथा च ``मोर्वा'' (2. 1. 9.) इति वालोपः स्यात्, पक्षे च चरितार्थता सूत्रस्य स्यादिति । *त्वकम् अहकमिति*–``युष्मदस्मदोऽसो-भादि०'' (7. 3. 30.) इति अक् । *पूर्वमकीति*–``निरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् ।

केचित्त्विति–पाणिनीयादयः । *त्वमादेशे वृद्धाविति*-त्वादयतीति वाक्ये कृते क्विप् । *त्याहादेशविधानादिति*-त्वा-ऽहादेशौ न भवत इति शेषः । धातोरेव वृद्धिरिति मते तु-त्वदयतीति वाक्यम् । ननु तन्मते त्वम्, अहं, यूयम्, वयमित्यादयः कथं सिध्यन्तीत्याह-*ते हि* ।

प्रकृतिमात्रस्येति-विभक्तिरहितस्येत्यर्थः । *आदेशानिति*—``तुभ्यमह्यौ ङयि०'' (पा० 7. 2. 65.) ``यूय-वयौ जसि०'' (पा० 7. 2. 93.) ``त्वा-ऽहौ सौ०'' (पा० 7. 2. 94.) इति तुभ्यादीन्, आदेशान्, ङे-जस्-सीनां ``ङे प्रथमयोरम्'' (पा० 7. 1. 28.) इत्यमादेशम्, ङसस्तु ``युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् (पा० 7. 1. 27.) इत्यकारं चेच्छन्तीत्यर्थः स्वमते तु—त्वमहमित्येव भवति ॥12॥

यूयं वयं जसा ॥ 2. 1. 13. ॥

युष्मदस्मदोः स्वसम्बन्धिनाऽन्यसम्बन्धिना वा जसा सह यथासंख्यं 'यूयं वयम्' इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । यूयम्, वयम्; परमयूयम्, परमवयम्; प्रियस्त्वं प्रियौ युवां प्रिया यूयं च येषां ते-प्रिययूयम्, प्रियवयम्; अतिक्रान्तास्त्वां युवां युष्मान् वा—अतियूयम्, अतिवयम् । जसेति किम् ? यूयं पुत्रा अस्य-युष्मत्पुत्रः, अस्मत्पुत्रः । प्राक् चाक इत्येव ? यूयकम्, वयकम् ॥13॥

न्या०स०—यूयं वयमित्यादि । प्रियस्त्वं प्रियौ युवामिति वाक्ये एकत्व-द्वित्वयोर्युष्मदोवर्त्तमान-त्वात् ``त्व-मौ प्रत्ययोत्तरपदे०'' (2. 1. 11.) इति ``मन्तस्य युवा-ऽऽवौ०'' (2. 1. 1.) इति च त्व-माद्यादेशानन्यत्र सावकाशान् बाधित्वा यूयं वयमित्यत्र सावकाशौ यूयं वयमादेशौ परत्वादुभयप्राप्तौ सत्यां तावेव भवतः । *यूयकमित्यादौ* कुत्सिताद्यर्थे ``युष्मदस्मदोऽसोभादि'' (7. 3. 30.) इत्यक्, एवम्-उत्तरत्रापि ॥13॥

तुभ्यं मह्यं ङया ॥ 2. 1. 14. ॥

युष्मदस्मदोः स्वसम्बन्धिनाऽन्यसम्बन्धिना वा ङेप्रत्ययेन सह यथासंख्यं 'तुभ्यं मह्यम्' इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तुभ्यम्, मह्यम्; परम-तुभ्यम्, परममह्यम्, प्रियस्त्वम् प्रियौ युवां प्रिया यूयं वा यस्य तस्मै-प्रियतुभ्यम्, प्रियमह्यम्; अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्मै अतितुभ्यम्, अतिमह्यम् । ङयेति किम् ? तुभ्यं हितं त्वद्धितम्, मद्धितम् । प्राक् चाक इत्येव ? तुभ्यकम् मह्यकम् ॥14॥

तव मम ङसा ॥ 2. 1. 15. ॥

युष्मदस्मदोः स्वसम्बन्धिनाऽन्यसम्बन्धिना वा ङस्प्रत्ययेन सह यथासंख्यं 'तव मम' इत्येतावादेशौ भवतः, प्राक् चाकः । तव, मम; प्रियस्त्वं प्रियो युवां प्रिया यूयं वा यस्य तस्य-

प्रियतव, प्रियमम; अतिक्रान्तस्त्वां युवां युष्मान् वा तस्य-अतितव, अतिमम। ङसेति किम् ? तव प्रियस्त्वत्प्रियः, मत्प्रियः। प्राक् चाक इत्येव ? तवक, ममक ॥15॥

*न्या०स०—तव ममे*त्यादि। कथं तवता, ममता; तवायितम्, ममायितम् ? सत्यम्—स्याद्यन्तप्रतिरूपकाण्यव्ययान्येतानि, ततः शब्दान्तरत्वात् सिद्धम् ॥15॥

अमौ मः ॥ 2. 1. 16. ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परयोस्तत्सम्बन्धिनोरन्यसम्बन्धिनोर्वा 'अम् औ' इत्येतयोर्म इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः। त्वाम्, माम्; अतित्वाम्, अतिमाम्; युवाम्, आवाम्; अतियुवाम्, अत्यावां तिष्ठतः पश्य वा ॥16॥

न्या०स०—अमौ म इति औश्च औश्च आवौ ''स्यादावसंख्येयः'' इत्येकशेषः, ततोऽम् च आवौ च अमौ, तस्य '*अमौ*' लुप्तषष्ठ्येकवचनान्तं पदम्, एकशेषाभावे तु अमा साहचर्याद् द्वितीयासत्कस्यैव ग्रहणं स्यात्। ननु अम्ग्रहणं किमर्थम् ? यावता त्वामिति निष्पाद्यम्, तच्च युष्मदोऽमि निमित्ते त्वादेशे ''*शेषे लुक्*'' (2. 1. 8.) इति दस्य लुकि ''समानादमोऽतः'' (1. 4. 46.) इत्यमोऽस्य लुकि ''युष्मदस्मदोः'' (2. 1. 6.) इत्यन्तस्यात्वे च सिद्धम्, *नैवम्*—अन्तरङ्गेऽन्तस्यात्वे कार्ये बहिरङ्गोऽकारस्य लुगसिद्ध इति ॥16॥

शसो नः ॥ 2. 1. 17. ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य तत्सम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वा शसः स्थाने 'न' इत्ययमादेशो भवति, अकार उच्चारणार्थः। युष्मान्, अस्मान्; प्रिययुष्मान्, प्रियास्मान्; प्रियस्त्वं येषां तान् प्रियत्वान्, प्रियमान्; प्रियौ युवां येषां तान् प्रिययुवान्, प्रियावान् ॥17॥

न्या०स०—शसो न इति। ननु युष्मानित्यादौ द्वयं प्राप्नोति—''शेषे०'' (2. 1. 8.) इत्यनेनान्तलोपोऽनेन नकारश्च, तत्र ❊ कृताकृतप्रसङ्गित्वेन० ❊ नकारस्य नित्यत्वाल्लोपस्य च कृते नकारे शेषत्वाभावादप्रसङ्गित्वेनानित्यत्वात् पूर्वं नकार एव भवतीति; यद्येवं किमनेन ? ''शसोऽता०'' (1. 4. 49.) इत्यनेनैव सिद्धत्वात्, नैवम्—अलिङ्गे युष्मदस्मदी इति पुंस्त्वाभावान्नकारो न सिध्यतीति वचनम्; बहुव्रीह्या-दावभ्युपगमे वा लिङ्गस्य स्त्री-नपुंसकार्थम्-प्रिययुष्मान् ब्राह्मणीः, प्रिययुष्मान् कुलानीत्यादि ॥17॥

अभ्यम् भ्यसः ॥ 2. 1. 18. ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वा भ्यसश्चतुर्थी-बहुवचनस्य स्थानेऽभ्यमादेशो भवति । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यं दीयते; प्रियुष्मभ्यम् प्रियास्मभ्यम्; त्वामतिक्रान्तेभ्यः- अतित्वभ्यम्, अतिमभ्यम्; युवामतिक्रान्तेभ्यः–अतियुवभ्यम्, बाधनार्थम् ॥18॥

*न्या०स०–अभ्यमि*त्यादि । कार्यिणः प्रथमं निर्देशे प्राप्ते कार्यस्य प्रथममुपादानं प्रत्यासत्तिसूचनार्थम्, पाठापेक्षया च चतुर्थ्येव प्रत्यासन्न ति तस्या एवादेशः, यद्वा ``ङसेश्चाद्'' (2. 1. 19.) इत्यत्र चकारो भ्यसोऽनुकर्षणार्थः, स च ङसिसाहचर्यात् पञ्चमी-सम्बन्ध्येव गृह्यत इति पारिशेष्यादिह चतुर्थीभ्यसो ग्रहणमित्याह–*चतुर्थीबहुवचनस्ये*ति ॥19॥

ङसेश्चाद् ॥ 2. 1. 19. ॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य स्वसम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वा ङसेश्चकारात् तत्सहचरितस्य भ्यसः स्थाने `अद्' इत्ययमादेशो भवति । त्वद्, मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तात्- अतित्वद्, अतिमद्; अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् । भ्यस्-युष्मद्, अस्मद्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तेभ्यः–अतित्वद्, अतिमद्; अतियुवद्, अत्यावद्; अतियुष्मद्, अत्यस्मद् । पञ्चमीभ्यसो ग्रहणाच्चतुर्थीभ्यसो न भवति युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ॥19॥

*न्या०स०–ङसेरि*त्यादि-चकारेण भ्यसोऽनुकर्षणेऽपि भ्यसो ङसेश्चैकवचनानन्तनिर्देशन द्विवचनानन्तनिर्दिष्टाभ्यां युष्मदस्मद्भ्यां सह वैषम्याद् यथासंख्याभाव इति ॥19॥

आम आकम् ॥ 2. 1. 20. ॥

`युष्मद् अस्मद्' इत्येताभ्यां परस्य स्वसम्बन्धिनोऽन्यसम्बन्धिनो वाऽऽमः स्थाने `आकम्' इत्यादेशो भवति । युष्माकम्, अस्माकम्; प्रिययुष्माकम्, प्रियास्माकम्; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्तानाम्-अतित्वाकम्, अतिमाकम्; अतियुवाकम्, अत्यावाकम्; अतियुष्माकम्, अत्यस्माकम्; आकमित्याकारो ण्यन्तार्थम्-युष्मानाचक्षाणानां णौ क्विपि-युष्माकम्, अस्माकम्; ।

केचित् तु तत्सम्बन्धिन एवाऽऽमः आकमादेशमिच्छन्ति, तथाऽऽम्प्रत्यये दकारस्य यत्वमपीच्छन्ति, तन्मते प्रिया यूयं येषां तेषां प्रिययुष्मयाम्, प्रियास्मयाम्; एवम्-अतियुष्मयाम्, अत्यस्मयाम् ॥20॥

न्या०स०—ग्राम इत्यादि । आमः कमिति कृते ``युष्मदस्मदोः'' (2. 1. 6.) इत्यात्वे कृते युष्माकमित्यादि सिध्यति, किमाकारकरणेनेत्याह-आकमित्यादि । *केचित्त्विति*-पाणिनिसूत्रानुसारिणः, ते हि ``साम आकम्'' (पा० 7. 1. 33.) इति पठन्तः कृतसामादेशस्याम आकमिच्छन्ति, स च ``अवर्णस्यामः'' (1. 4. 15.) इति तत्सम्बन्धिन एवेति ।।20।।

पदाद् युग्विभक्त्यैकवाक्ये वस्-नसौ बहुत्वे ।। 2. 1. 21. ।।

द्वितीया चतुर्थी षष्ठी च युग्विभक्तिः, तया बहुत्वविषयया सह पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं `वस्नस्' इत्येतावादेशौ वा भवतः, तच्चेत् पदं युष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः, अन्वादेशे नित्यं विधास्यमानत्वादिह विकल्पो लभ्यते, एवमुत्तरसूत्रत्रयेऽपि ।

धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु; धर्मो युष्मान् रक्षतु, धर्मोऽस्मान् रक्षतु; तपो वो दीयते, तपो नो दीयते; तपो युष्मभ्यं दीयते, तपोऽस्मभ्यं दीयते; शीलं वः स्वम्, शीलं नः स्वम्; शीलं युष्माकं स्वम्, शीलमस्माकं स्वम् ।

पदादिति किम् ? युष्मान् धर्मो रक्षतु, अस्मान् धर्मो रक्षतु । युग्विभक्त्येति किम् ? ज्ञाने यूयं तिष्ठत, शीले वयं स्थास्यामः; ज्ञाने युष्माभिः स्थितम्, शीलेऽस्माभिः स्थितम्; ज्ञानं युष्मदागतम्, शीलमस्मदागतम्; ज्ञानं युष्मासु तिष्ठति, शीलमस्मास्वायतते; ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत्पुत्रः; इति युष्मदुपाध्यायो ब्रूते, इत्यस्मदाचार्योऽनुशास्ति ।

एकवाक्य इति किम् ? एकस्मिन् पदे निमित्त-निमित्तिनोर्भावे मा भूत्-अति-युष्मान् पश्यति, अत्यस्मान् पश्यति; वाक्यान्तरे च मा भूत्-ओदनं पचत, युष्माकं भविष्यति; पटं वयत, अस्माकं भविष्यति । ननु च वाक्यान्तरस्थात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोः सामर्थ्याभावादेव वस्-नसादयो न भविष्यन्ति, किमेकवाक्यग्रहणेन ? नैवं शङ्क्यम्-युक्तयुक्तादपि पदादसमर्थत्वात् न प्राप्नुवन्ति इति स्म नः पिता कथयति, इति वः श्रेयसी ब्रवीमि, इति मे माताऽवोचत्, शालीनां ते ओदनं दास्यामि; अत्र हि युष्मदस्मदी पित्रादिभिर्युक्त न पित्रादियुक्त रिति—स्मादिभिरिति वस्नसादयो न स्युः, अतः पारम्पर्येणापि युक्तादेकवाक्यस्थात् पदात् परयोर्युष्मस्मदोर्वस्नसादयो भवन्त्वित्येकवाक्य-ग्रहणमर्थवत् । बहुत्व इति किम् ? धर्मो युवां रक्षतु, धर्मस्त्वां रक्षतु । स्याद्यधिकारे विभक्तिग्रहणं युक्स्यादिवचननिवृत्त्यर्थम्, तेन ज्ञाने युवां तिष्ठतः, शीले आवां तिष्ठाव इत्यत्रोत्तरेण वाम्-नावादेशौ न भवतः ।।21।।

न्या०स०—*पदादि*त्यादि—पद्यते गम्यते कर्तृ कर्मविशिष्टोऽर्थोऽनेनेति पदम् विभक्त्या सह समानाधिकरणार्थ युनक्तीति युङ् कर्तरि क्विप्, यद्वा योजनं युङ० सममविषमं संख्यास्थानं

युग्ममिति यत् संख्यायते, तेन परिच्छिन्नं वस्त्रमपि युगित्युच्यते, ततः समसंख्या द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठीरूपा विभक्तयो युग्शब्देनोच्यन्त इति । *धर्मो वो रक्षत्विति*-अत्र पदादेशः पदवदिति 'वस्' इत्यस्य पदत्वे ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वं बभूव । तथा ``शसो नः'' (2. 1. 10.) ``शेषे लुक्'' (2. 1. 8.) इत्यादीनि बाधित्वा नित्यत्वाद् निरवकाशत्वाच्च वस्नसावेव भवत इति ।

एकवाक्य इति—एकं च तद् वाक्यं चेति ``पूर्वकालैक०'' (3. 1. 90.) इत्यनेन समासे एकस्य पूर्वनिपातः, ततो विशेषणस्य व्यवच्छेदकत्वात् ❊ सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति ❊ इति न्यायाच्च एकस्मिन् वाक्य एव भवतीति न तु पदे, अतियुष्मान् पश्यतीत्यादौ तु यथैकस्मिन् वाक्ये तथा एक विभक्त्यपेक्षया एकस्मिन् पदेऽपि युष्मदस्मदी स्त इति, तथा एकस्मिन्नेव वाक्ये इत्यवधारणाद् यदि पदं युष्मदस्मदी चैकस्मिन्नेव वाक्ये भवतो न तु वाक्यान्तरे तदा वस्नसी भवतः । *सामर्थ्याभावादेवेति*-परस्परव्यपेक्षालक्षणसम्बन्धाभावादेवेत्यर्थः ।

किमेकवाक्य-ग्रहणेनेति-किं सविशेषणेन वाक्यग्रहणेन ? वाक्यग्रहणमेव पदव्यवच्छेदाय कर्त्तुं युक्तं किमेकग्रहणेनेत्यर्थः । *युक्तयुक्तादिति* युक्तने युष्मदस्मत्संबद्धेन पित्रादिना यत् युक्तमिति- स्मेत्यादि तस्मादित्यर्थः । *इति-स्मेत्यादि*-अत्रेतिस्मेत्यादि पदं साक्षात् युष्मदादिकं नापेक्षते, किं तर्हि पित्रादिकमिति एकवाक्यग्रहणात् सामर्थ्याभावेऽपि एकवाक्ये पदात् परस्य युष्मदादे रादेशः सिद्धः । तथा 'युग्बहुत्वे' इत्यप्युक्ते द्वितीया-चतुर्थी-षष्ठी बहुवचनानि । लब्धानि, विभक्तिग्रहणं तूत्तरार्थमिह च क्लिष्टतापरिहारार्थमिति ।।21।।

द्वित्वे वाम्-नौ ।। 2. 1. 22. ।।

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्द्वित्वविषयया युग्विभक्त्या सह यथासंख्यं वाम्नावित्येतावादेशौ वा भवतः, तच्चेत् पदं युष्मदस्मदी चैकवाक्ये भवतः । धर्मो वां रक्षतु, धर्मो नौ रक्षतु; धर्मो युवां रक्षतु, धर्म आवां रक्षतु; शीलं वां दीयते, शीलं नौ दीयते; शीलं युवाभ्यां दीयते, शीलमावाभ्यां दीयते; ज्ञानं वां स्वम्, ज्ञानं नौ स्वम्; ज्ञानं युवयोः स्वम्, ज्ञानमावयोः स्वम् । युग्विभक्त्येत्येव-ग्रामे युष्मत्पुत्रः, नगरेऽस्मत्पुत्रः ।

पदादित्येव-युवां धर्मो रक्षतु, आवां धर्मो रक्षतु । एकवाक्य इत्येव-ओदनं पचत, युवयोर्भविष्यति, आवयोर्भविष्यति ।।22।।

न्या०स०—द्वित्वे इत्यादि । द्वित्व इति भावप्रत्ययान्तेन संख्या निर्दिश्यते, संख्यायां च विभक्तिर्वर्त्तते न युष्मदस्मदी द्रव्यवृत्तित्वात् तयोरिति द्वित्व इति विभक्तेरेव विशेषणमित्याह—*द्वित्व विषयये*ति ।।22।।

ङे-ङसा ते-मे ॥ 2. 1. 23. ॥

`ते-मे' इति लुप्तद्विवचनान्तं पदम्, पदात् परयोर्युष्मदस्मदो `ङें ङस्' इत्येताभ्यां सह `ते मे' इत्येतावादेशौ यथासंख्यं वा भवत एकवाक्ये, ङेङसेत्येकवचनं स्थानिभ्यामादेशाभ्यां च यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् । धर्मस्ते दीयते, धर्मस्तुभ्यं दीयते; धर्मो मे दीयते, धर्मो मह्यं दीयते; शीलं ते स्वम्, शीलं तव स्वम्; शीलं मे स्वम्, शीलं मम स्वम्; धर्मस्ते स्वम्, धर्मो मे स्वम्; धर्मस्तव स्वम्, धर्मो मम स्वम् ।

पदादित्येव-तुभ्यं धर्मो दीयते, मह्यं धर्मो दीयते; तव शीलं स्वम्, मम शीलं स्वम् । एकवाक्य इत्येव-ओदनं पच, तव भविष्यति, मम भविष्यति; त्वां युवां युष्मान् वाऽतिक्रान्ताय-अतितुभ्यम् । ङे-ङसेति किम् ? पटस्त्वया क्रियते । धर्मो मया क्रियते । कथं `न मे श्रुता नापि च दृष्टपूर्वा' न मे-न मयेति ह्यत्रार्थः; असाधुरेवायम्; स्यादिप्रति-रूपकमव्ययं वा ॥23॥

न्या०स०—ङे-ङसेत्यादि । *दृष्टपूर्वे*ति-पूर्व दृष्टा ``नाम नाम्ना०'' (3. 1. 18.) इति सः, स्त्री चेत् ॥23॥

अमा त्वा-मा ॥ 2. 1. 24. ॥

पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरमा-द्वितीयैकवचनेन सह `त्वा मा' इत्येतावा-देशौ यथासंख्यं वा भवत एकवाक्ये । धर्मस्त्वा रक्षतु, धर्मो मा रक्षतु; धर्मस्त्वां रक्षतु, धर्मो मां रक्षतु । पदादित्येव—त्वामीक्षते, मामीक्षते । एकवाक्य इत्येव-अतित्वां पश्यतु, अतिमां पश्यतु ॥24॥

न्या०स०—अमा त्वा-मा इति । अम् यद्यप्यनेकप्रकारोऽस्ति, तथाहि-एकः ``अतः स्यमोऽम्'' (1. 4. 57.) इति, द्वितीयो ``अव्ययीभावस्या०'' (3. 2. 2.) इति, तृतीय आख्यातविभक्तेः `अम्व् अम्' इति, तथापि युष्मदस्मद्भ्यामन्यस्यासंभवाद् द्वितीयैकवचनमेव गृह्यते इत्याह-*अमा-द्वितीयैकवचनेने*ति ॥24॥

असदिवाऽऽमन्त्र्यं पूर्वम् ॥ 2. 1. 25. ॥

आमन्त्र्यते यत् तदामन्त्र्यम्, तद्वाचि पदं युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वमसदि अविद्यमानमिव भवति, सति तस्मिन् यत् कार्यं तन्न भवति, असति यद् तद् भवतीत्यर्थः । श्रमणा ! युष्मान् रक्षतु धर्मः, श्रमणा ! अस्मान् रक्षतु धर्मः; श्रमणा ! युष्मभ्यं दीयते, श्रमणा ! अस्मभ्यं

दीयते; श्रमणा ! युष्माकं शीलम्, श्रमणा ! अस्माकं शीलम्; श्रमणौ युवां रक्षतु धर्मः, श्रमणौ ! आवां रक्षतु धर्मः; श्रमणौ ! युवाभ्यां दीयते, आवाभ्यां दीयते; श्रमणौ ! युवयोः स्वम्, आवयोः स्वम्; श्रमण ! त्वां रक्षतु तपः, मां रक्षतु तपः; श्रमण ! तुभ्यं दीयते, मह्यं दीयते; श्रमण ! तव शीलम्, मम शीलम्; एष्वामन्त्र्यस्यासत्त्वाद् वस्नसादयो न भवन्ति ।

ग्रामश्चैत्र ! ते स्वमथो' इत्यादौ चैत्रपदस्यामन्त्र्यस्यासत्त्वाद् ग्रामपदापेक्षयाऽन्वादेशे नित्यं ते-मयादिविधिः, न तु ``सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा'' (2. 1. 32.) इति विकल्पः । इवकरणं किम् ? श्रवणं यथा स्यात् । आमन्त्र्यमिति किम् ? धर्मो वो रक्षतु, धर्मो नो रक्षतु । पूर्वमिति किम् ? ``मयैतत् सर्वमाख्यातं, युष्माकं मुनिपुङ्गवाः !'' परस्य ह्यसद्वत्त्वे पादादिलक्षणः प्रतिषेधो न स्यात् । व्यवहितेऽपि पूर्वशब्दो वर्त्तते, तेन–'चैत्र ! धर्मो वोऽथो रक्षतु, चैत्र ! धर्मो नोऽथो रक्षतु' अत्र ``सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा' (2. 1. 32.) इति विकल्पो न भवति ॥25॥

*न्या०स०–असदिवे*त्यादि–योऽर्थः स्वेन धर्मेण प्रसिद्धो धर्मान्तरसम्बन्धं प्रत्यभि- मुखीक्रियते स आमन्त्र्यः, यथा देवदत्तो देवदत्तत्वेन प्रसिद्धो धर्मान्तरेऽभिमुखीक्रियते, यथा पच पठेत्यादि, तत्रार्थे कार्यासंभवादुपचारादामन्त्र्याभिधायि पदमामन्त्र्यं विज्ञायत इति । अथोत्तरत्र नित्यग्रहणादस्मिन् सूत्रे कथं विकल्पो न लभ्यते इति,

उच्यते-नित्यं विधास्यमानत्वादिति भणनाद् यत्रैव वस्नसादयो विधीयन्ते तत्रैव विकल्प उपतिष्ठते न वस्नसादीनां निषेध इति । अथवा यद्यत्रापि सूत्रे विकल्पः स्यात् तदा किमेतत्सूत्रकरणेन ? यतः ``असदि-वामन्त्र्यं पूर्वम्'' (2. 1. 25.) इति कृतेऽपि वस्नसादयो विकल्पन्ते, ते च ``पदाद् युग्विभ-क्त्या०'' (2. 1. 21.) इत्यनेनैव विकल्पेन भविष्यन्ति । *श्रवणं यथा स्या*दिति-अन्यथा लोपः स्यात् ``ते लुग् वा'' (3. 2. 108.) इत्यनेनैव । *पादादिलक्षण* इति-मुनिपुङ्गवा इत्यस्य पदस्याऽसत्त्वे पदस्याभावादित्यर्थः । मुनिपुङ्गवा इति सिंहादित्वात् समासः कर्म्मधारयो वा । *व्यवहितेऽपी*ति-यथा मथुरायाः पूर्वं पाटलिपुत्रमिति । *पूर्वशब्दो वर्तते* इति-अयमर्थः यद्यव्यवहितस्यैव पूर्वस्यानेनाऽसद्भावो विधीयेत न व्यवहितस्य तदा पूर्वग्रहणमपनीय ``असदिवामन्त्र्याद्'' इत्येव क्रियेत, यतः पूर्वस्याविद्यमानवद्भावे वस्नसाद्यभावः प्रयोजनम्, तच्चेत्थमपि कृते सिध्यति; तथोत्तरसूत्रेऽप्येतदानुगुण्येन ``जस्विशेष्याद्'' (2. 1. 26.) इत्येवं विधीयेतेति ॥25॥

जस्विशेष्यं वाऽऽमन्त्र्ये ॥ 2. 1. 26. ॥

तदतद्विषयं विशेष्यम्, तस्य व्यवच्छेदकं विशेषणम्; युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तमामन्त्र्यं

पदं विशेष्यमामन्त्र्ये पदे सामर्थ्यात् तद्विशेषणभूते परेऽसदिव वा भवति, पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पः । जिनाः ! शरण्या ! युष्मान् शरणं प्रपद्ये । जिनाः ! शरण्या ! वः शरणं प्रपद्ये । जिनाः ! शरण्या ! अस्मान् रक्षत । जिनाः ! `शरण्या ! नो रक्षत । सिद्धाः ! शरण्या ! युष्मानथो शरणं प्रपद्ये । सिद्धाः शरण्या ! वोऽथो शरणं प्रपद्ये । सिद्धाः ! शरण्या अस्मानथो रक्षत । सिद्धाः ! शरण्या ! नोऽथो रक्षत । जसिति किम् ? साधो ! सुविहित ! वोऽथो शरणं प्रपद्ये, साधो ! सुविहित ! नोऽथो रक्ष । विशेष्यमिति किम् ? शरण्याः ! साधवो ! युष्मान् शरणं प्रपद्ये, शरण्याः ! साधवोऽस्मान् रक्षत । आमन्त्र्य इति किम् ? आचार्या ! युष्मान् शरण्याः ! शरणं प्रपद्ये, अत्रामन्त्र्यं विशेषणं व्यवहितत्वाद् न परमिति न भवति । सामर्थ्यात् तद्विशेषणभूत इति किम् ? आचार्या ! उपाध्याया ! युष्मान् शरणं प्रपद्ये ।।26।।

न्या०स०—जस्वि० इत्यादि । *तदतद्विषयमि*ति-शब्दप्रधानत्वात् स्याद्वादाश्रयणेन शब्दार्थयोरैक्याद् वाऽर्थाभावे त्यदादित्वाभावात् तच्छब्दावयवयोगात् समुदायोऽपि तद् इत्यादि कृत्वा कर्मधारयकरणात् बाहुलकाद् वा नैकशेषः, तच्च अतच्च तदतदी, द्वन्द्वे ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इति न ``न सर्वादिः'' (1. 4. 12.) इति निषेधात् ।

सामर्थ्यात् तद्विशेषणभूत इति । विशेष्यस्य विशेषणाकाङ्क्षिण एकवाक्योपात्तत्वेन सामर्थ्यात् सन्निहितत्वाद् विशेष्यत्वनिमित्तमामन्त्र्य इत्येतदेव विशेषणं विज्ञायत इति । *जिनाः ! शरण्या* इत्यत्र शरणमिति सामान्यकर्म, युष्मानिति विशेषकर्म । *सिद्धाः ! शरण्या ! युष्मानथो शरणं प्रपद्ये* इत्यादौ ``सपूर्वात्०'' (2. 1. 32.) इत्यादिना वा वस्नसौ प्राप्तावपि ``असदिवा०'' (2. 1. 25.) इत्यनेन निषिद्धौ पुनरऽनेन विकल्प्येते । *जसिति किम् ? साधो ! सुविहिते*ति-अत्र द्वयोरपि पदयोः ``असदिवा०'' (2. 1. 25.) इत्यसत्त्वे प्राप्ते ``नान्यत्'' (2. 1. 27.) इत्यनेन साधो ! इत्यस्यासत्त्वाभावः, ``नित्य-मन्वादेशे'' (2. 1. 31.) इत्यनेन च वस्नसौ । *शरण्या ! साधवो ! युष्मानि*ति-अत्र द्वयोरपि ``असदिवा०'' (2. 1. 25.) इत्यसद्वद्भावः । *आचार्या ! युष्मान् शरण्या !* इति-अत्रामन्त्र्यस्य विशेष्यस्य व्यवहितत्वेन परत्रोपश्लेषाभावान्न भवति । *आचार्या ! उपाध्याया !* इति—अत्र भिन्नाधिकरणयोः पदयोर्न पूर्वं विशेष्यं न परं विशेषणमिति ``सामर्थ्यात् तद्विशेषणभूते'' इति भणनान्न भवति ।।26।।

नान्यत् ।। 2. 1. 27. ।।

युष्मदस्मद्भ्यां पूर्वं जसन्तादन्यदामन्त्र्यं पदं विशेष्यमामन्त्र्ये पदे तद्विशेषणभूते परेऽसदिव न भवति । साधो ! सुविहित ! त्वा शरणं प्रपद्ये । साधू ! सुविहितौ ! वां शरणं प्रपद्ये । साधो ! सुविहित ! मा रक्ष । साधू ! सुविहितौ नौ रक्षतम् । साधो ! सुविहित ! ते ज्ञानं

दीयते । मे ज्ञानं दीयताम् । साधू ! सुविहितौ ! वां ज्ञानं दीयते । नौ ज्ञानं दीयताम् । साधो ! सुविहित ! ते शीलं स्वम्? । मे शीलं स्वम्? । साधू ! सुविहितौ ! वा शीलं स्वम् । नौ शीलं स्वम्; अत्र परस्य ``असदिवामन्त्र्यं पूर्वम्'' (2. 1. 25.) इत्यसत्त्वेऽपि पूर्वविशेष्यपदाश्रया युष्मदस्मदादेशा भवन्ति । विशेष्यमित्येव–सुविहित ! तव शीलं, मम शीलम् ।।27।।

न्या०स०–नान्यदिति । ``जस् विशेष्यम्०'' (2. 1. 26.) इत्यस्य प्रधान-तयाऽन्यदिति सम्बध्यते–इत्याह–*जसन्तादिति* ।।27।।

पादाद्योः ।। 2. 1. 28. ।।

नियतपरिमाणमात्राक्षरपिण्डः पादः, पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्नसादि तत् पादस्यादिभूतयोर्न भवति ।

``वीरो विश्वेश्वरो देवो, युष्माकं कुलदेवता ।
स एव नाथो भगवानस्माकं पापनाशनः'' ।।1।।

पादाद्योरिति द्विवचनं युष्मदस्मदोरभिसम्बन्धार्थम्, पादादाविति ह्यु च्यमाने आमन्त्रम-भिसम्बध्येत । पादाद्योरिति किम्?

``पान्तु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रा दशनांशवः ।
भवकूपपतज्जन्तुजातोद्धरणरज्जवः'' ।।2।।28।।

न्या०स०–पादा० इत्यादि । मात्राश्च अक्षराणि च मात्राक्षराणि, नियतपरिमाणानि च तानि मात्राक्षराणि च तेषां पिण्डः, यद्वा मात्राक्षराणां पिण्डः2, नियतपरिमाणश्चासौ मात्राक्षरपिण्डश्च 2 । *पादादाविति ह्यु च्यमाने* इति-पादादावित्यस्यान्त्र्या-भिसम्बन्धे किं स्यात् ?

``जिनेश ! त्वां नमस्कृत्य, यन्नरो मुक्तिमिच्छति ।
अतो नरसुराधीशस्तुत्यस्तोत्रं त्वमर्हसि'' ।।1।।

इत्यत्रामन्त्र्यस्य पदस्यादिभूतस्य सत्त्वात् त्वादेशः प्रसज्यतेऽतो द्विवचनमदात् सूरिः। *देशनाकाल* इति-देशनं देशस्तं करोति ``णिज् बहुलम्०'' (3. 4. 42.) देश्यते इति ``णिवेत्त्यास०'' (5. 3.111.) इत्यनः ।।28।।

चा-ऽह-ह-वैवयोगे ।। 2. 1. 29. ।।

'च अह ह वा एव' इत्येतैर्योगे-सम्बन्धे पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्नसादि तन्न भवति । ज्ञानं युष्मांश्च रक्षतु, अस्मांश्च रक्षतु; ज्ञानं युष्मानह रक्षतु, अस्मानह रक्षतु; ज्ञानं युष्मान् ह रक्षतु, अस्मान् ह रक्षतु; ज्ञानं युष्मान् वा रक्षतु, अस्मान् वा रक्षतु; ज्ञानं युष्मानेव रक्षतु, अस्मानेव रक्षतु; ज्ञानं युष्मभ्यं च दीयते, अस्मभ्यं च दीयते; ज्ञानं युष्माकं च स्वम्, अस्माकं च स्वम्; ज्ञानं युवां च रक्षतु, ज्ञानमावां च रक्षतु; ज्ञानं युवाभ्यां च दीयते, आवाभ्यां च दीयते; ज्ञानं युवयोश्च स्वम्; आवयोश्च स्वम्; ज्ञानं त्वां च रक्षतु, मां च रक्षतु; ज्ञानं तुभ्यं च दीयते, मह्यं च दीयते; ज्ञानं तव च स्वम्, मम च स्वम् ।

योगग्रहणं किम् ? ज्ञानं च शीलं च वो रक्षतु, नो रक्षतु; ज्ञानं च शीलं च वां दीयते, नौ दीयते; ज्ञानं च शीलं च ते स्वम्, मे स्वम्; ज्ञानं च शीलं च त्वा रक्षतु, मा रक्षतु; ज्ञानं च ते स्वम्, ज्ञानं च मे स्वम्; नैतेषु चशब्देन युष्मदस्मदोर्योगोऽपि तु ज्ञान-शीलयोः । ``चाहवैवैः'' इत्येव सिद्धे योगग्रहणं साक्षाद्योगप्रतिपत्त्यर्थम् ॥29॥

न्या०स०—चाहहेत्यादि । *योग* इति-चादिद्योत्यसमुच्चयाद्यर्थस्य साक्षाद् युष्मदस्मदर्थसम्बन्ध इत्यर्थः, ज्ञानं च शीलं चेत्यत्र चशब्देन ज्ञानशीलयोः सद्वितीयता द्योत्यते न तु युष्मदस्मदर्थयोरिति । *योगग्रहणमि*ति-अयमर्थः—योगग्रहणं विना अर्थात् प्रकरणाद् वा चादिषु गम्यमानेष्वपि स्यादिति ॥29॥

दृश्यर्थै श्चिन्तायाम् ॥ 2. 1. 30. ॥

दृशिना समानार्था दृश्यर्थाः, तैर्धातुभिश्चिन्तायां वर्तमानैर्योगे युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्नसादि तन्न भवति । जनो युष्मान् संदृश्यागतः, जनोऽस्मान् संदृश्यागतः; जनो युवां समीक्ष्यागतः, जन आवां समीक्ष्यागतः; जनस्त्वामपेक्षते, जनो मामपेक्षते; ज्ञानं युष्मभ्यं दीयमानमुत्पश्यति, ज्ञानमस्मभ्यं दीयमानमुत्पश्यति; ज्ञानं युवाभ्यां दीयमानं निरूपयति, ज्ञानमावाभ्यां दीयमानं निरूपयति; ज्ञानं तुभ्यं दीयमानं निध्यायति, ज्ञानं मह्यं दीयमानं निध्यायति; जनो युष्माकं चित्तमुपलक्षयति, जनोऽस्माकं चित्तमुपलक्षयति; जनो युवयोः कार्यं संपश्यति, जन आवयोः कार्यं संपश्यति; गुरुस्तव कार्यमालोचयति, गुरुर्मम कार्यमालोचयति; सर्वत्र मनसा चिन्तनं दृश्यर्थानामर्थः ।

दृश्यर्थैरिति किम् ? जनो वो मन्यते, जनो नो मन्यते । चिन्तायामिति किम् ? जनो वः पश्यति, जनो नः पश्यति; जनो वामीक्षते, जनो नावीक्षते; जनस्त्वा लोकयति, जनो मा लोकयति; सर्वत्र चक्षुषा पश्यतीत्यर्थः ॥30॥

न्या०स०–दृश्यर्थैरित्यादि । *दृश्यर्थैः* अत्रार्थे स्वरूपे वा किः, तत्र यदार्थे तदा दृशिरर्थो येषाम्, स्वरूपे तु दृशेरर्थो दर्शनमालोचनं येषां धातूनाम् । *जनो वो मन्यते* इति-नाऽयं दृश्यर्थः, दृश्यर्थो नाम यश्चक्षुःसाधने विज्ञाने वर्त्तते, अतो न निषेध इति ॥30॥

नित्यमन्वादेशे ॥ 2. 1. 31. ॥

कथितानुकथनमन्वादेशः, कस्यचिद् वस्तुनः किञ्चित् क्रियादिकं विधातुं कथितस्य तेनान्येन वा शब्देन पुनरन्यद् विधातुं कथनमित्यर्थः, तस्मिन् विषये पदात् परयोर्युष्मदस्मदोर्यदुक्तं वस्नसादि तन्नित्यं भवति । यूयं विनीतास्तद् । वो गुरवो मानयन्ति, वयं विनीतास्तन्नो गुरवो मानयन्ति; युवां शीलवन्तौ तद् वां गुरवो मानयन्ति, आवां शीलवन्तौ तन्नौ गुरवो मानयन्ति; त्वं विद्वानथो ते क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते, अहं विद्वानथो मे क्षमाश्रमणैर्ज्ञानं दीयते; धनवांस्त्वमथो त्वा लोको मानयति, धनवानहमथो मा लोको मानयति ॥31॥

न्या०स०–नित्यमित्यादि । नन्वत्र निषेधाधिकारे कथमिदं विधायकमभूत् ? सत्यम्-नित्यनिषेधाधिकारे यन्नित्यग्रहणं तदेवं बोधयति-विधानसूत्रमिदमिति । न चेदं वाच्यम्-अत्र नित्यग्रहणाभावे ''पदाद्'' (2. 1. 21.) इति सूत्रे कथं विकल्प इति, तदा हि तत्रैव नवेति कुर्यादिति । कस्यचिद् द्रव्यस्य काञ्चित् क्रियां जाति गुणं द्रव्यं वा प्रतिपादयितुं कथितस्य तेन तदितरेण वा शब्देन पौनरुक्त्यं मा भूदिति विशेषान्तरं प्रतिपादयितुः पुनः कथनमन्वादेश इति यावत्, तेनान्येन वेति-युष्मदस्मच्छब्दाभ्यां कृत्वा विनीतत्वादिकं विधाय पुनर्युष्मदस्मद्भ्यां गुरुमाननादिकं विधीयते, अत्र सूत्रे तेनैव शब्देन कथनमस्ति, अन्येन तु कथनमुत्तरत्रैव ज्ञेयम् ।

पुनरन्यद् विधातुमिति-पुनःशब्दोपादानात् तस्यैव कथनं यदि भवति तदैवान्वादेशः, नह्यन्यस्य कथने पुनःशब्दार्थो घटते, तेन यत्रान्यस्य कथनं तत्र नान्वादेशः, ततश्च जिनदत्तमध्यापय, एतं च गुरुदत्तमित्यत्र तस्यैव जिनदत्तस्य कथनाभावादन्वादेशाभावात् ''त्यदामेनद्०'' (2. 1. 33.) इत्यनेन एनदादेशो न भवति ।

यूयं विनीता इति–अन्वादेशदर्शनार्थं वाक्यान्तरमिदमुपदर्शितम्, न तूत्तरपदसम्बद्धं बोधव्यम्, तेन तदित्यस्य पदस्य सपूर्वत्वाभावा-दुत्तरेण न विकल्पः, तदित्यव्ययं तस्मादित्यर्थे, विनीतततामात्रमत्रानूद्यते नापूर्वं किञ्चिद् विधीयते, *यूयं विनीता* इति प्रथमादेश उत्तर-स्यान्वादेशख्यापनार्थम्, *विनीता* इति विनीतत्वं प्रतिपादयितुं *यूयमित्युक्तम्* । *तद्वो गुरवो मानयन्ती*ति-अयमन्वादेशः, *यूयमि*ति यत् प्रथममुक्तं तस्यैव च *गुरवो मानयन्ती*ति प्रतिपादयितुं

द्वितीयं कथनम्, तत्र वसादेशः, एवं सर्वत्र ।।31।।

सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा ।। 2. 1. 32. ।।

विद्यमानपूर्वपदात् प्रथमान्तात् पदात् परयोर्युष्मदस्मदोरन्वादेशे वस्नसादय आदेशा वा भवन्ति । यूयं विनीतास्तद् गुरवो वो मानयन्ति, तद् गुरवो युष्मान् मानयन्ति; वयं विनीतास्तद् गुरवो नो मानयन्ति, तद् गुरवोऽस्मान् मानयन्ति; युवां सुशीलौ तज्ज्ञानं वा दीयते, तज्ज्ञानं युवाभ्यां दीयते; आवां सुशीलौ तज्ज्ञानं नौ दीयते, तज्ज्ञानमावाभ्यां दीयते; सुशीलस्त्वमथो क्षमाश्रमणास्ते ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणास्तुभ्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति; सुशीलोऽहमथो क्षमाश्रमणा मे ज्ञानं प्रयच्छन्ति, अथो क्षमाश्रमणा मह्यं ज्ञानं प्रयच्छन्ति; धनवानसि अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलस्तव स्वम्; धनवानहमथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम्; धनवांस्त्वं तल्लोकस्त्वा पूजयति, तल्लोकस्त्वां पूजयति; धनवानहं तल्लोको मा पूजयति, तल्लोको मां पूजयति । गम्येऽप्यन्वादेशे भवति-ग्रामे कम्बलो वः स्वमथो, ग्रामे कम्बलो युष्माकं स्वमथो इत्यादि ।

सपूर्वादिति किम् ? पटो युष्माकं स्वम्, अथो वः कम्बलः स्वम् । प्रथमान्तादिति किम् ? पटो नगरे युष्माकं स्वम्, अथो कम्बलो ग्रामे वः स्वम् । 'माणवक ! जटिलक ! ते स्वमथो इत्यादौ तु विशेषणपदस्य ``असदिवामन्त्र्यं पूर्वम्'' (2. 1. 25.) इत्यसद्वद्भावात् नास्ति सपूर्वप्रथमान्तमिति न भवत्येव विकल्पः । पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पार्थं वचनम् ।।32।।

*न्या०स०–सपूर्वा*दित्यादि । सहशब्दो विद्यमानवचनः, पूर्वशब्दो व्यवस्थार्थःसह-विद्यमानं पूर्वपदं यस्मात् ``एकार्थं च०'' (3. 1. 22.) इति समासः । *वेति*-प्रथमायाः प्रत्ययत्वात् ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इत्यादिनाऽन्तस्य लब्धत्वादन्तग्रहणं न्यायानुवादार्थमिति । *धनवानसी*त्यादि-अत्र अन्येन कथनमन्वादेशः, यतो धनवानसीत्यस्मिन्नन्वादेशदर्शके वाक्यान्तरे प्रथममसीत्युक्तम्, अथो ग्रामे कम्बलस्ते स्वमित्यत्र तु ते इत्युक्तम् ।

*गम्येऽप्यन्वादेशे भवती*ति यूयं धनवन्त इत्यादिपदोपादाने हि साक्षादन्वादेशो भवति, 'अथो' इत्यादेस्तु द्योतकमात्रस्योपा-दाने गम्य एव । '*माणवक ! जटिलक ! ते स्वमथो*' इत्यादौ तु विशेषणपदस्य जटिलक ! इत्यस्य ``असदिवा०'' (2. 1. 25.) इत्यसत्त्वम्, माणवक ! इत्यस्य तु विशेष्यपदस्य ``असदिवामन्त्र्यम्०'' (2. 1. 25.) इति नाऽसद्वत्त्वम्, ``नान्यद्'' (2. 1. 28.) इति प्रतिषे-धात् ।।32।।

त्यदामेनदेतदो द्वितीया-टौस्यवृत्त्यन्ते ।। 2. 1. 33. ।।

त्यदादीनां सम्बन्धिन एतदित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे 'एनद्' इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते–न चेदयमेतच्छब्दो वृत्तेरन्ते भवति । द्वितीया-उद्दिष्टमेतदध्ययन-मथो एनदनुजानीत; एतकं साधुमावश्यकमध्यापयाथो एनमेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः; सुशीलावेतौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता एते तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति; टा-एतेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम्; ओस्–एतयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्त्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि ज्ञातवन्तावेतौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः । त्यदामिति किम् ? एतदं संगृहाण अथो एतदमध्यापय, संज्ञायामसर्वादित्वादत्यदादिः । अवृत्त्यन्त इति किम् ? अथो परमैतं पश्य । अन्तग्रहणं किम् ? एनच्छ्रितकः, अत्रार्थात् प्रकरणाद् वाऽपेक्ष्ये निर्ज्ञाते सति समासोऽन्वादेशश्च । द्वितीया-टौसीति किम् ? एते मेधाविनो विनीता अथो एते शास्त्रस्य पात्रम्, एताभ्यां रात्रिरधीता अथो एताभ्यामहरप्यधीतम्, एतस्मै सूत्रं देहि, अथो एतस्मै अनुयोगमपि देहि; अभ्युदय-निःश्रेयसपदमेतच्छासनमथो एतस्मै नमो भगवते । अन्वादेश इत्येव-जिनदत्तमध्यापय एतं च गुरुदत्तम्, न पश्चात् कथनमात्रमन्वादेशः । यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा विधानं क्रियते तत्रापि न भवति–

(ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद्, (वाक्य-स्मरणयोरङित्) ।।33।।

*न्या०स०–त्यदामेनदेतदो द्वितीये*त्यादि । त्यच्च त्यदश्च त्यदः, "त्यदादिः" (3. 1. 120.) इत्येकशेषः, "आ द्वेरः" (2. 1. 41.) इति तु न भवति सूत्रत्वात्, शब्दार्थयोर्भेद-विवक्षायां निरर्थकत्वेन त्यदादित्वाभावाद् वा । *एताभ्यां रात्रिरधीते*ति अत्राविवक्षितकर्मण इङ्धातोर्योगे रात्रिलक्षणस्याधारस्य "काला-ऽध्व-भाव-देशं वा" (2. 2. 23.) इति कालस्य कर्मत्वे ततश्चाधीतेत्यत्र कर्मणि क्ते सति कर्मण उक्तत्वाद् रात्रिशब्दात् प्रथमा, यदिवा रात्रिसहचरितमध्ययनमपि उपचाराद् रात्रिशब्देनोच्यते ततः साऽधीतेति । *अर्थात् प्रकरणाद् वे*ति-प्रथमादेशसापेक्षत्वादन्वादेशस्य ।

ननु तत्रासामर्थ्यात् 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इत्यादिवत् समासाभावः, सामर्थ्यात् समासश्चेत् पूर्वकथनसापेक्षस्यान्वादेशस्याभाव इति परस्परविरोधादुभ-याभावादत्रादेशाभाव इत्याह-*अर्थादि*त्यादि-अर्थो वा तादृशो भवतिप्रकरणं वा येन ताभ्यामेवापेक्ष्यस्य प्रथमादेशस्य निश्चितत्वाद् वृत्तावेवान्तर्भावान्निरपेक्षत्वात् समासो भवति, यथा देवदत्तस्य गुरुकुलम् । *वस्तुमात्रनिर्देशं*

कृत्वेति-अनुवादमात्रं कृत्वेत्यर्थः, तत्रापि न भवति, यथा एतमातं ङितमित्यत्र ॥33॥

इदमः ॥ 2. 1. 34. ॥

त्यदादीनां सम्बन्धिन इदमित्यस्य द्वितीयायां टायामोसि च परेऽन्वादेशे 'एनद्' इत्ययमादेशो भवति, अवृत्त्यन्ते । उद्दिष्टमिदमध्ययनमथो एनदनुजानीत, इमकं साधुमावश्यकमध्यापय अथो एनमेव सूत्राणि, अत्र साकोऽप्यादेशः, सुशीलाविमौ तदेनौ गुरवो मानयन्ति, सुस्थिता इमे तदेनान् देवा अपि नमस्यन्ति; अनेन रात्रिरधीता अथो एनेनाहरप्यधीतम्; अनयोः शोभनं शीलमथो एनयोर्महती कीर्त्तिः, सर्वाणि शास्त्राणि ज्ञातवन्ताविमौ अथो एनयोस्तिष्ठतोर्नान्यः पूजार्हः ।

द्वितीया-टौसीत्येव-मत्पुत्रकौ शीलवन्ताविमकौ तिष्ठतः । अवृत्त्यन्त इत्येव-अथो परमेमं पश्य, वृत्त्यादौ तु भवत्येव-एनमेनां वा श्रित एनच्छ्रितकः । अन्वादेश इत्येव-चैत्रमध्यापय इमं च मैत्रम् । यत्रापि वस्तुमात्रनिर्देशं कृत्वा किञ्चिद् विधीयते तत्रापि न भवति-अयं दण्डो हरानेन फलानि । केचित् तु-इदम आदेशम् 'एनम्' इति मकरान्तं द्वितीयै-कवचने आहुः, तन्मते-इदं कुण्डमानयाथो एनं परिवर्त्तयेत्येव भवति योगविभाग उत्तरार्थः ॥34॥

न्या०स०–*इदम* इति । ''टौस्यनः'' (2. 1. 37.) इति ''दो मः०'' (2. 1. 39.) इति च प्राप्तेऽयमपवादः । *मत्पुत्रकावि*ति–कृत्रिमौ मत्पुत्रौ ''तनु-पुत्राणु०'' (7. 3. 23.) इति कः, अनुकम्पौ वा मत्पुत्रौ ''अनुकम्पा०'' (7. 3. 34.) इति कः । *शीलवन्ताविसकौ तिष्ठत* इति–अत्रापि पूर्ववद् गम्यमानोऽन्वादेशः, अथो इत्यादि तु द्योतकत्वात् क्वापि प्रयुज्यते: क्वापि न । *अयं दण्डो हरानेने*ति-अत्र ह्यनुवादमात्रमेव तु निभाल्यतामित्यादि विधीयते । *केचित् त्वि*ति-पाणिनिप्रभृतयः । *अथो* एनं *परिवर्तयेत्येव भवति* न तु कुण्डशब्दस्य नपुंसकस्य विशेषणत्व एनदिति ॥34॥

अद् व्यञ्जने ॥ 2. 1. 35. ॥

इदम इति षष्ठ्यन्तमपि सर्वादेशार्थं प्रथमान्ततयेह विपरिणम्यते, त्यदादिसम्बन्धीदम्शब्दो व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽन्वादेशे गम्यमानेऽद् भवति, अवृत्त्यन्ते, तकार उच्चारणार्थः । इमकाभ्यां शैक्षकाभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम्, इमकैः शैक्षकैः रात्रिरधीता अथो एभिरहरप्यधीतम्, एवम्-इमकस्मै अथो अस्मै, इमिकस्यै अथो अस्यै, इमकस्मादथो अस्मात्, इमकस्याथो अस्य, इमकेषामथो एषाम्, इमिकस्मिन्नथो अस्मिन्, इमकस्यामथो अस्याम्,

इमकेषु अथो एषु, इमिकासु अथो आसु ।

सौ तु परत्वादयमाद्यादेशः अथो अयं शीलवान् । केचिदेतदोऽपीच्छन्ति एताभ्यां छात्राभ्यां रात्रिरधीता अथो आभ्यामहरप्यधीतम्, एवम्—एतैः, एभिः, एतस्मै, अस्मै; इत्यादि । अन्वादेश इत्येव-इमकस्मै देहि । अवृत्यन्त इत्येव-अथो परमेमकाभ्यां रात्रि-रधीता । व्यञ्जन इति किम् ? अथो इमके तिष्ठन्ति । उत्तरत्र ``अनक्'' (2. 1. 36.) इति वचनादिह साक एव विधिः ।।35।।

न्या०स०—अद् व्यञ्जने इति-तकार उच्चारणार्थः, अन्यथा सौ ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इत्यादौ कृते 'ओ' इत्यनिष्टं रूपं स्यात् । *प्रथमान्ततयेह विपरिणम्यत* इति-अत एव कार्यी निमित्तं कार्यमिति निर्देशक्रमे प्राप्ते निमित्तात् पूर्वं कार्यनिर्देशः, उत्तरत्र ``अनक्'' (2. 1. 36.) इति प्रथमान्तविशेषणोपादानाद् वा । *शैक्षकाभ्यामि*ति-शिक्षेते इति शिक्षकौ, ततः स्वार्थे प्रज्ञाद्यण; शिक्षणं शिक्षा ``क्तेटो गुरो०'' (5. 3. 106.) इत्यप्रत्ययः, ततः शिक्षां वित्तोऽधीयाते वा ``पदक्रम-शिक्षा०'' (6. 2. 126.) इत्यकः, ततः शिक्षकावेव प्रज्ञाद्यण; अथवा शिक्षायां भवो ``शिक्षादेश्चाण्'' (6. 3. 148.) इत्यणि ततो यावादित्वात् कः । अथ सावपि व्यञ्जनादित्वात् कथं नायमादेश इत्याह—*सौ तु परत्वादि*ति । *केचिदि*ति चान्द्र-भोज-क्षीरस्वामिप्रभृतयः । *साक एव विधि*रिति विश्रान्तादौ-अन्वादेशे साको निरकश्चादादेशविधानादिहैवमपि व्याख्या-साको यद्यादेशस्तदाऽन्वादेश एवेति निरकोऽन्वादेशेऽनन्वादेशे चोत्तरेणादादेशः सिद्धः ।। 2. 1. 35. ।।

अनक् ।। 2. 1. 36. ।।

अन्वादेश इति निवृत्तं पृथग् योगात्, उत्तरार्थः । त्यदादिसम्बन्धिनि व्यञ्जनादौ स्यादौ परेऽग्वर्जित इदम् 'अद्' भवति । आभ्याम्, एभिः, आभिः; अस्मै, अस्यै; अस्मात्, अस्याः; अस्य, अस्याः; एषाम्, आसाम्; अस्मिन्, अस्याम्; एषु, आसु ।

अनिगिति किम् ? इमकाभ्याम्, इमकेभ्यः, इमकस्मै, इमिकस्यै, इमकेषाम् । तत्सम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति—अतीदंभ्याम्, अतीदंसु, प्रियेदंभ्याम्, प्रियेदंसु; इह तु भवति-परमाभ्याम्, परमैभिः, परमैभ्यः, परमास्मै, परमास्यै; परमास्मात्, परमास्याः; अत्र पूर्वोत्तरयोः पदयोः पूर्वं कार्ये कृते पश्चात् संधिकार्यम्, एतच्च ``आतो नेन्द्रवरुणस्य (7. 4. 29.) इत्यत्र ज्ञापयिष्यते । अभेदनिर्देशः सर्वादेशार्थः ।।36।।

न्या०स०–अनगिति । *पृथग् योगादिति*-पृथग् योगारम्भादिति, भावः अन्यथा साकोऽनकोऽप्यन्वादेशे पूर्वसूत्रेणैव सामान्यविधानेन सिद्धत्वात् सूत्रारम्भवैयर्थ्यमिति । अन्वादेशनिवृत्ती तत्सम्बद्धमवृत्यन्त इति च निवृत्तम् ।

ननु परमाभ्यामित्यादौ परादप्यदादेशात् समासे सति स्याद्युत्पत्तिसापेक्षत्वेन बहिरङ्गादन्तरङ्ग ``अवर्णस्य०'' (1. 2. 6.) इत्येत्वे कृते इदम्रूपाभावाददादेशाभावः प्राप्नो-तीत्याह–*अत्रेति*-किञ्च, परमेभिरित्यादिषु परमशब्दसम्ब-न्धिनाऽकारेण सह यदि एत्वलक्षणः संधिः प्रथममेव क्रियते तदा ❁ उभयस्थाने यः समुत्पद्यते स लभतेऽन्यतरव्यपदेशम् ❁ इति न्यायाद् यदा एकारस्य इदम्शब्दसम्बन्धिता तदा एकारेण सह इदमोऽत्वं स्यात्, ततः पूर्वस्य व्यञ्जनान्ततायामनिष्टरूपापत्तिः, यदा तु एत्वस्य इद्म्सम्बन्धिता न भवति तदा एकारस्य स्थितिः स्यात्, इत्युभयथाप्यनिष्टापत्तिः । *एतच्चेति*-कथमाग्नेन्द्रमित्यत्र प्रयोगे आकाराद् इन्द्र-वरुणस्थस्य स्वरस्य वृद्धिर्न भवतीत्युक्तम्, ततश्च यदि पूर्वमेव सन्धिकार्यं स्यात् तदा निषेधोऽनेन व्यर्थ एवेत्यर्थः ॥ 2. 1. 36. ॥

टौस्यनः ॥ 2. 1. 37. ॥

त्यदादिसम्बन्धिनि टायामोसि च परेऽग्वर्जितस्येदमः स्थाने 'अन' इत्ययमादेशो भवति । अनेन, अनया; अनयोः स्वम्, अनयोर्निधेहि; परमानेन, परमानयोः । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतीदमा, अतीदमोः, प्रियेदमा, प्रियेदमोः । अनक इत्येव-इमकेन, इमिकया; इमकयोः इमिकयोः ॥37॥

अयमियं पुंस्त्रियोः सौ ॥ 2. 1. 38. ॥

त्यदां सम्बन्धिनि सौ परे पुंल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्गयोरिदमः स्थाने यथा-संख्यम् 'अयम्, इयम्' इत्येतावादेशौ भवतः । अयं पुमान्, इयं स्त्री; परमायम्, अनयम्; परमेयम्, अनियम् ।

साविति किम् ? इमौ, इमे । त्यदादिसम्बन्धिः विज्ञानादिह न भवति-अतीदं पुमान् स्त्री वा, एवं-प्रियेदम् । पुं-स्त्रियोरिति किम् ? पुंसि 'इयम्' स्त्रियाम् 'अयम्' मा भूत् । नपुंसके तु नित्यत्वात् प्रथममेव सेर्लुपि इदं कुलमित्यत्र प्रसङ्ग एव नास्ति । साकोऽप्ययमियमादेशौ भवतः– अयम्, इयम्; अन्ये त्वादेशे कृते पश्चादकमिच्छन्ति-अयकम्, इयकम् ॥ 38 ॥

न्या०स०–अयमियमित्यादि-पूर्ववदलौकिको निर्देशः, लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं पदम् । *पुं-स्त्रियोरिति किम् ? पुंसि इयं स्त्रियामयं मा भूदिति*-ननु कथमिदमुक्तम् ? यावता नपुंसके

अयमियमादेशनिवृत्त्यर्थं पुं-स्त्रियोरिति वचनं स्यात्, तत्राह–*नपुंसके तु नित्यत्वादित्यादि* । ❊ अपेक्षातोऽधिकार ❊ इति ``अनक्'' (2. 1. 36.) इत्यत्र न सम्बध्यते, तेन मतान्तरे साकोऽप्यादेशः । केषाञ्चिन्मते-अकारान्त आदेशः, सेः स्थाने म् ।। 2. 1. 38. ।।

दो मः स्यादौ ।। 2. 1. 39. ।।

त्यदां सम्बन्धिनि स्यादौ परत इदमो दकारस्य मकारादेशो भवति । इमौ, परमेमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान्, इमकौ, इमकेन, इमकाभ्याम् । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतीदमौ, प्रियेदमौ ।।39।।

न्या०स०–दो मः स्यादाविति । स्याद्यधिकारे स्यादावित्युपादानात् स्यादिरेवाऽनुवर्त्तते, न किञ्चित् तद्विशेषणमित्याह-*स्यादाविति* ।।2. 1. 39. ।।

किमः कस्तसादौ च ।। 2. 1. 40. ।।

त्यदादिसम्बन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परे किम्शब्दस्य स्थाने 'क' इत्यकारान्त आदेशो भवति । कः, कौ, के; कम्, कौ, कान्; केन, काभ्याम्, कैः; स्त्रियाम्-का, के, काः; काम्, के, काः; नपुंसके-के, कानि; परमकः परमकौ; अकः, अकौ; साकोऽपि-कः, कौ; तसादौ-कदा, कर्हि ।

तसादौ चेति किम् ? किं तिष्ठति, किं पश्य, किंतराम् । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतिकिम्, अतिकिमौ, अतिकिमः; प्रियकिम्, प्रियकिमौ, प्रियकिमः । आदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात् तसादयस्थमवसाना ग्राह्याः ।।40।।

न्या०स०–किमः क इति। न च वाच्यमिदं सूत्रं किमर्थम् ? यतः ``आ द्वेरस्तसादौ च'' अग्रे ``इमः'' इति क्रियमाणे साकस्यानिष्टं रूपं स्यात्–ककः, ककौ । नन्वत्र तसादाविति किमर्थम् ? तसि तावत् ``इतोऽतः कुतः'' (7. 2. 90.) इति निपातनं वक्ष्यते, सत्यम्-उत्तरार्थमिदम्, अथवा थमन्तार्थं तसादिग्रहणम्, अन्यथाऽनवधिकं ज्ञायेत ।

अत्र पूर्वसूत्रात् स्यादावित्यनुवर्त्तमानेन सह तसादावित्यस्य समुच्चयार्थश्चकारः, यथा ``विशेष्यं विशेषण०'' (3. 1. 96.) इत्यत्र, अत एव ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यत्र स्यादावित्यस्यानुवृत्तिः, अन्यथा चानुकृष्टत्वान्नानुवर्त्तेत । *थमवसाना* इति-तेन किंतरामित्यादौ तदुत्तरेषु न भवति ।।2. 1. 40. ।।

आद्वेरः ॥ 2. 1. 41. ॥

द्विशब्दमभिव्याप्य त्यदादीनामन्तस्य तत्सम्बन्धिनि स्यादौ तसादौ च प्रत्यये परेऽकार आदेशो भवति । स्यः, त्यौ, त्ये; सः, तौ, ते; यः, यौ, ये; अमू, अमी; इमौ, इमे; एषः, एतौ, एते; एकः, एवम्—द्वौ, त्यकौ, परमत्यौ; स्त्रियाम्-स्या, त्ये, त्याः, द्वे; नपुंसके-त्ये, त्यानि, द्वे; तसादौ ततः, तत्र, तदा, तथा, तर्हि, यतः, यत्र, यदा, यथा । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-अतितद्, अतितदौ, अतितदः; प्रियतद्, प्रियतदौ, प्रियतदः । आ द्वेरिति किम् ? भवान् ॥41॥

न्या०स०—आ द्वेर इति । द्वाविच्छति क्यनि क्विपि तयोर्लोपे सौ अनेनेकारस्यात्वं न, त्यदादिसम्बन्धिस्याद्यभावाद् द्वीरित्येव भवति । एक इति-रूपनिर्णयार्थमिदं दर्शितं न तु किञ्चित् फलम् ॥ 2. 1. 41. ॥

तः सौ सः ॥ 2. 1. 42. ॥

आ द्वेस्त्यदादीनां सम्बन्धिनि सौ परे तकारस्य सकारादेशो भवति । स्यः, स्या, स्यकः, परमस्यः; सः, सा, सकः, परमसः एषः, एषा, एषकः, परमैषः; हे स !, हे परमस ! हे परमैष ! ।

त इति किम् ? यः । साविति किम् ? त्यद्, तद्, त्यौ, तौ । त्यदादिसम्बन्धिविज्ञानादिह न भवति-प्रियत्यद्, प्रियैतत् पुमान् । आ द्वेरित्येव-भवती ॥42॥

न्या०स०—तः सौ स इति । *भवती*ति—❁ नामग्रहणे० ❁ इति न्यायादत्रापि सत्वे भवसीति स्यात्, नपुंसके सेरभावात् पुंल्लिङ्गे तु सेः स्थानित्वेन सत्वे कृतेऽपि ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति सलोपे विशेषाभावात् स्त्रियामुदाहृतम् ॥ 2. 1. 42. ॥

अदसो दःसेस्तु डौ ॥ 2. 1. 43. ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसो दकारस्य सकारादेशो भवति, सेस्तु डो । असौ, असकौ; हे असौ ! हे असकौ विद्वन् !; असौ, असकौ स्त्री; हे असौ !, हे असकी स्त्रि !। सावित्येव—अदः, अमू । त्यदादिसंबन्धिविज्ञानादिह न भवति-अत्यदाः । डित्करणमन्त्यस्वरादि-लोपार्थम्, तेन ``औता'' (1. 4. 20.), ``एदापः'' (1. 4. 42.), ``दीर्घङ्याब्व्यञ्जनात् सेः''

(1. 4. 45.), ``अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्'' (2. 4. 110.) इति कार्याणि न भवन्ति, अन्यथा सेस्त्वौरित्येव क्रियेत ॥43॥

न्या०स०—अदसो० । *असाविति*—सेरनेन डौ ``डित्यन्त्यस्वरादेः'' (2. 1. 114.) इत्येव कार्यं, न तु ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इति प्रक्रियालाघवार्थं डित्करणस्य सर्व-कार्यबाधकत्वेन व्याख्यास्यमानत्वाच्च । *हे असौ ! हे असकौ विद्वन्निति*-अत्र औरित्यपि कृते ❊ तदादेशा० ❊ इति सेः स्थानित्वेऽपि ``अदेतः स्यमोः०'' (1. 4. 44.) इत्यस्य न प्रसङ्गः, सिद्धारेणाऽमोऽपि लुपि सिद्धायां यत् अम्ग्रहणं तदन्यस्य स्यादेशस्य निवृत्त्यर्थमिति तत्र व्याख्यानात् ।

कार्याणि न भवन्तीति-एतानि च स्त्रियां प्राप्नुवन्ति, तथाहि—अदस्शब्दात् सौ अनेन औकारे ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) इत्यत्वे अपि औव्यपदेशे ``औता'' (1. 4. 20.) इत्यस्य, सिव्यपदेशे तु आमन्त्र्ये ``एदापः'' (1. 4. 42.) इत्यस्य, अनामन्त्र्ये तु ``दीर्घङ्याब्०'' (1. 4. 45.) इत्यस्य, अकि तु ``अस्यायत्तत्०'' (2. 4. 111.) इत्यस्य प्राप्तिः । अय ``औता'' (1. 4. 20.) इत्यत्र प्रथमा—द्वितीयाद्विवचनेनेति व्याख्यानात् कथं सिस्थानौकारस्य प्राप्तिः, सत्यम्-अत्रैवं स्थिते तत्रैवं व्याख्यातमिति ``औता'' (1. 4. 20.) प्राप्नोत्येव ॥2. 1. 43.॥

असुको वाऽकि ॥ 2. 1. 44. ॥

त्यदादिसंबन्धिनि सौ परेऽदसोऽकि सति `असुक' इति दस्य सः सकारात् परस्याकारस्योकारः सेश्च डौत्वाभावो वा निपात्यते । असुकः, असकौ; हे असुक !, हे असकौ !; असुका, असकौ स्त्री । केचित् तु `असुकस्' इति सान्तं सिना सह निपातयन्ति ॥44॥

न्या०स०—असुको० । *असुक* इति-अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च ``अभ्वादेः०'' (1. 4. 90.) इति बाधित्वा सस्य ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) ``लुगस्या०'' (1. 1. 113.) इत्यलोपः, सो रुः ।

केचित् त्वसुकसिति—तन्मते संबोधने स्त्रियां च `असुकः' इति विसर्गान्त एव, स्वमते तु स्त्रियाऽसुका इति, स्त्रीसंबोधने तु हे असुके ! इति ॥2. 1. 44.॥

मोऽवर्णस्य ॥ 2. 1. 45. ॥

अवर्णान्तस्य त्यदादिसंबन्धिनोऽदसो दकारस्य मकार आदेशो भवति । अमू नरौ, स्त्रियौ, कुले वा; अमी नराः, अमूः स्त्रियः, अमूनि कुलानि; अमुं नरम्, अमूं स्त्रियम्,

अमूः स्त्रीः, अमून् नरान्, अमूनि कुलानि; अमुकौ नरौ, अमुके स्त्रियौ कुले वा; परमामुम्; अमूदृक्, अमूदृक्षः, अमूदृक्षः, अत्र ``अन्य-त्यदादेराः'' (3. 2. 152.) इत्यात्वे सत्यवर्णान्तत्वम् । अवर्णस्येति किम् ? अदः कुलम्, अदस्यति ।।45।।

न्या०स०—मोऽवर्णस्य । ननु अदः कुलमिच्छतीत्यस्मिन् वाक्ये अदस्शब्दान्न-पुंसकादमो लुपि ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वे ``रोर्यः'' (1. 3. 26.) इति यत्वे ``स्वरे वा'' (1. 3. 24.) इति यलोपेऽवर्णान्तत्वान्मत्वप्रसङ्ग इति, सत्यम्—पदान्तरापेक्षत्वेन यलोपस्य बहिरङ्गत्वात् तदनपेक्षत्वेन मत्वविधेरन्तरङ्गत्वाद् ❊ असिद्धं बहिरङ्गम्० ❊ इति लोपस्यासिद्धत्वेऽनवर्णान्तत्वाद् मकाराभावः ।।2. 1. 45.।।

वाऽद्रौ ।। 2. 1. 46. ।।

अदसोऽद्रावन्ते सति दकारस्य मकारो वा भवति । द्वावत्र दकारौ तत्र विकल्पे सति चातुरूप्यं भवति-अदमुयङ्, अमुद्यङ्, अमुमुयङ्, अदद्यङ्; तदाह—

``परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः ।
उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः ।।46।।''

न्या०स०—वाद्रौ । अदसोऽवयवस्याऽद्यागमस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् तस्मिन् सत्यदस इकारान्तत्वेन अवर्णान्तत्वाभावादप्राप्तेऽयं योगः । *अमुमुयङिति*—`समुदाये प्रवृत्ता अपि शब्दा अवयवेऽपि वर्त्तन्ते' इति मात्राशब्दोऽर्धमात्रायामपि, तेन *अमुमुयङित्यत्र* अर्द्धमात्रिकस्यापि रः स्थाने एकमात्रिक उकारादेशो भवति ।

अत्र वा व्यवस्थित-विभाषार्थो न विकल्पार्थः तेन क्वापि कथञ्चिद् विकल्पः प्रवर्त्तते, यदि तु विकल्पार्थः स्यात् तदा प्रथममेव प्रयोगद्वयं स्यात्, तत्त्वनेनैव विकल्पस्य चरितार्थत्वात् । *अदसो वकारस्येति*-अद्रेरागमत्वाददस्ग्रहणेन ग्रहणाददसो दकारस्येत्युक्तेऽपि अदसोऽद्रेश्च दस्य मः सिद्धः । *दकारस्येत्यत्र* एकवचनान्तत्वादेकस्यैव दस्य म इति तु न वाच्यम्, दजात्याश्रयणात् । *चातूरूप्यमिति*—चत्वारि रूपाण्येव, स्वार्थे भेषजादित्वात् ट्यण्, चतुर्णां रूपाणां भावः ``पतिराजान्त०'' (7. 1. 60.) ``इत्यनेन वा'' ।। (2. 1. 46.)।।

मादुवर्णोऽनु ।। 2. 1. 47. ।।

अदसः संबन्धिनो मकारात् परस्य वर्णमात्रस्योवर्ण आदेशो भवति, अनु—पश्चात्

कार्यान्तरेभ्यः; आसन्नत्वाद् मात्रिकस्य स्थाने मात्रिकः, द्विमात्रस्य द्विमात्रः, त्रिमात्रस्य त्रिमात्रः । अमुम्, अमू, अमू 3 इति; ``प्रश्ने च प्रतिपदम्'' (7. 4. 98.) इति प्लुतः । अमुमुयङ्, अमुमुईचः, अदमुईचः, अदमुईचा; ``अदोमु-मी'' (1. 2. 35.) इति संधिप्रतिषेधः । अन्विति किमर्थम् ? `अमुष्मै, अमुष्मात्, अमुष्य, अमुष्मिन्, अमूषाम्; अमुया, अमुयोः, इत्यादिषु स्मैप्रभृतिकार्येषु कृतेषूवर्णो यथा स्यादित्येवमर्थम् ॥47॥

न्या०स०–मादुव० । ननु पञ्चम्या निर्देशाद् उवर्णः प्रत्ययः कथं न भवति ?, सत्यम्-``अदो मु-मी'' (1. 2. 35.) इति सूत्रनिर्देशाद् वर्णमात्रस्य स्थानित्वं लब्धमिति *अनु-पश्चादिति*-अत्रानुना पूर्वं संबन्धः, तस्य च पश्चादर्थत्वात् ``प्रभृत्यन्यार्थ०'' (2. 2. 75.) इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी, यदि तु पूर्वं पश्चादित्यनेन योगो विवक्ष्यते तदा ``रिरिष्टात्०'' (2. 2. 82.) इत्यनेन `कार्यान्तरेभ्यः' इत्यत्र षष्ठी स्यात्, पश्चादिति अखण्डमव्ययं वा ।

अथात्रानुग्रहणं किमर्थं ? यतो यदि कार्यान्तरात् प्रागुवर्णो भवति तदा इनादेवेत्युत्तरसूत्रे नियमार्थे व्याख्यायमानेऽन्वर्थस्य लब्धत्वात्, सत्यम्-एवमपि नियमाशङ्का स्यात्, इनादेशस्तावत् प्रत्ययादेशस्ततोऽन्यस्मादपि प्रत्ययादेशादेव पश्चादुवर्णः प्रकृत्या-देशात् परत्वात् पूर्वमपि भवेत्, तथा चामुया अमुयोरित्यादयो न सिध्येयुः । *अमुष्मै* इति–नन्वत्र ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इति ओत्वं स्मैआदेशे कृते कथं न भवति ? उच्यते–अदितीत्यत्र नञः पर्युदासाश्रयणात्, स हि सदृशग्राही, ततो यत्र साक्षात् स्वरोऽग्रे भवति तत्रैव पूर्वस्योकारस्य ओकारस्तत्रादिति साक्षात् स्वरवर्जनात्, इति कक्कलस्य व्याख्या । तथाऽदितीति विषयसप्तम्यां प्रकृतेरपि विशेषणाद् दकारात् एति-उत्पद्यते यस्तद्विषय-वर्जनान्मकारस्य तदादेशत्वेन दकारत्वात्, अत एव `दैदास् इत्यत्र ऐदिति न कृतमिति न्यासकारव्याख्या ॥2. 1. 47.॥

प्रागिनात् ॥ 2. 1. 48. ॥

अदसो मात् परस्य वर्णमात्रस्येनादेशात् प्रागुवर्णो भवति, अन्वित्यस्यापवादोऽयम् । अमुना पुंसा कुलेन वा । इनादिति किम् ? अमुया स्त्रिया ॥48॥

बहुष्वेरीः ॥ 2. 1. 49. ॥

बहुष्वर्थेषु वर्तमानस्यादसो मकारात् परस्यैकारस्य स्थाने ईकार आदेशो भवति । अमी, अमीभिः, अमीभ्यः 2, अमीषाम्, अमीषु ।

बहुष्विति किम् ? अमू कन्ये, अमू कुले । एरिति किम् ? अमूः कन्याः, अमून्

नरान् । मादित्येव—अमुके, अमुकेभ्यः ॥49॥

न्या०स०—बहुष्वेरी० । अमुकेभ्यः अत्राकः ❁ तन्मध्यपतितस्य तद्ग्रहणे तद्ग्रहणेऽपि ❁ उकारेण व्यवधानाद् अनेन ईत्वाभावः ॥2. 1. 49.॥

धातोरिवर्णोवर्णस्येयुव् स्वरे प्रत्यये ॥ 2. 1. 50. ॥

धातुसंबन्धिन इवर्णस्योवर्णस्य च स्थाने स्वरादौ प्रत्यये परे यथासंख्यम् 'इय् उव्' इत्येतावादेशौ भवतः । नियौ, नियः; लुवौ, लुवः; अधीयाते, अधीयते; लुलुवतुः, लुलुवुः; नुनुवतुः, नुनुवुः; स्वमिच्छति क्यन् क्विप्-स्वीः, स्वियौ, स्वियः; एवं-स्त्रियौ, स्त्रियः; अधीयन् । धातोरिति किम् ? लक्ष्म्याः । इवर्णोवर्णस्येति किम् ? म्लायति, वाचः । स्वर इति किम् ? नीः, लूः । प्रत्यय इति किम् ? न्यर्थः, ल्वर्थः । इयुव्भ्यां गुण-वृद्धी परत्वाद् भवतः—नयनम्, लवनम्; नायकः, लावकः ॥50॥

न्या०स०—धातोरिवर्णो० । युवर्णस्येति कर्त्तव्ये यदि वर्णोवर्णस्येति कृतं तद् विचित्रा सूत्रकृतिरिति दर्शनार्थम् । *प्रत्यये* इति-❁ प्रत्ययाऽप्रत्त्यत्ययोः० ❁ इति न्यायेन प्रत्यय एव भविष्यति, किं तद्ग्रहणेन ? सत्यम्-❁ न्यायानां स्थविरयष्टि ❁ न्यायेन प्रवृत्तेः । *नियौ, नियः,* इति—ननु ❁ गौणमुख्ययोः० ❁ इति मुख्यस्यैवेयुवौ प्राप्नुतः, नैवम्-''स्यादौ वः'' (2. 1. 57.) इति सूत्रस्यैतदपवादत्वाद् गौणस्यापि भवति । स्त्रियावितिननु ''स्त्रियाः'' (2. 1. 54.) इत्यनेनापि इय् सिद्धः किमत्रोदाहरणेन ? सत्यम्-तेन नाम्न इय् भवति, अनेन तु धातोः, अत एव यत्र क्लिबन्तः स्त्रीशब्दो भवति तत्रानेन ''वाऽम्-शसि'' (2. 1. 55.) इति विकल्पो बाध्यते ॥2.1.50.॥

इणः ॥ 2. 1. 51. ॥

इणो धातोः स्वरादौ प्रत्यये परे 'इय्' इत्ययमादेशो भवति, यत्वापवादः । ईयतुः, ईयुः । कथं यन्ति, यन्तु ? परत्वेन ''हिवणोरप्विति व्यौ'' (4. 3. 15.) इति यत्वस्यैव भावात् । 'अयनम् श्रायकः' इत्यत्रापि परत्वाद् गुण-वृद्धी एव ॥51॥

न्या०स०—इणः । अत्र व्यभिचाराभावेऽपि धातोरित्युत्तरार्थमनुवर्त्तनीयम् । *यत्वापवाद* इति-''योऽनेकस्वरस्य'' (2. 1. 56.) इति प्राप्तस्य । *परत्वेने*ति-शितीति—विशेषविहितत्वात् प्रकृष्टत्वेनेत्यर्थः, परत्वं तु स्पर्द्धाभावान्न घटते । *परत्वादि*ति-❁ पूर्वेऽपवादा अनन्तरान्

विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ❊ इति ``योऽनेकस्वरस्य'' (2. 1. 56.) इति प्राप्तं यत्वं बाधते, न तु गुण-वृद्धी । *ईयतुरित्यत्र* द्वित्वे कृते ❊ वार्णात् प्राकृतं बलीयः ❊ इति न्यायात् प्रथममियादेशस्ततो दीर्घः ।।2. 1. 51.।।

संयोगात् ।। 2. 1. 52. ।।

धातुसंबन्धिन इवर्णस्योवर्णस्य च धातुसम्बन्धिन एव संयोगात् परस्य स्वरादौ प्रत्यये परे इयुवावादेशौ य्वोरपवादौ भवतः । यवक्रियौ, यवक्रियः; कटप्रुवौ, कटप्रुवः; शिश्रियतुः, शिश्रियुः । धातुना संयोगस्य विशेषणादिह न भवति-उन्न्यौ, उन्न्यः; सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः ।।52।।

न्या०स०–संयोगात् । य्वोरपवादाविति–``क्विब्वृत्ते०'' (2. 1. 58.) ``योऽनेकस्वरस्य'' (2. 1. 56.) इति विहितयोः ।।2. 1. 52.।।

भ्रू-श्नोः ।। 2. 1. 53. ।।

`भ्रू श्नु' इत्येतयोरुवर्णस्य संयोगात् परस्य स्वरादौ प्रत्यये परे उवादेशो भवति । भ्रुवौ, भ्रुवः, क्यन्क्विबन्तस्य ``धातोरिवर्णोवर्णस्य०'' (2. 1. 50.) इत्यादिनैवोवादेशः । आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, तक्ष्णुवन्ति । संयोगादित्येव-सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । स्वर इत्येव-भ्रूः, आप्नुतः । प्रत्यय इत्येव-भ्र्वग्रम् ।।53।।

न्या०स०–भ्रूश्नोः । संयोगात्परस्येति विशेषणं श्नोर्न तु भ्रू शब्दस्याव्यभिचारात् ।।2. 1. 53.।।

स्त्रियाः ।। 2. 1. 54. ।।

स्त्रीशब्दसंबन्धिन इवर्णस्य स्वरादौ प्रत्यये परे इयादेशो भवति । स्त्रियौ, स्त्रियः, स्त्रियाम्; परमस्त्रियौ, अतिस्त्रियौ नरौ । शस्त्रीशब्द-संबन्धिनस्त्वनर्थकत्वाद् न भवति । स्वर इत्येव-स्त्रीभिः । प्रत्यय इत्येव-स्त्र्यर्थः । कथम् `अतिस्त्रयः, अतिस्त्रिणा, अतिस्त्रये, अतिस्त्रेः 2, अतिस्त्रौ ? ``इदुतोऽस्त्रेरीदूत'' (1. 4. 21.) इत्यत्र स्त्रीशब्दवर्जनात् परोऽपीयादेशो बाध्यते । स्त्रीणामित्यत्र तु प्रागेव नाम्, एतच्च ``वेयुवोऽस्त्रियाः'' (1. 4. 30.) इत्यत्रोक्तम् । पृथग्योग उत्तरार्थः ।।54।।

न्या०स०–स्त्रियाः । स्त्रियामित्यत्र ❁ निरनुबन्धग्रहणे० ❁ इति न्यायाद् ''ह्रस्वापश्च'' (1. 4. 32.) इत्यनेन नाम् न । *परमस्त्रियावि*ति-❁ ग्रहणवता० ❁ इति नोपतिष्ठते ''वेयुवः०'' (1. 4. 30.) इत्यत्र 'अस्त्रियाः' इति निर्देशात्, यद्वा स्वरादि-प्रत्ययेन प्रकृतेराक्षेपात् स्त्रिया इति तस्या विशेषणत्वेन तदन्तसंप्रत्ययात् तदन्तस्याप्युदाहरणम् । तर्हि शस्त्रीशब्दस्यापि स्त्र्यन्तत्वादियादेशः प्राप्नोतीत्याह-*अनर्थकत्वादि*ति । *एतच्चे*ति–'अस्त्रियाः' इति निर्देशात् परादपि इयुव्यत्वादिकार्यात् 'प्रथममेव स्त्रीदूदाश्रितं कार्यं भवति' इत्याद्युक्तं तत्रेत्यर्थः ।।2. 1. 54.।।

वाऽम्-शसि ।। 2. 1. 55. ।।

स्त्रीशब्दसंबन्धिन इवर्णस्यामि शसि च परे इयादेशो वा भवति । स्त्रियम्, स्त्रीम्; स्त्रियः, स्त्रीः; परमस्त्रियम्, परमस्त्रीम्; परमस्त्रियः; परमस्त्रीः; अतिस्त्रियम्, अतिस्त्रिम् नरम्; अतिस्त्रियः, अतिस्त्रीन् नरान् । क्यन्नाद्यन्तस्य तु धातुत्वात् ''धातोरिवर्ण०'' (2. 1. 50.) इत्यादिना नित्यमियादेशः स्त्रीमिच्छति स्त्रीवाचरति वा-स्त्री ब्राह्मणः, तं स्त्रियम्, तान् स्त्रियः ।।55।।

न्या०स०–वाऽम्-शसि । अत्र षष्ठीबहुवचनस्य नाम्विषयत्वेन स्वरादित्वाभावात् शस्साहचर्याच्च तुल्यायामपि संहितायां द्वितीयैकवचनस्यैव ग्रहणम्, स्त्रीशब्दस्य संख्यैकार्यत्वाभावाद् तद्धितशसोऽनुत्पत्तेः सङ्ख्यैकार्थत्वयोगादुत्पत्तौ वा स्वरादित्वाभावाद् द्वितीयाबहुवचनस्यैव शसो ग्रहणात्, अतस्तस्याऽव्यभिचारात् तेन साहचर्यम् । *क्यन्नाद्यन्तस्ये*ति-अथ धातुरूपस्यैव स्त्रीशब्दस्य विकल्पार्थमिदं कस्मान्न भवति ? कथमुक्तं–''धातोरिवर्णोवर्ण०'' (2. 1. 50.) *इत्यादिना नित्यमियादेश* इति, उच्यते–''स्त्रियाः'' (2. 1. 54.) इति प्रागारम्भादधातोरेव स्त्रीशब्दस्य ग्रहणम्, स एव चाऽनुवर्त्तते, न चानुवर्त्तमानस्यान्ययात्वं भवति, यदाह श्रीशेषराजः–'नहि गोधा सर्पन्ती सर्पणादहिर्भवति' इति, तस्माद्युक्तमुक्तं–''*धातोरिवर्णोवर्ण०*'' (2. 1. 50.) *इत्यादिना इयादेश* इति ।।2. 1. 55. ।।

योऽनेकस्वरस्य ।।2. 1. 56. ।।

धातोरित्यनुवर्तते, अनेकस्वरस्य धातोः संबन्धिनः प्रत्यासत्तेरिवर्णस्य स्थाने स्वरादौ प्रत्यये परे यकारादेशो भवति । चिच्यतुः, चिच्युः; निन्यतुः, निन्युः । सखायमिच्छति क्यन् क्विप्-सखीः, सख्युः; एवं-पत्युः, सख्यि, पत्यि । अनेकस्वरस्येति किम् ? नियौ, नियः,

परमनियौ, परमनियः । ``रिं पिंत् गतौ'' रियति, पियति । इवर्णस्येत्येव ? लुलुवतुः, लुलुवुः ॥56॥

न्या०स०–योऽनेक० । *धातोरित्यनुवर्त्तत* इति–❇ विशेषातिदिष्टः प्रकृतं न बाधते ❇ इति न्यायाद् इय्बाधकमिदम् । *परमनियावि*ति–अत्र समासस्यानेकस्वरत्वं न धातोः ॥2. 1. 56.॥

स्यादौ वः ॥ 2. 1. 57. ॥

अनेकस्वरस्य धातोः संबन्धिनः प्रत्यासत्तेरुवर्णस्य स्थाने स्वरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारादेशो भवति । वसुमिच्छति क्यन् क्विप्-वसूः, वस्वौ, वस्वः । स्यादाविति किम् ? लुलुवुः ॥57॥

न्या०स०–स्यादौ वः । उव्बाधनार्थमिदम् । *वसुमिच्छती*ति-देवमग्नि राजानं वेत्यर्थः, द्रव्यवृत्तिस्तु नपुंसकः ॥ 2. 1. 57. ॥

क्विब्वृत्तेरसुधियस्तौ ॥ 2. 1. 58. ॥

क्विबन्तेनैव या वृत्तिः–समासः, तस्या असुधियः-सुधीशब्दवर्जितायाः संबन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णस्य स्थाने स्वरादौ स्यादौ प्रत्यये परे तौ-यकार-वकारादेशौ भवतः । उन्न्यौ, उन्न्यः; सुल्वौ, सुल्वः; तिरोन्यौ, तिरोन्यः; तिरोल्वौ, तिरोल्वः; ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः; खलप्वौ, खलप्वः; एषु स्याद्युत्पत्तेः प्रागेव क्विबन्तेन समासः । एवं नयनशीलो-नीः, सेनां नेता-सेनानीः, सेनान्यौ, सेनान्यः; यद्वा नयतीति-नीः, पश्चात् साधनेन योगः; परमस्य नेता-परमनीः, परमन्यौ, परमन्यः; क्विब्ग्रहणादिह न भवति-परमश्चासौ नीश्च-परमनीः, परमनियौ, परमनियः; स्याद्यन्तेनात्र विशेषणसमासो न तु क्विबन्तेन ।

वृत्तिग्रहणादिह न भवति-ब्राह्मणस्य नियौ । असुधिय इति किम् ? सुष्ठु ध्यायति दधाति वा-सुधीः ``दिद्युद्०'' (5. 2. 83.) इत्यादिना क्विप् धीभावश्च, सुधियौ, सुधियः । सुपूर्वस्यैव वर्जनादिह भवत्येव-प्रध्यौ, आध्यो, उद्ध्यौ ॥58॥

न्या०स०–क्विब्वृत्ते० । *क्विबन्तेनैवे*ति–नन्वत्रावधारणं कस्माल्लब्धम् ? उच्यते वृत्तिस्थस्य धातोः स्यादौ कार्यविधानात् तस्य च केवलस्य वृत्त्यसंभवाद् वृत्ति गृहणादेव क्विपि लब्धे क्विब्ग्रहणमवधारणार्थम्, अत एवावधारणस्य शब्दाश्रयत्वादसामर्थ्यमपि नास्ति । *सेनानीरि*ति-

सेनां *नेते*त्यर्थकथनम्, यावता सेनाशब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य ❊ गतिकारक० ❊ इति न्यायेन नीशब्देन क्विबन्तेन ``कृति'' (3. 1. 77.) इति समासः, न च वाच्यं ``न नाम्यैक०'' (3. 2. 9.) इति नियमेन द्वितीयैव प्राप्नोति, न षष्ठी, तत् कथं ? ``कृति'' (3. 1. 77.) इति समासः, उच्यते–``ङस्युक्तं कृता'' (3. 1. 49.) इत्यस्यैव विषयेऽयं नियमो न ``कृति'' (3. 1. 77.) इत्यस्य।

यदापि नयतीति-नीः, पश्चात् तु परमशब्देन कर्मषष्ठ्यन्तेन कारकत्वात् स्याद्युत्पत्तेः पूर्वं क्विबन्तेन समासस्तदापि यत्वं भवतीत्याह–यद्वे त्यादि-उभयत्राप्यर्थभेदाभावात् प्रक्रियाभेदमात्रमेतदुपदर्शितमिति, परमार्थस्तु सोपपदादेव क्विप्। ननु बहवः सेनान्यो यस्येति कृते यत्वं भवति वा न वा ? भवत्येव, यतः सेनानीशब्दस्य क्विबन्तेन वृत्तिरस्ति। *परमनीरि*ति-परमशब्दस्याकारकत्वात् क्विबन्तेन समासाभावात् क्विब्ग्रहणादिह यत्वं न भवति ॥2. 1. 58.॥

दृन्-पुन-र्वर्षा-कारैर्भुवः ॥ 2. 1. 59. ॥

'दृन् पुनर् वर्षा कार' इत्येतैः सह या क्विब्वृत्तिस्तत्संबन्धिनो भुवो धातोरुवर्णस्य स्वरादौ स्यादौ प्रत्यये परे वकारादेशो भवति। दृन्-हिंसन् भवतीति-दृन्भूः–सविषः कीटविशेषः, दृन्भ्वौ; दृन्भ्वः। पुनर्भूः–पुनरूढा स्त्री, पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः। वर्षाभूः ओषधीविशेषो दर्दुरश्च, वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः।

कारे कारेण वा भवतीति-कारभूः, कारभ्वौ, कारभ्वः। करशब्देनापीच्छन्त्येके-करभ्वौ, करभ्वः। काराशब्देनाप्यन्ये-काराभ्वौ. काराभ्वः। दृनादिभिरिति किम् ? स्वयंभुवौ, प्रतिभुवौ, मित्रभुवौ, विभुवौ, आत्मभुवौ। पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थमिदम्-एतैरेव भुवो नान्यैरिति ॥59॥

न्या०स०–दृन्–पुन० । *दृन्-हिंसन्नि*ति–``दृह दृहु'' इति धातुः, दृंहतीति क्विपि तल्लोपे सिलोपे च ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति हलोपे दृन् इति रूपम्। *वर्षाभूरि*ति-``भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री, वर्षाभूर्दुर्दुरे नषस्त्रीण पुमान्। इति वैजयन्तीकारः। कारेति-क्रियत इति-कारः, राजलभ्यो भागः। *करभ्वावि*ति उभयं शाकटायनः, स हि करशब्दं पठित्वा कर-कारशब्दयोरेकार्थत्वाद् ❊ एकदेशविकृतं तदेव ❊ इति कारशब्दे-नापीच्छति, काराशब्दं तु देवनन्दी। *स्वयंभुवावि*ति-अत्रापि ``दिद्युद्दद्दत्०'' (5. 2. 83.) इत्यादिना क्विप्, न तु ``शंसंस्वयम्०'' (5. 2. 84.) इत्यादिना डुः, तदा हि धातुत्वं न स्यात्।

*एतैरेवे*ति प्रकृतिनियमोऽयम्, एतैर्योगे भुव एव नान्यस्य धातोरिति तूपपद-नियमो न भवति, ``अस्वयंभुवोऽव्'' (7. 4. 70.) इति सूत्रनिर्देशात्, एवंविधे हि नियमे क्रियमाणे एतैर्भुव

एव नान्यस्येत्यन्ये धातवो नियन्त्रिताः स्युः, भुवस्तु एतैरन्यैश्च योगे वत्वं स्यात्, तथा च 'अस्वयंभुवः' इति न स्यात् ॥2. 1. 59.॥

ण-षमसत् परे स्यादिविधौ च ॥ 2. 1. 60. ॥

इतः सूत्रादारभ्य यत् परं कार्यं विधास्यते तस्मिन् पूर्वस्मिश्च स्याद्यधिकारविहिते विधौ कर्तव्ये णत्वं षत्वं च असद्-असिद्धं द्रष्टव्यम्, एतत्सूत्र-निर्दिष्टयोश्च णत्वषत्वयोः परे षत्वे णत्वमसद् द्रष्टव्यम्, ण-षशास्त्रं वा परे स्यादिविधौ च शास्त्रे प्रवर्त्तमानेऽसद् द्रष्टव्यम् । पूष्णः, तक्ष्णः, अत्रणत्वस्यासत्त्वादनोऽकारलोपो भवति । पिपठीः, अत्र षत्वस्यासत्त्वात् सकारस्य रुर्भवति । स्यादिविधौ च-अर्वाणौ, सर्पींषि; अत्र णत्व-षत्वयोरसिद्धत्वा-दुपान्त्यदीर्घत्वं सिद्धम् । असत् पर इत्यधिकारो ''रात् सः'' (2. 1. 90.) इति यावत्, स्यादिविधौ चेति तु ''नोर्म्यादिभ्यः'' (2. 1. 99.) इति यावत् ॥60॥

न्या०स०—ण-षम० । णो विधेयत्वेन एष्वस्तीत्यभ्राद्यकारे णशब्देन णत्व-विधायकानि सूत्राण्युच्यन्ते, एवं षशब्देनापि षत्वविधायकानि । एत*त्सूत्रनिर्दिष्टयोरिति*-यदि तु सप्तमपादो-क्तक्रमेण 'ष-ण' इति क्रियते तदा णत्वमसद् द्रष्टव्यम्, पूर्वं कृतस्य णत्वस्यासत्त्वात् प्रनष्ट इति सिद्धम्, न च 'श' इति व्यावृत्त्या पूर्वमेव न भविष्यति, धातोः पश्चादुपसर्गसंबन्ध इति मते व्यावृत्तेश्चरितार्थत्वाद् 'अभिषुणोति' इत्यादि न सिद्ध्यति, ''उपसर्गात् सुग्०'' (2. 3. 39.) इत्यनेन विहितस्य षत्वस्य णत्वे परेऽसत्त्वात्, तदाभिषुणोतीत्यादि न सिध्यति, ''उपसर्गात् सुग्०'' (2. 3. 39.) इत्यनेन विहितस्य षत्वस्य णत्वे परेऽसत्त्वात् ''रषृवर्णात्०'' (2. 3. 63.) इत्यनेन षकारात् विधीयमानं णत्वं न स्यात् । *ण-षशास्त्रं वे*ति-अयमभिप्रायः—शास्त्रस्यैवासिद्धत्वं युक्तम्, कार्यासिद्धत्त्वाश्रयणे हि यथा देवदत्तस्य हन्तरि हतेऽपि न पुनर्देवदत्तस्य प्रादुर्भावो भवति तथा कार्येऽसिद्धत्वमापादितेऽपि न प्रकृतेः पुनः प्रत्यापत्तिर्भवति, ततः पूष्ण इत्यत्र णत्वस्यासिद्धत्वेऽपि नकारप्रत्यापत्तेरभावान्नानन्ता प्रकृतिरिति तन्निबन्धनोऽनोऽकारलोपो न स्यात्, शास्त्रासिद्धत्वे त्वकारलोपशास्त्रमेव तावत् प्रवर्त्तते, न णत्वशास्त्रमिति । *अधिकार* इति-अधि-उपरि, क्रियते-अनुवर्त्यत इत्यधिकारो घञि ॥2. 1. 60.॥

क्तादेशोऽषि ॥ 2. 1. 61. ॥

ककारेण उपलक्षितस्य तकारस्य स्थाने य आदेशः स षकारादन्यस्मिन् परे कार्ये स्यादिविधौ च कर्त्तव्येऽसन् द्रष्टव्यः । क्षामिमान्, अत्र ''क्षै-शुषि-पचो म-क-वम्'' (4. 2. 78.)

इति क्तादेशस्य मकारस्यासत्त्वात् ``मावर्णान्त०'' (2. 1. 94.) इत्यादिना मतोर्मो वो न भवति; शुष्किका, अत्र ककारस्यासत्त्वात् ``स्वज्ञाज०'' (2. 4. 108.) इत्यादिनेत्वविकल्पो न भवति, ``अस्यायत्तत्क्षिपकादीनाम्'' (2. 4. 110.) इति तु नित्यमेव इत्वं भवति; पक्वम्, अत्र वत्वस्यासत्त्वाद् धुटि कत्वं भवति; बुद्ध्वा, दग्ध्वा, अत्र क्तादेशस्य धकारस्यासत्त्वात् ``ग-ड-द-बादे०'' (2. 1. 77.) इत्यादिना आदेश्चतुर्थो न भवति ।

स्यादिविधौ च-लून्युः, पून्युः, अत्र क्तादेशस्य नत्वस्यासत्त्वात् त्याश्रित उर् भवति । अषीति किम् ? वृक्णः, वृक्णवान्, अत्र क्तादेशस्य नत्वस्य सत्त्वात् ``यजसृज०'' (2. 1. 87.) इत्यादिना धुण्निमित्तः षो न भवति, कत्वे त्वसत्त्वात् तद् भवत्येव । परे स्यादिविधौ चेत्येव—लग्नः, मग्नः, अत्र स्यादिविधौ पूर्वसूत्रकार्ये ``अघोषे प्रथमोऽशिटः'' (1. 3. 40.) इति प्रथमत्वे नत्वस्यासत्त्वाभावा-दघोषनिमित्तः प्रथमो न भवत्येव; एवं क्षामेण, शुष्केणेत्यादौ पूर्वं णत्वं प्रति मत्व-कत्वयोः सत्त्वात् तकारेण व्यवधानं नास्तीति णत्वं भवति ।।61।।

न्या०स०—क्तादेशोऽषि । ककारेण उपलक्षितस्तः क्त इति व्युत्पत्तिकरणात् क्त-क्तवतु-क्ति-क्तवानां ग्रहणं सिद्धं, ककारोपलक्षितस्य तकारस्य सर्वेष्वेषु विद्यमानत्वात् । परे कार्य इति-परत्वमेतत्सूत्रापेक्षं विज्ञायते, न क्तादेशविधायकसूत्रापेक्षम्, अषीति प्रतिषेधात्,

एतत्सूत्रापेक्षे हि परत्वे ``यज-सृज०'' (2. 1. 87.) इति षत्वमपि परम्, तस्मिन्नप्यसत्त्वे प्राप्तेऽषीति प्रतिषेधो युज्यते । *क्षामिमानि*ति-क्षामस्यापत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) ततो मतुः, यद्वा क्षामोऽस्यास्ति इन्, ततः क्षाम्यत्राऽस्ति मतुः । *लून्युः, पून्युरि*ति-लूनं पूनं चेच्छति क्यन् ``क्यनि'' (4. 3. 112.) इति ईकारः, ततो ङस्; यदापि लवनं-लूनिः, तामिच्छति या स्त्री क्यन् लूनीयतीत्यादिप्रक्रिया क्रियते, तदापि ग्रामणीशब्दवद् विशेषण नित्यस्त्रीत्वाभावाद् ``योऽनेकस्वरस्य'' (2. 1. 56.) इति यत्वे लून्युः, पून्युरित्येव भवति; यदा तु लूनिमिच्छति यः पुमान् इत्यादि क्रियते, तदा यो लूनिशब्दः स्त्रीलिङ्गः स ईदन्तो न भवति, यस्तु क्यन्नन्तः स ईदन्तः स न स्त्रीलिङ्ग इति ``स्त्रोदूतः'' (1. 4. 29.) इत्यस्य प्राप्तिरेव नास्तीति यत्वे-लून्युः, पून्युरित्येव; यदा तु क्त्यन्तादेव ङस् तदा ``स्त्रिया ङितां वा'' (1. 4. 28.) इति दासि तत्पक्षे तु ``ङित्यदिति'' (1. 4. 23.) इत्येत्वे लून्या लूनेरिति रूपद्वयम् । ननु अषीति किमर्थं ? यतः षत्वरूपे परे कार्य कर्त्तव्ये क्तादेशस्याऽसत्त्वं प्राप्तमनेन निषिध्यते, तच्च 'परे कार्ये' इति भणनान्न प्राप्नोति, णत्व-षत्वयोः पूर्वसूत्रे ग्रहणादिति, सत्यम्-अत एव प्रतिषेधात् पूर्वत्र णत्वसह-चरितं सप्तमपादनिर्दिष्टं षत्वं गृह्यते, तेन अद्राक्षीदित्यादि सिद्धम्, अन्यथा यदि पूर्वसूत्रे सामान्येन षत्वमङ्गीक्रियते तदाऽत्र ``ष-ढोः कस्सि'' (2. 1. 62.)

इति परे कार्ये कर्त्तव्ये षत्वस्याऽसत्त्वात् कत्वं न स्यादिति । *मग्न* इति–``मस्जेः सः'' (4. 4. 110.) इति सस्य नः, ``नो व्यञ्जन०'' (4. 2. 45.) इति लुप् ।।2. 1. 61.।।

ष-ढोः कस्सि ।। 2. 1. 62. ।।

षकार-ढकारयोः स्थाने सकारे परे ककार आदेशो भवति । पिष्-पेक्ष्यति, पिपिक्षति; दृश्-अद्राक्षीत्; सृज्-अस्त्राक्षीत्; यज्-अयाक्षीत् । ढ-लिह्-लेक्ष्यति, लिलिक्षति; वह्-वक्ष्यति; गुहौ-निघोक्ष्यति ।

सीति किम् ? पिनष्टि । `असत् परे' इत्यधिकाराद् निघोक्ष्यतीत्यत्र ढस्थानस्य ककारस्यासत्त्वाच्चतुर्थान्तलक्षण आदेश्चतुर्थो भवति ।।62।।

न्या०स०–ष-ढोः कस्सि । निघोक्ष्यति स्यतिप्रत्यये गुणे ``हो धुट्-पदान्ते'' (2. 1. 82.) इति ढत्वे नित्यस्यापि कादेशस्य परेऽसत्त्वात् ``ग-ड-द-बादेः०'' (2. 1. 77.) इत्यादेश्चतुर्थत्वे ततोऽनेन कत्वं सिद्धम् । कश्चिच्छासेरपि सौ विकल्पेन ककारमिच्छति, तन्मते-शाक्षि, शास्सि ।।2. 1. 62.।।

भ्वादेर्नामिनो दीर्घो र्वोर्व्यञ्जने ।। 2. 1. 63. ।।

भ्वादेर्धातोरवयवभूतौ यौ रेफ-वकारौ तयोः परयोस्तस्यैव भ्वादेर्नामिनो दीर्घो भवति, व्यञ्जने-ताभ्यां चेत् परं व्यञ्जनं भवति । हूर्च्छा, हूर्च्छिता, मूर्च्छा, मूर्च्छिता, आस्तीर्णम्, प्रस्तीर्णम्, पूर्त्तम्, अवगूर्णम्, कूर्दते, ऊर्दिदिषते, चिकीर्षति, वुवूर्षति, बुभूर्षति, दीव्यति, सीव्यति, दीव्यात्, सीव्यात् ।

असद्विधौ स्वरादेशस्य लोपस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्-प्रतिदीव्ना, प्रतिदीव्ने । भ्वादेरिति किम् ? चतुर्भिः, चतुर्थः, कुर्कुरमिच्छति-कुर्कुरीयति, एवं-चतुर्यति, दिव्यति । नामिन इति किम् ? स्मर्यते, भव्यम् । र्वोरिति किम् ? बुध्यते । व्यञ्जन इति किम् ? विकिरति । र्वोर्भ्वादिसंबन्धिविशेषणं किम् ? दीव्यतेः क्वनिपि वकारलोपे-दिवन्, दिव्ना, दिव्ने । नामिनो भ्वादिसंबन्धिविशेषणं किम् ? दधिव्रज्या । प्रत्यासत्त्या तस्यैवेति विशेषणं किम् ? ग्रामणि-व्रज्या ।।63।।

न्या०स०–भ्वादेर्नामिनो० । ``रदादमूर्छ०'' (4. 2. 69.) इति सूत्रे `मूर्छ' इति निर्देशात् ❊ प्रत्ययाप्रत्यययोः ❊ इति नाश्रीयते । *भ्वादेरि*ति आवृत्त्या नामिन इत्यनेन र्वोरित्यनेन च

सम्बध्यते । हूर्च्छेति–अत्राच् । मूर्च्छेति–अत्र भिदाद्यङ् । *वुवूर्षति* ``इवृध०'' (4. 4. 47.) इति वेट् । *दीव्यात्* अत्राशीःक्यात् सप्तम्यां तु-दीव्येत् । सीव्येत् । *असद्विधावि*ति-अथात्र दीर्घद्वारेणैव स्थानिवद्भावप्रतिषेधो भविष्यति, किमनेन सूत्रेणाऽसदधिकारविहितेन ? नैवम्-`ओर्मा, मोर्मा' इत्यत्र सार्थकत्वात्, तथाहि-ऊर्वतीति मूर्च्छतीति मनि ``राल्लुग्'' (4. 1. 110.) इति वकार-छकारयोर्लोपे एतत्सूत्रविहितदीर्घ-स्यासद्विधित्वेनासत्त्वे ``लघोरुपान्त्यस्य'' (4. 3. 4.) इति गुणो भवति, अन्यथा लघ्वभावात् स न स्यात् ?

दिव्ना, दिव्ने, इति-य-ल-वानां सानुनासिक-निरनुनासिकत्वेऽप्यत्र निरनुनासिकत्वं विवक्षितमिति ``अनुनासिके च०'' (4. 1. 108.) इत्यूट् न भवति । ``मन् वन् क्वनिब्०'' (5. 1. 147.) इति क्वनिप्विधायके सूत्रे क्वचिद्ग्रहणस्य सर्वोपाधिव्यभिचारार्थत्वात् क्वचिदयं स्वरूपेण न भवति, क्वचित् पानुबन्धो न भवतीति तागमाभावः । *प्रत्यासत्त्ये*ति-अत्रैकेन प्रयत्नेन द्वयोरुपादानं प्रत्यासत्तिः, शब्दान्तरं प्रतीत्य शब्दान्तरस्यासत्तिरिति व्युत्पत्तेः, इयमेव हि शब्दस्य शब्दान्तरेण प्रत्यासत्तिः–यदेकप्रयत्ने-नोच्चारणं नाम, एकवाक्योपात्तलक्षण-प्रत्यासत्तिर्नेहोपयुज्यते ।।2.1.63.।।

पदान्ते ।। 2. 1. 64. ।।

पदान्ते वर्तमानयोर्भ्वादिसंबन्धिनो रेफ-वकारयोः परयोस्तस्यैव भ्वादेर्नामिनो दीर्घो भवति । गीः, गीर्भ्याम्, गीर्षु, गीस्तरा, गीरर्थः, धूः, धूर्मान्; आशीः, आशीर्भिः; सजूः, सजूःषु: पिपठीः, पिपठीर्भ्यः । पदान्त इति किम् ? गिरौ, गिरः; लुवौ, लुवः । नामिन इत्येव-अजागः । वोरित्येव मधुलिट् । भ्वादेरित्येव अग्निः, वायुः, चतुर्भिः ।।64।।

*न्या०स०–पदान्ते । पिपटीरि*ति ननु `भ्वादेः संबन्धिनो नामिनो दीर्घः' इत्युक्तम्, तत् कथमत्र `पिपठिष्' इत्यस्याऽभ्वादिरूपस्य संबन्धिनो नामिनो दीर्घ इति ? सत्यम्-भ्वाद्यवयवेन `पठ्' इत्यनेन योगात् समुदायोऽपि `पिपठिष्' इत्येवंरूपो भ्वादिः; यद्येव पूर्वसूत्रोदाहृतेषु `चतुर्भिः, चतुर्थः' इत्यादिष्वप्यनेन प्रकारेण भ्वादिसंबन्धित्वमस्त्येव तत् कथं न दीर्घः ? सत्यम्-धातुत्वे सति भ्वाद्यभ्वादिचिन्ता क्रियते, अत्र तु धातुत्वस्याप्यभावः, तर्हि `कुर्कुरीयति, चतुर्यति, दिव्यति' इत्यादिषु धातुत्वमस्ति ततोऽनेन प्रकारेण भ्वादित्वमप्यस्ति ततो दीर्घः स्यात्, सत्यम्-यद्यप्येषां प्रत्ययान्तानां धातुत्वमस्ति तथापि पिपठीरित्यादिवदेतेषु न भ्वाद्यवयवात् प्रत्ययो विधीयते, किं तर्हि ? नाम्न एव, ततो भ्वाद्यवयवयोगाभावात् `कुर्करीय' इत्यादेः समुदायस्य न भ्वादित्वम् । *आशीरि*ति अत्र नित्यमपि विसर्गं बाधित्वा

❊ नित्यादन्तरङ्गम् ❊ इति न्यायात् प्रथममनेन दीर्घः, ततो विसर्गः ।।2. 1. 64.।।

न यि तद्धिते ।। 2. 1. 65. ।।

यकारादौ तद्धिते परे यौ र्वौ तयोः परयोर्नामिनो दीर्घो न भवति । धुरं वहति–धुर्यः, गिरि साधुः-गिर्यः; वकारान्तो धातुर्नाम्युपान्त्यस्तद्धिते न संभवति । यीति किम् ? गीर्वत्, धूर्वत् । तद्धित इति किम् ? गिरमिच्छति–गीर्यति, धूर्यति; गीरिवाचरति–गीर्यते, एवं–धूर्यते; क्ये-कीर्यते, गीर्यते; दीव्यति, सीव्यति; कीर्यात्, गीर्यात्, दीव्यात्, सीव्यात् । केचित् तु क्यन्-क्यङोरपि प्रतिषेधमिच्छन्ति, तन्मते-'गिर्यति, गिर्यते; धुर्यति, धुर्यते,' इत्येव भवति । इह कस्मान्न भवति ?–पुर्याम्, गिर्योः, किर्योः, बहिरङ्गलक्षणस्य यत्वस्यासिद्धत्वेन व्यञ्जनस्याभावात् ।।65।।

न्या०स०–न यि त० । नाम्युपान्त्य इति–अयमर्थः– यदा 'दिव्' इत्यादेः क्विप् तदा ऊटा भाव्यमिति न वकारान्तत्वम्, यदा तु विच् तदा गुणे कृते एकारस्य दीर्घरूपस्य दीर्घकरणं व्यर्थम्; ननु दिव्यमित्यत्र संभवति वान्तो नाम्युपान्त्यश्च धातुः, सत्यम्-अत्रापि डिव्प्रत्ययान्तस्य औणादिकत्वाद् दिवो न धातुत्वमिति न वान्तो नाम्युपान्त्यश्च धातुः संभवति ।

पुर्यामिति-पुरशब्दाज्जातित्वाद् ङ्यां ''पृश् पालन-पूरणयोः'' इत्यस्मात् ''नाम्युपान्त्य-कृ-गृ-शॄ-पॄ-पूङ्भ्यः कित्'' (उणा० 609) इति किति इप्रत्यये वा; एवं *गिर्योः, किर्यो*रिति । *बहिरङ्ग-लक्षणस्ये*ति-प्रत्ययाश्रितत्वेन यत्वं बहिरङ्ग दीर्घत्वं तु प्रकृतिमात्राश्रितत्वेनान्तरङ्गम् ।।2.1.65.।।

कुरुच्छुर । ।। 2. 1. 66. ।।

कुरु-च्छुरोः संबन्धिनो नामिनो रेफे परे दीर्घो न भवति । कुर्यात्, कुर्वः, कुर्मः, छुर्यात्, छुर्यते । कुर्वित्युकारः किम् ? ''कुरत् शब्दे''–कुर्यात्, कूर्यते; केचिदस्यापि प्रतिषेधमिच्छन्ति । अथ द्विर्वचने पूर्वस्य कस्माद् दीर्घो न भवति ?–रीः रिर्वा-रिर्यतुः, रिर्युः; वीः–विव्यतुः, विव्युः; बहिरङ्गलक्षणस्य यत्वस्यासिद्धत्वेन व्यञ्जनस्याभावात् 'संविव्याय, विव्याध' इत्यादौ तु नामिनोऽसिद्धत्वात् ।।66।।

*न्या०स०–कुरु । कुर्वित्युकारः किमि*ति-अन्यथा प्रतिपदोक्तत्वात् ''कुरत् शब्दे'' इत्यस्यैव ग्रहणं स्यात्, तर्हि ''कृ-छुरः'' इति निर्विवादं क्रियताम्, न च वाच्यं ''कृ-छुरः'' इति कृते

``कृंग्ट् हिंसायाम्'' इत्यस्यापि ग्रहणं स्यात्, कृणोतीत्यादौ रेफाभावात् करिष्यतीत्यादौ तु नाम्यभावेन दीर्घत्वप्राप्तेरभावाच्चेति, उच्यते एवंविधे सूत्रे कृते चिकीर्षतीत्यादौ दीर्घनिषेधः स्यात् । *संविव्याय, विव्याधेति*–``व्येंग् व्यधंच्'' आभ्यां णवि ``व्यस्थव्-णवि'' (4. 2. 3.) इत्यात्वप्रतिषेधे द्वित्वे अनादिव्यञ्जनलोपे ``ह्रस्वः'' (4. 1. 39.) इत्यनेन ह्रस्वत्वे तस्य च कार्यान्तरबाधनार्थ ``ज्या-व्ये-व्यधि०'' (4. 1. 71.) इति इकारस्यापीत्वे प्रथमे प्रयोगे ``नामिनोऽकलि-हलेः'' इति एत ऐत्वे आयि च सिद्धम् ।

नामिनोऽसिद्धत्वादिति-द्वित्वे कृते प्रत्ययाश्रितत्वेन बहिरङ्गस्य प्रकृत्याश्रितत्वेनान्तरङ्गे दीर्घत्वे कर्तव्ये ``ह्रस्वः'' (4. 1. 39.) इत्यनेन कृतस्य इकारस्य इत्यर्थः, न तु ख्वृद्बाधनार्थं ``ज्या-व्ये-व्यधि०'' (4. 1. 71.) इति कृतस्य इकारस्यापि मध्ये इकारस्यासिद्धत्वं, यतस्तस्यासिद्धत्वे ``ह्रस्वः'' (4. 1. 39.) इत्यनेन कृत इकारः सिद्धः स्याः, तस्य च नामित्वात् ततो 'नामिनोऽसिद्धत्वाद्' इति यदुक्तं तद् व्याहत स्यात् । ननु 'नामिनोऽसिद्धत्वाद्' इति किमित्युक्त ? यावता यद्यप्यत्रानेन दीर्घो भविष्यति तथापि ``ह्रस्वः'' (4. 1. 39.) इत्यनेन ह्रस्वे कृते संविव्यायेत्यादि सेत्स्यति, सत्यम्-ह्रस्वरूपे परस्मिन् कार्ये विधेये दीर्घत्वं दीर्घत्वशास्त्रं वाऽसिद्धं भवतीति; यदापि नित्यत्वाद् विशेषविधानाद् वा ``ह्रस्वः'' (4. 1. 39.) इति बाधित्वा ``ज्या-व्ये-व्यधि०'' (4. 1. 71.) इति प्रवर्तते तदापि प्रत्ययाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वान्नामिनोऽभावाद् दीर्घाऽभावः । कुर्दते, कुर्दनेत्यादिषु 'ट्वोस्फुर्जा' इति ज्ञापकाद् दीर्घत्वं न भवति, कथं ? यदि रेफोपान्त्यानां दीर्घः स्यात् तदा ``ट्वोस्फुर्जा वज्रनिर्घोष'' इत्यस्यापि दीर्घः सिद्ध इति दीर्घोच्चारणं न कर्त्तव्यम्, तस्मादत्र दीर्घ कुर्वन् ज्ञापयति-भ्वादेरित्ययं विधिरनित्यः ॥2.1.66.॥

मो नो म्वोश्च ॥ 2. 1. 67. ॥

मकारान्तस्य भ्वादेरन्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य मकार-वकारयोश्च परयोर्नकारादेशो भवति, स चासन् परे । प्रशान्, प्रतान्, प्रदान्, परिक्लान्; प्रशान्भ्याम्, प्रतान्भ्याम्, प्रदान्भ्याम्, परिक्लान्भ्याम्; नत्वस्यासत्त्वान्नलोपाभावः । म्-वोः खल्वपि-जङ्गन्मि, जङ्गन्वः, जङ्गन्मः, जगन्वान्; नन्नन्मि, नन्नन्वः, नन्नन्मः । म्वोश्चेति किम् ? प्रशामौ, प्रतामौ । म इति किम् ? छित्, भित् । भ्वादेरित्येव–इदम्, किम् ॥67॥

न्या०स०–मो नो० । पदान्त इत्यनुवर्त्तमानेन समुच्चयार्थश्चकारो न तु पदान्त इत्यस्याऽनुकर्षणार्थः । विधानसामर्थ्याल्लोपाभावो नाशङ्कनीयो म्वोर्विधानस्य चरितार्थ-त्वादित्याह-*नत्वस्यासत्त्वादिति* । *खल्वपीति*-अप्यर्थेऽखण्डमव्ययम् ॥2.1.67॥

स्त्रन्स्-ध्वन्स्-क्वस्सनडुहो दः ॥ 2. 1. 68. ॥

स्त्रन्स्-ध्वन्सोः क्वस्प्रत्ययान्तस्य सकारान्तस्यानडुह् शब्दस्य च योऽन्त्य-स्तस्य पदान्ते वर्तमानस्य दकारो भवति । उखास्त्रत्, उखास्त्रद्; पर्णध्वत्, पर्णध्वद्; विद्वद्, विद्वत् कुलम्; उपसेदिवद्, उपसेदिवत् कुलम्; स्वनडुद्, स्वनडुत् कुलम्; उखास्त्रद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः, विद्वत्सु, विद्वत्ता, उपसेदिवत्तमः, अनडुद्भ्याम् ।

क्वस्सिति द्विसकारपाठः किम् ? सान्तस्यैव यथा स्यात्, इह मा भूत्-विद्वान्, हे विद्वन् !, उपसेदिवान्, हे उपसेदिवन् ! ; सकारस्य ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति लोपेन निवर्तितत्वात् । एवं तर्हि 'अनड्वान्, हे अनड्वन्' इत्यत्र नकारस्यापि प्राप्नोति, तत्र विशेषणाभावात्, नैवम्—नकारविधानसामर्थ्यान्न भविष्यति । एतच्च दत्वं ❊ येन नाप्राप्ते० ❊ इति न्यायाद् रुत्व-ढत्वयोरेव बाधकम्, संयोगान्तलोपे पुनः प्राप्ते चाप्राप्ते चारभ्यत इति तस्य बाधकं न भवति । पदान्त इत्येव-उखास्त्रसौ, पर्णध्वसौ, विद्वांसौ, अनड्वाहौ ॥68॥

न्या०स०—स्त्रंस्-ध्वंस्-क्वस्स० । उखास्त्रदिति-उखयापुतेन स्थाल्या वा स्त्रं सते । ननु दकारकरणं किमर्थ ? तकार एव क्रियताम्, यतस्तकारेऽपि कृते ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इत्यनेन दकारो भविष्यति, नैवम्-तकारे विधीयमाने परेऽसदिति वचनाद् ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति दत्वाभावाद् दकारस्य श्रवणं न स्यात् । *स्वनडुदिति*—अत्र बहुत्वे वाक्यं कार्यम् एकत्वे तु ``पुमनडुन्नौ० (7. 3. 173.) इति कच् स्यात् । *क्वस्सितीति*—क्वसोः ककारो ``वसं निवासे'' ``वसिक् आच्छादने'' अनयोर्व्युदासार्थः, तेन वसेः क्विपि यजादित्वाद् य्वृति दीर्घत्वे-ऊः, क्षौमं वस्ते क्विपि-क्षौमवः ।

अथ वसति-वस्त्योः सकारन्तत्वाव्यभिचाराद् व्यभिचारे च विशेषणस्यार्थवत्त्वाद् व्यभिचारिणः क्वस एव ग्रहणं भविष्यति, कुतः ? वस्सिति सकारोपादानात्, नैवम्-अन्यथापि प्रतीतिः स्यात्, यङ्लुबन्तयोरेतयोरेव ह्यस्तनीसिवन्तयोर्विशेषविहितत्वेन ``सेः स्-द्-धां च०'' (4. 3. 79.) इति सिव्लोपाभावे वस्सिति द्विःसकाररूपं ग्रहणं स्यात्, इतीह मा भूदिति ककारकरणम् । *रुत्व-ढत्वयोरेव बाधकमिति*-अनडुह् शब्दे ``हो धुट्-पदान्ते'' (2.1.82.) इत्यनेन ढत्वस्य शेषेषु रुत्वस्य प्राप्तिः । *प्राप्ते चाप्राप्ते चेति*-क्लीबे विद्वत् कुलमित्यादिष्वप्राप्ते, पुंस्त्वे तु विद्वानित्यादी प्राप्ते इति तस्य न बाधकम् ॥2. 1. 68.॥

ऋत्विज्-दिश्-दृश्-स्पृश्-स्त्रज्-दधृषुष्णिहो गः ॥ 2. 1. 69. ॥

एषां पदान्ते वर्तमानानां गोऽन्तादेशो भवति। ऋतुम् ऋतौ ऋतवे ऋतुप्रयोजनो वा यजते-ऋत्विक्, ऋत्विग्; दिश्यते इति-दिक्, दिग्,; पश्यति दर्शनं वा दृक्, दृग्; अन्य इव दृश्यते अन्यादृग्, अन्यादृक्; एवं-यादृग्, यादृक्; तादृग्, तादृक्; घृतं स्पृशति–घृतस्पृग्, घृतस्पृक्; मन्त्रेण स्पृशति–मन्त्रस्पृग्, मन्त्रस्पृक्; सृज्यत इति ऋुत्-संपदादित्वात् क्विप्, अत एव निर्देशाद् ऋतो रत्वं च, ``सृ गतौ'' इत्यस्य वा कज्-स्त्रग्, स्त्रक्; धृष्णोतीति-दधृष्, अत एव निर्देशाद् द्वित्वम् दधृग्, दधृक्; ऊर्ध्वं स्निह्यति नह्यति वा, अत एव निर्देशाद् उदो दकारस्य लोपे सस्य षत्वं, नहेर्नकारस्य च ष्णिरादेशः–उष्णिग्, उष्णिक्; ऋत्विग्भ्याम्, दिग्भ्याम्, घृतस्पृग्भ्याम्, स्त्रग्भ्याम्, दधृग्भ्याम्, उष्णिग्भ्याम्। पदान्त इत्येव–ऋत्विजौ, दिशौ, दृशौ, घृतस्पृशौ, स्त्रजौ, दधृषौ, उष्णिहौ ॥69॥

*न्या०स०–ऋत्विज्०। ऋत्विगि*ति-प्रयोजनं प्रवर्त्तको यस्येति वाक्ये ``मयूर०'' (3. 1. 116.) इति प्रयोजनशब्दलोपः, अत एव निपातनाद् वा *ऋतुप्रयोजन* इति अर्थ-कथनं वा, तत्र पक्षे ऋतुना हेतुभूतेन यजत इत्यर्थः। ननु 'ऋत्विग्-दिग्-दृग्' इति गान्ता निपाताः क्रियन्तां, किं गविधानेन ? सत्यम्-गनिपातने गत्वसनियोगशिष्टतैव ज्ञायेत, ततो व्यावृत्तौ दधृषौ, उष्णिहाविति न स्याताम् गत्वे तु विहिते निपातनं सर्वत्र भवति, गत्वं तु पदान्त एव भवतीति। *स्त्रगि*ति-सरति मस्तकादिकमिति ``ऋधि-पृथि०'' (उणा० 874) इत्यनेन बहुवचनात् किदज् ॥2. 1. 69.॥

नशो वा ॥ 2. 1. 70. ॥

नशेः पदान्ते गोऽन्तादेशो वा भवति। जीवस्य नशनम्-जीवनग् जीवनक्; पक्षे-जीवनङ्, जीवनट्; जीवनग्भ्याम्, जीवनड्भ्याम्। पदान्त इत्येव-जीवनशौ ॥70॥

न्या०स०–नशो वा। जीवतीति अच्, *जीवस्य कोऽर्थः ?* जीवस्य जीवतो वा नशनं ``भ्यादिभ्यो वा'' (5. 3. 115.) इति क्विप् ॥2. 1. 70.॥

युजञ्च-क्रुञ्चो नो ङः ॥ 2. 1. 71. ॥

युज्-अञ्च-क्रुञ्चां नकारस्य पदान्ते वर्तमानस्य ङकार आदेशो भवति। युनक्तेः क्विपि, घुटि नागमे, संयोगान्तलोपे-युङ; अञ्चतेरनर्चायां नलोपे, घुटि नागमे, अर्चायां तु नलोपाभावे-प्राङ्, प्राङ्भ्याम्, प्राङ्षु, प्राङ्क्षु; कुञ्चेरत एव निर्देशाद् ``नो व्यञ्जनस्यानुदितः'' (4. 2. 45.) इति नलोपाभावे-क्रुङ्, क्रुङ्भ्याम्, क्रुङ्क्षु; क्रुङ्क्षु। पदान्त इत्येव-युञ्जौ, युञ्जः; प्राञ्चौ, प्राञ्चः;

क्रुञ्चौ, क्रुञ्चः ॥71॥

न्या०स०–युजञ्च्० । ननु न इति किमर्थं ? ``षष्ठ्यान्त्यस्य'' (7. 4. 106.) इति सर्वेषामन्तस्यैव नस्य भविष्यति, सत्यम्-``युजिंच् समाधौ'' इत्यस्यापि पदान्ते `युङ्' इत्यनिष्टम्, अपदान्ते ``क्रुञ्च गतौ'' इत्यस्य `क्रुचौ क्रुच' इत्यपि अनिष्टे स्याताम्, अधुना तु नकारे कृते सूत्रसामर्थ्यान्न तस्य लुग्, इत्यपि फलम् ॥2. 1. 71.॥

सो रुः ॥ 2. 1. 72. ॥

पदान्ते वर्तमानस्य सकारस्य रुरादेशो भवति । मित्रशीः, आशीः, अग्निरत्र, वायुरत्र, अग्निर्गच्छति, पयः, पयोभ्याम्, पयोवत् । उकारः ``अरोः सुपि रः'' (1. 3. 57.) इत्यत्र विशेषणार्थः ॥ 72॥

सजुषः ॥ 2. 1. 73. ॥

`सजुष्' इत्येतस्य पदान्ते वर्तमानस्य रुरन्तादेशो भवति । सजूर्देवैः,सजूर्ऋषिभिः; सहपूर्वस्य जुषेः क्विपि सहस्य सभावे रूपमेतत् । सजूर्भ्याम्, सजूर्वत् । पदान्त इत्येव ? सजुषौ ॥73॥

न्या०स०–सजुषः । डत्वापवादः । *सजूरिति*-प्रथमे सर्वज्ञवचनः, द्वितीये मुनिवचनः । *सभावे* इति-अस्मादेव निर्देशाः ॥2. 1. 73.॥

अह्नः ॥ 2. 1. 74. ॥

अहन्शब्दस्य पदान्ते रुरित्ययमादेशो भवति, स चासन् परे स्यादिविधौ च । दीर्घाण्यहान्यस्मिन्–हे दीर्घाहो निदाघ !, दीर्घाहा निदाघः, अत्र रुत्वस्यासत्त्वाद् नान्तलक्षणो दीर्घो भवति । कश्चित् तु दीर्घत्वं नेच्छति, तन्मते-दीर्घाहो निदाघः । अहोभ्याम्, अहस्सु । अहन् शत्रुमित्यत्राहन्शब्दस्य त्याद्यन्तस्य लाक्षणिकत्वान्न भवति ॥74॥

न्या०स०–अह्नः । *कश्चित् त्विति*-दुर्गसिंहः । *लाक्षणिकत्वादिति*-अयमभिप्रायः– ❇ उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि ❇ इत्यस्मिन् पक्षे नाम्नः प्रतिपदोक्तस्य संभवाल्लाक्षणिकस्य न ग्रहणमिति, व्युत्पत्तिपक्षस्तु इह नाश्रितः ॥2. 1. 74॥

रो लुप्यरि ॥ 2. 1. 75. ॥

अहन्शब्दस्य लुपि सत्यामरेफे परे पदान्ते रोऽन्तादेशो भवति, रोरपवादः। अहरधीते, अहरेति, अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते, दीर्घाहाश्चासौ मासश्च दीर्घाहर्मासः, अहः-काम्यति, अहर्वान्। लुपीति किम् ? हे दीर्घाहोऽत्र। अरीति किम् ? अहोरूपम्, अहोरात्रः, गतमहो रात्रिरागता, कृत्स्नमहो रथन्तरं गायति, सर्वमहो रमयस्व, यातं शनैः सर्वमहो रथेन। अन्ये तु रात्रि-रूप-रथन्तरेष्वेव रेफादिषु परेषु रेफप्रतिषेधमिच्छन्ति ॥75॥

न्या०स०–रो लुप्यरि। अहरधीते इति-``कालाऽध्वनोः०'' (2. 2. 42.) द्वितीया। *अहःकाम्यती*ति–``रोः काम्ये'' (2. 3. 7.) इति नियमात् ``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इत्यनेन न सकारः।

*हे दीर्घाहोऽत्रे*ति-अत्र वाक्ये विभक्ते र्लुबस्ति तत् कथं रो न भवति ? सत्यम्-लुपीति प्रत्यासत्त्या व्याख्येयम्-यदपेक्षया लुप्, पदत्वमपि यदि तदपेक्षया भवति, अत्र तु वाक्यविभक्त्यपेक्षया लुप्, साक्षाद्विभक्त्यपेक्षया तु पदत्वम्; वाक्यविभक्त्यपेक्षयैव पदत्वमपीति न च वाच्यम्, ``वृत्त्यन्तोऽसषे'' (1. 1. 25.) इतिनिषेधात्। *रथन्तरमि*ति–रथं–रथस्थं तरति–अतिक्रामति ``भृ-वृजि०'' (5. 1. 112.) इति खः सामविशेषः। *यातमि*ति–कर्मणि क्तः ॥ 2.1.75.॥

धुटस्तृतीयः ॥ 2. 1. 76. ॥

धुटां पदान्ते वर्तमानानां तृतीयो भवति। वाग्, वाग्भिः; अज्, अज्भिः; षड्, षड्भिः, विद्युद्, विद्युद्भिः; ककुब्, ककुब्भिः; विड्, विड्भिः। केचित् तु विसर्ग–जिह्वा मूलीययोरप्यलाक्षणिकयोस्तृतीयत्वं गत्व-मिच्छन्तीति तन्मते सुपूर्वाद् दुःखयतेर्दु ≍ खयतेर्वा क्विपि संयोगान्तलोपे–'सुदुग्, सुदुग्भ्याम्' इति सिद्धम्। पदान्त इत्येव-वाचौ। कश्चरति, कष्टीकते, कस्तरतीत्यादिष्वादेशविधानसामर्थ्यात्, षष्ठ इत्यत्र तु ``षष्ठी०'' (2.2.108.) इति निर्देशान्न भवति ॥76॥

*न्या०स०–धुटः०। अज्भिरि*ति-अत्र संज्ञाशब्दत्वात् ``च-जः क-गम्'' (2. 1. 86.) इति न भवति। *अलाक्षणिकयोरि*ति–``रः क-ख-प-फ०'' (1. 3. 5.) इत्यादि-लक्षणेनाक्कृतयोरित्यर्थः। *दुःखयतेदु ≍ खयतेर्वे*ति–``सुख दुःखण०'' इत्यत्र दुःखधातु-विसर्गान्वितो मतान्तरेण जिह्वामूलोयान्वितश्च पठ्यते। *संयोगान्तलोपे* इति-ननु व्यञ्जनैरन्तर्य

संयोगः, न च विसर्जनीय-जिह्वामूलीययोर्व्यञ्जनसंज्ञास्ति, तत् कथं ? ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इत्यन्तलोपः, सत्यम्-कस्यादिः—कादिरिति व्युत्पत्त्या `अं-अः' इत्येतयोर्व्यञ्जनत्वे ततश्च ``अं-अः— ⌣ क०'' (1. 1. 16.) इति सूत्रे `अं-अः' इति साहचर्यात् `⌣ क' इत्यस्यापि व्यञ्जनत्वे संयोगान्तलोपो भवति, कण्ठ्यत्वाच्च स्थान्यासन्नो गकारः, नतु) (`प' इत्यनेन साहचर्याद् वर्णमात्रत्वनिबन्धनो व्यञ्जनत्वाभावः, कुतः ? `अं-श्रः-) (प-⌣ क' इत्यकरणात् । *कश्चरतीति*—यद्यप्यत्र कत्वस्य परेऽसत्त्वात् तृतीयस्याप्राप्तिस्तथापि मातश्चरतीत्यादिषु प्राप्नोतीत्याह—*विधानसामर्थ्यादिति* ॥2. 1. 76.॥

ग-ड-द-बादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्याऽऽदेश्चतुर्थः स्ध्वोश्च प्रत्यये ॥ 2. 1. 77. ॥

ग-ड-द-बादेश्चतुर्थान्तस्यैकस्वरस्य धातुरूपावयवस्यादेश्चतुर्थ आसन्नो भवति, पदान्ते सकारादौ ध्वशब्दादौ च प्रत्यये परे । पर्णघुट्, पर्णघुड्भ्याम्, पर्णघुट्त्वम्; तुण्डिभमाचष्टे णौ क्विपि-तुण्ढिप्, तुण्ढिब्भ्याम्, तुण्ढिप्त्वम्; गोधुक्, गोधुग्भ्याम्, गोधुक्तवम्; गर्दभमाचष्टे णौ क्विप्-गर्धप्, गर्धब्भ्याम् गर्धप्त्वम्; धर्मभुत्, धर्मभुद्भ्याम्, धर्मभुत्त्वम् । स्ध्वोः- गुहौ-निघोक्ष्यते, न्यघूढ्वम्; दुह्-धोक्ष्यते, अधुग्ध्वम्; बुध्-भोत्स्यते, बुभुत्सते, अभुद्ध्वम् ।

ग-ड-द-बादेरिति किम् ? क्रुत्, क्रोत्स्यति; जम्भेर्यङ्लुपि-अजंझप् अजंजप् । चतुर्थान्तस्येति किम् ? सुगण, दास्यति । एकस्वरस्येति किम् ? दाम लेढि क्विप्, दामलिहमिच्छति क्यन्, दामलिह्यति क्विप्-दामलिट् । स्ध्वोश्चेति किम् ? धर्मबुधौ, बोद्धा । वर्णविधित्वेन स्थानिवद्भावो नास्तीति `अबुद्ध, अबुद्धाः' इत्यत्र सिज्लुकि न भवति । धकारस्य वकारोपश्लिष्टस्य ग्रहणं किम् ? ``दधि धारणे'' इत्यस्य यङ्लुपि हौ धिभावे-दादद्धि । प्रत्यय इति किम् ? धाग् वस् द्वित्वम्, ``श्नश्चाऽऽतः'' (4. 2. 96) इत्याकारलोपे ``अदीर्घाद् विरामैकव्यञ्जने'' (1. 3. 32.) इति धकारस्य द्विर्भावे दद्ध्वः, दद्ध्वहे ॥77॥

न्या०स०—-ग-ड-द-बादे । धातुरूपावयवस्येति-अत्र धातुरूपावयवस्येति विशेष्यम् अस्य च समासद्वयं—`पर्णघुड्' इत्यादौ सिसाधयिषिते धातुरूपश्चाऽसौ अवयवश्च `गुह्' इत्यादिः, अवयवश्चावयव्यपेक्षयाभिधीयत इति `पर्णगुह्' इत्यादिसमुदायोऽवयवी; `तुण्ढब्' इत्यादौ तु साधयितुमिष्टे धातुरूपस्यावयव इति षष्ठीसमासः, धातुरूपं `तुण्डिभ्' इत्यादि, तस्याऽवयवो `डिभ्' इत्यादिः; समासद्वयेऽपि च कुण्डमुम्भति—`कुण्डोब्' इति निरस्तम्, नहि `कुण्डोब्' इत्यस्य समुदायस्य मध्ये `डोब्' इति धातुरूपोऽवयवो नापि धातुरूपस्य अवयव इति

आदिचतुर्थत्वाभावः; यद्वा धातुरूपस्यावयव इत्येवं षष्ठीसमास एवं क्रियते, एवं च क्रियमाणे 'तुण्ढिब्' इत्यादीनि ❊ आद्यन्तवदेकस्मिन् ❊ इति न्यायनिरपेक्षाणि सिध्यन्ति, पर्णघुडित्यादीनि तु ❊ आद्यन्तवदेकस्मिन् ❊ इति न्यायेन; अन्यच्च-स्ध्वौ प्रत्ययौ धातोरव्यभिचारिणाविति चानुकृष्टत्वेनानयोः साहचर्यात् पदान्त इत्यपि धातोरेवेति धातुरूपावयवस्येति, तस्यैव युक्तत्वादिति, रूपशब्दस्तु भ्वाद्यभ्वादि-धातुमात्रपरिग्रहार्थः । *सकारादौ चे*ति-ध्वस्त्यादिप्रत्ययस्तदेकविभक्तिनिर्दिष्टत्वेन सकारोऽपि त्यादिरेवेति । *तुण्डिभै*ति–``तुडुङ् तोडने'' अस्य ``उदितः स्वरान्नोऽन्तः'' (4. 4. 98.) इति नागमे ``किलि-पिलि०'' (उणा० 608) इति इप्रत्यये तुण्डिः, साऽस्याऽस्तीति ``वलि-वटि-तुण्डेर्भः'' (7. 2. 16.) इति भः । *न्यघूढ्वमि*ति-अद्यतन्या घ्वमि सकि ``दुह-दिह०'' (4. 3. 74.) इति तस्य लुकि अटि ढत्वे घत्वे ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इति घस्य ढत्वे ``ढस्तड्ढे'' (1. 3. 42.) इति ढलोपे रूपमिदम् । *वर्णविधित्वेनै*ति-वर्णे सकाररूपे परतो विधिः । *सिज्लुकि न भवती*ति–ननु सिज्लोपात् पूर्वमेव किमिति नादिचतुर्थत्वम् ? नैवम्-परस्मिन् सिच्लोपरूपे कार्ये विधेये आदि-चतुर्थत्वस्याऽसदधिकारविहितत्वेनाऽसत्त्वात् । *प्रत्यय इति किमि*ति-ननु ❊ प्रत्ययाऽ-प्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव० ❊ इति न्यायेन प्रत्यये एव भविष्यति, किं प्रत्ययग्रहणेन ? सत्यम्-'दद्ध्वः, दद्ध्वहे' इत्यत्र यदा ❊ उभयोः स्थाने० ❊ इति न्यायेन 'ध्व' इत्यस्य प्रकृतिप्रत्ययस्थाननिष्पन्नस्य प्रत्ययव्यपदेशः स्यात् तदा आदिचतुर्थत्वं भवेत्, सति तु प्रत्ययग्रहणे न्यायनिरपेक्षो यः प्रत्ययस्तस्मिन्नेव भवति नेतरस्मिन् प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यात् ॥2.1.77.॥

धागस्त-थोश्च ॥ 2. 1. 78 ॥

दधातेश्चतुर्थान्तस्य दकारादेरादेर्दकारस्य त-थयोः स्ध्वोश्च प्रत्यययोः परयोश्चतुर्थो भवति । धत्तः, धत्ते, धत्थः, धत्थ, धत्से, धत्स्व, धद्ध्वे धद्ध्वम्; अत्रासद्विधित्वाद् वचनसामर्थ्याद् वाऽऽतो लोपस्य स्वरादेशत्वेऽपि स्थानिवद्भावो न भवति । गकारः किम् ? धयतेर्मा भूत्, ट्धेर्यङ्लुपि-दात्तः, दात्थः, दधातेरपि यङ्लुबन्तस्य मा भूत्,

❊ ``तिवा शवाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च ।
एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि ॥ ❊

इति न्यायात्-दात्तः, दात्थः । केचित् तु यङ्लुबन्तस्यापीच्छन्ति-धात्तः, धात्थः, धात्थ । तथोश्चेति किम् ? दध्वः, दध्मः । चतुर्थान्तस्येत्येव-दधाति, दधासि ॥78॥

न्या०स०–धाग:० । नन्वत्र चकारकरणं किमर्थं ? स्ध्वोः पूर्वेणैव सिद्धत्वात्, सत्यम्-यङ् लुपि ``क्रियाव्यतिहार०'' (3. 3. 23.) इति आत्मनेपदे से व्यतिधात्से' इति स्यात्, कृते

चकारे `व्यतिदात्से' इत्येव, न त्वादेश्चतुर्थः ❁ तिवा शवा० ❁ इति न्यायात् ।।2. 1. 78.।।

अधश्चतुर्थात् तथोर्धः ।। 2. 1. 79. ।।

चतुर्थात् परयोस्तकार-थकारयोर्धारूपवर्जिताद् धातोर्विहितयोः स्थाने धकार आदेशो भवति । दोग्धा, दोग्धुम्, अदुग्ध, अदुग्धाः; लेढा, लेढुम्, अलीढ, अलीढाः; बोद्धा, बोद्धुम्, अबुद्ध, अबुद्धाः; लब्धा, लब्धुम्, अलब्ध, अलब्धाः । अध इति किम् ? दधातेर्यङ्लुबन्तधयतेश्च मा भूत्-धत्तः, धत्थः, दात्तः, दात्थः । केचित् तु यङ्लुबन्तधयतेरपी-च्छन्ति-दाद्धः, दाद्ध । विहित-विशेषणं किम ? ज्ञानभुत्त्वम्, अत्र नामविहिते त्वे मा भूत् ।।79।।

न्या०स०—अधश्चतुर्था० । पूर्वसूत्रे निमित्तत्वेनोपादानाद् इह त-थोरित्यस्य पुनरुपादानं कार्यित्वार्थम् । *चतुर्थादिति*-ननु ``ग-ड-द-बादे :०'' (2. 1. 77.) इत्यतश्चतुर्थान्तस्येत्य-धिकारोऽनुवर्त्यः, ❁ अर्थवशाद् ❁ इति पञ्चम्यन्तं कृत्वा रूपाणि साधयिष्यन्ते, किं चतुर्थादित्यनेन ? सत्यम्-क्लिष्टा प्रतिपत्तिरियमिति सुखार्थम् । *यङ्लुबन्तधयतेश्चेति*—केवलस्य तु शवा व्यवधानाच्चतुर्थान्तत्वाभावः । *नामविहिते* इति-❁ क्विबन्ता धातुत्वं न त्यजन्ति ❁ इति न्यायादपि न भवति, `अधः' इति वर्जनेन पर्युदासाश्रयणाच्छुद्धधातोरेव परिग्रहात् ।। 2. 1. 79. ।।

र्नाम्यन्तात् परोक्षाद्यतन्याशिषो धो ढः ।। 2. 1. 80. ।।

रेफान्तान्नाम्यन्ताच्च धातोः परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां विभक्तीनां यो धकारस्तस्य ढकार आदेशो भवति । अतीढ्र्वम्, तीर्षीढ्वम्, तुष्टुढ्वे, चकृढ्वे, अदिढ्वम्, अधिढ्वम्, अचेढ्वम्, अच्योढ्वम्, अकृढ्वम् चेषीढ्वम्, कृषीढ्वम् । र्नाम्यन्तादिति किम् ? अपग्ध्वम्, पक्षीध्वम् । र्नाम्यन्तादिति धातोर्विशेषणं किम् ? ववसिध्वे, आसिध्वम्, आसिषीध्वम् । परोक्षाद्यतन्याशिष इति किम् ? स्तुध्वे, स्तुध्वम्, अस्तुध्वम् ।।80।।

न्या०स०—र्नाम्यन्तात्० । धातोर्नामीति विशेषणाद् विशेषणेन च तदन्त-विधेर्भावात् तदन्तत्वे लब्धे अन्तग्रहणं सुखार्थम् । रान्तादनिटः परोक्षा न संभवति, सेटस्तु `तत्वरिध्वे' इत्यादिषूत्तरेण विकल्प एव, तथाऽत्र रग्रहणाभावेऽपि नाम्यन्तादित्यत्र विहितव्याख्याने क्रियमाणे परत्वात् ``ऋतां क्ङितीर्'' (4. 4. 36.) इत्यनेन इरादेशे सत्यपि `अतीढ्र्वन्' इत्यादीनि सिध्यन्ति, किन्तु `अदिढ्वम्' अधिढ्वम्' इत्यादीनि न सिध्यन्तीति रग्रहणमिति । अतीढ्र्वमित्यत्र ``ऋवर्णात्'' (4. 3. 46.) इति सिचः कित्त्वम्, `अदिढ्वम्' इत्यादौ ``इश्च स्था-दः'' (4. 3. 41.) इत्यनेन इत्वं

सिचः कित्त्वं च; इत्वविधानादेव गुणो न भविष्यति, किं कित्त्वेनेति न वाच्यम्, विधानस्य 'अदित' इत्यादौ ह्रस्वद्वारेण सिचो लुपि चरितार्थत्वादिति । अकृढ्वं, कृषीढ्वमित्यनयोः ``ऋवर्णात्'' (4. 3. 36.) इत्यनेन सिच्-सीध्वमोः कित्त्वाद् गुणाभावः । *अपग्ध्वमिति*–``सो धि वा'' (4. 3. 72.) इति विकल्पेन सिचो लुप्रवृत्तेः पक्षे 'अपग्ड्ढ्वम्' इत्यत्राऽद्यतनीध्वमि सिचि धातुचकारस्य ``च-जः क-गम्'' (2. 1. 86.) इति कत्वे ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यनेन सिचः षत्वे ``तृतीयस्तृतीय०'' (1. 3. 48.) इति षस्य डत्वे ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इति ध्वमो धस्य ढत्वे च सिद्धिः ।।2. 1. 80.।।

हान्तस्थाञ्जीड्भ्यां वा ।। 2. 1. 81. ।।

हकारादन्तस्थायाश्च पराञ्जेरिटश्च परासां परोक्षाद्यतन्याशिषां संबन्धिनो धकारस्य ढकारो वा भवति । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः । अग्राहिड्वम्, अग्राहिध्वम् ग्राहिषीढ्वम्, ग्राहिषीध्वम्; अनायिढ्वम्, अनायिध्वम्, नाविषादेवम्, नायिषीध्वम्; अकारिढ्वम्, अकारिध्वम्; कारिषीढ्वम्, कारिषीध्वम् अलाविध्वम्; लाविषीढ्वम्, लाविषीध्वम्; परोक्षायां ञिर्न संभवतीति नोदाहृतः ।

इटः–जगृहिढ्वे, जगृहिध्वे; अग्रहीढ्वम्; अग्रहीध्वम् ग्रहीषीढ्वम्, ग्रहीषीध्वम्; उपदिदीयिढ्वे, उपदिदीयिध्वे; आयिढ्वम्, आयिध्वम्; अयिषोढ्वम्, अयिषीध्वम्; तत्वरिढ्वे, तत्वरिध्वे; अत्वरिढ्वम्, अत्वरिध्वम्; त्वरिषीढ्वम्, त्वरिषीध्वम्; ववलिढ्वे, ववलिध्वे; अवलिढ्वम्, अवलिध्वम्; संवलिषीढ्वम्, संवलिषीध्वम्; लुलुविढ्वे, लुलुविध्वे; अलविढ्वम्, अलविध्वम्; लविषीढ्वम् लविषीध्वम् हान्तस्थादिति किम् ? धानिषीध्वम्, आसिषीध्वम् ।।81।।

न्या०स०–हान्त० । ञिटः स्वतन्त्रत्वात्, इटस्तु प्रत्ययावयवत्वेन प्रत्ययत्वाद् धातोर्नाम्यन्तत्वाभावे पूर्वेण न प्राप्नोतीत्यप्राप्ते विभाषेयम् ।।2. 1. 81.।।

हो धुट्-पदान्ते ।। 2. 1. 82. ।।

हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ढकारादेशो भवति । लेढा, लेक्ष्यति; वोढा, वक्ष्यति । पदान्ते-मधुलिट्, मधुलिड्भ्याम्, मधुलिड्भिः, मधुलिट्त्वम्, मधुलिड्वत्, मधुलिट्कल्पः । धुट्-पदान्त इति किम् ? मधुलिहौ । असत् पर इत्येव-गुडलिण्मान् अत्र ढत्व-तृतीयत्वयोरसत्त्वात् ``मावर्णा०'' (2. 1. 94.) इत्यादिना मतोर्मो वत्वं न भवति । ऊढमाख्यत् औजढत्, अत्र ढत्वधत्वयोरसत्त्वादन्त्यस्वरादिलोपस्य च द्वित्वे स्थानिवद्-भावादकारेण सह 'हत' इति द्विर्वचनम् । केचित् त्वन्त्यस्वरादिलोपस्य स्थानित्वमनिच्छन्तो 'ह् ति' इति द्वित्वे

ऊढमूढिं वाख्यत्-औजिढदिति मन्यन्ते ।।82।।

न्या०स०—हो धुट् । *मधुलिहाविति*-यदा ❊ गतिकारक० ❊ इति न्यायाद् मधुशब्दस्य 'लिह्' इत्यनेनाऽविभक्त्यन्तेन समासस्तदाऽन्तर्वर्तिविभक्त्यभावात् पदत्वप्राप्तिरेव नास्तीति यदापि 'लीढः' इति कृत्वा मधुनो लिहाविति विभक्त्यन्तेन समासस्तदापि ''वृत्त्यन्तोऽसषे'' (1. 1. 25.) इति पदत्वाभाव इत्युभयथाप्यपदत्वं 'लिह्' इत्यस्येति ।

द्वित्वे स्थानिवत्त्वादिति—ननु कथमत्र स्थानित्वम् ? अकारेण सह क्तेति द्विर्वचने कर्त्तव्ये पूर्वविधित्वाभावात्, सत्यम्-निमित्तापेक्षया-पीह प्राग्विधिरिष्यते, यद्वा 'ह्त्' इत्यनयोः प्राग्विधित्वमस्त्येव, अवयवयोश्च समुदायोपचारात् 'ह् त' इत्यस्यापि स्वरादेशस्थान्यन्तस्य प्राग्विधित्वमिते, यदि निमित्तापेक्षया प्राग्विधिरिष्यते, तर्हि नयनमित्यत्र स्वरादेशस्य गुणस्य स्थानित्वेऽयादेशो न प्राप्नोति, सत्यम्-निमित्तापेक्षया प्राग्विधित्वं प्रायिकमिति । *केचित् त्विति*-चन्द्रगोमि-देवनन्द्यादयः ।।1. 1. 82. ।।

भ्वादेर्दादेर्घः ।। 2. 1. 83. ।।

भ्वादेर्धातोर्यो दकारादिरवयवस्तदवयवस्य हकारस्य धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च घकारादेशो भवति, ढस्यापवादः । दग्धा, दग्धुम्, धक्ष्यति; दोग्धा, दोग्धुम्, धोक्ष्यति; एषु व्यपदेशिवद्भावाद् धातोरवयवस्य दादित्वम्, अधाक्षीत् । पदान्ते-अधोग्, गोधुक्, काष्ठधक्, गोधुग्भ्याम्, काष्ठधग्भ्याम्, गोधुक्षु, काष्ठधक्षु । भ्वादेरिति किम् ? दामलिहमिच्छति क्यन् क्विप्-दामलिट्, एवं दृषद्युट् । दादेरिति किम् ? सोढा, मधुलिट् । ह इत्येव-अदात् । धुट्-पदान्त इत्येव-गोदुहो, गोदुहः ।।83।।

न्या०स०—भ्वादे० । यदि भ्वादेरित्यस्य दादेरिति समानाधिकरणं विशेषणं भवेत् तदाऽदुग्धेत्यादयोऽडागमे कृते दादित्वाभावान्न सिध्येयुरिति भ्वादेरित्यस्य दादेरिति व्यधिकरणं विशेषणं व्याख्यातम् । नन्वत्र सर्वेष्वपि प्रयोगेषु घस्य गः क्रियते, ततो ग एव क्रियताम्, किं घकरणेनेति, सत्यम्-गकारे क्रियमाणे चतुर्थान्तत्वाभावादधोगित्यादौ ''ग-ड-द-ब०'' (2. 1. 77.) इत्यादिना चतुर्थत्वं न स्यात् ।।2. 1. 83. ।।

मुह-द्रुह-ष्णुह-ष्णिहो वा ।। 2. 1. 84. ।।

एषां संबन्धिनो हकारस्य धुटि प्रत्यये पदान्ते च घकारादेशो वा भवति, द्रुहः प्राप्तेऽन्येषामप्राप्ते विकल्पः । मुह्—मोग्धा, मोढा; उन्मुक्, उन्मुट्; उन्मुग्भ्याम्, उन्मुड्भ्याम्; द्रुह्-द्रोग्धा, द्रोढा;

मित्रध्रुक्, मित्रध्रुट्; मित्रध्रुग्भ्याम्, मित्रध्रुड्भ्याम्; स्नुह्-स्नोग्धा, स्नोढा; उत्स्नुक्, उत्स्नुट्; उत्स्नुग्भ्याम्, उत्स्नुड्भ्याम्; स्निह-स्नेग्धा, स्नेढा; चेलस्निक्, चेलस्निट्; चेलस्निग्भ्याम्, चेलस्निड्भ्याम् । धुट्-पदान्त इत्येव-उन्मुहौ, उन्मुहः । मुहा-देरिति गणनिर्देशमकृत्वा धातुपरिगणनं यङ्लुप्यपि विध्यर्थम्-मोमोग्धि, मोमोढि वा, दोद्रोग्धि, दोद्रोढि ॥84॥

न्या०स०--मुह । चेलस्निक् चेलं स्निह्यति-सिश्चतीत्यर्थः, सेचनार्थत्वं त्वस्य ``स्वस्नेहन०'' (5. 4. 65.) इति स्निह्यतेऽनेनेति स्नेहनमुदकादीति दर्शनाद् विज्ञायत इति । ननु किं मुहादयः स्वरूपेणोपादीयन्ते ? मुहादेरित्येवोच्यताम्, न चैवं कृतेऽधिकानां प्रसङ्गस्तदनन्तर वृत्करणात्, तद्धि पुष्पादिवद् मुहादिपरिसमाप्त्यर्थमपि भविष्यतीत्याह-*मुहादेरि*ति ॥2. 1. 84.॥

नहा-होर्ध-तौ ॥ 2. 1. 85. ॥

नहेर्ब्रूग्स्थानस्याहश्च धातोः संबन्धिनो हकारस्य धुटि प्रत्यये पदान्ते च यथासंख्यं धकार–तकारावादेशौ भवतः । नद्धा, नत्स्यति, उपानत्, परीणत्, उपानद्भ्याम्, उपानत्कल्पः; आह्-आत्थ, आहेनियतविषयत्वात् पदान्तता नास्ति । धुट्-पदान्त इत्येव-उपनह्यति, उपानहौ, उपानहः; आह, आहतुः, आहुः । आहेरादेशान्तरकरणम् ``अधश्चतुर्थात् त-थोर्धः'' (2. 1. 79.) इति थकारस्य धत्वनिवृत्त्यर्थम् ॥85॥

*न्या०स०–नहाऽऽहो० । ब्रूस्थानस्ये*ति–अन्यस्यासंभवात् । *आत्थे*ति–नन्वाहेरपि धकारे ``अघोषे प्रथम०'' (1. 3. 50.) इति तकारे कृते `आत्थ' इति सिध्यतीत्युभयोरपि धकार एव क्रियतां, किं तकारकरणेनेत्याह–*आहेरादेशान्तरे*त्यादि-न च सिवस्थव्विधानादेव धत्वं न भविष्यति, अन्यथा सिवो धत्वमेव विदध्यादिति वाच्यम्, यतो लाघवार्थं तद् भवेत्, अन्यथा ``ब्रूगः पञ्चानाम्०'' (4. 2. 118.) इत्यत्र ``सिवो धः'' इति सूत्रान्तरे कृते गौरवं स्यात्, तस्मात् सूक्तं–*धत्वनिवृत्त्यर्थमि*ति ॥2. 1. 85.॥

च-जः क-गम् ॥ 2. 1. 86. ॥

चकार-जकारयोर्धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च ककार-गकारावादेशौ भवतः । वक्ता, वक्तुम्, वक्ष्यति, ओदनपक्, त्वक्, वाक्, वाग्भिः, वाक्वम्; जः-त्यक्ता, त्यक्तुम्, त्यक्ष्यति, अर्धभाग्, स्वप्नग्, तृष्णक् । धुट्-पदान्त इत्येव-वच्मि, वाचौ, वाचः । प्रत्यय इत्येव-इच्छति, मज्जति । कथं तच्चूञ्चुः, तच्चणः, तच्चरति ?, उच्यते-अत्र दस्य परत्वात् तृतीयत्वे पश्चाच्चवर्गत्वे

प्रथमत्वम्, ततस्तृतीयस्य ``च-जः क-गम्'' (2.1.86.) इति परेऽसत्त्वेन च-जयोरभावात् कत्व-गत्वे न भवतः; अज्झलावित्यत्र तु संज्ञाशब्दत्वान्न भवति ।।86।।

न्या०स०—च-जः० । 'धुट्-पदान्त' इत्यस्य च-जाभ्यां क-गाभ्यां प्रत्येकमभिसंबन्धादे यथासंख्याभावः, प्रत्येकमभिसंबन्धश्च ``प्रागिनात्'' (2.1.48.) ``स्त्यादि-विभक्तिः'' (1.1.19.) इति सूत्रनिर्दिष्टकत्व-गत्वरूपज्ञापकात्, किञ्च यदि 'धुट्-पदान्त' इत्यनेन सह यथासंख्यमभिप्रेतं स्यात् तदा ``ऋत्विग्०'' (2.1.69.) इत्यधिकारे जग्रहणं कृत्वा गत्वं विदध्यादिति । अथात्र सूत्रे किमर्थमादेशद्वयविधानम् ? यावता कविधानं गविधानं वा क्रियताम्, यथालक्षणं कस्य गत्वे गस्य कत्वे च सर्वसाध्यसिद्धेः, सत्यम्-गाऽभावे लग्नादयः, काऽभावे पक्वादयो न सिध्येयुरिति क-गग्रहणम् ।।2.1.86.।।

यज-सृज-मृज-राज-भ्राज-भ्रस्ज व्रश्च-परिव्राज शः ष ।। 2.1.87. ।।

यजादीनां धातूनां च-जः शकारस्य च धुटि प्रत्यये परे पदान्ते च षकार आदेशो भवति । यज्-यष्टा, यष्टुम्, देवेट्, उपयट्, उपयड्भ्याम्; सृज्-स्रष्टा, स्रष्टुम्, तीर्थसृट्, तीर्थसृड्भ्याम्; मृज्-मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, कंसपरिमृट्, कंसपरिमृड्भ्याम्; राज्-सम्राट्, सम्राड्भ्याम्; भ्राज्-विभ्राट्, विभ्राड्भ्याम्; राज-भ्राजोः क्तिरेव धुट्, अन्यस्तु इटाव्यवधीयते, राष्टिः, भ्राष्टिः, केचित् तु क्तिं नेच्छन्ति; भ्रस्ज्-भष्टा, भ्रष्टुम्, भर्ष्टा, भर्ष्टुम्, धानाभृड्, धानाभृड्भ्याम्; व्रश्च्-व्रष्टा, व्रष्टुम्, मूलवृट्, मूलवृड्भ्याम्; परिव्राज्-परिव्राड्, परिव्राड्भ्याम, ``दिद्युद्दद्दृद्०'' (5.2.83.) इत्यादिना क्विबन्तस्यैव निपातनाद् धुट्यसंभवान्नोदाहृतम् । शकारान्त-लिश्-लेष्टा, लेष्टुम्, लिट्, लिड्भ्याम्; छादेशोऽपि शकारो गृह्यते-प्रष्टा, प्रष्टुम्, शब्दप्राड्, शब्दप्राड्भ्याम् । राजिसहचरितस्य भ्राजेर्ग्रहणात ``एजृङ् भेजृङ् भ्राजि दीप्तौ'' इत्यस्य गत्वमेव-विभ्राक्, विभ्राग्भ्याम्; अत एव भ्राजेरात्मनेपदिनोऽपि ``राजृग् टुभ्राजि दीप्तौ'' इत्युभयपदिषु पुनः पाठः साहचर्यार्थम् ।

धुट्-पदान्त इत्येव-देवेजौ, देवेजः, रज्जुसृजौ, कंसपरिमृजौ, सम्राजौ, विभ्राजौ, धाना-भृज्जौ, मूलवृश्चौ, परिव्राजौ, शब्दप्राशौ, उच्छैत्-समुशौ । यजादिधातुसाह- चर्यात् शकारस्यापि धातोः संबन्धिन एव ग्रहणादिह न भवति-निशाशब्द-स्यान्तलोपे ``धुटस्तृतीयः'' (2.1.76.) इति जकारे-निज्भ्याम्, सुपि तु जकारस्य प्रथमत्वे ``सस्य श-षौ'' (1.3.61) इति सुपः सकारस्य शत्वे ``प्रथमादधुटि शश्छः'' (1.3.4.) इति छत्वे-निच्छु, जकारस्य तु

परेगत्वेऽसत्त्वात् ``च-जः क-गम्'' (2. 1. 86.) इति गत्वं न भवति । च-ज इत्येव–वृक्षवृश्चमाचष्टे णौ विचि-वृक्षव्, अत्र वकारस्य मा भूत् । कथमसृग्, असृग्भ्याम्, रज्जुसृग्, रज्जुसृग्भ्याम् ?, असृज्रज्जुसृज्शब्दयोरौणादिकयोर्भविष्यति । कश्चित् तु ``अनुनासिके च च्छ्वः शूट्'' (4. 1. 108.) इति शत्वविधेरनित्यत्वज्ञापनार्थं छकारस्यापि षत्वमिच्छति, तन्मते–पथिप्राच्छौ, पथिप्राच्छः, शब्दप्राच्छौ शब्दप्राच्छः । ``उच्छैत् विवासे'' समुच्छौ, समुच्छः ॥87॥

न्या०स०–यज-सृज० । *क्तिरेव धुडिति*–``तेर्ग्रहादिभ्यः'' (4. 4. 33.) इति नियमात् क्तौ इडभाव इत्यर्थः, ननु यङ्लुबन्तयोरनयोरन्योऽपि तिवादिर्धुट् संभवति, तत् कथं क्तिरेव धुडिति, सत्यम्-यङ् लुबन्तयोरनयोर्धातुपारायणिकानामेव मते प्रयोग इष्यते, न वैयाकरणानामिति क्तिरेवेत्युक्तम् । *साहचर्यार्थमिति*–न चात्मनेपदानित्यत्वज्ञापनार्थं पुनः पाठ इति वाच्यम्, तदा ह्यात्मनेपदिष्वेव पुनः पठ्येत, नाप्येकस्य ट्वनुबन्धत्वादथुर्भवत्यन्यस्य नेति वाच्यम्. यतः ट्वनुबन्धादपि ``असरूप०'' (5. 1. 16.) इति सूत्राद् उत्सर्गः प्रवर्तिष्यते, तस्मादेकेनापि धातुनाऽर्थाभेदेन प्रयोगद्वयं सिध्यति, परं साहचर्याय द्विः पाठ इति ।

कथमसृगिति-नञ्पूर्वस्य सृजेः क्विबन्तस्य षत्वेन भाव्यम्, तत् कथं गत्वमित्याह–*औणादिकयोरिति*-अस्यत इति न सृज्यत इति वा ``रुधिपृथि०'' (उणा० 874.) इति किदजि बाहुलकादेकत्रास्य ऋत्वेऽन्यत्र जकारा-ऽकारयोर्लोपे चाऽसृज्शब्दसिद्धिः । *पथिप्राच्छाविति*–पन्थानं पृच्छतः ``दिद्युत्०'' (5. 2. 83.) इति क्विप् । धुटि पदान्ते च पूर्वाण्येवोदाहरणानि, व्यावृत्तौ तु विशेषः । स्वमते तु पथिप्राशावित्याद्येव भवति ॥2. 1. 87.॥

संयोगस्यादौ स्कोर्लुक् ॥ 2. 1. 88. ॥

धुटि प्रत्यये पदान्ते च यः संयोगस्तस्यादौ वर्तमानयोः सकारककारयोर्लुग् भवति । ओलस्जैति-लग्नः, लग्नवान्, साधुलक्, साधुलग्भ्याम्; मस्ज्-साधुमक्, साधुमग्भ्याम्; ओव्रश्चौत्-वृक्णः, वृक्णवान्, मूलवृट्, मूल-वृड्भ्याम्; भ्रस्ज्-भृष्टः, भृष्टवान्, यवभृट्, यवभृड्भ्याम् ; क्-तक्षौ-तष्टः, तष्टवान्, काष्टतट्, काष्टतड्भ्याम्, अक्षौ अष्टः, अष्टवान्, तृणाट्, तृणाड्भ्याम्' तृणाट्कल्पः; चक्षि-आचष्टे । ननु स्कोर्लुकः परस्मिन्नसत्त्वात् ``पदस्य'' (2. 1. 89.) इति संयोगान्तस्य लोपः स्यात्, नैवम्-स्कोः पदान्ते लुको विधानादसत्त्वाभावः, अन्यथा हि समुदायस्यैव लोपं विदध्यात् ।

संयोगान्तस्येति किम ? साता, कृतम् । आदाविति किम् ? शङ्केर्वङ्केश्च यङ्लुपि–शाशङ्क्त, वावङ्क्त । स्कोरिति किम् ? नर्नर्ति । ``अद्ड अभियोगे''. ``अद्टि हिंसाऽतिक्रमयोः''

अनयोः क्विपि उत्तरसूत्रेण डकार-टकारयोर्लुकि दकारस्य च प्रथमत्वे-क्षेत्रप्रात्, गृहप्रात् । अन्ये त्वदृटिं तोपान्त्यं पठन्ति, तन्मते—क्विपि अत्, अद् । अन्यस्त्वद्डतेः संयोगादेर्दकारस्यापि लोपमिच्छति, तन्मते-अट्, अड्भ्याम्, तथा ``अट्ट अतिक्रम-हिंसयोः'' इति पठन् संयोगादेष्टकारस्यापि लोपमिच्छति-अट्, अड्भ्याम् । धुट्-पदान्त इत्येव-साधुमज्जौ, काष्टतक्षौ । प्रत्यय इत्येव-पृथक्स्थाता । वास्यर्थं काक्यर्थमित्यत्र तु यत्वस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् संयोगादित्वेऽसत्यनेना-देरुत्तरेण चान्तस्य लुग् न भवति । कथं मांसं पिपक्षति क्विप्-मांसपिपक्, वचो विवक्षते-वचोविवक् ?, कत्वस्य परस्मिंल्लोपेऽसत्त्वान्न भवति ।।88।।

न्या०स०—संयोग० । संयुज्यन्ते वर्णा अत्रेति ``व्यञ्जनाद्०'' (5. 3. 132.) इति घञि संयोगः, स च वैयाकरणसंप्रदायाद् ``व्यञ्जननैरन्तर्यमुच्यते, ❊ दन्त्यापदिष्टम् ❊ इति न्यायात् तालव्यशस्य लुग् दर्शितः, दन्त्यस्य तु सस्य `अवावग्' इत्यत्र ``ककुङ् श्वकुङ्०'' इति पठितस्य वस्केर्ज्ञेय इति । *समुदायस्यैव लोपं विदध्यादि*तिकया युक्त्या ? संयोगेति प्रथमं, पदस्येति द्वितीयम्, अन्ते चेति तृतीयं सूत्रं कुर्यात्, तत्रांद्यस्यार्थः धुटि प्रत्यये संयोगादिस्थयोः सकार-ककारयोर्लुग् भवति, द्वितीयस्यार्थः—पदान्ते वर्तमानस्य सकारककारादिसंयोगस्य सकलस्यापि लुक्, तृतीयस्यार्थः—``पदस्य'' इत्यतः पदान्त इत्यनुवर्तते, ततः पदान्ते संयोगसम्बन्धिनोऽन्तस्य लुग् भवतीत्यकरणाल्लुकः स्थानित्वं न भवति । *अन्ये तु अत्‌टिमि*ति-तन्मत-स्वमतयोः ``न बदनम्०'' (4. 1. 5.) इत्यत्र विशेषः, तन्मते-अतिट्टिषते, स्वमते तु-अट्टिटिषत इति ! *पृथक्स्थातेति* । पृथक्शब्दः कान्तोऽव्ययम्, न तु ``रुधि-पृधि०'' (उणा० 874) इत्यनेनाजन्तः, तदा ``च-जः०'' (2. 1. 86.) इति गत्वस्य परेऽसत्त्वात् तदादेशस्य कत्वस्याप्यसत्त्वे द्व्यङ्ग-विकलता स्यात् । *मांसपिपगि*ति-नन्वत्र ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति स्थानिवद्भावेन पदान्ते संयोगस्याभावात् ककारलोपो न प्राप्नोति, न चासद्विधौ स्थानित्वनिषेध इति वाच्यम्, अस्क्लुकीति भणनात्, सत्यम्-नञ्निर्दिष्टस्यानित्यत्वेन स्थानित्वाभावात् प्राप्तिर्विद्यते, यथा मधुगित्यत्र ।।2. 1. 88.।।

पदस्य ।। 2. 1. 89 ।।

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य लुगन्तादेशो भवति, स च परे स्यादिविधौ च पूर्वस्मिन्नसन् द्रष्टव्यः । पुमान्, पुम्भ्याम्, पुम्भिः, पुम्भ्यः, पुंसु, पुंवत्, पुंरूप्यः, पुंमयः, पुंजातीय; एवं—`गोमान्, अनड्वान्, महान्, भूयान्, कुर्वन्, श्रेयान्' इत्यादौ संयोगान्तलोपस्य परकार्येऽसत्त्वादुत्त-रसूत्रेण नलोपो न भवति, स्यादिविधी चासत्त्वादत्वादिलक्षणो दीर्घो भवति ।

पदस्येति किम् ? स्कन्त्वा, स्यन्त्वा; 'भवाश्च् शेते' इत्यादौ तु श्चादेशविधानसामर्थ्यान्न भवति ॥89॥

*न्या०स०—पदस्य । पदान्ते वर्तमानस्ये*ति-पदस्य विशेष्यस्य ''विशेषणमन्तः'' (7. 4. 113.) इति परिभाषया संयोगान्तस्येति स्थिते पदान्ते वर्तमानस्येति व्याख्यातम्, अत्र पदान्ते संयोगस्य लुग् भवतीत्युच्यमानेऽपि संयोगान्तस्य पदस्यैव लोप इत्यर्थस्य सिद्धत्वात् पदस्येति वचनं पदान्तसम्बद्धधुट्‌निवृत्त्यर्थम्, तेन स्कन्त्वेत्यादौ धुडादौ लुक् न भवति । *भूयानि*ति अपदसंज्ञकेऽपि तद्धिते ''अस्वयंभु वोऽव्'' (7. 4. 70.) न, ''भूर्लुक् च०'' (7. 4. 41.) इत्यत्र ऊकारप्रश्लेषात्, न च भूविधानादेव न भविष्यतीति वाच्यम्, विधानं भूमेत्यत्र पदसंज्ञके चरितार्थम् । *सामर्थ्यान्न भवती*ति-अन्यथा प्रक्रियालाघवार्थं ञकारमेव विदध्यादित्यर्थः ॥2. 1. 89.॥

रात् सः ॥ 2. 1. 90.॥

पदान्ते वर्तमानस्य संयोगस्य सम्बन्धिनो रेफात् परस्य सकारस्यैव लुग् भवति । चिकीः, चिकीर्भ्याम्, चिकीर्षु; अत्र चिकीर्षतीति क्विपि ''अतः'' (4. 3. 82.) इत्यकारलोपे षत्वस्य परेऽसत्त्वात् सकारस्यैव लोपः; एवं—जिहीः, जिहीर्भ्याम्, जिहीर्षु; कटचिकीः, पटजिहीः । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्, तेन रात् परस्य संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य-ऊर्क्, ऊर्ग्भ्याम्, न्यमार्ट् ; गृधेः स्पर्धेश्च यङ्लुपि द्वित्वे ''रिरौ च लुपि'' (4. 1. 56.) इति पूर्वस्य रागमे ''आगुणावन्यादेः'' (4. 1. 48.) इति दीर्घत्वे च ह्यस्तन्याः सिवि आदेश्चतुर्थत्वे ''लघोरुपान्त्यस्य'' (4. 3. 4.) इति गुणे ''सेः स्द्धां च रुर्वा'' (4. 3. 79.) इति सिव्लुकि धकारस्य च रुत्वे ''रो रे लुग् दीर्घश्चादिदुतः'' (1. 3. 41.) इति रलोपे पूर्वस्य दीर्घत्वे अडागमे च सिद्धम्अजर्घाः, अपास्पाः । रादेव सस्येति तु विपरीतनियमो न भवति—''पुंवत् कर्मधारये'' (3. 2. 57.) इत्यत्र पुंवदिति निर्देशात् ॥90॥

*न्या०स०—रात्सः । रात् परस्य सस्यैवे*ति-यद्येवम् 'अबिभः, अजागः' इत्यादौ बिभर्त्तेर्जागर्तेश्च ह्यस्तन्या दिवि ''हवः०'' (4. 1. 12.) इति द्वित्वे अत्वे ''पृभृ०'' (4. 1. 58.) इतीत्वे । ''द्वितीय०'' (4. 1. 42.) इति बत्वे गुणे च नियमाल्लोपो न प्राप्नोतीति, नैवम्—प्रकरणात् पूर्वसूत्रविहितस्यै-वायं नियमो न ''व्यञ्जनाद्देः० (4. 3. 78.) इत्युत्तरसूत्रविहितस्य, यद्वा सूत्रे द्वितकारनिर्देशो ज्ञातव्यः, द्वितकारनिर्देशेऽपि न कोऽप्युच्चारणकृतो भेदोऽस्ति, ततश्च रात् परस्य तकार-सकारस्यैव लुग् नान्यस्येति सूत्रार्थः समजनि; यद्येवं तर्हि कीर्तयतेः क्विपि कीरिति प्राप्नोति, अत्र भाष्यं—लोके प्रयुक्तानामिदमन्वाख्यानं, लोके च 'कीर्त्' इत्येव दृश्यते,

न कीरिति ।

अजर्घा इति-नन्वत्र ``सेः स्द्धाम्०'' (4. 3. 79.) इति सेर्लुकि रुत्वे च कर्तव्ये ``ग-ड-द-बा०'' (2. 1. 77.) इति घत्वस्यासत्त्वात् कृते रुत्वे चतुर्थान्तत्वाभावात् कथं थकारः ? सत्यम् ❁ असिद्धं बहिरङ्गम्० ❁ इति भविष्यति, अन्वित्यधिकाराच्च ``रो रे लुग्०'' (1. 3. 41.) इति न पूर्वं लुगिति प्राप्तिः ।।2. 1. 90.।।

नाम्नो नोऽनह्नः ।। 2. 1. 91. ।।

पदान्ते वर्तमानस्य नाम्नो नकरस्य लुग् भवति, अनह्नः–स चेदहन्शब्दसम्बन्धी न भवति, स चासन् स्यादिविधौ; पर इति निवृत्तम् । राजा, वृत्रहा, दण्डी, वाग्मी, राजपुरुषः, राजकाम्यति, राजकल्पः । स्यादिविधावसत्त्वाद् `राजभ्याम्, राजभिः, राजसु' इत्यादौ दीर्घत्वैस्त्वैत्वान्यकारान्तत्वाभावान्न भवन्ति ।

अनह्न इति किम् ? अहरेति, अहरधीते, अहोरूपम्, दीर्घाहा निदाघः; अत्र परविधौ रेफ-रुत्वयोरसत्त्वान्नलोपः स्यात्, सावकाशं च तदुभयं संबोधने-हे अहः ! हे दीर्घाहः ! । पदस्येत्येव-राजानौ । स्यादिविधावित्येव-राजायते, चर्मायते, अत्र क्यविधौ सत्त्वात् ``दीर्घश्च्वियङ्य-क्येषु च'' (4. 3. 108.) इति क्येऽन्त्याकारदीर्घः सिद्धः । नाम्न इति किम् ? अहन्नहितम्, कुर्वीरन्, सर्वस्मिन्; वृक्षान् । वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिरित्यत्र तु ❁ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❁ इति नलोपस्यासिद्धत्वात् ``ह्रस्वस्य तः पित्कृति'' (4. 4. 114.) इति तोऽन्तो न भवति ।।91।।

न्या०स०–नाम्नो० । नन्वत्र विशेषविधानात् ``रो लुप्यरि'' (2. 1. 75.) इति ``अह्नः'' (2. 1. 74.) इति च रेफ-रुत्वे एव भविष्यतः, किमहन्प्रतिषेधेन ? इत्याह-*असत्त्वा*दिति । न चैवं तयोरनवकाशतेत्याह–*सावकाशमि*ति *तदुभयमि*ति रेफरुत्वलक्षणम् । *सम्बोधन* इति–``नामन्त्र्ये'' (2. 1. 92.) इति नलोपप्रतिषेधात् । *अहन्नहितमि*ति–❁ लक्षण–प्रतिपदोक्तयोः० ❁ इति प्रतिपदोक्तस्यैवाहन्शब्दस्य निषेध इत्यत्र प्राप्तिः; परं नाम्न इति व्यावृत्त्या निषिध्यते । *वृत्रहभ्यामि*ति-धातुमात्राश्रितत्वेन तोऽन्तोऽन्तरङ्गो बाह्यस्याद्यपेक्षणान्नलोपो बहिरङ्गः ।।91।।

नाऽऽमन्त्र्ये ।। 2. 1. 92. ।।

आमन्त्र्येऽर्थे वर्तमानस्य नाम्नः सम्बन्धिनो नकारस्य लुग् न भवति । हे राजन् !, हे तक्षन् !, हे सीमन् !, हे बहुराजन् !; एतदेव प्रतिषेधवचनं ज्ञापकम्-सिलुकः स्थानिवद्भावेन ``अधातुविभक्ति०'' (1. 1. 27.) इति नामसंज्ञाप्रतिषेधो न भवतीति । `हे राजवृन्दारक !' इत्यत्र

समुदायार्थ आमन्त्र्यो नावयवार्थ इति नलोपप्रतिषेधो न भवति, अवयवार्थस्य त्वामन्त्र्यत्वेऽसामर्थ्यात् समास एव न स्यात् ।।92।।

न्या०स०–नामन्त्र्ये । 'आमन्त्र्ये' इत्येकवचनात् 'पञ्च, सप्त' इत्यादीनां नलोपनिषेधो न भवतीति चन्द्रगोमीयमतम् । अन्ये त्वेतेषामामन्त्रणमपि नेच्छन्ति, अमुमेवार्थं न्यासकारः स्पष्टयति-अत्रामन्त्र्य इति सामान्याभिधानेऽपि औ-जसोर्नकारस्य पदान्तत्वा-भावाद् द्रव्यस्यैव सम्बोधनार्हत्वात् संख्यायाश्चाऽसत्त्वरूपत्वात् परिशिष्टः सिरेव लभ्यते, संख्येयेऽपि वर्त्तमानायाः संख्याया आमन्त्रणादर्शनात्, दर्शने तु 'आमन्त्र्ये' इत्येकत्वस्य विवक्षित्वाद् द्विवचन-बहुवचनयोर्न लोपाभावः; 'आमन्त्र्ये' इत्येकवचनाद् यत्रैक एवामन्त्र्यस्तत्रैवानेन लोपनिषधो यत्र बहवस्तत्र न, यथा 'हे पञ्च पुरुषाः' इत्यादौ ।

ननु हे राजन्नित्यादौ सिलुकः स्थानिवद्भावेन ''अधातुविभक्ति०'' (1. 1. 27.) इत्यनेन नामत्वाभावे पूर्वेण प्राप्तिरेव न, किं प्रतिषेधेन ? इत्याह–एतदेवेति । न च वाच्यं सिलुकः स्थानिवत्त्वेन ''नाम सिद्०'' (1. 1. 21.) इति पदत्वं प्राप्नोति, तस्मिंश्च सति नलुक् भविष्यतीति, यतः ''स्थानीवाऽवर्णविधौ'' (7. 4. 109.), अत्र तु व्यञ्जनलक्षणो वर्णविधिरिति स्थानित्वं न प्रवर्तत इति ।।2. 1. 92.।।

क्लीबे वा ।। 2. 1. 93. ।।

आमन्त्र्यविषयस्य नाम्नः क्लीबे–नपुंसकलिङ्गे वर्तमानस्य नस्य लुग् वा भवति । हे चर्म !, हे चर्मन् !; हे दाम !, हे दामन् ! ।।93।।

मावर्णान्तोपान्तापञ्चमवर्गान्मतोर्मो वः ।। 2. 1. 94. ।।

मश्चावर्णश्च मावर्णौ, तौ प्रत्येकमन्तोपान्तौ यस्य तस्मात्-मकारान्तान्मकारोपान्ता-च्चावर्णान्तादवर्णोपान्ताच्च, पञ्चमरहितवर्गान्ताच्च नाम्नः परस्य मतोर्मकारस्य वकार आदेशो भवति । मकारान्तात्-किंवान्, इदंवान्, शंवान्-मकारोपान्तात्-शमीवान्, लक्ष्मीवान्, दाडिमीवान्; अवर्णा; न्तात्वृक्षवान्, प्लक्षवान्, खट्वावान्, मालावान्; अवर्णोपान्तात्-अहर्वान्, सुगण्वान्, पयस्वान्, दृषद्वान्, वार्वान्, भास्वान्; अपञ्चमवर्गात्-मरुत्वान्, विद्युत्वान्, उदश्वित्वान्, तडित्वान्, समिद्वान् । मा-ऽवर्णान्तोपान्ता-ऽपञ्चमवर्गादिति किम् ? अग्निमान्, वायुमान्, पितृमान्, नूमान् । नृमतोरपत्यं नार्मत इत्यत्र तु वृद्धे बहिरङ्गलक्षणत्वान्न भवति ।।94।।

न्या०स०—मावर्णा० । अत्र मकारा-ऽवर्णयोरन्तोपान्ताभ्यां सह यथासंख्यं न ``नोर्म्यादिभ्यः'' (2. 1. 99.) इति निषेधस्य व्यर्थत्वात्, यत ऊर्मिमानित्यत्र मान्तत्वस्य यवमानित्यत्रावर्णोपान्तत्वस्याभावात्. ``भोगवद्गौरिमतोः०'' (3. 2. 65.) इति निर्देशाद, वा । बहिरङ्गलक्षणत्वादिति-तद्धितापेक्षत्वेन वृद्धिर्बहिरङ्गा, तदनपेक्षं तु वत्वमन्तरङ्गमिति ॥2. 1. 94.॥

नाम्नि ॥ 2. 1. 95. ॥

नाम्नि-संज्ञायां विषये मतोर्मकारस्य वकारादेशो भवति । अहीवती, कपीवती, मणीवती, मुनीवती, ऋषीवती; एवंनामानो नद्यः; ``नद्यां मतुः'' (7. 2. 72.) इति चातुरर्थिको मतुः । आसन्दीवान् नाम ग्रामः ॥95॥

*न्या०स०—*नाम्नि । नाम द्विविधं, देवदत्तादि निरूढलक्षणाकं लौकिकं यत् संज्ञेति प्रसिद्धम्, ``अधातुविभक्ति०'' (1. 1. 27.) इति शास्त्रीयं च, तत्र प्रत्यासन्न-त्वाच्छास्त्रीयस्यैव ग्रहणे प्राप्ते नामाधिकारेणैव तदर्थस्य लाभान्नाम्नीत्यतिरिच्यमानम-धिकार्थपरिग्रहाय भवल्लौकिकमेव ज्ञापयतीत्याह-*संज्ञायामि*ति । *आसन्दीवानि*ति-आसते जना अस्मिन्नित्यासनं, तद् विद्यते यस्मिन् ग्रामे इत्यासनशब्दस्य पृषोदरादित्वादासन्दी-भावेऽनेन मतोर्वत्वे आसन्दीवान् ग्रामः, आसन्दोवद् अहिस्थलम्; संज्ञाया अन्यत्रआसनवानित्येव भवति, यथा च संज्ञाया अभावाद् वत्वा-ऽऽआसन्दीभावयोरभावस्तथा ``अनजिरादिबहुस्वरादि०'' (3. 2. 78.) दीर्घत्वस्यापि ।

अपरे त्वासन्दीशब्दोऽस्तीति मन्यन्ते, आसम्-आसिक्रियां नन्दति-अणि पृषोदरादित्वात्, आसेर्धातोः ``कुमुद०'' (6. 2. 96.) इति वा-आसन्दी-वेत्रासनं, साऽत्रास्ति मध्वादिः (``मध्वादेः 6. 2. 73. इति मतुः); वेदे यथा-आसन्दीमारुह्य ऊद्गातेति, लोके यथा-औदुम्बरी राजासन्दी भवति, उदुम्बरस्य विकारः—औदुम्बरी, राज्ञ आसन्दी—राजासन्दी, सोमासनमित्यर्थः ॥2. 1. 95.॥

चर्मण्वत्यष्ठीवच्-चक्रीवत्-कक्षीवद्-रुमण्वत् ॥ 2. 1. 96. ॥

एते शब्दा मत्वन्ता नाम्नि विषये निपात्यन्ते । चर्मन्शब्दस्य नलोपाभावो णत्वं च निपात्यते—चर्मण्वती नाम नदी, अस्थिशब्दस्याष्ठीभावः—अष्ठीवान् जङ्गोरुसंधिः, चक्रशब्दस्य चक्रीभावः—चक्रीवान् नाम गर्दभः, चक्रीवान् नाम राजा, कक्ष्याशब्दस्य कक्षीभावः—कक्षीवान् नाम ऋषिः, लवणशब्दस्य रुमण्भावः रुमण्वान् नाम पर्वतः । अन्ये त्वाहुः—रुमन्निति प्रकृत्यन्तरमस्ति, तस्यैतन्निपातनं नकारलोपाभावार्थं णत्वार्थं च, वत्वं तु यथायोगमस्त्येव । नाम्नीत्येव—चर्मवती, अस्थिमान्, चक्रवान्, कक्ष्यावान्, लवणवान् ॥96॥

न्या०स०—चर्मण्वत्यष्ठीव० । *कक्ष्याशब्दस्येति*-कक्षे भवा कक्षाय हिता वा कक्षे साधुर्वा ''दिगादिदेहांशाद्य०'' (6. 3. 124.) इत्यादिभिर्य-कक्ष्या ब्रह्मणः सादृश्यमुद्योगश्चेत्यर्थः । *लवणस्येति*-लुनाति वैरस्यं नन्द्याद्यनः, अतएव गणपाठाण्णत्वम् ।।2. 1. 96.।।

उदन्वानब्धौ च ।। 2. 1. 97. ।।

आपो धीयन्तेऽस्मिन्नित्यब्धिः, अब्धौ नाम्नि चोदन्वानिति उदकशब्दस्य मतावुदन्भावो निपात्यते । उदन्वान् घटः, उदन्वान् मेघः, यस्मिन्नुदकं धीयते स एवमुच्यते; नाम्नि-उदन्वान् समुद्रः, उदन्वान् नाम ऋषिः, यस्यौदन्वतः पुत्रः; उदन्वान् नाम आश्रमः । अब्धौ चेति किम् ? उदकवान् घटः, अत्र घटस्योदकसम्बन्धमात्रं विवक्षितं, न दधातीत्यर्थः ।।97।।

न्या०स०—उदन्वान्० । उदन्भावसामर्थ्यान्नलोपो न, अन्यथा उदभावो निपात्येत ।। 2. 1. 97. ।।

राजन्वान् सुराज्ञि ।। 2. 1. 98. ।।

शोभनो राजा यस्य तस्मिन्नभिधेये राजन्वानिति मतौ नलोपाभावो निपात्यते । राजन्वान् देशः, राजन्वती पृथ्वी; राजन्वत्यः प्रजाः । सुराज्ञीति किम् ? राजवान् देशः ।।98।।

न्या०स०—राजन्वान्० । *सुराज्ञीति*—शोभननृपतौ वाच्ये । यदा तु राजन्शब्देन चन्द्रोऽभिधीयते तदा *राजवान् देश* इत्येव, निपातनस्येष्टविषयत्वात् ।।2. 1. 98.।।

नोर्म्यादिभ्यः ।। 2. 1. 99. ।।

ऊर्मि इत्येवमादिभ्यो नामभ्यः परस्य मतोर्मकारस्य वकारादेशो न भवति । ऊर्मिमान्, दल्मिमान्, भूमिमान्, तिमिमान्, क्रिमिमान्, एभ्यो मोपान्त्यत्वात् प्राप्ते; यवमान्, कुञ्चामान्, द्राक्षामान्, ध्राङ्क्षामान्, वासामान्, एभ्योऽवर्णान्तत्वात् प्राप्ते; हरित्मान्, गरुत्मान्, ध्वजित्मान्, ककुद्मान्, एभ्योऽपञ्चमवर्गादिति प्राप्ते; ज्योतिष्मती, महिष्मान्, गोमती, कान्तिमती, शिम्बीमती, हरिमती, चारुमती, इक्षुमती, बन्धुमती, मधुमती, बिन्दुमती, इन्दुमती, द्रुमती, वसुमती, अंशुमती, श्रुमती, हनूमती, सानुमती, भानुमती; एभ्यः ''नाम्नि'' (2. 1. 95.) इति प्राप्ते प्रतिषेधोऽयम् ।

ऊर्मि, दल्मि, भूमि, तिमि, कृमि, यव, कुञ्चा, द्राक्षा, ध्राङ्क्षा, वासा, हरित्, गरुत्,

ध्वजित्, ककुद्, ज्योतिस्, महिष, गो, कान्ति, शिम्बी, हरि, चारु, इक्षु, बन्धु, मधु, बिन्दु, इन्दु, द्रु, वसु, अंशु, श्रु, हनु, सानु, भानु, इत्यूर्म्यादिः। बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन यस्य सति निमित्ते मतोर्वत्वं न दृश्यते स ऊर्म्यादिषु द्रष्टव्यः ॥99॥

*न्या०स०–नोर्म्यादिभ्यः । दल्मिमानि*ति-दल्मिरिन्द्रः प्रहरणविशेषो वा, सोऽस्यास्ति । *तिमिमान्, क्रिमिमानि*ति -``क्रमि-तमि०'' (उणा० 613.) इति द्वयोरपि निपातनम्, क्रिमिः–क्षुद्रजन्तुः तिमिर्महामत्स्यः । गरुत्– पिच्छं, तदस्यास्ति । *ध्वजित्मानि*ति–अध्वानं जयति क्विप्, पृषोदरादिः ।

*ककुद्मानि*ति-ककतेर्बाहुलकादुत्-प्रत्यये गणे द्विदकारपाठान्मतौ नानुनासिकः । *महिष्मानि*ति–``नडकुमुद०'' (6. 2. 74.) इति डिति मतौ ❉ असिद्धं बहिरङ्गम् ❉ इत्यकारलोपस्यासिद्धत्वान्न ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) न च वाच्यं ``स्वरस्य परे०'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वं, तस्यासद्विधौ ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इति निषेधात् । *कान्तिमती*प्रभृति *बन्धुमती* यावत् सर्वेषु ``नद्यां मतुः'' (6. 2. 72.) *शिम्बीमती* ``डी-ती-बन्धि-शृधि०'' (उणा० 325) इति डिदिम्बः, गौरादिङीः । *मधुमतो* ``मध्वादेः'' (6. 2. 73.) इति मतुः । शृणोतीति क्विप् ❉ आगमशासनमनित्यम् ❉ इति तागमाभावे–श्रुशब्दः । *हनूमानि*ति– ``अनजिरादि'' (3. 2. 78.) इति दीर्घः ॥ 2. 1. 99. ॥

मास-निशा-ऽऽसनस्य शसादौ लुग्वा ॥ 2. 1. 100. ॥

एषां शसादौ स्यादौ परे लुगन्तादेशो वा भवति । मासः, मासान्; मासि, मासे, निशः, निशाः; निशि, निशायाम्; निज्भ्याम्, निशाभ्याम्; निच्छु, निशासु; आसनि, आसने । शसादाविति किम् ? मासौ, मासाः, मासरूप्यः ॥100॥

*न्या०स०–मास-निशा० । स्यादावि*ति-स्यादेरन्यः शसादिर्न सम्भवतीति स्यादावुदाहारि, अथ ``संख्यैकार्थात्०'' (7. 2. 151.) इति शस्संभवस्तदादिशब्दस्याकलादीनामसंभवेनानर्थक्यम्, यद्वा ❉ मण्डूकप्लुत० ❉ न्यायेन स्यादिरनुवर्त्तनीय इति, आदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वाद् वा स्यादिरेव लभ्यते । मासशब्दस्य भ्याम्यनेनान्तलोपे ❉ असिद्धं बहिरङ्गम्० ❉ इति अकारस्थानित्वेन ``सो रुः'' (2. 1. 72.) इति रुत्वाभावे ``धुटस्तृतीयः'' (2. 1. 76.) इति दत्वे तु न्यायानित्यत्वात्-माद्भ्यामिति मन्यते भाष्यकृत्, दुर्गस्तु-मास्भ्यामिति, स्वमते तु द्वयमपि भवति । *निज्भ्यामि*ति-अत्र निश्शब्दे सत्यपि निशाग्रहणं निज्भ्यामित्यस्य सिध्यर्थं, निश्शब्दस्य हि भ्यामि निड्भ्यामित्येव

भवति, क्विबन्तत्वाद् धातुत्वे ``यजसृज०'' (2. 1. 87.) इत्यादिना षत्वप्राप्तेः ॥2. 1. 100.॥

दन्त-पाद-नासिका-हृदयाऽसृग्-यूषोदक-दोर्यकृच्छकृतो दत्-पन्नस्-हृदसन्-यूषन्नुदन्-दोषन्-यकन्-शकन् वा ॥2. 1. 101. ॥

दन्तादीनां यथासंख्यं शसादौ स्यादौ परे दत् इत्येवमादय आदेशा वा भवन्ति । दन्त-दतः, दन्तान् पश्य; दता, दन्तेन; दद्भ्याम् 3, दन्ताभ्याम् 3; दद्भिः, दन्तैः; दत्सु, दन्तेषु; पाद–पदः, पादान्; पदा, पादेन; नासिका-नसः, नासिकाः; नसा, नासिकया; हृदय-हृदि, हृदये; असृज्-अस्ना, असृजा; यूष–यूष्णा, यूषेण; उदक–उद्ना, उदकेन; दोस्–दोष्णा, दोषा; यकृत्–यक्ना, यकृता; शकृत्-शक्ना, शकृता; शक्नि, शकनि, शकृति । शसादावित्येव–दन्तौ, दन्तकल्पः ॥101॥

न्या०स०–दन्तपाद० । ननु पूर्वैश्छन्दोविषयत्वमेषामुक्तमिति ``मास-निशा०'' (2. 1. 100.) इत्यादि सूत्रं निरर्थकम्, सत्यम्-भाषायामपि क्वचित् पदादयः प्रयुज्यन्त इति ज्ञापनार्थत्वात्, अत एव प्रविरलप्रयोगविषयत्वात् सर्वासु विभक्तिषु नोदाह्रियते । अत एव चान्द्र-भोजौ मन्येते पाद-पद्शब्दाभ्यामपि पदा, पादेनेत्यादि सिद्धं, परं पद्शब्द-श्चरणवाच्येव, पादशब्दस्य त्वनेकार्थस्यापि `पदा, पादेन' इत्यादि सिद्ध्यर्थं पादशब्दो-पादानम् । हृदय-हृद्भ्यां सिद्धे हृदयोपादानमृषौ विशेषार्थम्-हृदः हृदयान् ऋषीन् । हृद्शब्दस्तु ऋषिवचनो नास्ति ॥2. 1. 1.101.॥

य स्वरे पादः पदणि-क्य-घुटि ॥ 2. 1. 102. ॥

पादिति पादशब्दस्य लुप्ताकारस्य पादयतेर्वा कृतणिलोपस्य निर्देशः, पादन्तस्य नाम्नो णि-क्य-घुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे पदित्यमादेशो भवति; स च ❊ निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ❊ इति पाच्छब्दस्यैव भवति न तदन्तस्य सर्वस्य । व्याघ्रस्येव पादावस्य–व्याघ्रपात्, तस्यापत्यम्–वैयाघ्रपद्यः; द्वौ पादावस्य द्विपात्-द्विपदः पश्य, द्विपदा, द्विपदे, त्रिपदी गाथा; व्याघ्रपदी स्त्री कुले वा; द्वौ द्वौ पादौ ददाति–द्विपदिकां ददाति, द्विपदे हितम्–द्विपदीयम्; पादमाचष्टे पद्यमानं प्रयुङ्क्ते वेति पादयतेः क्विपि पाद्-पदः पश्य, पदा, पदे, पदी कुले; अत्र व्यपदेशिवन्द्भावेन पादन्तत्वम् ।

य–स्वर इति किम् ? द्विपाद्भ्याम्, द्विपाद्भिः, द्विपात्काम्यति । अणि-क्य-घुटीति किम् ? पादमाचष्टे–पादयति; क्येति क्यन्-क्यङोरविशेषेण ग्रहणम्, व्याघ्रपादमिच्छति स इवाचरतीति च–व्याघ्रपाद्यति, व्याघ्रपाद्यते, द्विपादौ, द्विपादः, द्विपान्दि कुलानि । नाम्न

इत्येव-उपपद्यत इत्येवंशील उपपादुक: ।पादयते: क्विबन्तस्य प्रयोगो नास्तीति कश्चित् ।।102।।

न्या०स०–य-स्वर० । पादन्तस्य नाम्न इति पूर्वसूत्रेषु नाम्न इत्यधिचक्राणोऽपि नाऽध्याहारि, धातोस्तत्रासम्भवात्, अत्र धातुसम्भवे नाम्न इति विशेषणं चक्रे । अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य पादन्तस्य प्राप्नोतीत्याह–*निर्दिश्यमानस्ये*ति । *द्विपदि-कामि*ति–``संख्या समाहारे च०'' (3. 1. 99.) इति सुप्रख्यादेरित्यकल् (?) ``सु-संख्याद'' (7. 3. 150.) इति पाद्, ``संख्यादे०'' (7. 2. 152.) इत्यकल्) अलोपश्च, ननु ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति सिद्धेऽकल्सन्नियोगे किमल्लोपेन, सत्यम्-स्थानित्वाभावार्थम्, अन्यथा ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वे पादशब्दाभावान्न स्यात् पदादेश: ।

*पादमाचष्टे पादयती*ति-अत्र व्यञ्जनान्त: पाच्छब्दो लिख्यते, सस्वरे तु णिज्यल्लोपे ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वे पाच्छब्दाभावाद् द्व्यङ्गविकलत्वं स्यात्, तर्हि पादमाचष्ट इति वाक्ये पद: पश्येति यद् दर्शितं तत् कथम् ?, उच्यते-प्रत्यासत्तिन्यायाद्, यस्मिन् प्रत्ययेऽकारलोपस्तस्मिन् यद्यादेशोऽपि प्राप्नोति, अत्र तु णावकारलोप: शसि त्वादेश:, यदा व्यञ्जनान्ताण्णिज् तदा ``नैकस्वरस्य'' (7. 4. 44.) इत्यन्त्यस्वरादिलोपाभाव: । *कश्चिदि*ति देवनन्दी ।।2. 1. 102.।।

उदच उदीच् ।। 2. 1. 103. ।।

उदचिति उत्पूर्वस्याञ्चते: कृतनलोपस्य निर्देश:, उदचो नाम्नोऽणि-क्य-घुटि यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे 'उदीच' इत्ययमादेशो भवति । उदीच्य:; उदीच: पश्य, उदीची स्त्री कुले वा, उदीचा, उदीचे । य-स्वर इत्येव-उदग्भ्याम्, उदक्काम्यति । अणि-क्य-घुटीत्येव-उदञ्चमाचष्टे-उदयति; उदञ्चमिच्छति-उदच्यति, उदगिवाचरति-उदच्यते; उदञ्चौ, उदञ्च:, उदञ्चि कुलानि । अच इति लुप्तनकारस्याञ्चेर्निर्देशाद्--उदञ्चा, उदञ्चे, क्विप्यर्चायां निषेधान्नलोपाभाव: ।।103।।

*न्या०स०–उदच० । उदयती*ति-ननु णिवर्जनं किमर्थम् ?, न च वाच्यं–णिवर्जनाभावे उदीचादेश: स्यात्, यतो भवतु–उदीचादेश:, तथापि ``त्र्यन्त्यतस्वरादे:'' (7. 4. 43.) इति लोपे उदयतीति भविष्यति, अत्रोच्यते-विशेषविहितत्वाल्लुकं बाधित्वा प्रथममेवादेश: स्यात्, तथा च ❊ सकृद्गते स्पर्धे० ❊ इति न्यायात् पश्चादपि न स्यात् ।।2. 1. 103.।।

अच्च् प्राग् दीर्घश्च ॥ 2. 1. 104. ॥

अचिति-अनकारस्याञ्चेर्निर्देशः, अचिति नाम णि-क्य-घुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे चकारमात्रं भवति, प्राक्-पूर्वोऽनन्तरस्वरश्च दीर्घो भवति । प्राच्यः, प्रतीच्यः; प्राचः, प्राचा; दधीचः, दधीचा; मधूचः, मधूचा; पितॄचः, पितॄचा; प्राची, प्रतीची स्त्री कुले वा । अन्वाचयशिष्टत्वाद् दीर्घत्वस्य तदभावेऽपि चादेशो भवति–दृषच्चा, दृषच्चे; अत्र ❊ स्वरस्य ह्रस्व-दीर्घ-प्लुताः ❊ इति न्यायाद् दृषदो दीर्घो न भवति । य-स्वर इत्येव-प्रत्यग्भ्याम्, मध्वग्भ्याम् । अणि-क्य-घुटीत्येव-दध्यञ्चमाचष्टे-दध्ययति; दध्यच्यति, दध्यच्यते; दध्यञ्चौ, दध्यञ्चः, दध्यञ्चि कुलानि । अच इति लुप्तनकारस्याञ्चेर्ग्रहणादिह न भवति-साध्वञ्चः पश्य, साध्वञ्चा, साध्वञ्चे ॥ 104 ॥

न्या०स०–अच्च् प्राग० । अथ दृषदमञ्चतीति क्विपि टादावनन्तरपूर्वस्वराभावे दीर्घत्वाभावादेकयोगनिर्दिष्टत्वादादेशस्याप्यभावात् कथं दृषच्चेत्यादि सिध्यतीत्याह– *अन्वाचयशिष्टत्वा*दिति-अथ व्यवहितस्यापि कथं न भवति ? सत्यम्-प्राक्शब्दस्यानन्तरार्थत्वात्, अत एव पूर्वशब्दमपास्य प्राक्शब्दोपादानमनन्तरार्थम्, अनु-पश्चाद्, आचयनं-मीलनम्-अन्वाचयः, तेन शिष्टोऽन्वाचयशिष्टः ।

*दीर्घो न भवती*ति-स्थान्यासन्नत्वाद् लॄकारः । *दध्ययती*ति-परत्वात् ``समानानां०'' (1. 2. 1.) इति दीर्घं बाधित्वा गुणः, तथाऽत्र मतान्तराभिप्रायेण ``न वृद्धिश्चाविति०'' (4. 3. 11.) इति दधीकारवृद्धिनिषेधः, किङिल्लोपे सत्यविति प्रत्यये परे गुण-वृद्धी न भवत इति मतान्तरे व्याख्या । अथवा स्वर-व्यञ्जनयोरभेदन्यायेन ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति अच्स्थानित्वमतो वृद्धेरभावः ॥104॥

क्वसुष् मतौ च ॥ 2. 1. 105. ॥

णि-क्य-धुड्वर्जिते यकारादौ स्वरादौ मतौ च प्रत्यये परे क्वस् उष् भवति । विदुषि साधुः–विदुष्यः, पेचुषि साधुः–पेचुष्यः; विदुषः; विदुषा, विदुषे, विदुषी स्त्री कुले वा, विदुष इदं-वैदुषम्, पेचुषः, पेचुषा, पेचुषे, पेचुषी स्त्री कुले वा, पेचुष इदं–पैचुषम्; विदुष्मान्, पेचुष्मान् । मतौ चेति किम् ? विद्वद्भिः, पेचिवद्भिः, विद्वत्काम्यति । अणि-क्य-घुटीत्येव-- विद्वांसमाचष्टे-विद्वयति; विद्वस्यति, विद्वस्यते; विद्वांसौ, विद्वांसः, विद्वांसि कुलानि ॥105॥

न्या०स०—क्वसुष्म० । *पेचुष्य* इति । ❊ आगमा यद्गुणीभूता० ❊ इतीट्सहितस्य क्वस उष् । उषिति षकारस्य ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इति सिद्धे प्रक्रिया-लाघवार्थं षकारकरणम् ।।2. 1. 105.)

श्वन्-युवन्-मघोनो ङी-स्याद्यघुट्स्वरे व उः ।। 2. 1. 106. ।।

श्वन् युवन् मघवन्नित्येतेषां सस्वरो वकारो ङी-स्याद्यघुट्स्वरे परे उर्भवति । शुनी स्त्री, प्रियशुनी कुले, शुनः, शुना, शुने; अतियूनी स्त्री, प्रिययूनी कुले, यूनः, यूना, यूने; मघोनी, अतिमघोनी स्त्री, प्रियमघोनी कुले, मघोनः, मघोने । ङीस्याद्यघुट्स्वर इति किम् ? शौवनम्, यौवनम्, माघवनम् । अघुटिति किम् ? श्वानौ, युवानौ, मघवानौ, अतिश्वानि, अतियुवानि, अतिमघवानि कुलानि । स्वर इति किम् ? श्वभ्याम् । नकारान्तनिर्देशादिह न भवति—गोष्ठश्वेन, युवतीः पश्य, युवत्या, मघवतः पश्य, मघवता । अर्थवद्-ग्रहणादिह न भवति—तत्त्वदृश्वना, मातरिश्वना ।।106।।

न्या०स०—श्वन्-युवन्० । ङीग्रहणात् स्यादावघुट्स्वरे लब्धे स्यादिग्रहणमघुट्-स्वरस्याप्रत्ययत्वशङ्कानिरासार्थम्, शङ्का हि कथम् ?, ङीप्रत्ययोऽऽघुट्स्वरोऽपि प्रत्यय एवेति नाशङ्कनीयम् ङीग्रहणात्, अप्रत्ययाऽघुट्सम्भवश्च श्वौदन इत्यादिषु, अथाऽवुडित्यत्र पर्युदासात् स्यादिर्लक्ष्यते, तन्न-प्रसृज्यवृत्तिनिराकरणे हेतोरभावात् । *प्रियशुनी* इति स्त्रियां तु बहुव्रीहौ ``नोपान्त्यवतः'' (2. 4. 13.) इति त्रयाणामपि ङीप्रतिषेधः, उपान्त्यवत्ता च श्वन्शब्दस्य ``न व-मन्त०'' (2. 1. 111.) इति प्रतिषेधात्, इतरयोस्त्वनेनोत्वविधानात्, यत् तु प्रियशुनीति दृश्यते तत्-प्रथममेव ङ्यां कर्मधारये । *शौवनम्*-शुन इदमिति कार्यं, विकारे तु ``एकस्वरात्'' (6. 2. 48.) इति मयट् स्यात् । *अतिश्वानी*ति-अतिक्रान्तः श्वा यैरिति वाक्यम्, तत्पुरुषे तु ``गोष्ठाऽतेः शुनः'' (7. 3. 11.) इति समासान्तः स्यात् ।

*गोष्ठश्वेने*ति-गोष्ठे श्वेव ``सप्तमी शौण्डाद्यैः'' (3. 1. 88.) (इति) सः, ``गोष्ठाऽतेः०'' (7. 3. 11.) इत्यट । नन्वत्र समासान्तः समासस्यावयवो भवति, ततश्चानेनाधुट्स्वरादिप्रत्ययस्य व्यवधानात् प्राप्तिरेव नास्तीति किमुक्तंनकारान्तनिर्देशादिति, अत्रोच्यते-भाष्यकारवचनाद् यथा समासान्तः समासावयवो भवति, एवमुत्तरपदावयवोऽपीष्यते, ततश्च श्वन्ग्रहणेन तदवयवत्वादस्यापि ग्रहणमित्यघुट्स्वरादिप्रत्ययस्य न व्यवधानमतो यदुक्तं *नकारान्तनिर्देशादि*ति तत् साध्वेव । *मघवत* इति-मघो ज्ञानं सुखं वाऽस्याऽस्तोति, मघा वा आराधकाः सन्त्यस्य ``ङ्यापो बहुलम्०'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः । *मातरिश्वने*ति-मां तरति विच्, मातरि—अन्तरिक्षे

श्वयति ``श्वन्-मातरिश्वत्०'' (उणा० 902) इति साधुः, अत एव निर्देशात् सप्तम्यलुप् ।।2. 1. 106.।।

लुगाऽऽतोऽनापः ।। 2. 1. 107. ।।

आप्वर्जितस्याऽऽकारस्य ङीस्याद्यघुट्स्वरे परे लुग् भवति । कीलालपः, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः, शुभंया, शुभंये, क्त्वः, श्ने; हाहे देहि । आत इति किम् ? नदीः । अनाप इति किम् ? खट्वाः, शालाः, मालाः पश्य । ङी-स्याद्यघुट्स्वर इत्येव-कीलालपास्तिष्ठन्ति, कीलालपां पश्य, कीलालापाभ्याम् ।।107।।

न्या०स०–लुगा० । क्त्वा-टाशब्दयोः केचिदस्त्रीत्वं केचित् स्त्रीत्वं चेच्छन्ति, तत्र, स्त्रीत्त्वेऽनाप इति वचनादनेन लुगभावे-क्त्वायाः टायाः, इत्येव भवति, अस्त्रीत्वे त्वनेन लुकि-क्त्वः, टः, इत्याद्येव । *हाहे देही*ति–``ओहांङ् क् गतौ'' हाशब्दं जिहीते-गीतकाले कर्तव्यतया आप्नोतीति विच् ।।2. 1. 107।।

अनोऽस्य ।। 2. 1. 108. ।।

अनोऽकारस्य ङी-स्याद्यघुट्स्वरे परे लुग् भवति । राज्ञी, राज्ञः, राज्ञा, राज्ञे; तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे । ङी-स्याद्यघुट्स्वर इत्येव--राजानौ, राजानः, सुराजानि कुलानि; राजभ्याम् ।।108।।

ई-ङौ वा ।। 2. 1. 109. ।।

अनोऽकारस्येकारे ङौ च परे लुग् वा भवति । साम्नी, सामनी; दाम्नी, दामनी; सुराज्ञी, सुराजनी कुले; राज्ञि, राजनि; दध्नि, दधनि ।।109।।

न्या०स०–ई-ङौ वेति । ङिविभक्तिस्तत्साहचर्यादीकारोऽपि विभक्तिरूप एव ग्राह्यः, तेनौकारस्थानिनीकारेऽनेन विकल्पः; ङीप्रत्यये तु राज्ञीत्यादिषु पूर्वेण नित्यमेव, ❇ निरनुबन्धग्रहण० ❇ न्यायाद् वा ।।2. 1. 109.।।

षादि-हन्-धृतराज्ञोऽणि ।। 2. 1. 110. ।।

षकारादेरनो हन् धृतराजन्नित्येतयोश्चाकारस्याणि प्रत्यये परे लुग् भवति । औक्ष्णः, ताक्ष्णः, भ्रौणघ्नः, वार्त्रघ्नः, धार्तराज्ञः । षादीनामिति किम् ? सामनः, वैमनः । अणीति

किम् ? ताक्षण्य: ।।110।।

न्या०स०–षादिहन्० । *ताक्ष्ण* इति–``सेनान्त०'' (6. 1. 102.) इत्यनेन कारुद्वारा प्राप्तस्य ञ्यस्य बाधक: ``शिवादेरण्'' (6. 1. 60.) इत्यण् *सामन* इति–द्वयोरपि देवतार्थे, वेत्त्यधीते वेत्यर्थे, इदमर्थे वाऽण, ``अणि'' (7. 4. 52.) इत्यनो लोपाभाव: । *ताक्षण्य* इति-अत्र ``कुर्वादेञ्य:'' (6. 1. 100.) ।।2. 1. 110.।।

न व-मन्तसंयोगात् ।। 2. 1. 111. ।।

वकारान्तान्मकारान्ताच्च संयोगात् परस्यानोऽकारस्य लुग् न भवति । पर्वणा, पर्वणे; तत्त्वदृश्वना, तत्त्वदृश्वने; कर्मणा, कर्मणे; भस्मना, भस्मने; अश्मना, अश्मने; पर्वणी, कर्मणी, पर्वणि, कर्मणि । संयोगादिति किम् ? प्रतिदीव्ना, साम्ना । वमन्तेति किम् ? तक्ष्णा, मूर्ध्ना ।।111।।

न्या०स०–न व-मन्त० । अत्र वकार मकारयो: संयोगविशेषणत्वेन ``विशेषण-मन्त:'' (7. 4. 113.) इति तदन्तत्वे लब्धेऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्, अन्यथा व-मसंयोगादिति समस्तनिर्देशेऽनयोरेव संयोगादित्याशङ्का स्यात्, वम: संयोगादिति व्यस्तनिर्देशेऽपि वकार-मकाराभ्यां परो य: संयोगस्तस्मादित्यपि प्रतीयेतेति न्यासकार: । *प्रतिदीव्नेति*-प्रतिदिवा-अह:, अपराण्हश्च ।।2. 1. 111.।।

हनो ह्नो घ्न् ।। 2. 1. 112. ।।

हन्ते: `ह्न' इत्येवंरूपस्य घ्न इत्ययमादेशो भवति । भ्रूणघ्नी स्त्री, भ्रूणघ्ना, भ्रूणघ्ने, भ्रूणघ्नी कुले, भ्रूणघ्नि, घ्नन्, घ्नन्ति, अघ्नन् । हन इति किम् ? प्लीह्न:, अह्न:, अह्नी; अह्नि । ह्न इति किम् ? वृत्रहणौ, वृत्रहयति ।।112।।

न्या०स०–हनो । *भ्रूणघ्नीति*–``नवा शोणादे:'' (2. 4. 31.) इति ङी: प्रत्यय: । प्लीह्न इत्यादिषु हन् इति हन्तेरनुकरणात्, ❇ अर्थवद्ग्रहण० ❇ इति न्यायाद् वाऽन्यस्य न भवति ।।2. 1. 112.।।

लुगस्यादेत्यपदे ।। 2. 1. 113. ।।

अपदेऽपदादावकारे एकारे च परेऽकारस्य लुग् भवति । सः, तौ, ते; युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्, पचन्ति, पठन्ति, विवक्षन्, पचे, यजे । अस्येति किम् ? अदन्ति, आसे । अदेतीति किम् ? श्रमणे, संयते । अपद इति किम् ? दण्डाग्रम्, तवैषा ॥2. 1. 113.॥

न्या०स०–लुगस्या० । *अपद* इति अदेतोविशेषणम् । *दण्डाग्रमि*ति-नन्वत्र ``वृत्त्यन्तोऽसत्रे'' (1. 1. 25.) इति प्रतिषेधादग्र इत्यस्य पदत्वाभावात् कथं नाकारलोपः, सत्यम्-सावधारणव्याख्यानात्-अपद एवेति, अत्र वृत्तेः पूर्वं पदत्वमासीदिति; तर्हि प्रायणमित्यत्र ❊ गतिकारक० ❊ इति न्यायादविभक्त्यन्तेनाऽयनेत्यनेन समासे प्राप्नोति, सत्यम्-अपद इत्युत्तरपदमपि गृह्यते, ``ते लुग् वा'' (3. 2. 108.) इत्युत्तरशब्दलोपादिति, यथा ``वेदूतोऽनव्यय०'' (2. 4. 98.) इत्यत्र ॥2. 1. 113.॥

डित्यन्त्यस्वरादेः ॥ 2. 1. 114. ॥

स्वराणां सन्निविष्टानां योऽन्त्यः स्वरस्तदादेः शब्दरूपस्य डिति परे लुग् भवति । मुनौ, साधौ, पितुः, मातुः, पिता, माता, एषु व्यपदेशिवद्भावादन्त्यस्वरादित्वम् । महत्याः करः–महाकरः महाघासः, उपसरजः, मन्दुरजः, त्रिंशता क्रीतम्–त्रिंशकम्, आसन्नाश्चत्वारो येषामासन्नचताः, अदूरचताः । डितीति किम् ? दृषदौ, दृषदः ॥114॥

न्या०स०–डित्यन्त्य० । सति यस्मिन् यस्मात् पूर्वमस्ति परं नास्ति सोऽन्तस्तत्र भवोऽन्त्यः । *मुनौ* अत्र सर्वत्र ``इवर्णादेरस्व०'' (1. 2. 21.) इति प्राप्ते परत्वादनवकाशत्वाच्च डित्त्वस्य लुगेव । *उपसरज* इति–उपसरे देशे जातः । *मन्दुरज* इति-मन्दुरे मन्दुरायां वा जातः ``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः ॥2. 1. 114.॥

अवर्णादश्नोऽन्तो वाऽतुरीङ्यो: ॥ 2. 1. 115. ॥

श्नावर्जितादवर्णात् परस्यातुः स्थानेऽन्त इत्यादेशो वा भवति, ई-ङ्योः–ईप्रत्यये ङीप्रत्यये च परे । तुदन्ती तुदती कुले, तुदन्ती तुदती स्त्री, करिष्यन्ती करिष्यती कुले, करिष्यन्ती करिष्यती स्त्री, भान्ती भाती कुले; भान्ती भाती स्त्री; प्सान्ती प्साती कुले, प्सान्ती प्साती स्त्री ।

अवर्णादिति किम् ? अदती सुन्वती रुन्धती तन्वती स्त्री कुले वा एषु शतृः, अधीयती स्त्री कुले वा, अत्रातृश्, जरती स्त्री कुले वा, अत्रातृः । अश्न इति किम् ? क्रीणती लुन्ती

स्त्री कुले वा । ई-ङ्योरिति किम् ? तुदता कुलेन । अवर्णादिति विशेषणादश्न इति प्रतिषेधाच्च लोप-दीर्घाभ्यां पूर्वमेवानेनान्त, भूतपूर्वतया वा पश्चात् । `ददती स्त्री, ददती कुले' इत्यत्र तु कृतेऽप्यन्तादेशे ``अन्तो नो लुक्'' (4. 2. 94.) इति नलोपः ॥115॥

न्या०स०—अवर्णादश्नो० । ननु तुदन्ती भान्तीत्यादावीङ्योरनपेक्षत्वेन वर्ण मात्राश्रयत्वेन चान्तरङ्गत्वात् ``लुगस्यादेत्यपदे'' (2. 1. 113.) इति ``समानानाम्०'' तत् कथमकाराऽवर्ण-शतृप्रत्ययङीभावापेक्षत्वेन बहिरङ्गोऽन्त इत्यादेश इत्याह—*अवर्णादित्यादि* । *भूतपूर्वतयेति*— ❉ वार्णात् प्राकृतं बलीय ❉ इति तु नेहोपतिष्ठते, भिन्नकालत्वात्, तथाहि-ई-ङ्योः सद्भावेऽन्तादेशः प्राप्नोति, लोप दीर्घौ तु ततः प्रागेव, यत्र हि वार्ण-प्राकृतयोर्युगपत् प्राप्तिः `कारकः' इत्यादौ तत्रेदमुपतिष्ठत इति ॥2. 1. 115.॥

श्य-शवः ॥ 2. 1. 116. ॥

शाच्छवश्च परस्यातुरी-ङ्योः परतोऽन्त इत्यादेशो भवति । दीव्यन्ती सीव्यन्ती स्त्री कुले वा; भवन्ती, चोरयन्ती स्त्री कुले वा; धारयन्ती शास्त्रं स्त्री कुले वा । श्य-शव इति किम् ? चरती स्त्री कुले वा । ई-ङ्योरित्येव-दीव्यता, भवता ॥116॥

दिव औः सौ ॥ 2. 1. 117. ॥

दिवोऽन्तस्य सौ परे और्भवति । द्यौः, प्रियद्यौः, हे द्यौः !, अतिद्यौः ! ❉ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धकस्य ❉ इति धातोर्न भवति-अक्षैर्दीव्यति क्विप् ऊट्-अक्षद्यूः । साविति किम् ? दिवं पश्य । द्यामिति तु द्योशब्दस्य ``आ अम्-शसोऽता'' (1. 4. 75.) इत्याकारे रूपम् ॥117॥

न्या०स०—दिव औः सौ । *द्यौरिति*-अत्र ``उः पदान्ते०'' (2. 1. 118.) इति प्राप्तेऽप्यचरितार्थत्वात् साविति विशेषविधानाद् वा औरेवानेन प्रवर्तते, न तूकारः दिव औकारेण सम्बन्धात् सेः परत्वमात्रविज्ञानात् तत्सम्बन्धिन्यन्यसम्बन्धिन्यप्युदाहरति—*प्रियद्यौरित्यादि* । *अक्षद्यूरिति*—❉ एकदेशविकृतम्० ❉ इति प्राप्तिः ॥2. 1. 117.॥

उः पदान्तेऽनूत् ॥ 2. 1. 118. ॥

पदान्ते वर्तमानस्य दिवोऽन्तस्योकारादेशो भवति, स चानूत्-तस्य तूकारस्य दीर्घत्वं न भवतीत्यर्थः । द्युभ्याम्, द्युभिः, द्युभ्यः, द्युषु, अतिद्युभ्याम्, परमद्युभ्याम्, द्युगतः,

द्युकामः, द्युत्वम्, द्युकल्पः, विमलद्यु दिनम् ।

पदान्त इति किम् ? दिव्यति, दिव्यम्, दिवौ, दिवम्, दिवि । अनूदिति किम् ? अद्यौ- द्यौर्भवति-द्युभवतीत्यत्र ``दीर्घश्चियङ्यक्येषु च'' (4. 3. 108.) इत्यनेन च्वौ दीर्घत्वं न भवति । ऊकारस्य प्रतिषेधाद् वृद्धिर्भवत्येव-द्युकामस्यापत्यं द्यौकामिः । दिवाश्रयः, दिवौकस इति तु पृषोदरादित्वादकारागमे भविष्यति, वृत्तिविषये वाऽकारान्तो दिवशब्दोऽस्ति ।।118।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां सिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनबृहद्वृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः ।।

प्रावृड् जातेति हे भूपा ! मा स्म त्यजत काननम् ।
हरिः शेतेऽत्र न त्वेषो, मूलराजमहीपतिः ।।

न्या०स०—उः पदान्ते० । *दिवमि*ति-कलापकेऽस्य दिव्शब्दस्यामि सति अन्त्य-स्यात्वं विकल्पेन भवति, ततो द्यामित्यपि भवति, शस्यपि विकल्पेनाकारमिच्छन्ति केचित् । अन्तर्वर्त्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वेऽनेनोत्वे कथं दिवाश्रय इत्यादीत्यत आह—*अकारागमे भविष्यती*ति-अकारागमे चाकारागमकरणसामर्थ्यादेव उर्न विभक्तेः पूर्वं वाऽकारागमे पदान्तत्वाभावादेव वा । *वृत्तिविषय* इति-समासविषये प्रयुज्यते, केवलस्तु न प्रयुज्यत इत्यर्थः ।।2. 1. 118.।।

।। इति द्वितीयाध्यायस्यस्य प्रथमः पादः ।।

अथ द्वितीयः पादः

क्रियाहेतुः कारकम् ।। 2. 2. 1. ।।

क्रियायाः हेतुः–कारणं कर्त्रादि कारकसंज्ञं भवति, तच्च द्रव्याणां स्व-पराश्रयसमवेतक्रियानिर्वर्तकं सामर्थ्यं शक्तिरित्याचक्षते; शक्तिश्च सहभूर्यावद्‌द्रव्यभाविनी च क्रियाकाल एवाभिव्यज्यते। करोतीति कारकमित्यन्वर्थ-संज्ञासमाश्रयणाच्चानाश्रितव्यापारस्य निमित्तत्वमात्रेण हेत्वादेः कारकसंज्ञा न भवति। कारकप्रदेशाः–``कारकं कृता'' (3. 1. 68.) इत्येवमादयः ।।1।।

न्या०स०–क्रियाहेतुः० । क्रियत इति क्रिया ``कृगः श च वा'' (5. 3. 100.) ``क्यः शिति'' (3. 4. 70.) ``रिः श-क्या-ऽऽशीर्ये'' (4. 3. 110.) भाव-कर्मणोरिति व्युत्पत्तिः; यदा त्वपादानादौ शप्रत्ययस्तदा क्यो नास्ति, तदेयादेशः। क्रियायाः कारकमित्युक्ते क्रियायां कर्तुर्मुख्यत्वात् तस्यैव कारकत्वं स्यात् ❊ गौणमुख्ययोः० ❊ इति न्यायात्। हेतुः कारकमित्युक्ते तु द्रव्यस्य मुख्यत्वात् तद्धेतोरेव कटं करोतीत्यादौ कारकत्वं स्यात्, न तु चैत्रो यातीत्यादौ। कारकशब्दः कर्तृमात्रपर्यायः, *कर्त्रादी*त्यत्र कर्तृ शब्दस्तु कर्तृ विशेषवचनः। यथाह पाणिनिः–

स्वव्यापारे तु कर्तृत्वं, सर्वत्रैवास्ति कारके।
व्यापारभेदापेक्षायां, करणत्वादिसंभवः ।।1।।
फलार्थी यः स्वतन्त्रः सन्, फलायारभते क्रियाम्।
नियोक्ता परतन्त्राणां, स कर्ता नाम कारकम् ।।2।।
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च, कारकाणां य ईश्वरः।
अप्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्त्ता फलसाधकः ।।3।।

तेन *कर्त्रादि कारकसंज्ञमि*ति विशेषण-विशेष्यभाव उपपद्यत इति, अन्यथा वृक्षो वृक्षसंज्ञ इतिवदनुपपन्नः स्यादिति।

*तच्च द्रव्याणामि*ति–द्रव्याणां सामर्थ्यं कारकमिति सम्बन्धः, द्रव्यस्य तु कारकत्वे प्रतिबन्धकमन्त्रादिसन्निधाना-ऽसन्निधानाभ्यां दहनादेर्दाहादि-क्रियोत्पत्त्यनुत्पत्ती न स्याताम्, तत्स्वरूपस्य सर्वदा विद्यमानत्वादुत्पत्तिरेव स्यात्, तस्माच्छक्तिरेव कारकमिति श्रेयः, चैत्रादेस्तु कारकत्वं शक्ति-शक्तिमतोरभेदनयेन। *स्व-पराश्रये*ति-अयमर्थः त्रयी क्रिया, सा च चैत्र

आस्त इति स्वाश्रिता, कटं करोतीति पराश्रिता, अन्योऽन्यमाश्लिष्यत इत्युभयाश्रिता।

शक्तिरिह द्रव्यस्य धर्मः, तस्य चतुष्टयी गतिः—कश्चित् सहभूर्यावद्द्रव्यभावी च, यथा स्फटिकस्य नैर्मल्यं, सुवर्णस्य पीतत्वम् 1, कश्चित् सहभुरयावद्रव्यभावी, यथा– अपक्वघटे श्यामिका 2, कश्चिदसहभूर्यावद्द्रव्यभावी, यथा—तस्यैव घटस्य पाकजा रूपादयः, यथा-लाक्षारक्तस्य कम्बलस्य रागः 3, कश्चिदसह-भूरयावद्द्रव्यभावी, यथा-मेषयोः सयोगः, यथा—पटे हरिद्राराग: 4। *क्रियाकाल* इति—क्रियायाः शक्ति प्रति ज्ञापकः कालः, तत्र क्रियाकाले समवहितसकलोपकरणे शक्तिरभिव्यज्यते-प्रकटीक्रियते अवगता भवति। *अभिव्यज्यत* इति कर्मणि कर्तृ कर्मणि वा, तथाहि-क्रियया कर्त्र्या शक्तिः प्रकाश्यते-प्रकटीक्रियते, अभिव्यक्ति-प्रकटीकरोति क्रिया कर्त्री शक्ति. सैवं विवक्ष्यते—नाहमभिव्यनज्मि स्वयमेवाभिव्यज्यते शक्तिः। *अन्वर्थसंज्ञा-समाश्रयणाच्चे*ति-चकार एवार्थे।

*हेत्वादेरि*त्यादिशब्दात् सम्बन्धस्य सहार्थस्य चाकारकत्वं, तेन विद्ययोषित इत्यादी ``कारकं कृता''; (3. 1. 68.) इति न समासः, बहूनामिदं वस्त्रमित्यादी ``बह्वल्पार्थ०'' (7. 2. 150.) इति शस् नाभूत् ॥2. 1. 1.॥

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ 2. 2. 2. ॥

क्रियाहेतुभूतो यः क्रियासिद्धावपरायत्ततया प्राधान्येन विवक्ष्यते स कारकविशेषः कर्तृसंज्ञो भवति। देवदत्तः पचति, जिनदत्तेन कृतम्, स्थाली पचति, चौरस्थ रुजति रोगः, प्रेषितः करोति; अस्य च कर्तुरधिश्रयणादयः पचिक्रियायामवान्तरव्यापारा भवन्ति, एतान् कुर्वन् देवदत्तः पचतीत्युच्यते।

प्रयोजकोऽपि कर्तैव-पचन्तं देवदत्तं प्रयुङ्क्ते—देवदत्तेन पाचयति चैत्रः। अत्र स्वशब्द आत्मवचनः, तन्त्रशब्दः प्रधानार्थः, स्वं तन्त्रमस्य स्वतन्त्र आत्मप्रधानः। किं पुनः कारकान्तरेभ्यः कर्तुः प्राधान्यम् ?, यत् करणादीनि प्रयुङ्क्ते, न तैः प्रयुज्यते; तानि न्यत्करोति, न तैर्न्यत्क्रियते; तानि निर्वर्तयति, न तैर्निर्वर्त्यते; तानि प्रतिनिधत्ते, न तैः प्रतिनिधीयते; तेभ्यः स प्रथममात्मलाभं लभते, न तानि तस्मात्; स तैर्विनाऽपि दृश्यते, न तानि तेनेति। कर्तृ प्रदेशाः—``इङितः कर्तरि'' (3. 3. 22.) इत्यादयः ॥2॥

न्या०स०—अत्र कारकत्वादेव स्वातन्त्र्ये लब्धे पुनः स्वातन्त्र्य-श्रुतिर्नियमार्था, तेन स्वातन्त्र्यमेव यस्य तस्य कर्तृसंज्ञा, न तु पारतन्त्र्यसहितस्वातन्त्र्ययुक्तस्य। *अपरायत्ततये*ति-प्राधान्यं च कया हेतुभूतया ? अपरायत्ततया, यद्वा सामानाधिकरण्यं प्राधान्येन किंरूपेण ?

अपरायत्ततया। *प्रेषितः करोती*ति प्रयोज्यावस्थायामपि स्वातन्त्र्यस्याऽहानेः कर्तृत्वम्, यदुक्तम्—

``यः क्रियां कर्म-कर्तृस्थां, कुरुते मुख्यभावतः।
अप्रयुक्तः प्रयुक्तो वा, स कर्ता नाम कारकम् ॥''

*प्रयोजकोऽपि कर्त्तैवे*ति स्वतन्त्रत्वादिति शेषः। *तन्त्रशब्दः प्रधानार्थ* इति-न वितततन्तु वचनः, वितता हि तन्तवस्तन्त्रम्; यस्याऽगुणभावेन धातुना व्यापार उच्यते सर्वोऽसौ स्वतन्त्र इति रूढ़िशब्दोऽयम्, स्वशब्द आत्मवचन इत्याद्यवयवार्थकथनं तु पदघटना-मात्रार्थमिति, तेन यत्रैव करणादीन्यप्रधानानि सन्ति—'देवदत्तः स्थाल्यां काष्ठैरोदनं पचति' इत्यादौ तत्रैव कर्तृ संज्ञेत्येवं न, किन्तु तदभावेऽपि, तेन 'आस्ते, शेते' इत्यादावपि।

*स्थाली पचती*ति-अधिकरणरूपायाः स्थाल्याः स्वातन्त्र्यस्य विवक्षितत्वात् कर्तृत्वम्। *रुजती*ति-अत्र रोगलक्षणस्य भावस्य कर्तृत्वात् ``रुजार्थस्याज्वरिसंताο'' (2. 2. 13.) इति कर्मणो विकल्पितत्वाच्चौरात् षष्ठी। *तानि प्रतिनिधत्त* इति-प्रतिबिम्बीकरोति कर्त्ता हि कर्मादीनि कर्तृत्वेन, यथा-ओदनः पच्यते स्वयमेव, असिश्छिनत्ति, ब्राह्मणो ददाति, कुशूलः पचति, स्थाली पचतीत्यादि; न तु कर्मादिभिः कर्ता कर्मादित्वेन प्रतिबिम्ब्यते ॥2. 2. 2.॥

कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ 2. 2. 3. ॥

कर्त्रा क्रियया यद् विशेषेणाप्तुमिष्यते तद् व्याप्यं, तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति, प्रसिद्धस्यानुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानं लक्षणार्थः; तेन तत् कर्म-यत् कर्त्रा क्रियते तद् व्याप्यसंज्ञं भवतीत्यपि सूत्रार्थः। तत् त्रेधा-निर्वर्त्यम् 1, विकार्यम् 2, प्राप्यं 3 च। तत्र यदसज्जायते जन्मना वा प्रकाश्यते तन्निर्वर्त्यम्-कटं करोति, पुत्रं प्रसूते; प्रकृत्युच्छेदेन गुणान्तराधानेन वा यद् विकृतिमापाद्यते तद् विकार्यम्-काष्ठं दहति, काण्डं लुनाति; यत्र तु क्रियाकृतो विशेषो नास्ति तत् प्राप्यम्-आदित्यं पश्यति, ग्रामं गच्छति। अस्य तु त्रिविधस्यापि यथाक्रमम-वान्तरव्यापाराः—निर्वर्तते, विकुरुते, आभासमुपगच्छतीत्यादयः।

त्रिविधमप्येतत् पुनस्त्रिविधम्-इष्टम् 1, अनिष्टम् 2, अनुभयं 3 च; यदवाप्तुं क्रियाऽऽरभ्यते तदिष्टम्-कटादि; यद् द्विष्टं प्राप्यते तदनिष्टम्-अहिं लङ्घयति, विषं भक्षयति, कण्टकान् मृद्नाति, चौरान् पश्यति; यत्र नेच्छा न च द्वेषस्तदनुभयम्-ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति, वृक्षच्छायां लङ्घयति। पुनस्तत् कर्म द्विविधं प्रधानेतरप्रभेदात्, तच्च द्विकर्मकेषु धातुषु दुहि-भिक्षि-रुधि-प्रच्छि-चिग्-ब्रूग्-शास्वर्थेषु याचि-जयति-प्रभृतिषु च भवति दुह्यर्थ-गां दोग्धि पयः, गां स्त्रावयति पयः, गां क्षारयति पयः भिक्ष्यर्थपौरवं गां भिक्षते, पौरवं गां याचते, चैत्र शतं मृगयते, चैत्रं शतं प्रार्थयते एवं-गामवरुणद्धि व्रजम्; छात्रं पन्थानं

पृच्छति, छात्र वाक्यं चोदयति: वृक्षमवचिनोति फलानि; शिष्यं धर्मं ब्रूते, शिष्यं धर्ममनुशास्ति: क्रुद्धं याचते शमावस्थाम्, अविनीतं याचते विनयम्, याचिरिहानुनयार्थ:, तेन भिक्ष्यर्थाद् भेद: गर्गान् शतं जयति, गर्गान् शतं दण्डयति, ग्रामं शाखां कर्षति, काशान् कटं करोति, अमृतमम्बुनिधिं मथ्नाति, अजां ग्रामं नयति, ग्रामं भारं हरति, उपसरजमश्वं मुष्णाति; ग्रामं भारं वहति, शतानीकं शतं गृह्णाति, तण्डुलानोदनं पचति, अत्र यदर्थं क्रियाऽऽरभ्यते तत् पय:प्रभृति प्रधानं कर्म, तत्–(सिद्धये तु यदन्यत् क्रियया व्याप्यते) गवादि तदप्रधानम्; यदा तु पयोऽर्था प्रवृत्तिरविवक्षिता तदा प्रधानस्यासन्निधानाद् गवादेरेव प्राधान्यम्, यथा–आश्चर्यो गवां दोह इति ।

तत्र दुहादीनामप्रधाने कर्मणि कर्मज: प्रत्ययो भवति-गौर्दुह्यते दुग्धा दोह्या वा पयो मैत्रेण, याच्यते पौरव: कम्बलम्, अवरुध्यते गां व्रज:, पृच्छयते धर्ममाचार्य:, भिक्ष्यते गां चैत्र:, अवचीयते वृक्ष: फलानि, उच्यते शिष्यो धर्मम्, शिष्यते शिष्यो धर्मम्, जीयते शतं चैत्र:, गर्गा: शतं दण्ड्यन्ताम्, ``देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे'' इत्यादि । नी-वहि-हरति-प्रभृतीनां तु प्रधाने कर्मणि-नीयते नीता नेतव्या वा ग्राममजा, उह्यते भारो ग्रामम्, ह्रियते कुम्भो ग्रामम्, कृष्यते ग्रामं शाखेति ।

गत्यर्थानामकर्मणां च णिगन्तानां प्रधान एव कर्मणि-गमयति मैत्रं ग्रामम्, गम्यते गमितो गम्यो वा मैत्रो ग्रामं चैत्रेण, आसयति मासं मैत्रम्, आस्यते मासं मैत्रश्चैत्रेण ।

अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति गम्यते मैत्रं ग्रामश्चैत्रेण, आस्यते मासो मैत्रं चैत्रेण । बोधा-ऽऽहारार्थ-शब्दकर्मकाणां तु णिगन्तानामुभयत्र-बोधयति शिष्यं धर्मम्, बोध्यते शिष्यो धर्मम्, बोध्यते शिष्यं धर्म इति वा, भोजयत्यतिथिमोदनम्, भोज्यतेऽतिथिरोदनम्, भोज्यतेऽतिथिमोदन इति वा, पाठयति शिष्यं ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यो ग्रन्थम्, पाठ्यते शिष्यं ग्रन्थ इति वा; सर्वत्र चोक्ते कर्मणि द्वितीया न भवतीति वक्ष्यते । कर्तुरिति किम् ? माषेष्वश्वं बध्नाति, अश्वे न कर्मणा भक्षणक्रियया स्पर्शनक्रियया वा माषाणां व्याप्यानां कर्मणां कर्मसंज्ञा मा भूत् । वीति किम् ? पयसा ओदनं भुङ्क्ते, अत्र करणस्य मा भूत् । कर्म-व्याप्यप्रदेशा:–``कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) ``व्याप्याच्चेवात्'' (5. 4. 71.) इत्यादय: ॥3॥

न्या०स०–कर्तुर्व्या० । *कर्तुरि*त्यत्र प्रथमव्याख्याने व्याप्येत्यस्य कृत्प्रत्ययान्तस्य योगे ``कृत्यस्य वा'' (2. 2. 88.) इति कर्तरि षष्ठी । ननु यदा द्वैतीयीकं व्याख्यानं-कर्तु: कर्म व्याप्यमिति क्रियते तदा कर्मणा योगे कर्तृशब्दा: केन सूत्रेण षष्ठी वर्तिष्ठ ?, उच्यते-कृच्छेषा उणादय इति कृत्वा कर्मशब्द औणादिकप्रत्ययान्तोऽपि कृदन्त:, ततस्तद्योगे ``कर्तरि''

(2. 2. 86.) इति षष्ठी । *विकार्यमि*ति-विकार्यते स्वभावोच्छेदे-नान्यथात्वं लभ्यत इति । *निर्वर्त्तत* इति–

``निर्वृत्त्यादिषु यत् पूर्वमनुभूय स्वतन्त्रताम् ।
कर्त्रन्तराणां व्यापारे, कर्म संपद्यते ततः'' ॥

विकुरुत इति-अन्यथा विकृतिमनुपगच्छतो वज्रस्येव विकार्यत्वायोगः स्यात् । *आभासमुपगच्छती*ति तथाऽऽभासाऽयोग्यस्य परमनिकृष्टपरमाण्वादेरिवाभास्यत्वविरहः स्यादिति व्याप्यस्याभासगमनमवान्तरव्यापार इति । *विषं भक्षयती*ति-यदाज्ञातं सत् भक्ष्यते तदैवानिष्टम्, यदा तु राजभीतेन व्याध्यतिक्रान्तेन वा भक्ष्यते तदा इष्टमेव । *गां दोग्धि पय* इति-अन्तर्भूतण्यर्थत्वेनामीषां द्विकर्मकत्वम्, अन्तर्भूतण्यर्थाः सकर्मकाः सर्वे, तेनायमर्थः–गौः कर्त्री पयः कर्म मुञ्चति, तां गां मोचयतीति । *गां स्रावयति पय* इति–``गतिबोधा०'' (2. 2. 5.) इत्यत्र बहुवचनादन्येषामपि अणिक्कर्तुः कर्मत्वम्, तेन गवादीनामपि कर्मत्वं युक्तं, नात्र नियमः प्रवर्तते, एतेऽपि ईदृशा अपि द्विकर्मका उच्यन्ते इति ।

यद्वा ``बहुलमेतन्निदर्शनम्'' (धातुपारायणम्) इति णिजन्तता सर्वत्र । *पौरवं गां भिक्षते*-अस्ति राजा पुरुर्नाम, तदपत्यं ``पुरु-मगध०'' (6. 1. 116.) इत्यणि पौरवः, अयं च याच्यमानो हृष्टो म्लानो वा भवतीति विकार्यं कर्म, *भिक्षते* कोऽर्थः ? याचनापूर्वकं गां दापयति वियोजयतीति वेत्यर्थः । *गामवरुणद्धी*ति-व्रजं सेवमानं सेवयतीत्यर्थः । *पृच्छति* कथापयति । *चोदयती*ति वादयतीत्यर्थः । *वृक्षमवचिनोती*ति- वृक्षः फलानि वियुङ्क्ते, तं वियोजयतीत्यर्थः । *ब्रूते* कथयन्तं कथापयति । *अनुशास्ति* ज्ञापयति । *याचते* कारयते । *अनुनयार्थ* इति-तेन भिक्ष्यर्थमध्ये याचिद्वाराऽनुनंयार्थानां न ग्रहः, शिक्षिर्याच्ञायामेव, याचिस्तूभयार्थ इति । *जयति* मोचयति । *कर्षति* कर्षयति । *करोति* योजयति । *मथ्नाति*-वियोजयति । *नयति* प्रापयति । *हरति* वियोजयति प्रापयति वा । *मुष्णाति* त्याजयति, उपसरः–पुरुषविशेषो देशो वा, तत्र जातः, कोऽर्थः ? परस्वामिकं सन्तमात्मस्वामिकं करोति । *वहति* प्रापयति । *गृह्णाति* त्याजयति । *तण्डुलानोदनं पचति* तण्डुलान् विक्लेदयन् विकुर्वन् ओदनं करोतीत्यर्थो धातूनामनेकार्थत्वादिति । *दुहादीनामि*ति-

``दुहादेर्गौणकं कर्म, नीवहादेः प्रधानकम् ।
णिगन्ते कर्तृकर्मैवमन्यद् वा वक्ति कर्मजः'' ॥
येनापविद्धसलिलस्फुटनागसद्मा, देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः, खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥

*नेतव्या वा ग्राममजे*ति-अजादेः प्राधान्यान्नेतुश्च पूर्वं तत्रैव क्रियाप्रवर्तनादन्तरङ्गत्वाच्च

तत्रैव प्रधाने कर्मज इति । केचिदाहुः—न अमी नयत्यादयो द्विकर्मका अन्यकर्मत्वात्, तथाहि-अजां नयति ग्रामम्-अजां गृहीत्वा ग्रामं यातीति ह्यत्रार्थः, नयतिस्तु प्राप्तिमात्र वाची, गम्यमानक्रियापेक्षयापि कर्मत्वं दृश्यते, यथा-'प्रविश, पिण्डीं, द्वारम्' इति, भक्षणक्रियापेक्षया पिधानक्रियापेक्षया चेति, नैवम्—एवं सति 'अजा नीयते ग्रामम्' इत्यत्र कर्मण्युत्पद्यमानेनात्मनेपदेनाजाकर्मणोऽभिधानं न प्राप्नोति, यतो गृह्णातेरजा कर्म, न नयतेरिति, तस्मादन्यकर्मत्वमजाया नैष्टव्यमिति ।

अकर्मणामिति-नित्याकर्मकाणामविवक्षितकर्मकाणां चेत्यर्थः । *प्रधान एव कर्मणी*ति-कर्तृ कर्मणि कर्मजः प्रत्ययो भवतीति सम्बन्धः, प्राधान्यं च तस्य ''गतिबोधा-हारार्थ०'' (2. 2. 5.) इति कर्मसंज्ञाया विधीयमानत्वेन कृत्रिमत्वात् कर्तुः प्रथमप्रवृत्तिविषयत्वाद् वा । *प्रधान एवे*ति-अन्यस्त्वप्रधानेऽपीच्छति तन्मतक्षेपणायात्रैवकारः । *आसयति मासं मैत्रमि*ति-आस्ते मास मैत्रः, तमासीनं परः प्रयुङ्क्ते, मासस्य ''काला-ऽध्व-भाव०'' (2. 2. 5.) इति कर्मसंज्ञा, काला-ऽध्व-देश-भावैश्च सर्वेऽपि धातवः सकर्मका इत्यन्यकर्मापेक्षया अकर्मका इह ग्राह्याः । बोध*यति शिष्यं धर्ममि*त्यत्र वाक्यस्य धर्मप्रतिपादनपरत्वे धर्मस्य प्राधान्यं शिष्यादेर्गुणभावः, शिष्यादिसंस्कारपरयां तु प्रवृत्तौ शिष्यादेःप्राधान्यं धर्मस्य गुणभाव इत्युभयत्र कर्मजः प्रत्यय इति । *पाठयति शिष्यं ग्रन्थमि*ति-अर्थस्य शब्देन प्रतिपाद्यत्वाच्छब्दस्य प्राधान्यं, शब्दस्यार्थपरत्वादर्थस्यैव प्राधान्यमिति समर्थयन्ते गरीयांसो विद्वांसः । *पयसा ओदनमि*ति-अत्र पय इति न व्याप्यमोदनापेक्षयाऽन्याङ्गत्वात्, यच्चाऽनन्याङ्गः तदेव व्याप्यमिति ।।2. 2. 3.।।

वाऽकर्मणामणिक्कर्त्ता णौ ।। 2. 2. 4. ।।

अविवक्षितकर्माणोऽकर्माण उत्तरत्र नित्यग्रहणात्, तेषामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ-णिगि सति कर्मसंज्ञो वा भवति । पचति चैत्रः, पाचयति चैत्रं चैत्रेण वा; लिखति मैत्रः, लेखयति मैत्रं मैत्रेण वा । गत्यर्थादीनां तु परत्वान्नित्य एव विधिः—गच्छति चैत्रः, गमयति चैत्रमित्यादि । किं करोतीति व्यापारमात्रविवक्षायां चाविवक्षितकर्माणो भवन्ति ।।4।।

*न्या०स०—वाऽकर्म० । अविवक्षिते*ति नन्वेवं तर्हि गत्यर्थादीनामप्यविवक्षित-कर्मकत्वेन विकल्पः प्राप्नोतीत्याह-*गत्यर्थादीनामि*ति ।। 2. 2. 4. ।।

गति बोधा-ऽऽहारार्थ-शब्दकर्म-नित्याकर्मणाम-नी-खाद्यदि-ह्वा-शब्दाय क्रन्दाम् ।। 2. 2. 5. ।।

गतिः- देशान्तरप्राप्तिः, बोधः—ज्ञानमात्रं तद्विशेषश्च, शब्दः कर्म-क्रिया व्याप्यं च येषां ते शब्दकर्माणः, नित्याऽकर्माणः—सर्वथाऽविद्यमानव्याप्याः; गत्यर्थ-बोधार्था-ऽऽहारार्थानां शब्दकर्मणां नित्याऽकर्मणां च धातूनां नी-खाद्यदिह्वयति-शब्दायति-क्रन्दवर्जितानामणिगवस्थायां यः कर्ता स णौ सति कर्मसंज्ञो भवति ।

गत्यर्थः—गच्छति मैत्रो ग्रामम्, गमयति मैत्रं ग्रामम्; याति मैत्रो ग्रामम्, यापयति मैत्रं ग्रामम्; देशान्तरप्राप्तेरन्यत्र न भवति-स्त्रियं गमयति मैत्रेण चैत्रः, भजनार्थोऽत्र गमिः । सामान्यबोधार्थः- बुध्यते शिष्यो धर्मम्, बोधयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; जानाति शिष्यो धर्मम्, ज्ञापयति गुरुः शिष्यं धर्मम्; एवमुपलम्भयति, अवगमयतीत्यादि । विशेषबोधार्थः—पश्यति रूपतर्कं कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणं वणिक्; एवं घ्रापयति मैत्रमुत्पलम्, स्पर्शयति मैत्रं वस्त्रम्, श्रावयति शिष्यं धर्मम्, स्मारयति शिष्यं धर्मम्, अध्यापयति शिष्यं शास्त्रम् । अन्ये तु बोधविशेषार्थस्य दृशेरेवेच्छन्ति नान्येषाम्, तन्मते-'जिघ्रत्युत्पलं चैत्रः, घ्रापयत्युत्पलं चैत्रेण मैत्रः, एवं स्पर्शयति चैत्रेण वस्त्रम्, श्रावयति धर्मं शिष्येण' इत्यादौ प्रयोज्यकर्तरि तृतीयैव भवति ।

आहारार्थः—भुङ्क्ते बटुरोदनम्, भोजयति बटुमोदनम्; अश्नाति वटुर्भक्तम्, आशयति बटुं भक्तम् । शब्दक्रियः—जल्पति मैत्रो द्रव्यम्, जल्पयति मैत्रं द्रव्यम्; एवमालापयति मित्रं मैत्रम्, संभाषयति मैत्रं भार्याम्, शब्दव्याप्यः—शृणोति शब्दं मैत्रः, श्रावयति शब्दं मैत्रम्, अधीते बटुर्वेदम्; अध्यापयति बटु वेदम्; एवं-जल्पयति मित्रं वाक्यम्, विज्ञापयति गुरुं वाक्यम्, उपलम्भयति शिष्यं विद्याम् ।

नित्याकर्मकः—आस्ते मैत्रः, आसयति मैत्रं चैत्रः; शेते मैत्रः, शाययति मैत्रं चैत्रः । नित्यग्रहणं पूर्वत्राविवक्षित-कर्मकपरिग्रहार्थम्, अन्यथा विभागो न ज्ञायेत । काला-ऽध्व-भाव-देशैश्च सर्वेऽपि धातवः सकर्मका एवेत्यन्यकर्मापेक्षया नित्याकर्मका वेदितव्याः । गत्यर्थादीनामिति किम् ? पचत्योदनं चैत्रः, पाचयत्योदनं चैत्रेण मैत्रः ।

अणिक्कर्तेत्येव-गमयति चैत्रो मैत्रम्, तमपरः प्रयुक्ते—गमयति चैत्रेण मैत्रं जिनदत्तः । नयत्यादिवर्जनं किम् ? नयतेः प्रापणोपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेन गत्यर्थत्वात् खाद्यद्योराहारार्थत्वात् ह्वाशब्दायक्रन्दां च शब्दकर्मकत्वात् कर्मत्वे प्राप्ते प्रतिषेधार्थम्-नयति भारं चैत्रः, नाययति भारं चैत्रेण; खादयत्यपूपं मैत्रेण, आदयत्योदनं मैत्रेण, ह्वाययति चैत्रं मैत्रेण, शब्दाययति चैत्रं मैत्रेण, क्रन्दयति मित्रं मैत्रेण; कर्मसंज्ञाप्रतिषेधात् स्वव्यापाराऽऽश्रयं कर्तृत्वमेव । प्रेषणा-ऽध्येषणादिना प्रयोजकव्यापारेण णिगन्तवाच्येनाणिक्कर्तुर्व्याप्यत्वात् कर्मसंज्ञा सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्-प्रयोजकव्यापारेण व्याप्यमानस्य गत्यर्थादिसम्बन्धिन एव प्रयोज्यस्य कर्तुः कर्मसंज्ञा भवति; तेनाऽन्यधातुसम्बन्धिनः कर्तृत्वमेव भवति ॥5॥

न्या०स०—गतिबोधा० । न विद्यते कर्म येषां तेऽकर्माणः, नित्यमकर्माण इति विस्पष्टपटुवत् समासः, ततो द्वन्द्वात् षष्ठीबहुवचनम् । आहारस्य सुप्रसिद्धत्वाद् गति- बोधयोः स्वरूपमाह-*गतिः—देशान्तरप्राप्तिरि*ति । बुध्यते शिष्यो धर्मम्-अत्र हि बुध्यादयश्चक्षुरादीन्द्रिय-साधनज्ञानविशेषस्याप्रतिपादनात् सामान्यबोध एव वर्तन्त इत्यर्थः ।

*दर्शयति रूपतर्कमि*ति-रूपं तर्कयतीति ``कर्मणोऽण्'' (5. 3. 14.) इत्यणि रूपतर्कः, कर्षेणाप्यत इति ``भुजि-पत्यादिभ्यः०'' (5. 3. 128.) इति कर्मण्यनटि ``पूर्वपदस्थ०'' इति णत्वे प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽणि *कार्षापणः*, अत्र दृश्यादीनां चक्षुरादिसाधनजनितज्ञानविशेषवृत्तीनां विशेषबोधार्थते-त्यर्थः । *अन्ये त्वि*ति-ते हि गत्यादिसूत्रे दृशिमुपादाय बोधार्थत्वेनैव सिद्धे दृशिग्रहणाद् दृशेरेव विशेषबोधार्थस्य परिग्रहो नान्येषामित्याचक्षते । *खादयत्यपूपमि*ति-अत्र ``चल्याहारार्थेङ्०'' (3. 3. 108.) इति परस्मैपदम् । *आदयत्योदनमि*ति-अत्र फलवत्त्वाभावाद् ``परिमुह०'' (3. 3. 94.) इति नात्मनेपदम्, मतान्तरेण वा प्रयोगोऽयम्, ते हि ``परिमुह०'' (3. 3. 94.) इत्यत्राद्धा-तुमपठन्त आत्मनेपदं नेच्छन्ति ।। 2. 2. 5. ।।

भक्षेर्हिंसायाम् ।। 2. 2. 6. ।।

भक्षेः स्वार्थिकण्यन्तस्य हिंसार्थस्याणिक्कर्ता णौ कर्मसंज्ञो भवति । भक्षयन्ति सस्यं बलीवर्दाः, तान् प्रयुङ्क्ते-भक्षयति सस्यं बलीवर्दान् मैत्रः; उक्ते च कर्मणि-भक्ष्यन्ते यवं बलीवर्दाः, भक्ष्यते यवो बलीवर्दान् मैत्रेणेति वा । वनस्पतीनां प्रसव-प्ररोह-वृद्ध्यादिमत्त्वेन चेतनत्वात् तद्विशेषस्य सस्यस्य प्राणवियोगस्तद्भक्षणात् स्वाम्युपघातो वाऽत्र हिंसेति भक्षेर्हिंसार्थता । हिंसायामिति किम् ? भक्षयति पिण्डीं शिशुः, तं प्रयुङ्क्ते-भक्षयति पिण्डीं शिशुना; भक्षयति राजद्रव्यं नियुक्तेन; भक्षयति पुत्रान् गार्ग्या, भक्षयतिरत्राक्रोशे । आहारार्थत्वात् प्राप्ते नियमार्थं वचनम् ।।6।।

न्या०स०—भक्षेर्हिंसा० । भक्ष्यन्ते यवं बलीवर्दा इति-यवानदतां यवानां विनाश्यत्वेन हिंसा । ननु हिंसा हि प्राणव्यपरोपणलक्षणा, सा च प्राणिन्येव सचेतने सम्भवति, कथमचेतने सस्ये ? नहि तत्रायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासलक्षणा रसमलधातूनां परिणतिहेतवः प्राणाः सन्तीत्यत आह-*वनस्पतीनामि*ति । *वृद्ध्यादिमत्वेने*ति-वनस्पतयः सचेतना वृद्ध्यादिमत्त्वात्, यो यो वृद्धिमान् स स सचेतनः, यथा पुरुषः, वृद्ध्यादिमन्तश्चैते, तस्मात् सचेतना इति पञ्चावयवमनुमानमिति । *भक्षयति पुत्रानि*ति-ननु पुत्रभक्षणस्य हिंसात्मकत्वाद् भक्षयति पुत्रान् गार्ग्येति कथं कर्मत्वाभावः ? इत्याह-*भक्षयतिरत्रे*ति नह्यत्र गार्गी स्वयं पुत्रान् भक्षयति, न च तामन्यस्तत्र प्रयुङ्क्ते, अपि

त्वेवमाक्रोशति-भक्षय पुत्रानिति भक्षिर्न हिंसाविषयः ।। 2. 2. 6. ।।

वहेः प्रवेयः ।। 2. 2. 7. ।।

प्रवीयते-प्राजतिक्रियया व्याप्यते यः स प्रवेयः, वहेरणिक्कर्ता प्रवेयो णौ कर्मसंज्ञो भवति । वहन्ति बलीवर्दा भारम्, तान् प्रयुक्ते नियोक्ता-वाहयति भारं बलीवर्दान्; वाहयिता बलीवर्दानां भारम्; वाह्यन्ते भारं बलीवर्दाः । प्रवेय इति किम् ? वाहयति भारं मैत्रेण, नात्र मैत्रो बलीवर्दादिवत् प्रवेयः । प्राप्त्यर्थस्य प्रापणार्थस्य च बहेर्गत्यर्थत्वाद्, अकर्मकस्य च नित्याऽकर्मकत्वात् पूर्वेण सिद्धे नियमार्थम्, अविवक्षितकर्मकस्य तु पक्षे विध्यर्थं चेदम् ।।7।।

न्या०स०—सूत्रतात्पर्यमाचष्टे-*प्राप्त्यर्थस्ये*ति-तत्र वहतिः प्राप्त्यर्थो यथा-वहन्ति बलीवर्दाः देशान्तरं प्राप्नुवन्तीति, अत्रानेकार्थत्वात् प्राप्त्यर्थः यद्वाऽणिगन्तस्यानटि प्रापणमिति रूपे प्राप्त्यर्थत्वम् प्रापणार्थो यथा-ग्रामं भारं वहति बलीवर्दः—ग्रामं प्रापयतीति, अत्रापि प्रापणोपसर्जने (नं) प्राप्तिरस्त्येव तेन गत्यर्थत्वम्, अकर्मको यथा-वहति नदी-स्यन्दत इत्यर्थः, अनेकार्थत्वात् स्यन्द्यर्थः ।

*वाहयिता भारं बलीवर्दाना*मिति-अत्र बलीवर्दशब्दान् ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इति प्राप्तषष्ठीविकल्पाद् द्वितीया, तद्विमुक्तपक्षे भारस्येत्यत्र ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन षष्ठी, द्वितीय-प्रयोगे त्वेतद्विपर्ययः; ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इति षष्ठीप्रवृत्त्युदाहरणं तु-वाहयिता भारस्य बलीवर्दानामिति गम्यमपि ज्ञेयम्, अत्र तु निष्प्रयोजनत्वान्न दर्शितम् ।।2. 2. 7.।।

हृ-क्रोर्नवा ।। 2. 2. 8. ।।

हरतेः करोतेश्चाणिक्कर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति, प्राप्ते चाप्राप्ते चायं विकल्पः । प्राप्ते-विहरति देशमाचार्यः, विहारयति देशमाचार्यमाचार्येण वा; एवम्-आहारयत्योदनं बालकं बालकेन वा; विकुर्वते सैन्धवाः, विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैरिति वा; विकुरुते स्वरं क्रोष्टा, विकारयति स्वरं क्रोष्टारं क्रोष्टुना वा; अत्र गत्यर्था-ऽहारार्थ-नित्याकर्मक-शब्दकर्मकत्वेन यथासंख्यं प्राप्तिः । अप्राप्ते-हरति द्रव्यं मैत्रः, हारयति द्रव्यं मैत्रं मैत्रेण वा; करोति कटं चैत्रः, कारयति कटं चैत्रं चैत्रेण वा; अत्र हरतिश्चौर्यार्थो न प्रापणार्थ इत्यप्राप्तिः । प्रापणार्थत्वे तु प्राप्ते विभाषा । कारयिता कटस्य देवदत्तं देवदत्तेन वा, कारयिता कटं देवदत्तस्य देवदत्तेन वा ।।8।।

न्या०स०—ह्व-क्रो । ह्वसाहचर्यात् कृधातोरपि भ्वादेरेव ग्रहः, तेन ``कृत् विक्षेपे'' ``कृंग्ट् हिंसायाम्'' इत्यनयोर्व्यवच्छेदः । *प्राप्ते चे*ति-यदा हरतिर्गतौ वर्तते-ऽभ्यवहारे वा, करोतिश्च वल्गनादावकर्मकः शब्दकर्मकश्च, तदा पूर्वेण प्राप्ते, यदा हरतिः स्तेयादौ वर्तते, करोतिश्च सकर्मको भवति, तदाऽप्राप्ते विशेषानुपादानादुभयत्र विकल्पोऽयमिति । *कारयिता कटस्य देवदत्तं देवदत्तेन वे*ति-प्रथमप्रयोगे देवदत्तशब्दाद् द्वितीयप्रयोगे तु कटशब्दात् ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इत्यनेन प्राप्तषष्ठीविकल्पाद् द्वितीया, तद्विमुक्तकर्मणि ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन षष्ठी, यद्यत्र ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इत्यनेन षष्ठीप्रवृत्तिः स्यान्न विकल्पस्तदा द्वितीये कर्मणि ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन नित्यं षष्ठी स्यात्, कर्तृ प्रधानदेवदत्तशब्दात् तु ``द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा'' (2. 2. 87.) इत्यनेन प्राप्तकर्तृ षष्ठीविकल्पात् तृतीया; ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इत्यस्य ``द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा'' (2. 2. 88.) इत्यस्य च प्रवृत्त्युदाहरणं-कारयिता कटस्य देवदत्तस्य, कटं देवदत्तस्य वेति गम्यमपि ज्ञेयम्, अत्र तु निष्प्रयोजनत्वान्न दर्शितम् ॥2. 2. 8.॥

दृश्यभिवदोरात्मने ॥ 2. 2. 9. ॥

दृशेरभिपूर्वस्य वदतेश्चाऽत्मनेपदविषयेऽणिक्कर्ता णौ कर्मसंज्ञो वा भवति । पश्यन्ति भृत्या राजानम्, तान् राजैवानुकूलाचरणेन प्रयुङ्क्ते-दर्शयते राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा; अभिवदति गुरु शिष्यः, अभिवादयते गुरुः शिष्यं शिष्येण वा; अथवा—अभिवदति गुरुं शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते-अभिवादयते गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः; एवं—दर्शयमानो राजा भृत्यान् भृत्यैर्वा, अभिवादयमानो गुरुः शिष्यं शिष्येण वा; अथवा-अभिवादयमानो गुरु शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः ।

आत्मनः इति किम् ? पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्, दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्; अभिवदति गुरुं शिष्यः, अभिवादयति गुरुं शिष्येण । दृशेर्बोधार्थत्वेन नित्यं कर्मत्वे प्राप्ते, अभिवदेस्तु नित्यमप्राप्ते विकल्पः; यदा तु अभिवदिर्न प्रणामार्थः, किन्तु शब्दक्रियस्तदा-अभिवादयति गुरुं शिष्यं मैत्र इति नित्यं प्राप्ते विभाषेति । णिजन्तस्यापि वदेर्णिगीच्छन्त्येके-अभिवादयति गुरुर्देवदत्तम्, तस्मिन्नाशिषं प्रयुङ्क्त इत्यर्थः, अभिवादयते गुरुं देवदत्तो गुरुणेति वा; आत्मन्याशिषं प्रयोजयतीत्यर्थः । णिगन्तस्यापीति कश्चित्-अभिवदति गुरुः स्वयमाशिषम्, तं शिष्यः प्रयुङ्क्ते अभिवादयति गुरुमाशिषं शिष्यः, तं मैत्रः प्रयुङ्क्ते-अभिवादयते गुरुमाशिषं शिष्यं शिष्येण वा मैत्रः । नामधातोरभिवादयतेरपीच्छत्यन्यः ॥9॥

*न्या०स०—दृश्यभि० । दर्शयते राजे*ति-अत्र ``अणिक्कर्म०'' (3. 3. 88.) इत्यात्मनेपदम् ।

अभिवादयते गुरुं शिष्यं शिष्येण वा मैत्र इति-फलवत्त्वविवक्षायामात्मनेपदम् । *अभिवादयति गुरुर्देवदत्तमित्यत्र* ``युजादेर्नवा'' (3. 4. 18.) विकल्पेन णिचि णिजभावपक्षे आत्मनेपदं चरितार्थं, वाक्यावस्थायां परस्मैपदमत्र । *कश्चिदि*ति दुर्गसिंहमतम् । *अन्य* इति रत्नमतिः, तथा च स आह–सुब्धातुर्नामधातुरित्यर्थः ।।2. 2. 9.।।

नाथः ।। 2. 2. 10. ।।

अणिक्कर्ता णाविति निवृत्तं पृथग्योगात्, आत्मनेपदविषयस्य नाथतेर्व्याप्यं कर्म वा भवति, आत्मनेपदविषयत्वं चास्याशिष्येवेति तत्रैवायं विधिः । सर्पिषो नाथते, सर्पिर्नाथते, सर्पिर्मे भूयादित्याशास्त इत्यर्थः; सर्पिषो नाथमानः, सर्पिर्नाथमानः सर्पिषो नाथिष्यमाणः, सर्पिर्नाथिष्यमाणः; सर्पिषो नाथ्यते, सर्पिर्नाथ्यते । आत्मन इत्येव-पुत्रमुपनाथति पाठाय, उपयाचत इत्यर्थः ।।10।।

न्या०स०–नाथः० । *कर्म वा भवती*ति–``कर्तु र्व्याप्यम्०'' (2. 2. 3.) इत्यनेन नित्यं प्राप्ते पक्षे निषेधः साध्यः। *आत्मनेपदविषयत्वं चे*ति-कर्त्रपेक्षयेदमुक्तं, भाव-कर्मणोस्तु सर्वधातूनामप्यात्मनेपदमस्त्येव । सर्पिषो नाथत इत्यादिषु सर्वेषु कर्माभावपक्षे ``शेषे'' (2. 2. 81.) इत्यनेन षष्ठी ।। 2. 2. 10. ।।

स्मृत्यर्थ-दयेशः ।। 2. 2. 11. ।।

स्मरणार्थानां दयतेरीशश्च व्याप्यं कर्म वा भवति । मातुः स्मरति, मातरं स्मरति; मातुः स्मर्यते, माता स्मर्यते; मातुः स्मर्तव्यम्, माता स्मर्तव्या; मातुः स्मृतम्, माता स्मृता; मातुः सुस्मरम्, माता सुस्मरा; मातुः स्मृतः पुत्रः, माता स्मृता पुत्रेण; एवं मातुरध्येति, मातरमध्येति; मातुर्ध्यायति, मातरं ध्यायति, मातुरुत्कण्ठते, मातरमुत्कण्ठत इत्यादि । सर्पिषो दयते, सर्पिर्दयते; लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे । ननु कर्माविवक्षायां पक्षे माषाणामश्नीयादित्यादिवत् शेषे षष्ठी सिद्धैव, तत् किमनेन ? सत्यम्-किन्तु ``षष्ठ्ययत्नाच्छेषे'' (3. 1. 76.) इत्ययत्नजे शेषे षष्ठ्याः समासो वक्ष्यते, ततो मातुः स्मृतमित्यादौ समासो मा भूदित्यनेन प्रकारेण यत्नाच्छेषो विधीयते, नियमार्थं च, तेनैषां धातूनां कर्मैव शेषत्वेन विवक्ष्यते, न कारकान्तरं, तेन 'मात्रा स्मृतम्', मनसा स्मृतम्' इत्यादौ कर्तृ-करणयोः शेषविवक्षाभावात् षष्ठी न भवति । व्याप्यमित्येव-कथासु स्मरति, गुणैः स्मरति ।।11।।

न्या०स०—स्मृत्यर्थ० । सामान्येन चिन्तनार्थ उक्तोऽपि स्मृधातुरनुभूतस्यार्थस्य विशिष्टे चिन्तने वर्तमानो गृह्यते, एवंविधाश्चाध्येत्यादयोऽपि गृह्यन्ते, तेन मनसा परिकल्पितचिन्तनार्थानां समीक्षादीनां व्युदासः । *लोकानामीष्टे* इति-व्यापारेषु नियुङ्क्ते स्वायत्तीकरोतीत्यर्थः ।।2. 2. 11.।।

कृगः प्रतियत्ने ।। 2. 2. 12. ।।

पुनर्यत्नः-प्रतियत्नः, सतो गुणाऽऽधानायाऽपायपरिहाराय वा समीहा; तस्मिन् वर्तमानस्य करोतेर्व्याप्यं वा कर्म भवति । एधोदकस्योपस्कुरुते, एधोदकमुपस्कुरुते, शस्त्रपत्रस्योपस्कुरुते, शस्त्रपत्रमुपस्कुरुते । प्रतियत्न इति किम् कटं करोति । किम् ? व्याप्यमित्येव-एधोदकस्योपस्कुरुते बुद्ध्या, करणस्य मा भूत् ।।12।।

न्या०स०—कृगः प्र० । प्रतिशब्दः पुनरर्थेऽव्ययम्, ``अव्ययं प्रवृद्धादिभिः'' (3. 1. 48.) (इति) सः । *सतो गुणाधानाये*ति-ननु यत्नद्वये सति पुनर्यत्न इत्युपयुज्यते, तत् कथमत्र प्रतियत्नः ? उच्यते-प्रथमं तावदर्थस्यात्मलाभाय यत्नो भवति, लब्धात्मनो यो यत्नोऽधिकान् गुणानुत्पादयितुं परिपूर्णगुणस्य वा तादवस्थ्यं रक्षितुं सः प्रतियत्नः । *कटं करोती*ति-अभूतः सन् निर्वर्त्त्यः कटोऽत्र, यत्र तु वर्ष्णिकया रक्तं कटं करोति, तत्रापि विकार्यमेव कर्म न प्रतियत्नः, उपपूर्वस्यैव करोतेः प्रतियत्नविषयत्वात्, ``गन्धना०'' (3. 3. 76.) इत्यात्मनेपदं, चोपपूर्वस्यैव, अत एव मूलोदाहरणेष्वपि-उपपूर्व एव दर्शितः । *एधोदकस्ये*ति-एधाश्चोदकानि च ``अप्राणिपश्वादेः'' (3. 1. 136.) इत्येकत्वम् ।।2. 2. 12.।।

रुजार्थस्याऽज्वरि-संतापेर्भावे कर्त्तरि ।। 2. 2. 13. ।।

रुजा-पीडा, तदर्थस्य धातोर्ज्वरि-संतापिवर्जितस्य व्याप्यं वा कर्मसंज्ञं भवति, भावे कर्तरि-भावश्चेद्रुजार्थस्य कर्ता भवति । चौरस्य रुजति, चौरं रुजति रोगः; अपथ्याशिनां रुज्यते रोगेण, अपथ्याशिनो रुज्यन्ते रोगेण; चौरस्य रुग्णम्, चौरो रुग्ण इत्यादि । चौरस्यामयति, चौरमामयति रोगः; चौरस्य व्यथयति, चौरं व्यथयति रोगः; चौरस्य पीडयति, चौरं पीडयति रोगः । रुजार्थस्येति किम् ? ``एति जीवन्तमानन्दः'' (विष्णु पुराणे) । ज्वरि-संतापिवर्जनं किम् ? आद्यूनं ज्वरयति, अत्याशिनं संतापयति । कर्तरीति किम् ? चैत्रं रुजत्यत्यशने वातः । भाव इति किम् ? मैत्रं रुजति श्लेष्मा, अत्र श्लेष्मा द्रव्यं, न भावः; रोगो व्याधिरामयः शिरोऽतरित्यादयो भावरूपाः कर्त्तार इति ।।13।।

न्या०स०–रुजार्थस्य० / ``रुजोंत् भङ्गे'' इत्यस्माद् भिदाद्यङि-रुजा । *भाव-श्चेदिति*-साध्यरूपस्य भावस्य कर्तृत्वानुपपत्तेः सामान्यशब्दोऽपि भावशब्दः सिद्धरूपे भावे वर्तत इति तात्पर्यार्थः ।

``एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि ।
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे ।।'' (विष्णुपुराणे ।)

चैत्रं रुजत्यत्यशने वात इति–अत्र योऽत्यशनरूपो भावो न स कर्ता, यस्तु वातरूपः कर्ता स द्रव्यं, न भावः । अत्र सूत्रे व्यथितप्योर्गत्यादिसूत्रेणाणिक्कर्तुः कर्मत्वम् ।।2. 2. 13.।।

जास-नाट-क्राथ-पिषो हिंसायाम् ।। 2. 2. 14. ।।

एषां हिंसायां वर्तमानानां व्याप्यं वा कर्म भवति । ``ब्रूस पिस जस बर्हण् हिंसायाम्'' ``जसण् ताडने'' इति चुरादी गृह्येते, न ``जसूच् मोक्षणे'' इति दैवादिकः, तस्याऽहिंसार्थत्वात्, चौरस्योज्जासयति, चौरमुज्जासयति ; चौरस्योज्जास्यते, चौर उज्जास्यते चैत्रेण; तथा ``नटण् अवस्यन्दने'' इति, अयमपि चुरादिर्न तु ``णट नृत्तौ'' इति भ्वादिः, चौरस्योन्नाटयति, चौरमुन्नाटयति; एवं-क्राथिर्घटादिः–चौरस्योत्क्राथयति, चौरमुत्क्रथयति; चौरस्य पिनष्टि, चौरं पिनष्टि । जास-नाट-क्राथानामाकारोपान्त्यनिर्देशो यत्राकार-श्रुतिस्तत्र यथा स्यादित्येवमर्थः, तेनेह न भवति-दस्युमुदजीजसत्, चौरमनीनटत्; दस्युमुदचिक्रथत्; अत एव च क्राथेः कर्मसंज्ञाप्रतिषेधपक्षे ह्रस्वत्वाभावः, कर्मणि तु ह्रस्वत्वमेव । हिंसायामिति किम् ? चौरं बन्धनाज्जासयति-मोचयतीत्यर्थः, नटं नाटयति-नर्तयतीत्यर्थः । अभाव-कर्तृ कार्थं वचनम् ।।14।।

न्या०स०–जास-नाट० / *``नटण अवस्यन्दने''* इति-अवस्यन्दनं हिंसाभेदः । *न तु ``णट नृत्तौ''* इति-अत्राप्यहिंसार्थत्वादित्येव हेतुः । *आकारोपान्त्यनिर्देश* इति-ननु जासनाट-क्राथेत्याकारः किमर्थः ? यतो जस-नट-क्रथेति धातवः पठ्यन्ते, तेषां निर्देशे तथैव निर्देष्टव्यम्; अश ण्यन्तनिर्देशस्तर्हि जासि-नाटि-क्राथीति भवितव्यमित्याह-*यत्राकारश्रुतिस्तत्रे*ति । *एवं-काथिर्घटादिरि*ति-एवम्-अमुना प्रकारेणापरमपि निर्णीयते, किं तत् ? क्राथिर्घटादिगृह्यते, न तु ``क्रथ अर्दिण् हिंसायाम् इति यौजादिकः, इति वैयाकरणानां मतम्; धातुपारायणकारैस्तु उपलक्षणत्वाद् यौजादिकोऽपि । ननु यथा ``घटादेर्ह्रस्वः'' (4. 2. 24.) पक्षे निषिध्यते, तथा दस्युमुदजीजसदित्यादौ ``उपान्त्य-स्य०'' (4. 2. 35.) इत्यस्यापि किं न निषेधः ? सत्यम् ❇ यस्मिन् प्राप्त एव० ❇ इति न्यायात् ``घटादेः०'' (4. 2. 24.) इत्यस्यैव निषेधः । ननु

हिंसाया रुजारूपत्वात् ``रुजार्थस्य०'' (2. 2. 13.) इत्यनेनैव कर्मविकल्पो भविष्यति, किमनेनेति ? अथ जास-नाट-क्राथेत्याकारश्रवणार्थमिदं सूत्रं विधीयते, तदा पिष्ग्रहणमनर्थकं स्यात्, तस्मात् पूर्वेणैव सिद्धमित्याह–*अभावकर्तृ कार्यमिति* ॥2. 2. 14.॥

नि-प्रेभ्यो घ्नः ॥ 2. 2. 15. ॥

नि-प्राभ्यां परस्य हिंसायां वर्तमानस्य हन्तेर्व्याप्यं वा कर्म भवति, बहुवचनं समस्त-व्यस्त-विपर्यस्तसंग्रहार्थम् । चौरस्य निप्रहन्ति, चौरं निप्रहन्ति; चौरस्य चौरं वा निहन्ति; चौरस्य चौरं वा प्रहन्ति; चौरस्य चौरं वा प्रणिहन्ति; चौराणां निप्रहण्यते, चौरा निप्रहण्यन्ते राज्ञा । नि-प्रेभ्य इति किम् ? चौरं हन्ति, चौरमाहन्ति । हिंसायामित्येव-रागादीन् निहन्ति ॥15॥

न्या०स०–निप्रेभ्यो० । निना सहितः प्रो निप्रः, प्रेण सहितो निः प्रनिः, निप्रश्च निश्च प्रश्च प्रनिश्च, यदा तु प्र-निभ्यां पूर्वमुपसर्गान्तरं प्रयुज्यते तदा न भवति, बहुवचनेन ज्ञापितत्वात्, अन्यथा ``वाभ्यवाभ्याम्'' (4. 1. 99.) इतिवद् द्विवचनेनापि समस्तादिग्रहणमात्रं भवेत् ।

संग्रहार्थमिति–यद्येतदर्थं तर्हि न प्रदेयं, यत्रापि व्यस्त-विपर्यस्तौ नि-प्रौ भविष्यतः, तत्रापि नेः प्राग् वा परो हन्नस्तीति, उच्यते-तर्हि-अन्योपसर्ग-पूर्वस्य हन्तेर्वा कर्मसंज्ञानिवृत्त्यर्थम्, तेन चौरं विप्रहन्ति विनिहन्ति वेत्यादौ पूर्वेण नित्यं कर्मसंज्ञा । *प्रहन्तीति*-अत्र ``म्नां०'' (1. 3. 39.) इति बहुवचनात् ``हनः'' (2. 3. 82.) इत्यनेन णत्वाभावः । *रागादीन् निहन्तीत्यत्र* रागादीनामचेतनतया प्राणव्यपरोपण-लक्षणाया हिंसाया अभावान्न भवतीत्यर्थः ॥2. 2. 15.॥

विनिमेय-द्यूतपणं पण-व्यवह्रोः ॥ 2. 2.16. ॥

विनिमेयः–क्रेय-विक्रेयोऽर्थः, द्यूतपणो–द्यूतजेयम्; पणतेर्व्यवपूर्वस्य च हरतेर्व्याप्यौ विनिमेयद्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः । शतस्य पणायति, शतं पणायति; सहस्रस्य सहस्रं वा पणायति, क्रय-विक्रये द्यूतपणत्वे वा तद् विनियुङ्क्त इत्यर्थः; एवं दशानां व्यवहरति, दश व्यवहरति; पञ्चानां पञ्च वा व्यवहरति । विनिमेय-द्यूतपणमिति किम् ? साधून् पणायति-स्तौतीत्यर्थः, शलाकां व्यवहरति-विगणयन् गोपायतीत्यर्थः । वचनभेदो यथासंख्य-निवृत्त्यर्थः ॥16॥

न्या०स०–विनिमेय० । शतं पणायतीति–❈ प्रकृति-ग्रहणे स्वार्थिकप्रत्ययान्तानां ग्रहणम् ❈ इति सूत्रे पणेत्युक्तेऽपि पणायतेरिह ग्रहः आत्मनेपदं तु प्रति अयं न्यायोऽनित्यः, इदं च

कुतोलभ्यते ? ``कमेर्णिङ्'' (3. 4. 2.) इत्यत्र णिङितिङ्कारो पादानात् । *गोपायतीत्यर्थ* इति-अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् ॥ 2. 2. 16. ॥

उपसर्गाद् दिवः ॥ 2. 2. 17. ॥

उपसर्गात् परस्य दिवो व्याप्यौ विनिमेय-द्यूतपणौ वा कर्मसंज्ञौ भवतः । शतस्य प्रदीव्यति, शतं प्रदीव्यति; शतस्य प्रदीव्यते, शतं प्रदीव्यते; शतस्य प्रद्यूतम्, शतं प्रद्यूतम्; शतस्य प्रदेवितव्यम्, शतं प्रदेवितव्यम्; शतस्य सुप्रदेवम्, शतं सुप्रदेवम् । विनिमेय-द्यूतपणमित्येव-शलाकां प्रतिदीव्यति–विगणयन्नपहतीत्यर्थः । उपसर्गादिति किम् ? शतस्य दीव्यति ॥17॥

न ॥ 2. 2. 18. ॥

विनिमेय-द्यूतपणौ दिवो व्याप्यौ कर्मसंज्ञौ न भवतः, उपसर्गपूर्वस्य विकल्पविधानादनुपसर्गस्यायं निषेधः । शतस्य दीव्यति, सहस्रस्य दीव्यति, निषिद्धे च कर्मणि षष्ठ्येव भवति; 'शतस्य दीव्यते, शतस्य द्यूतम्, शतस्य देवितव्यम्, शतस्य सुदेवम्, इत्यादौ भावे-आत्मनेपद-क्त-कृत्य-खलः सिद्धाः; 'शतस्य द्यूतो मैत्रः' इत्यत्र च कर्तरि क्तः । विनिमेय-द्यूतपणमित्येव-जिनं दीव्यति-स्तौतीत्यर्थः, भूमि दीव्यति-संधिना विजिगीषत इत्यर्थः, सन्धिपणोऽत्र न द्यूतपणः; द्यूतं दीव्यति, अक्षान् दीव्यति, अत्र क्रिया तत्साधनं च व्याप्यं न तु पणः ॥18॥

न्या०स०–न । सन्धिना विजिगीषत इति-समर्थेन सन्धि कृत्वाऽन्येषां भूमि विजिगीषत इत्यर्थः, तथा च नीतिः–

``समर्थेन समं राज्ञा, सन्धिं कृत्वा विचक्षणः ।
स्वल्पोऽपि धनसंयुक्तान्, राजन्यानवमानयेत् ॥1॥''

अत्र क्रियेत्यादि-क्रिया द्यूतरूपा, तत्साधनं चाक्षा इत्यर्थः । *शतस्य सुदेवमिति*–अत्र '*सु*' इति निपातान्तरं, नोपसर्गः, अत एव सुस्थितं दुःस्थितमित्यादौ ``स्था-सेनि०'' (2. 3. 40.) इत्यनेन षत्वं न भवति ॥2. 2. 18.॥

करणं च ॥ 2. 2. 19. ॥

दीव्यतेः करणं कर्मसंज्ञं चकारात् करणसंज्ञं च भवति, कर्म-करणसंज्ञे युगपद् भजतीत्यर्थः । अक्षान् दीव्यति, अक्षाणां देवनम्, अक्षा दीव्यन्ते, अक्षा देवितव्याः, अक्षाः सुदेवाः, अक्षदेवः, अक्षा द्यूताश्चै त्रेण; एषु कर्मत्वे द्वितीया-षष्ठयात्मनेपद-तव्य-खलण्-

क्तप्रत्ययास्तन्निमित्ताः सिद्धाः ।

अक्षैर्दीव्यति, अक्षैर्देवनम्, अक्षैर्दीव्यते, अक्षैर्देवितव्यम्, अक्षैः सुदेवं मैत्रेण, अक्षैर्द्यूतं चैत्रेण, अक्षा देवनाः; एषु करणत्वे तृतीयाऽनटौ, भावे-आत्मनेपदादयश्च सिद्धाः । आत्मनेपदादिभिश्चोक्तयोः कर्म-करणयोः द्वितीया-षष्ठी-तृतीया यथायोगं न भवन्ति । करणं वेत्येव सिद्धे चकारः संज्ञाद्वयसमावेशार्थः, तेनाक्षैर्देवयते मैत्रश्चैत्रेणेत्यत्र करणत्वात् तृतीया भवति, कर्मत्वाच्च गत्यादिसूत्रेण नित्याकर्मकलक्षणमणिक्कर्तुः कर्मत्वम्, देवयतेश्च ``अणिगि प्राणि०'' (3. 3. 107.) इत्यादिनाऽकर्मकलक्षणं परस्मैपदं न भवति । अथाक्षान् दीव्यतीत्यत्र सत्यपि संज्ञाद्वयसमावेशे परत्वात् करणत्वनिमित्तया तृतीययैव भवितव्यम्, नैवम्-स्पर्धे हि परः, समानविषययोश्च स्पर्धः, न च द्वितीया-तृतीययोः प्रतिनियत- कर्मकरणशक्त्यभिधायिन्योः समानविषयत्वमस्तीति द्वितीयाऽपि भवत्येव, ❁ प्रतिकार्यं संज्ञा भिद्यन्ते ❁ इति वा दर्शनेऽनवकाशत्वात् संज्ञाद्वयस्य विभक्त्योः पर्यायेण प्रवृत्तिरविरुद्धा । दिव इत्येव—दात्रेण लुनाति । करणमिति किम् ? गृहे दीव्यति ।।19।।

न्या०स०—कर० । चकारस्यान्यत् समुच्चेतव्यं नास्तीति करणमेव प्रतीयते, करणस्य कर्मसंज्ञायामप्राप्तायां विधीयमानायां निर्वर्त्यादयो धर्मा न चिन्त्या असम्भवात् । *युगपद् भजती*ति-फलं भवतु मा वा, संज्ञाद्वयं तु सर्वप्रयोगेषु वेदितव्यम्; न च संज्ञाद्वयं युगपन्निरवकाशमिति वाच्यम्, अक्षैर्देवयत इत्यत्र चरितार्थत्वात्, अत्राक्षान् देवयत इत्यपि प्रयोगो भवति । *करणं वेत्येवे*ति-न च विकल्पेऽपि युगपत् संज्ञाद्वयं भविष्यतीति वाच्यं विकल्पस्य पाक्षिकप्रवृत्ति-निवृत्तिफलत्वात् । *प्रतिकार्यमि*ति-एकस्यापि कर्मणः करणस्य वा कार्यं कार्यं प्रति संज्ञाऽभिधायकानि सूत्राणि भिद्यन्त इत्यर्थः । *इति वा दर्शन* इति-शाकटादीनां पाणिनेश्च, तेषां परमुभयप्राप्ताविति सूत्राभावः, विष्णुवातिक एव सूत्र-सद्भावः ।।2. 1. 19.।।

अधेः शीङ्-स्था-ऽऽस आधारः ।। 2. 2. 20. ।।

अधेः सम्बद्धानां 'शीङ् स्था आस्' इत्येतेषां य आधारस्तत् कारकं कर्मसंज्ञं भवति । ग्राममधिशेते, ग्रामस्याधिशयनम्, ग्रामोऽधिशय्यते, ग्रामोऽधिशयितः; ग्राममधितिष्ठति; ग्राममध्यास्ते । अधेरिति किम् ? शयने शेते, गृहे तिष्ठति, कटे आस्ते । आधार इति किम् ? ग्रामोऽधिशयितो मैत्रेण, पौरुषेणाधितिष्ठति, कर्तृ-करणे न भवतः । अकर्मका अपि हि धातवः सोपसर्गाः सकर्मका भवन्तीति सिद्धं सकर्मकत्वम्, आधारबाधनार्थं तु वचनम्? ।।20।।

उपान्वध्याङ्वसः ॥ 2. 2. 21. ॥

उप-अनु-अधि-आङ्भिर्विशिष्टस्य वसतेर्य आधारः स कर्मसंज्ञो भवति । ग्राममुपवसति, ग्राममुपोषितः, ग्रामस्योपवसनम्, ग्राम उपोष्यते, पर्वतमनुवसति; पुरमधिवसति, आवसथमावसति । अन्वादिसाहचर्यादुपस्य स्थानार्थकस्यैव ग्रहणं नाशननिवृत्त्यर्थस्य; तेन ग्रामे उपवसति—भोजननिवृत्तिं करोतीत्यत्र न भवति । ❊ अदाद्यनदाद्योरनदादेरेव ग्रहणम् ❊ इति वस्तेर्न भवति ॥21॥

न्या०स०—उपान्वध्या० । उपादिभिर्द्वन्द्वं कृत्वा ततस्ते पूर्वे यस्मात् स चासौ वसश्चेति बहुव्रीहिगर्भो विशेषणसमासो मयूरव्यंसकादित्वात् पूर्वस्य लोपश्च, एभ्यः परो वसिति वा समासः । शब्दशक्तिप्रामाण्यादन्वादिपूर्वो वसतिः स्थानार्थमाचष्टे, तत्साहचर्यादुपपूर्वस्यापि स्थानार्थस्य परिग्रहो न तु भोजननिवृत्तिवचनस्येत्यत आह—*अन्वादि-साहचर्या*दिति । स्थानार्थद्योतकत्वादुपशब्दोऽपि स्थानार्थ इत्युक्तं-*स्थानार्थस्ये*ति ॥2. 2. 21.॥

वाऽभिनिविशः ॥ 2. 2. 22. ॥

अभि-निनोपसर्गसमुदायेन विशिष्टस्य विशेराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति ग्राममभिनिविशते, पर्वतमभिनिविशते, ग्रामोऽभिनिविश्यते; ग्रामोऽभिनिविष्टः । व्यवस्थितविभाषेयं, तेन क्वचित् कर्मसंज्ञैव क्वचिदाधारसंज्ञैव भवति—कल्याणेऽभिनिविशते, या या संज्ञा यस्मिन् यस्मिन् संज्ञिन्यभिनिविशते, एतेषां शब्दानामेतेष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्, अर्थेऽभिनिविष्टः ॥22॥

न्या०स०—वाऽभिनि० । अभिः पूर्वो यस्मान्नेः सोऽभिपूर्वश्चासौ निश्च-अभिनिः, ततः परो विट्, तस्य, ``मयूरव्यंसक०'' (3. 1. 116.) इति पूर्व-परयोर्लोपः; अभेनिस्तेन युक्तो विट्, इति वा; न तु द्वन्द्वः, अभिश्च निश्चेत्येवंरूपे द्वन्द्वे ह्यभि-निशब्दयोः प्रत्येकमभि-सम्बन्धः स्यात्, यथा-``उपान्वध्याङ्वसः'' (2. 2. 21) इत्यत्र । *व्यवस्थितविभाषेयमि*ति-नात्र वाशब्दो विकल्पार्थो येन समकक्षतया द्वितीयासप्तम्यौ, किं तर्हि ? प्रयोगव्यवस्थयेति ॥2. 2. 22॥

कालाध्व-भाव-देशं वाऽकर्म चाऽकर्मणाम् ॥ 2. 2. 23. ॥

कालो-मुहूर्तादिः, अध्वा-गन्तव्यं क्षेत्रं क्रोशादि, भावः—क्रिया गोदोहादिः, देशो-जनपद-ग्रामनदी-पर्वतादिः; अकर्मकाणां धातूनां प्रयोगे कालादिराधारः कर्मसंज्ञो वा भवति, अकर्म

च—यत्रापि पक्षे कर्मसंज्ञा तत्राकर्मसंज्ञाऽपि वा भवतीत्यर्थः । कालः—मासमास्ते, मास आस्यते; संवत्सरं स्वपिति, संवत्सरः सुप्यते; दिवसं शेते, दिवसः शय्यते; अध्वा-क्रोशं स्वपिति, क्रोशः सुप्यते; योजनमास्ते, योजनमास्यते; भावः—गोदोहमास्ते, गोदोह आस्यते; ओदनपाकं शेते, ओदनपाकः शय्यते; देशः कुरून् आस्ते, कुरव आस्यन्ते; ग्रामं वसति, ग्राम उष्यते । अविवक्षितकर्माणः सकर्मका अप्यकर्मकाः—मासं पचति, मासः पच्यते; क्रोशमधीते, क्रोशोऽधीयते; ओदनपाकं पठति, ओदनपाकः पठ्यते; कुरून् पठति, कुरवः पठ्यन्ते; पक्षे—रात्रौ सुप्यते, रात्रौ नृत्तं च द्रक्ष्यसि, क्रोशे सुप्यते, गोदोहे आस्ते, ओदनपाके स्वपिति, पञ्चालेषु वसति, ग्रामे वसति, ग्रामे वासः, ग्रामे वासी, तथा—रात्रावधीतम्, दिवसे भुक्तम् । काला-ऽध्व-भाव-देशमिति किम् ? प्रासादे आस्ते, शय्यायां शेते ।

अकर्म चेति किम् ? मासमास्यते, क्रोशं सुप्यते, गोदोहमासितः, इदं गोदोहमासितम्, गोदोहमास्यते, कुरून् सुप्यते; एषु ``तत् साप्यानाप्या०'' (3. 3. 21.) इति, ``गत्यर्था-ऽकर्मक-पिब-भुजेः'' (5. 1. 11.) ``अद्यर्थाच्चाऽऽधारे'' (5. 1. 12.) इति भावे कर्तर्याधारे च यथायथमात्मनेपद-क्तौ सिद्धौ । अकर्मणामिति किम् ? रात्रावुद्देशोऽधीतः, अहन्यध्ययनमधीतम् । कथं पचत्योदनं मासम्, भक्षयति धानाः क्रोशम्, पिबति पयो गोदोहम्, भजति सुखं कुरून् ? द्विकर्मकत्वात् ``कर्तुर्व्याप्यं कर्म'' (2. 2. 3.) इत्येव भविष्यति । अन्ये तु सकर्मकाणामकर्मकाणां च प्रयोगे काला-ऽध्व-भावानामत्यन्तसंयोगे सति नित्यं कर्मत्वमिच्छन्ति-मासमास्ते, दिवसं पचत्योदनम्, क्रोशं स्वपिति, क्रोशं पठति वेदम्, गोदोहमास्ते, गोदोहं पचत्योदनम् । अनेन कर्मसंज्ञायां कर्मणि त्याद्यादयोऽपि-आस्यते मासः, सुप्यते क्रोशः, आसितो मासः, शयितः क्रोश इत्यादि । ``काला-ऽध्वनोर्व्याप्तौ'' (2. 2. 42.) इति च गुणद्रव्ययोगे एवेच्छन्ति न तु क्रियायोगे; अत्यन्तसंयो-गादन्यत्र तु—रात्रौ शेते, अध्वनि स्थित इत्यादावाधारत्वमेव ।।23।।

न्या०स०—काला-ऽध्व० । *मास आस्यत* इत्यत्र व्याप्तिविवक्षायामपि गौणाधि-कारात् ``काला-ऽध्वनो०'' (2. 2. 42.) इत्यनेनापि द्वितीया न भवति । *अध्वा-गन्तव्यमि*ति गमनार्हं, तेनाध्वशब्दाभिधेयस्याध्वनः कर्मसंज्ञा न भवति, नह्यसावध्व-विशेषक्रोश-योजनादिवद् गमनमर्हति, यद्वाऽर्थप्रधानोऽयं निर्देशः, तेन कालाऽध्व-भाव-देशानां साक्षात्प्रयोगे न भवति, अपि तु तदर्थप्रतिपादकशब्दप्रयोगे । *भावः—क्रिये*ति-क्रिया घञादिवाच्या सिद्धताख्या न तु साध्यमानेत्यर्थः। *पर्वतादिरि*ति-आदिशब्दात् खेट-कर्बट-मडम्बादिर्गृह्यते । *गोदोहमास्ते* अत्र सामीप्यक आधारः, यदा तु गोदोहविशिष्टः कालो विवक्ष्यते तदा नैमित्तिकोऽपि । एवम्-*ओदनपाक* इत्यत्रापि ।

*मासं पचतीति-अकर्मणामि*त्यत्र नित्याकर्मणामविवक्षितकर्मणां च सामान्येन ग्रहणम्, इत्यविवक्षित कर्मकानुदाहरति ।

``उलूखलैराभरणैः, पिशाचीवदभाषत ।

एतत् तु ते दिवानृत्तं, *रात्रौ नृत्तं च द्रक्ष्यसि*'' ।।1।।

*इदं गोदोहमासितमि*ति-अत्र बाहुलकात् षष्ठीप्राप्तिं प्रति न कर्मता, तेन ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन न षष्ठी, इदं सक्तूनां पीतमितिवदत्राधारे क्तः प्रत्ययः *कथमि*ति-पचादीनां सकर्मकत्वान्न प्राप्नोतीत्याशङ्कार्थः ।

*पचत्योदनं मासमि*त्यादि-एषां धातूनां स्वभावेन द्विकर्मकत्वम्, अथवा सर्वेऽप्यमी धातवः प्राप्त्युपसर्जने स्वार्थे वर्तन्ते, ततो मासादि प्राप्येत्यादिरर्थो भवति द्विकर्मकता च । *अन्येत्वि*ति-विश्रान्तविद्याधरादयः । ननूत्तरेण ``काला-ध्वनोर्व्याप्तौ'' (2. 2. 42.) इत्यनेन सामान्येन सकर्मणामकर्मणां च प्रयोगे द्वितीया भविष्यति किमनेन कर्मसंज्ञाविधानसूत्रेणेत्याह–*अनेन कर्म-संज्ञायामि*त्यादि-कालाऽध्वापेक्षयेदमुक्तं भावापेक्षया तु द्वितीयार्थमपि । यद्यत्यन्तसंयोगे ``काला-ऽध्व-भाव०'' (2. 2. 23.) इति प्रवर्तते तर्हि ``काला-ऽध्वनोर्व्याप्ती'' (2. 2. 42.) इति *क्व* प्रवर्त्स्यतीत्याह–*काले*ति । ``काला-ऽध्वनोः०'' (2. 2. 42.) इति गुणद्रव्ययोगे, क्रियायोगे तु ``काला-ऽध्व-भाव०'' (2. 2. 23.) इति प्रवर्त्तत इत्यनयोस्तन्मते विभागः ।।2. 2. 23.।।

साधकतमं करणम् ।। 2. 2. 24. ।।

क्रियासिद्धौ यत् प्रकृष्टोपकारकत्वेनाव्यवधानेन विवक्षितं तत् साधकतमं कारकं करणसंज्ञं भवति । काष्ठैः स्थाल्यां पचति, दात्रेण लुनाति, दानेन भोगानाप्नोति ; अस्य पाकादिक्रियासु ज्वलनादयोऽवान्तरव्यापाराः, विवक्षया च प्रकृष्टोपकारकत्वात् साधकतमत्वम् । तमग्रहणमपादा-नादिसंज्ञाविधौ तरतमयोगो नास्तीति ज्ञापनार्थम्, तेन-कुसूलात् पचति, गङ्गायां घोषः प्रतिवसतीति व्यवहितोपचरितयोरपि अपादानत्वमधिकरणत्वं च भवति । अस्य च कारकान्त-राऽपेक्षया प्रकर्षो न स्वकक्षायाम्, तेनैकस्यां क्रियायामनेकमपि करणं भवति-नावा नदीस्रोतसा व्रजति, रथेन पथा दीपिकया याति, सूपेन सर्पिषा लवणेन पाणिनौदनं भुङ्क्ते । करण-प्रदेशाः–``करणं च'' (2. 2. 19.) इत्यादयः ।।24।।

न्या०स०–साधकतमं० । सिध्यतेर्णिगि ``सिध्यतेरज्ञाने'' (4. 2. 11.) इत्यात्वे णके तमपि च सिद्धम् । *प्रकृष्टोपकारकत्वेने*ति–प्रकर्षणं प्रकृष्टं, तेनोपकारकम्, यद्वा प्रकृष्यते स्म प्रकृष्टः, ततः प्रकृष्टं च तदुपकारकं चेति कर्मधारयः । प्रकृष्टोपकारकत्वस्य को हेतुः ?

अव्यवधानम्, यद्वा प्रकृष्टोपकारकत्वमपि किंस्वरूपम्, अव्यवधानमिति: अन्येषु मिलितेष्वपि लवनादिक्रिया दात्रादि विना न शक्यत इति कर्त्रा अव्यवहितं दात्रादि करणमपेक्ष्यत इति तस्य प्रकृष्टत्वम्, यत् प्रकृष्टोपकारकत्वेन स्थाल्यादिकमपि कर्त्राऽव्यवहितमपेक्ष्यते तदपि करणमेव; ननु प्रकृष्टोपकारकत्वं कर्तुरप्यस्ति तस्यापि करणत्वं प्राप्नोति, नैवम्-तस्य स्वातन्त्र्यं लक्षणमस्ति। *साधकतममि*ति-ननु सामग्रीतः क्रियासिद्धिस्तत्र कथं किञ्चित् साधकतमं किञ्चित् तद्विपरीतम् ? अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां हि तत्र सर्वेषां सामान्यं साधारण्यमेवावगम्यते, तस्मात् क्रियासिद्धौ साधकतमस्य संभवो नास्तीति संभवं कल्पनया दर्शयति-*विवक्षये*ति-परमार्थवृत्त्या साधकतमत्वस्य सम्भवो नास्ति, यद्व्यापारानन्तर्येण तु क्रियासिद्धिर्विवक्ष्यते तस्य कल्पनया साधकतमस्येयं संज्ञा। अस्येति-ज्वलनरूप उत्पातनिपातरूपः पुण्यरूपश्च यथाक्रमं प्रयोगत्रयेऽप्यवान्तरव्यापारः। ❁ गौण-मुख्ययो० ❁ इति न्यायात् साधकतमस्यैव भविष्यति किं तमग्रहणेनेत्याह-तम-*ग्रहणमि*ति। *अपादानादिति*-अन्यैरपादादानं प्रथममुक्तिमिति तन्मतापेक्षयेत्युक्तम्, यद्वा स्वमतापेक्षयाऽपि ``कादिर्व्यञ्जनम्'' (1. 1. 10.) इतिवत्। *तरतमयोग* इति-साहचर्यात् तरतमगतः प्रकर्षो लक्ष्यते। *स्वकक्षायामि*ति–स्वकक्षा स्ववर्ग इति यावत्। ननु यदि स्ववर्गेऽपि प्रकर्षोऽपेक्ष्यते तदाऽन्येषां करणानां किं स्यात् ? उच्यते–तदा करणान्तराणां सम्बन्धे षष्ठी स्यात् ॥2. 2. 24.॥

कर्माभिप्रेयः संप्रदानम् ॥ 2. 2. 25. ॥

कर्मणा-व्याप्येन क्रियया वा करणभूतेन, यमभिप्रेयते-श्रद्धानुग्रहादिकाम्यया यमभिसंबध्नाति, स कर्माभिप्रेयः कारकं संप्रदानसंज्ञं भवति। देवाय बलिं ददाति, द्विजाय गामुत्सृजति, याचकायार्थं प्रयच्छति, शिष्याय धर्ममुपदिशति, राज्ञे कार्यमावेदयति; अस्यावान्तरव्यापाराः–अनिराकरणम्, प्रेरणम्, अनुमतिश्च; तान् कुर्वंस्त्यागादौ कारकत्वं लभते।

क्रियाऽभिप्रेयः खल्वपि–पत्ये शेते, श्राद्धाय निगल्हते, युद्धाय सन्नह्यते, देवेभ्यो नमति, प्रणम्य शितिकण्ठाय, निवेद्यतां महाराजाय सुग्रीवाय। अभिग्रहणादिह न भवति–घ्नतः पृष्ठं ददाति, रजकस्य वस्त्रं ददाति, राज्ञो दण्डं ददाति; इह च भवति–वाताय चक्षुर्ददाति, छात्राय चपेटां प्रयच्छति। सम्प्रदानप्रदेशाः–``दामः संप्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च'' (2. 2. 52.) इत्यादयः ॥25॥

न्या०स०–कर्मा० । ईङ् च् ``य एच्चातः'' (5. 1. 28.) ये गुणे ``उपसर्ग-स्या०''

(1. 2. 19.) इत्यलोपे—अभिप्रेय:, कर्मणाऽभिप्रेय: ``कारकं कृता'' (3. 1. 68.) स:, वृत्तौ तु यमभिप्रेयत इत्यर्थकथनमेव, संप्रदीयते तस्मै बाहुलकादनट्, *श्रद्धा-ऽनुग्रहा-विकाम्ययेति*-तथेतिप्रत्यय: श्रद्धा, अनुग्रह उपकार:, आदिशब्दात् कीर्त्यपायाभावादिग्रह: *श्रद्धाय निगल्हते* स्वयं श्राद्धं कर्तुं यजमानेनाकारितं द्विजान्तरं निन्दतीत्यर्थ: ।

``*प्रणम्य शितिकण्ठाय*, विबुधास्तदनन्तरम् ।
चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणिमरीचिभि: ।।1।।''

अग्रेतनं रामायणगद्यम् । *अभिग्रहणादिति*-अभिरभिमतार्थ:, प्र आरम्भार्थ:, केवलस्य हि ईयतेर्गमनं वाच्यं, नाभिसम्बन्ध:, ततोऽभिग्रहणं विशिष्टसम्बन्धप्रतिपत्त्यर्थं विशिष्टश्च सम्बन्ध: कर्तु: श्रद्धा-ऽनुग्रहा-ऽपायापगमकामनाजनित:, स चात्र नास्तीति, प्रेय इति सूत्रे क्रियमाणे कर्मणा क्रियया य: सम्बध्यमानो भवति स सम्प्रदानसंज्ञ इत्युक्ते घ्नत: पृष्टं ददातीत्यत्रापि स्यात् । *निवेद्यतामिति*—``विदिण् चेतनाख्याने'' । *रजकस्य वस्त्रं ददातीति*-परिपूर्णं मूल्यमलभमानस्य रजकस्य पराङ्मुखत्वम् । *छात्राय चपेटां प्रयच्छतीति*-चपेटया आहत: सन् छात्रोऽभिमुखो विनयपरो भवति ।

``अनुमन्त्रनिराकर्तृ प्रेरकं त्यागकारणम् ।
व्याप्येनाप्तं ददातेस्तु सम्प्रदानं प्रकीर्तितम् ।।1।।
संप्रदानं तदेव स्यात्, पूजानुग्रहकाम्यया ।
दीयमानेन संयोगात्, स्वामित्वं लभते यदि ।।2।।'' ।।2. 2. 25.।।

स्पृहेर्व्याप्यं वा ।। 2. 2. 26. ।।

स्पृहयतेर्धातोर्व्याप्यं वा सम्प्रदानसंज्ञं भवति । पुष्पेभ्य: पुष्पाणि वा स्पृहयति । व्याप्यमिति किम् ? पुष्पेभ्य: स्पृहयति वने, आधारस्य मा भूत्? । संप्रदानसंज्ञापक्षे धातोरकर्मकत्वम्, तेन पुष्पेभ्य: स्पृह्यते मैत्रेण, पुष्पेभ्य: स्पृहयितव्यम्, पुष्पेभ्य: सुस्पृहम्, पुष्पेभ्य: स्पृहितो मैत्र:; एषु भावे-आत्मने—पद-तव्य-खल: कर्तरि च क्त: सिद्ध: ।।26।।

क्रुध्द्-द्रुहेर्ष्या-ऽसूयार्थैर्यं प्रति कोप: ।। 2. 2. 27. ।।

अमर्ष:—क्रोध:, अपचिकीर्षा-द्रोह:, ईर्ष्या-परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोष:, गुणेषु दोषाऽऽविष्करणमसूया; एतदर्थैर्धातुभिर्योगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञं भवति । मैत्राय क्रुध्यति, मैत्राय कुप्यति, मैत्राय रुष्यति; मैत्राय द्रुह्यति, मैत्रायापचिकीर्षति, मैत्रायापकरोति; मैत्रायेर्ष्यति, मैत्रायेर्क्ष्यति, मैत्राय सूर्क्ष्यति; चैत्रायासूयति । यं प्रति इति

किम् ? मनसा क्रुध्यति, मनसा द्रुह्यति, मनसेर्ष्यति, मनसाऽसूयति; करणस्य मा भूत् । प्रतिग्रहणं किम् ? यस्मिन्नित्युच्यमाने कर्तुरपि स्यात्-मैत्रेण क्रुध्यते । कोप इति किम् ? शिष्यस्य कुप्यति विनयार्थम्, धनिनो द्रुह्यति धनार्थी, भार्यामीर्ष्यति-मैनामन्योऽद्राक्षीदिति, चैत्रमसूयति लिप्सया । संप्रदानसंज्ञया कर्मसंज्ञाया बाधितत्वाद् भावे आत्मनेपदादयः कर्तरि च क्तः सिद्धः—मैत्रायेर्ष्यते, मैत्रायासूय्यते, मैत्रायेर्ष्यितव्यम्, मैत्रायासूयितव्यम्, मैत्राय दुरीर्ष्यम्, मैत्राय दुरसूयम्, मैत्रायेर्ष्यितश्चैत्रः, मैत्रायासूयितः । कथं चौरस्य द्विषन् ? योऽस्मिन् द्वेष्टि, यं च वयं द्विष्मः ? इति; द्विषेरप्रीत्यर्थत्वान्न भविष्यति ।।27।।

न्या०स०—क्रुद्-द्रुहेर्ष्या० । शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् क्रुधिद्रुही अकर्मकावेव, सम्बन्धषष्ठ्यां प्राप्तायां संप्रदानम् । *मनसा क्रुध्यती*ति—नात्र मनस उपरि कोपः किन्तु तेन कृत्वाऽन्यस्य पुरुषादेः । *कर्तुरपी*ति—न केवलं विषयसप्तम्यां यं प्रति कोपस्तस्य संप्रदानत्वम्, आधारमात्रत्वेन कर्तुरपि स्यादित्यर्थः । *शिष्यस्य कुप्यती*ति—शिष्यसम्बन्धिनोऽविनयस्योपरि कोपो न तु शिष्यस्य । *धनिनो द्रुह्यती*ति-अत्र धनस्योपरि द्रोहो न तु प्राणानाम् । *भार्यामीर्ष्यती*ति-अन्येनावलोक्यमानां न सहते, वृत्तौ *मैनामि*ति-तात्पर्यार्थोऽकथि । *द्विषेरप्रीत्यर्थत्वा*दिति-अप्रीतिमात्रमेव विवक्षितं न तु क्रुधादय इत्यर्थः ।

अत्रेदं विचार्यते-कोपाद् द्रोहादयो भिन्नस्वभावा व्याख्याताः, तत् कथं तदर्थानां *यं प्रति कोप* इति सामान्येनैतद् विशेषणमुपपद्यते, तेषां हि यं प्रति द्रोहो यं प्रतीर्ष्या यं प्रत्यसूयेत्येव घटते, नैष दोषः—क्रोधस्तावत् कोप एव, द्रोहादयस्तु द्विप्रकाराः—केचित् कोपहेतुकाः केचिद् वस्त्वन्तरहेतुकाः, तत्रेह पूर्वेषां ग्रहणं यथा स्यादुत्तरेषां मा भूदित्येवमर्थं 'यं प्रति कोपः' इति सामान्येन विशेषणमुपात्तम्, अन्यथाऽव्यभिचारादिदमनुपादेयं स्यात् । ।।2. 2. 27.।।

नोपसर्गात् क्रुद्-द्रुहा ।। 2. 2. 28. ।।

उपसर्गात् पराभ्यां क्रुधि-द्रुहिभ्यां योगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं संप्रदानसंज्ञं न भवति । मैत्रमभिक्रुध्यति, मैत्रमभिद्रुह्यति; क्रुधि-द्रुही सोपसर्गौ सकर्मकाविति द्वितीया । उपसर्गादिति किम् ? मैत्राय क्रुध्यति, मैत्राय द्रुह्यति ।।28।।

न्या०स०—नोपसर्गात् क्रुद्-द्रुहा । मैत्रमभिक्रुध्यतीत्यत्र अभिव्याप्य कोपवान् अपचिकीर्षावान्, अभिव्याप्त्युपसर्जने वृत्तिः कोपादौ ।। 2. 2. 28. ।।

अपायेऽवधिरपादानम् ।। 2. 2. 29. ।।

सावधिकं गमनमपायः, तत्र यदवधिभूतमपायेनानधिष्ठितं तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति । ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, सार्थाद्धीनः, वृक्षात् पर्णं पतति, धावतोऽश्वात् पतितः पततो देवदत्ताद् धावत्यश्वः, मेषान्मेषोऽपसर्पति । तदेतत् त्रिविधम्–निर्दिष्टविषयम्, उपात्तविषयम्, अपेक्षितक्रियं च; यत्र धातुनाऽपायलक्षणो विषयो निर्दिष्टस्तन्निर्दिष्टविषयम्, यथा–ग्रामादागच्छति; यत्र तु धातुर्धात्वन्तराऽर्थाङ्गं स्वार्थमाह तदुपात्तविषयम्, यथा– बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्, अत्र हि निःसरणाङ्गे विद्योतने विद्युतिर्वर्तते, यथा वा–कुशूलात् पचति, अत्राप्यादानाऽङ्गे पाके पचिर्वर्तत इति; यत्र तु क्रियावाचि पदं न श्रूयते केवलं क्रिया प्रतीयते तदपेक्षितक्रियम्, यथा–सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः । अपायश्च कायसंसर्गपूर्वको बुद्धिसंसर्गपूर्वको वा विभाग उच्यते, तेन–

``बुद्ध्या समीहितैकत्वान्, पञ्चालान् कुरुभिर्यदा ।
बुद्ध्या विभजते वक्ता, तदाऽपायः प्रतीयते ।।'' इति,

अत्रापादानत्वं भवतिः एवम्-अधर्माज्जुगुप्सते, अधर्माद् विरमति, धर्मात् प्रमाद्यति, अत्र यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स दुःखहेतुमधर्मं, बुद्ध्या प्राप्य नानेन कृत्यमस्तीति ततो निवर्तते, नास्तिकस्तु बुद्ध्या धर्मं प्राप्य नैनं करिष्यामीति ततो निवर्तत इति निवृत्त्यङ्गेषु जुगुप्सा-विराम-प्रमादेष्वेते धातवो वर्तन्त इति बुद्धिसंसर्गपूर्वकोऽपायः । तथा–चौरेभ्यो बिभेति, चोरेभ्य उद्विजते, चौरेभ्यस्त्रायते, चौरेभ्यो रक्षति, अत्र बुद्धिमान् वधबन्ध-परिक्लेशकारिणश्चौरान् बुद्ध्या प्राप्य तेभ्यो निवर्तते, चौरेभ्यस्त्रायत इत्यत्रापि कश्चित् सुहृद् यदीमं चौराः पश्येयुर्नूनमस्य धनमपहरेयुरिति बुद्ध्या तं चौरैः, संयोज्य तेभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव ।

अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयते, अत्राध्ययनं भोजनं वाऽसहमानस्ततो निवर्तत इत्यपाय एव । यवेभ्यो गां रक्षति, यवेभ्यो गां निषेधयति, कूपादन्धं वारयति, इहापि गवादेर्यवादिसम्पर्कं बुद्ध्या समीक्ष्यान्यतरस्य विनाशं पश्यन् गवादीन् यवादिभ्यो निवर्तयतीत्यपाय एव । उपाध्यायादन्तर्धत्ते, उपाध्यायान्निलीयते, मा मामुपाध्यायोऽद्राक्षीदिति तिरोभवतीत्यत्राप्यपायः । शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिको जायते, गोलोमाऽविलोमभ्यो दूर्वा जायते, बीजादङ्कुरो जायते, अत्र शृङ्गादिभ्यः शरादयो निष्क्रामन्तीति स्फुट एवापायः; यदि निष्क्रामन्ति किं ? नाऽत्यन्ताय निष्क्रामन्ति सन्ततत्वादन्याऽन्यप्रादुर्भावाद् वा । हिमवतो गङ्गा प्रभवति, महाहिमवतो रोहिता प्रभवति, अत्राप्यापः संक्रामन्तीत्यपायोऽस्ति; यद्यपक्रामन्ति किं ? नात्यन्तमपक्रामन्ति सन्ततत्वादन्यान्यप्रादुर्भावाद् वा । वलभ्याः शत्रुअयः षड् योजनानि

षट्सु वा योजनेषु भवति, अत्र वलभ्या निःसृत्य गतानि योजनानि, गतेषु वा तेषु, भवतीत्यर्थः; कार्तिक्या आग्रहायणी मासे, ततः प्रभृति मासे गते भवतीत्यर्थः; उभयत्रापायः प्रतीयते। चैत्रात्मैत्रः पटुः, अयमस्मादधिकः, अयमस्मादूनः, माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः, अत्र मैत्रादयः पुंस्त्वादिना संसृष्टाः पटुत्वादिधर्मेण ततो विभक्ताः प्रतीयन्ते इति सर्वत्राप्य-पायविवक्षा। विवक्षान्तरे त्वपादानत्वाभावे यथायोगं विभक्तयो भवन्ति-बलाहके विद्योतते, बलाहकं विद्योतते, अधर्मं जुगुप्सते, अधर्मेण जुगुप्सते, मौर्ख्येण प्रमाद्यति, चौरैर्भयम्, चौरैर्बिभेति, चौरेषु बिभेति, चौराणां बिभेति, भोजनेन पराजयते, शत्रून् पराजयते, यवेषु गां वारयति; शृङ्गे शरो जायत इति ॥29॥

न्या०स०—अपायेऽवधि० । ``इण्क्'' अपायनं ``युवर्ण०'' (5. 3. 28.) इत्यलि, ``अयि-वयि०'' धातुना भावाकर्त्रोर्धत्रि वा। अवधीयते-मर्यादीक्रियते बुद्ध्या ``उपसर्गाद्दः किः'' (5. 3. 87.)। *गमनमिति* अपायहेतुत्वाद् गमनमप्यपायः, उप-लक्षणं चेदं, तेन-परमार्थतो विभागोऽपाय इति सिद्धम्। *ग्रामादागच्छतीति*-ग्रामादेरादासीन्यमेवान्तरव्यापारः। *सार्थाद्धीनः* कर्मकर्तरि कर्मणि वाऽत्र क्तप्रत्ययः। *उपात्त-विषयमिति*-उप-समीपे धातुना धात्वन्तरस्यात्तः स्वीकृतो विषयोऽर्थो यत्र तत्। *धात्वन्तरार्थाङ्गमिति*-धात्वन्तरार्थोऽङ्ग-विशेषणं यस्य, धात्वन्तरार्थोस्य वाऽङ्गम्। *निःसरणाङ्गः* इति-निःसरणं चापायरूपमिति भावः। यदा तु बलाहकान्निःसृत्य कुशूलादादायेति च निःसृत्या-ऽऽदायशब्दवन्तौ प्रयोगौ क्रियेते तदा विद्युति-पचिधातू केवले स्वार्थे विद्योतने विक्लेदने च वर्तेते, `निःसरति, आददाति' क्रियापेक्षया तु, बलाहक-कुशूलयोनिर्दिष्ट-विषयमपादानत्वम्।

सांकाश्यकेभ्य इति—संकाशेन निर्वृत्तं ``सुपन्थ्यादेर्ज्यः'' (6. 2. 84.) तत्र भवाः—``प्रस्थपुर०'' (6. 3. 43.) इत्यकञ्, अत्र निर्द्धार्यन्त इति क्रिया प्रतीयते। *अपायश्चेति*-ननु कायसंसर्गपूर्वको विभागो मुख्यो बुद्धिपरिकल्पितस्तु गौणः, ततश्च ❈ गौण-मुख्ययोर्मुख्यस्यैव परिग्रहात् ❈ सांकाश्यकेभ्य इत्यादौ कारकशेषत्वात् षष्ठो प्राप्नोति, नैवम्-``साधकतमं करणम्'' (2. 2. 24.) इत्यत्र तमग्रहणेन गौण-ग्रहणस्यापि ज्ञापितत्वादुभयरूपस्यापि अपायस्य परिग्रह इति। अत्र माहेश्वरव्याकरणश्लोकः—``*बुद्ध्येत्यादि*। *तथा-चौरेभ्यो बिभेतीति*-अत्र बुद्धिकृता-पायस्य विद्यमानत्वाद् ``भीत्राणार्थानां धातूनां भयहेतुकमपा-दानम्'' इति यदन्यैरुक्तं तदत्र न वक्तव्यम्, भयम्-आकुलीभावः, त्राणम्-अनर्थप्रतीघात इति। *तेभ्यो निवर्त्तत* इति-निवृत्त्यङ्गे भये बिभेत्यादयो वर्त्तन्त इत्युपात्तविषयमेतदपादानम्। *अध्ययनात् पराजयते, भोजनात् पराजयत* इति-अत्र पराजिरसहने वर्तते, `दुःखमध्ययनं दुर्वचं, गुरवश्च दुरुपचाराः, भोजन-

मपि व्याधितस्यातृप्तेर्भुक्तवतो वा विरसत्वादिना दुःखम्' इति ततो निवर्त्तत इति ''पराजेरसोढेऽर्थे'' इति न वक्तव्यम्, तत्रासोढग्रहणात् पराजयति-रसहनार्थो गृह्यते न तु 'शत्रून् पराजयते' इतिवदभिभववृत्तिः । *यवेभ्यो गां रक्षतीति*-अत्र ''वारणार्थानामीप्सितम्'' इति न वक्तव्यम् । *स्फुट एवेति*-कायसंसर्गपूर्वक इत्यर्थः । *शृङ्गाच्छरो जायत* इति-उक्तं च गोपुराणे–

''गोलोमाज्जायते दूर्वा, गोमयाद् वृश्चिकः स्मृतः ।
गोदोहाद् गोरसं प्राहुर्गोशृङ्गादुच्यते शरः ।।1।।''

यदि निष्क्रामन्तीति-अयमर्थः–यत् किल यतोऽपक्रामति तत् पुनस्तत्र न दृश्यत इति प्रसिद्धम्, इह तु तत्र तस्यास्ति दर्शनमित्याह-*अत्यन्तायेति*-अत्यन्तमित्यर्थेऽव्ययं, क्रियाविशेषणत्वादम् । *सन्ततत्वादिति*-निष्क्रमणस्येति गम्यते, अयमर्थः एकेऽवयवा निष्क्रान्ता अन्ये निष्क्रामन्तः सन्तीति, यथा बिलाद् दीर्घभोगो भोगी निष्क्रामन्नपि सन्ततत्वात् तत्रोपलभ्यते तथा शरादयोऽपीत्यर्थः । *अन्यान्यप्रादुर्भावाद् वेति*-अन्यावयवयोगात् समुदायोऽप्यन्यः, ततोऽन्यश्चासावन्यश्चेति कार्यम्, समाहारे तु ''त्यदादिः'' (3. 1. 120.) इत्यनेनैकशेषः स्यात् ।

गङ्गा प्रभवतीति-ततः प्रथममुपलभ्यत इत्यर्थः, अत्रापि ''भुवः कर्तुः प्रभवोऽपादानम्'' इत्यपि न वक्तव्यम् । *अत्यन्तमिति* अन्तमति-क्रान्तम् । *षड् योजनानीति*-अत्र षड्योजनरूपस्याध्वनः शत्रुञ्जय इत्यनेनाध्वनोऽन्तेन सह ''गते गम्ये०'' (2. 2. 107.) इति सूत्रेण सामानाधिकरण्यं, तस्माच्च शत्रुञ्जय इत्यस्माद् या प्रथमा विभक्तिः सा योजनानीत्यत्रापीति । *गतानीति*-चैत्रेण कर्त्रा षड् योजनानि गतानि-अतिक्रान्तानीति योजनानां कर्मत्वम्, उपचाराद् योजनस्थनरगता-पेक्षया योजनान्यपि गतशब्देनोच्यन्त इति तेषां कर्तृत्वं वा । *गतेष्विति*-अतिक्रान्तेष्वित्यर्थः । *आग्रहायणीति*-अग्रं हायनस्य ''पूर्वपदस्थात्०'' (2. 3. 64.) इति णत्वम्, अग्रहायणेन- मृगशिरसा चन्द्रयुक्ते न युक्ता पौर्णमासी ''चन्द्रयुक्ता०'' (6. 2. 6.) इत्यण् । *बलाहकमिति*- तं प्राप्यान्तर्भूतण्यर्थो वा ।।2. 2. 29.।।

क्रियाश्रयास्याऽऽधारोऽधिकरणम् ।। 2. 2. 30. ।।

क्रियाऽऽश्रयस्य कर्तुः कर्मणो वा य आधारस्तत् कारकमधिकरणसंज्ञं भवति, अत्रापि प्रसिद्धाऽनुवादेनाप्रसिद्धस्य विधानमिति यत् क्रियाऽश्रयस्याधिकरणं तदाधारसंज्ञं भवतीत्यपि सूत्रार्थः । कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति; चैत्रसमवायिन्यामासिक्रियायां तदाश्रयं चैत्रं धारयन् कटादिर्हेतुतां प्रतिपद्यते, तण्डूलसमवायिन्यां च विचटनक्रियायां तदाश्रयांस्तण्डुलान् धारयन्ती स्थाली हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्युभयत्र कारकत्वम् । तत् षोढा-वैषयिकम्, औपश्लेषिकम्, अभिव्यापकं,

सामीप्यकम्, नैमित्तिकम्; औपचारिकं च ।

तत्र अनन्यत्र भावो विषयः, तस्मै प्रभवति-वैषयिकम्-दिवि देवाः, नभसि तारकाः, भुवि मनुष्याः, पाताले पन्नगाः । एकदेशमात्रसंयोग उपश्लेषः, तत्र भवम्-औपश्लेषिकम्-कटे आस्ते, पर्यङ्के शेते, शाखायां लम्बते, गृहे तिष्ठति । यस्याधेयेन समस्तावयवसंयोगस्तद्-अभिव्यापकम्, तद्धि आधेयेनाभिव्याप्यते, आधेयं वाऽभिव्याप्नोतीति कृद् ``बहुलम्'' (5. 1. 2.) इति कर्मण्यपि एकः; तिलेषु तैलम्, दध्नि सर्पिः, गवि गोत्वम्, तन्तुषु पटः । यद् आधेयसन्निधिमात्रेण क्रियाहेतुस्तत्-सामीप्यकम्-गङ्गायां घोषः, कूपेषु गर्गकुलम्, बन्धुष्वास्ते, गुरौ वसति । निमित्तमेव-नैमित्तिकम्-युद्धे सन्नह्यते, शरदि पुष्यन्ति सप्तच्छदाः, आतपे क्लाम्यति, छायायामाश्वसिति । उपचारे भवम्-औपचारिकम्– अङ्गुल्यग्रे करिशतमास्ते, स मे मुष्टिमध्ये तिष्ठति, यो यस्य द्वेष्यः स तस्याऽक्ष्णोः प्रतिवसति, यो यस्य प्रियः स तस्य हृदये वसति । अधिकरणा-ऽऽधारप्रदेशाः–``सप्तम्यधिकरणे'' (2. 2. 65.) ``अद्यर्थाच्चाधारे'' (5. 1. 12.) इत्यादयः ॥30॥

न्या०स०–क्रियाऽऽश्रयस्य० । आश्रीयत इत्याश्रयः ``भुश्र्यद०'' (5. 3. 23.) इत्यलि, क्रियाया आश्रय क्रियाश्रयः, क्रियासम्पादक इत्यर्थः । आध्रियेते अवतिष्ठेते क्रियाश्रयो कर्तृ-कर्मणी अस्मिन्निति ``न्यायावाय०'' (5. 3. 134.) इत्यादिना घञि आधारः । *विचटनक्रिया-यामिति*-विचटनमवयवानामुच्छूनता । *हेतुत्वं प्रतिपद्यत* इति- यदुक्तं–

``कर्तृ कर्मव्यवहितामसाक्षाद्धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥1॥

विषयाय प्रभवति ``तस्मै योगादेः शक्ते'' (6. 4. 94.) इतीकणि-*वैषयिकम् । औपश्लेषि-कमिति*–``अध्यात्मादिभ्य इकण्'' (6. 3. 78.) । *गवि गोत्वमिति*–अनवयवस्यापि गोत्वादेर्व्य-क्त्याद्यवयवान् व्याप्याऽवतिष्ठमानस्य व्यक्त्यादिरभिव्यापक एवाधारः । *सामीप्यकमिति*-भेषजादिट्यणन्तात् स्वार्थे कः । नन्वाश्रय आधारो भवति, आश्रयश्च संयोग-समवायाभ्यां भवति, न चावस्थितिक्रियाश्रयेण घोषादिना गङ्गादेः संयोग-समवायौ स्तः, नैष दोषः–यदायत्ता हि यस्य स्थितिः स विनाऽपि संयोग-समवायौ तस्याश्रयो भवति, यथा–राजपुरुष इत्यत्र न राज्ञा सह संयोगसमवायौ स्तः, अथ च तदधीनस्थितित्वाद् राजाश्रय पुरुष इति लोके व्यपदिश्यते । *नैमित्तिकमिति*-अत्र ``विनयादिभ्यः'' (7. 2. 169.) इतीकण् ।

युद्धे सन्नह्यत इति-सन्नहनादयोऽन्यत्रापि केनचिन्निमित्तेन सम्भवन्तीति न युद्धादिर्वै-षयिकः । *औपचारिकमिति*-अत्र ``अध्यात्मादिभ्य इकण्'' (6. 3. 78.), अन्यत्रावस्थितस्या-

न्यत्राध्यारोप उपचारः । *अङ्गुल्यग्रे करिशतमि*ति-अत्र हि करिशतादीनामन्यत्रावस्थितानां केनापि प्रयोजनादिनाङ्गुल्यग्रादावध्यारोप्यमाणानामङ्गुल्यग्रादिरोपश्लेषिकाद् भिन्न औपचारिक आधार उच्यते, यदात्वङ्- गुल्यग्रादिशब्देनोपचारादाधेयाधिष्ठितो देश एवोच्यते तदा औपश्लेषिक एवाधारः; अत एवाह–

``आधारस्त्रिविधो ज्ञेयः कटा-ऽऽकाश-तिलादिषु ।
औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापक एव च ॥1॥''

*अक्ष्णोः प्रतिवसती*ति-यथा अक्षिस्थं तृणादि दुःखकारि तथा द्वेष्योऽपीत्यर्थः ॥2. 2. 30.॥

नाम्नः प्रथमैक-द्वि-बहौ ॥ 2. 2. 31. ॥

एकत्व-द्वित्व-बहुत्वविशिष्टेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः परा यथासंख्यं `सि-ओ-जस्' लक्षणा प्रथमा विभक्तिर्भवति । कर्मादिशक्तिषु द्वितीयादिविभक्तीनां विधास्यमानत्वादिह विशेषानभिधानाच्च परिशिष्टेऽर्थमात्रे प्रथमेति विज्ञायते । तत्र द्वितीयादिविनिर्मुक्तः स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-शक्तिलक्षणोऽसमग्रः समग्रो वा पञ्चको नामार्थोऽर्थमात्रम्, तेषु शब्दस्यार्थे प्रवृत्तिनिमित्तं स्वरूप-जाति-गुण-क्रिया-द्रव्य-सम्बन्धादिरूपं त्व-तलादिप्रत्ययाभिधेयं स्वार्थः, स च भावो विशेषणं गुण इति चाख्यायते-डित्थः, डवित्थः, गौः, अश्वः, शुक्लः, कृष्णः; कारकः, पाचकः, दण्डी, विषाणी, राजपुरुषः, औपगवः, गर्गाः, पञ्चालाः यत् पुनरिदं-तदित्यादिना वस्तूपलक्षणेन सर्वनाम्ना व्यपदिश्यते, स्वार्थस्य व्यवच्छेद्यं लिङ्ग-सङ्ख्या-शक्त्याद्याश्रयः सत्त्वभूतं तद् द्रव्यं विशेष्यमिति चाख्यायते-इयं जातिः, अयं गुणः, इदं कर्मेति; यदर्थे सदसद् वा शब्दत एवावसीयते तत् ङ्याबादिसंस्कार हेतुः स्त्री पुमान् नपुंसकमिति लिङ्गम्-स्त्री, पुमान्, नपुंसकम्, पट्वी, खट्वा, युवतिः; यस्यामेकवचन-द्विवचन-बहुवचनानि भवन्ति सा भेदप्रतिपत्तिहेतुरेकत्वादिका सङ्ख्या–एकः द्वौ बहवः; वृक्षः, वृक्षौ, वृक्षाः,

``निमित्तमेक इत्यत्र विभक्त्या नाभिधीयते ।
तद्वतस्तु यदेकत्वं विभक्तिस्तत्र वर्तते'' ॥1॥

यस्यां त्यादिभिरनभिहितायां द्वितीयाद्या व्यतिरेकविभक्तयः षष्ठी च भवति, सा स्वपराऽऽश्रयाऽऽश्रितक्रियोत्पत्तिहेतुः कारकरूपा तत्पूर्वकसम्बन्धरूपा च शक्तिः, सा चाभिहिताऽर्थमात्रम्-क्रियते कटः, कृतः कटः, पचति चैत्रः, स्नानीयं चूर्णम्, दानीयो ब्राह्मणः, गोघ्नोऽतिथिः, प्रस्रवणो गिरिः, भयानको व्याघ्रः, स्थानीयं नगरम्, गोदोहनी पारी, गोमान् मैत्रः, चित्रगुश्चैत्रः । अर्थमात्रं चोपचरितमपि, यथा साहचर्यात्-कुन्ताः प्रविशन्ति, छत्रिणो गच्छन्तिः स्थानात्-मञ्चाः क्रोशन्ति; गिरिर्दह्यते; तादर्थ्यात्-इन्द्रः स्थूणा, प्रदीपो मल्लिका;

वृत्तात्-यमोऽयं राजा, कुबेरोऽयं राजा; मानात्-प्रस्थो व्रीहिः, खारी मुद्गाः, धरणात्-तुला चन्दनम्; सामीप्यात्-गङ्गातटं गङ्गा; योगात्-रक्तः कम्बलः; साधनात्-अन्नं प्राणाः, आयुर्घृतम्; आधिपत्यात्-ग्रामाधिपतिर्ग्रामः ।

अलिङ्गमपि-त्वम्, अहम्, पञ्च, षट्, कति; अलिङ्ग-सङ्ख्यमपि-उच्चैः, नीचैः, स्वः, प्रातः; शक्तिप्रधानमपि-यतः, यत्र, यथा, यदा; द्योत्यमपि-प्रपचति, प्रतिष्ठते, प्रतीक्षते, प्रतिपालयति; स्वरूपमात्रमपि–अध्यागच्छति, पर्यागच्छति, प्रलम्बते, निषिञ्चति । तदयं वस्तुसंक्षेपः–त्याद्यन्तपदसामानाधिकरण्ये प्रथमेति, यत्रापि त्याद्यन्तं पदं न श्रूयते-वृक्षः, प्लक्ष इति, तत्रापि गम्यते, यदाह-'यत्रान्यत् क्रियापदं न श्रूयते तत्रास्तिर्भ- वन्तीपरः प्रयुज्यते' इति । नाम्न इति किम् ? निरर्थकाद् वर्णाद् धातुवाक्याभ्यां च मा भूत् । एक-द्वि-बहाविति च सङ्करनिवृत्त्यर्थम् । ननु चाव्ययेभ्य एकत्वाद्यभावादनेन प्रथमा न प्राप्नोति, सत्यम्-लुब्विधानात् तु विभक्तीनां विधिर्विज्ञायते तदन्तर्गतत्वाच्च प्रथमाया अपि, तस्य च फलम्–अथो स्वस्ते गृहम्, अथो स्वस्तव गृहमित्यादिषु ''सपूर्वात् प्रथमान्ताद् वा'' (2. 1. 32.) इति विभाषया 'ते-मे' आदेशौ, पदसंज्ञा च ''अव्ययस्य'' (3. 2. 7.) इत्यत्र वक्ष्यते । एक-द्वि-बहावित्यादिविभक्तिविधानादिति ॥31॥

न्या०स०–नाम्नः प्रथ० । *तत्रे*ति एवं स्थिते सतीत्यर्थः । *तेष्वि*ति पञ्चकस्य नामार्थस्य क्रमेण लक्षणमाह–*जातिरि*ति–नित्यत्वैकत्वे सत्यनेकत्र समवेता जातिः, अत्र जातिलक्षणे नित्यपदाभावे पटेन व्यभिचारः, एकत्वाभावे विशेषेषु व्यभिचारः, अनेकत्राभावे परमाणौ विशेषेण व्यभिचारः । *सम्बन्धादी*ति–आदिशब्दान्नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषा अतीन्द्रियदृष्टिगम्या योगिसंवेदनीयाः, तेऽपि स्वार्थः । *स्वार्थ* इति-स्वस्यैवार्थः स्वार्थो विशेषणमसाधारणोऽर्थः प्रवृत्तिनिमित्तमिति । *गौरि*ति-जातिरनुवृत्तप्रत्ययहेतुः, अत्र तद्विशिष्टस्य द्रव्यस्य प्रतीतिर्जातिः स्वार्थः शुक्ल इति-गुणः शुक्लत्वादिः, शुक्लः पट इत्यादौ तद्विशिष्टस्य द्रव्यस्य प्रतीतेर्गुणः स्वार्थः ।

गर्गा इति गर्गस्यापत्यानि ''गर्गादेर्यञ्'' (6. 1. 42.), ''यञञौ०'' (6. 1. 126.) इत्यनेन लोपः । *पञ्चाला* इति-पञ्चालानां राष्ट्रस्य राजानः, पञ्चालस्य राज्ञोऽपत्यानि वा ''राष्ट्र-क्षत्रियात्०'' (6. 1. 114.) अञ् । *स्वार्थस्य व्यवच्छेद्यमि*ति-अत्र कर्तरि षष्ठी, स्वार्थेन व्यवच्छिद्यते । *शक्त्याद्याश्रय* इति-आदिशब्दात् स्वरूपादिस्वार्थपरिग्रहः । *इयं जातिरि*ति-जातिर्द्रव्यमेकत्वं नित्यत्वं व्यापकत्वं च स्वार्थः । *अयं गुण* इति-तेन कर्मादिभ्यो व्यवच्छिद्यते, रूप-स्पर्श-गन्धादयो द्रव्यं गुणत्वं स्वार्थः । *इदं कर्मे*ति-तेन गुणादिभ्यो व्यवच्छिद्यते, कर्मत्वं

प्रवृत्तिनिमित्तम् ।

यदर्थे सदसद्वेति-शब्दधर्मो लिङ्गमिति मतापेक्षया । *भेदप्रतिपत्तिहेतुरि*तिभेदो विशेषज्ञानोत्पत्तिरूपः, तया हि पदार्थानां भेदः प्रतीयते, भेदः परिगणनं संख्येति लक्षणत्वात् तस्याः । ननु नामार्थव्यतिरेकेणान्येषामेकत्वादीनां विशेषणभूतानामभावादेक इत्यादौ प्रथमाया अभावः प्राप्नोतीत्याह-*निमित्तमि*ति-निमित्तमेकत्वसंख्यालक्षणम्, तद्वतस्त्वेकत्व-सङ्ख्यावतो यदेकत्वं तत्र विभक्तिप्रवृत्तिः, यथा वृक्ष इत्यत्र वृक्षत्ववतो द्रव्यस्यैकत्वं प्रतिपाद्यते, तथाऽत्राप्येकेन सामान्यमेकत्वंसिना त्वेकत्वसङ्ख्यावत एकत्वं प्रतिपाद्यते, यथा-सामान्यं दण्डमानय दण्डिनो दण्डमानयेति । *त्यादिभिरि*तितिशब्देन तिवादय आख्यातप्रत्यया आदिशब्देन च कृत्-तद्धित-समासा उच्यन्ते । *व्यतिरेके*ति व्यतिरिच्यत इति व्यतिरेकस्तस्मिन् व्यतिरेकेनामार्थादतिरेके आधिक्ये द्वितीयाद्या विभक्तयो व्यतिरेकविभक्तयः, विशेषविभक्तय इत्यर्थः। *तत्पूर्वकसम्बन्धरूपा*[1] चेति-ते क्रियाकारके पूर्वे यस्य स चासौ सम्बन्धश्च स एव रूपं यस्याः शक्तेः सा तथा । *स्नानीयं चूर्णमित्या*दिषु सर्वेषु बाहुलकात् करणादिष्वनीयादयः । *उपचरितमपी*ति-अध्यारोपितमित्यर्थः, सहचरण-स्थान-तादर्थ्यवृत्त-मान-धरण-सामीप्य-योग-साधना-ऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मण-मञ्च-कट-राज-सक्तु-चन्दन-गङ्गा-शाटका-ऽन्न-पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तद्वदुपचारः । *छत्रिणो गच्छन्ति*—छत्रिसहचरिताः पुरुषा यान्तीत्यर्थः । *शक्तिप्रधानमपी*तियत इत्यादिभ्योऽपादानादिशक्तीनां प्रतीयमानत्वं न शक्तिमतोऽतोऽर्थमात्रं शक्तिप्रधानम् । *द्योत्यमपी*ति-प्राद्युपसर्गाणां क्रियार्थद्योतकत्वाद् अन्यथोपसर्गत्वाभावात् तदर्थमात्रं द्योत्यमेवेति । *स्वरूपमात्रमपी*ति-सोपसर्गाऽनुपसर्ग-धात्वर्थस्याध्यादिभिर्वैशिष्ट्याप्रतीतेः, आगच्छतीत्यादिक्रिया-पदार्थ एव तदर्थ इत्यर्थः ।

*नाम्न इति किमि*ति-ननु वर्णस्य निरर्थकत्वाद् धातु-वाक्यार्थयोश्चासत्त्वरूपत्वात् संख्यायाः सत्त्वधर्मरूपत्वेन प्रवृत्त्यभावात् सत्त्ववाचिनो नाम्न एव प्रथमा भविष्यति, किं नाम्न इत्यनेन ? उच्यते यथा धातोरसत्त्ववाचित्वेऽपि साधनाश्रयामेकत्वादिसङ्ख्यामाश्रित्यतिवादीनामेकवचनादीनि प्रवर्तन्ते तथा स्यादीनामपि प्रवर्त्तेरन्, एवं वाक्यादप्यवयवगतां वर्णाच्च निरर्थकादपि स्वरूपगतां सङ्ख्यामाश्रित्य प्रथमा स्यादित्याह-*निरर्थकाद् वर्णाद् धातु-वाक्याभ्यां* चेति-

---

1. अयमर्थः—राज्ञः पुरुष इत्यत्र योऽयं राज-पुरुषयोः सम्बन्धो नायं कारणान्तरनैरपेक्ष्येणाकस्मादुपजायते, अपि तु, अन्तर्भूतक्रियाकारकसम्बन्धनिबन्धनः, यतः पुरुषो योगक्षेमकामो राजानमुपसर्पति, राजापि तमभिलषितधनदानादिना बिभर्ति; क्रियान्तरं वा प्रकल्पनीयं, ततो राज्ञाऽसौ सम्बन्धीभूत इति राज्ञः पुरुष इति । उपगोरपत्यमित्यत्रापिजनिक्रियाजनितः सम्बन्धः—उपगुरपत्यं जनयति, तदपि ततो जायत इत्युपगोरपत्यमिति । पशोः पाद इत्यत्रापि-अवस्थितिक्रियालम्भितः सम्बन्धः, यतः पशु पादेऽवस्थितोऽतः पशोः पाद इति । एवं वृक्षस्य शाखेत्यादावप्यवयवक्रियाजनितत्वं सम्बन्धस्येति ॥

उपलक्षणत्वात् पदादपि । नन्वर्थमात्रे प्रथमेत्युक्तत्वान्मात्र ग्रहणस्य चाधिकार्थव्यवच्छेदकत्वाद् वीरपुरुष इत्यादौ सामानाधिकरण्येनार्थमात्राद् विशेषणविशेष्यभावस्याधिकस्य प्रतीतेः प्रथमा न प्राप्नोति, समासविधानमपि प्रथमोत्पत्तेर्लिङ्गं न भवति, वीरपुरुषमानयेति द्वितीयाद्यन्तानामपि समाससम्भवादिति प्रथमा न विधेया, नैष दोषः—आधिक्यस्य वाक्यार्थत्वाद् वीरनाम्नोऽनपेक्षितशब्दान्तरार्थसंसर्गोपविशेषणभावात् स्वार्थमात्रनिष्ठात् प्रथमा विधीयते, एवं पुरुषशब्दादपि ॥2. 2. 31.॥

आमन्त्र्ये ॥ 2. 2. 32. ॥

प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्य किमप्याख्यातुमभिमुखीकरणमामन्त्रणम्, तद्विषय आमन्त्र्यः; तस्मिन्नर्थे वर्तमानान्नाम्न एक-द्वि-बहौ यथासंख्यं प्रथमा विभक्तिर्भवति । हे देवदत्त !, हे देवदत्तौ !, हे देवदत्ताः !; हे पचन् !, हे पचमान ! आमन्त्र्य इति किम् ? राजा भव, अत्र राजा नाऽऽमन्त्र्यः, किन्तु स एव विधीयत इति पूर्वेणैव प्रथमा । षष्ठीप्राप्तौ वचनम् ॥32॥

*न्या०स०—आमन्त्र्ये । प्रसिद्धतत्सम्बन्धस्ये*ति तेन-पाण्डित्य-देवदत्तत्वादिना प्रवृत्तिनिमित्तेन सम्बन्धः, यद्वा तेन-आमन्त्र्यवाचिना देवदत्तादिशब्देन सम्बन्धो वाच्य-वाचकभावलक्षणः, प्रसिद्धस्तत्सम्बन्धो यस्य देवदत्तादेस्तस्य कर्मतापन्नस्य, येन शब्देन आत्मा निरवधानः सावधानः क्रियते तदामन्त्रणमिति स्पष्टार्थः । *तद्विषय आमन्त्र्य* इति-आमन्त्र्यपदं हि क्रियाया विशेषणं भवति; हे देवदत्त ! व्रजाम्यहमित्यत्राभिमुखी-कृतदेवदत्तविशिष्टा व्रज्या प्रतीयते, यदाह हरिः—

``आमन्त्रितपदं यच्च, तत् क्रियाया विशेषकम् ।
व्रजामि देवदत्तेति, निघातोऽत्र प्रतीयते'' ॥1॥

ततश्च देवदत्तादेः क्रियाविशेषणात् कर्माद्यतिरिक्तामन्त्रणसम्बन्धे शेषरूपे वर्तमानाद् गौणात् प्रथमापवादः षष्ठी प्राप्नोति तद्बाधनार्थमिदमुच्यते, सम्बन्धश्चामन्त्र्यामन्त्रणभावो विषयविषयिभावो वा ॥2. 2. 32.॥

गौणात् समया-निकषा-हा-धिगन्तराऽन्तरेणा-ऽति-येन-तेनैर्द्वितीया ॥ 2. 2. 33. ॥

आख्यातपदेनासमानाधिकरणं गौणम् गौणान्नाम्नः समयादिभिर्निपातैर्युक्तादेक-द्वि-बहौ यथासङ्ख्यम् अमौशस्रूपा द्वितीया विभक्तिर्भवति; षष्ठ्यपवादः । समया पर्वतं नदी,

निकषा पर्वतं वनम्, हा देवदत्तं वर्धते व्याधिः, धिग् जाल्मम्, अन्तरा निषधं नीलं च विदेहाः, अन्तरेण गन्धमादनं माल्यवन्तं चोत्तराः कुरवः, अन्तरेण धर्मं सुखं न भवति, अति वृद्धं कुरून् महद् बलम्, कुर्वतिक्रमेण वृद्धमित्यर्थः; येन पश्चिमां गतः, तेन पश्चिमां नीतः । अन्तराऽन्तरेणशब्दौ साहचर्यान्निपातौ गृह्येते, तथाऽन्तराशब्दो मध्यमाधेय-प्रधानमाचष्टे, अन्तरेणशब्दस्तच्च विनार्थं च; तेनेह न भवति-राजधान्या अन्तरायां पुरि वसति, किं ते केशवाऽर्जुनयोरन्तरेण गतेनेति ।

'हा तात !, धिग् जाल्म !, हा सुभ्रु ! इत्यादावामन्त्र्यतया विवक्षा, न हादियुक्तत्वेनेति न भवति । हा कृतं चैत्रस्य, धिक् कृतं मैत्रस्येत्यत्र च हा-धिक्शब्दाभ्यां कृतशब्दे न्यग्भूतत्वान्न चैत्रादेः साक्षाद् योगः, किं तर्हि ? तद्विशिष्टेन कृतशब्देन । बहुवंचनादन्येनापि युक्ताद् भवति–न देवदत्तं प्रति भाति किञ्चित्, बुभुक्षितं न प्रति भाति किञ्चित्, ``वृणीष्व भद्रे ! प्रति भाति यस्त्वाम्,'' ``योऽक्षपाद-मृषिं न्यायः, प्रत्यभाद् वदतां वरम्'', धातुसम्बद्धोऽत्र प्रतिस्तेन ``भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः'' (2. 2. 37.) इति न सिध्यति । गौणादिति किम् ? अन्तरा गार्हपत्यमाहवनीयं च वेदिः, अत्र प्रधानाद् वेदिशब्दान्न भवति ।।33।।

न्या०स०–गौणात् स० । *गौणादिति*–``तत आगते'' (6. 3. 149.) प्रज्ञाद्यणि वा । अत्र सूत्रे येन-तेनौ मुक्त्वाऽन्ये वाचकाः। *समया पर्वतं नदी* निकटे निकटा वा । निकषति दूरभावं ``समिण-निकषिभ्यामाः'' (उणा० 598) जहाति सौख्यं विच्, धयति निन्दाभावं ``द्रागादयः'' (उणा० 870) इति निकषा-हा-धिक्शब्दानां व्युत्पत्तिः । *हा देवदत्तमि*ति-हा-कष्टं देवदत्तस्य, यतो वर्द्धते व्याधिः । *अन्तरा निषधमि*ति-अन्तं राति ``डित्'' (उणा० 605) इत्याः । *अन्तरेण गन्धमादनमि*ति-अन्तरे-मध्ये नयति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे ``तत्पुरुषे कृति'' (3. 2. 20.) इत्युलुपि ``पूर्वपदस्थ०'' (3. 3. 64.) इति णत्वे च; यद्वा-अन्तरेति ``इणुर्विशावेणि०'' (उणा० 182) इति णप्रत्ययः । *अति वृद्धमि*ति-कुरूणामतिक्रमेण पाण्डवानां महद्-बृहद् बलं वर्त्तत इत्यर्थः ।

*येन पश्चिमामि*ति-अत्र येन-तेनौ लक्ष्यलक्षणभावं द्योतयतः, पश्चिमां प्रति लक्ष्यीकृत्य गत इत्यर्थः, अयं गतः, कां प्रति ? पश्चिमां, पश्चिमया लक्षणेन देवदत्तस्याप्रसिद्धं गमनं लक्ष्यते । *अन्तराऽन्तरेणे*ति-अथाऽऽन्तराशब्दः स्त्रियामाबन्तो- ऽप्यस्ति, अव्ययं च; *अन्तरेणे*त्यपि अन्तराशब्दात् तृतीयायां भवति, अव्ययं च; तत्र विशेषानुपादानात् सामान्येनोभयस्यापि ग्रहणं कुतो न भवतीत्याह–*साहचर्यादि*ति समया-दिभिर्निपातैः सहैकवाक्योपात्तत्वादेतावपि निपातावित्यर्थः । *अन्येनापी*ति-द्विधा व्याख्येयमसमयादिव्यतिरिक्तेन यावच्छब्दादिना नाम्ना

नामव्यतिरिक्ते न धात्वादिनापि योगे गौणान्नाम्नो द्वितीया भवतीति । अक्षं तृतीयनेत्रं पादे यस्य स तथा ॥2. 2. 33.॥

द्वित्वेऽधोऽध्युपरिभिः ॥ 2. 2. 34. ॥

अधस्-अधि-उपरिभिर्युक्ताद् गौणान्नाम्न एषामेव द्वित्वे सति द्वितीया भवति, षष्ठ्यपवादः; बहुवचनमेक-द्वि-बहाविति यथासङ्ख्यनिवृत्त्यर्थम् । अधोऽधो ग्रामं ग्रामाः, अध्यधि ग्रामं क्षेत्राणि; उपर्युपरि ग्रामं ग्रामाः । द्वित्व इति किम् ? अधः प्रासादस्य, हर्म्यस्योपरि प्रासादः; असामीप्याच्च द्वित्वं न भवति ॥34॥

न्या०स०—द्वित्वेऽधो०। "सामीप्येऽधोऽध्युपरि" (7. 4. 79.) इति द्वित्वम् *असामीप्याच्चे*ति अत्रौत्तराधर्यमात्रं विवक्षितं न सामीप्यमिति द्वित्वाभावः ॥ 2. 2. 34. ॥

सर्वोभया-ऽभि-परिणा तसा ॥ 2. 2. 35. ॥

सर्वादिभिस्तसन्तैर्युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति, षष्ठ्यपवादः । सर्वतो ग्रामं वनानि, उभयतो ग्रामं वनानि, अभितो ग्रामं क्षेत्राणि, परितो ग्रामं क्षेत्राणि ॥35॥

न्या०स०—सर्वोभ० । सर्वादिविशेषणत्वात् "विशेषणमन्तः" (7. 4. 113.) इति न्यायात् *सर्वादिभिस्तसन्तै*रिति ॥2. 2. 35.॥

लक्षण-वीप्स्येत्थंभूतेष्वभिना ॥ 2. 2. 36. ॥

लक्ष्यते दर्श्यते येन तल्लक्षणं-चिह्नम्, अवयवशः समुदायस्य क्रियादिना साकल्येन प्राप्तीच्छा-वीप्सा, तत्कर्म वीप्स्यम्; केनचिद् विवक्षितेन विशेषेण भाव इत्थंभावः, तद्विषय इत्थंभूतः; एष्वर्थेषु वर्तमानादभिना युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्, अत्र वृक्षो लक्षणम्, विद्योतमाना विद्युल्लक्ष्यम्, अनयोश्च लक्ष्यलक्षणभावः सम्बन्धोऽभिना द्योत्यते; वृक्षं वृक्षमभि सेकः, एकैकस्य वृक्षस्य सेक इत्यर्थः; साधुर्देवदत्तो मातरमभि, मातृविषये साधुत्वप्रकारं प्राप्त इत्यर्थः । लक्षणादिष्विति किम् ? यदत्र ममाऽभि स्यात् तद् दीयताम्, मम भागः स्यादित्यर्थः । अत्रापि बहुवचनं यथासङ्ख्याऽभावार्थम्, एवमुत्तरत्र ॥36॥

न्या०स०—लक्षण० । *समुदायस्ये*ति-वनादेरित्यर्थः । *साकल्येने*ति-सहार्थे तृतीया ।

इत्थंभूत इति-अनेन साधुत्वादिना प्रकारेण (प्रकारः-सामान्यस्य भेदको धर्मो विशेष इत्यर्थः) इत्थं भवनं ``क्लीबे'' (5. 3. 123.) क्तः, इत्थंभूतमत्रास्ति ``अभ्रादिभ्यः'' (7. 2. 46.) यद्वा-इत्थं देवदत्तो भवत्यस्मिन् मात्रादौ ``अद्यर्थात्०'' (5. 1. 12.) इति क्ते-इत्थंभूतो मात्रादिः, ``अव्ययं प्र०'' (3. 1. 48.) इति सः ।

वृक्षं वृक्षमभिसेक इति-अत्र वृक्षस्य वृक्षस्य सेक इति सेकेन वृक्षाणां वीप्स्यमानानां सेकं प्रति यस्तेषां साध्यसाधनभावलक्षणः सम्बन्धः सोऽभिना द्योत्यते; वीप्सा तु द्विर्वचन-द्योत्यैवेति । अन्ये त्वन्यथा वर्णयन्ति-वीप्सा-विप्स्यमानयोः सम्बन्धो द्विर्वचनेनैव द्योत्यते, न त्वभिना, इति सम्बन्धमद्योतयतापि तेन योगे वचनाद् द्वितीयेति ।।2. 2. 36. ।।

भागिनि च प्रति पर्यनुभिः ।। 2. 2. 37. ।।

स्वीक्रियमाणोंऽशो भागः, तत्स्वामी भागी, तत्र लक्षणादिषु चार्थेषु वर्तमानात् प्रति-पर्यनुभिर्युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । भागिनि-यदत्र मां प्रति मां परि मामनु स्यात्, योऽत्र मम भाग आभवति स दीयतामित्यर्थः; लक्षणे-वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्; वीप्स्ये-वृक्षं वृक्षं प्रति वृक्षं वृक्षं परि वृक्षं वृक्षमनु सेचनम्; इत्थंभूते—साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति मातरं परि मातरमनु । एतेष्विति किम् ? अनु वदनस्याशनिर्गता, समीप इत्यर्थः ।।37।।

न्या०स०—भागिनि च० । *अभवतीति*-आङ्पूर्वको भूधातुर्भागागमे वर्त्तत इति हि धातुपारायणविदः । *स्वीक्रियमाण* इति-यस्त्वस्वीक्रियमाणेऽप्यंशे भागशब्दः प्रयुज्यते-``नगरस्य भागः, प्रियङ्गोर्भागः' इति स स्वीक्रियमाणभागसादृश्यादिति ।। 2. 2. 37. ।।

हेतु-सहार्थेऽनुना ।। 2. 2. 38. ।।

हेतुर्जनकः, सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तद्विषयोऽपि सहार्थ उपचारात्; तयोर्वर्तमानादनुना युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । जिनजन्मोत्सवमन्वागच्छन् सुराः, देवेन्द्रोपपाताऽध्ययनमन्वागच्छद् देवेन्द्रः, तेन हेतुनेत्यर्थः; पर्वतमन्ववसिता सेना, नदीमन्ववसिता पुरी; पर्वतनदीभ्यां सह सम्बद्धेत्यर्थः अन्ये तु तृतीयार्थमात्र इच्छन्ति-पर्वतमन्ववसिता सेना, पर्वतेन कर्त्रा करणेन वा कृतान्तेत्यर्थः । तृतीयाऽपवादो योगः ।।38।।

न्या०स०—हेतुस० ।हेतुर्द्विविधः—जनको ज्ञापकश्च, तत्र ज्ञापकस्य लक्षणत्वात् ``भागिनि च०'' (2. 2. 37.) इति सूत्रेण द्वितीया सिद्धेति जनक एवेह गृह्यत इत्याह—*हेतुर्जनक* इति ।

तुल्ययोग इति–ननु तुल्ययोगाद्यर्थे सहादय एव शब्दा वर्त्तन्ते न पर्वतादिशब्दा इति कथं ततो द्वितीयेत्याह–*तद्विषयोऽपीति* । देवेन्द्रमुपपातयति कर्मणोऽणि–*देवेन्द्रोपपातम्* । *अवसितेति*-अवसिनोति स्म, कर्मकर्त्तरि वाऽवसीयते स्म ``गत्यर्थ०'' (5. 1. 11.) इति क्तः । तुल्ययोगोऽभिन्नैः सह विद्यमानता तु भिन्नैरित्यनयोर्भेदः, विद्यमानतायाम्-अनु कर्माणि संसारीत्युदाहरणं ज्ञातव्यम् ।।38।।

उत्कृष्टेऽनूपेन ।। 2. 2. 39. ।।

उत्कृष्टेऽर्थे वर्तमानादनूपाभ्यां युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । अनु सिद्धसेनं कवयः, अनु मल्लवादिनं तार्किकाः, उपोमास्वातिं सङ्ग्रहीतारः, उप जिनभद्रक्षमाश्रमणं व्याख्यातारः, तस्मादन्ये हीना इत्यर्थः ।।39।।

न्या०स०–उत्कृ० । स्वयमेव उत्कृष्यते स्म कर्मकर्त्तरि क्तः, उत्कृष्टशब्दो हीनापेक्षः, तेन हीनोत्कृष्टसम्बन्धेऽनुना द्योत्ये द्वितीयाऽनेन विधीयते । उमां-कीर्तिं सुष्ठु अततीति ``पादाच्चात्यजिभ्याम्'' (उणा० 620) इति इः णित्; यद्वा-उमा-कीर्तिः स्वातिरिवोज्ज्वला यस्य; यद्वा-उमा-माता, स्वातिः–पिता, तयोर्जातत्वात् पुत्रोऽप्युमास्वातिः ।।2. 2. 19.।।

कर्मणि ।।2. 22.40. ।।

गौणान्नाम्नः कर्मणि कारके द्वितीया भवति । कटं करोति, ओदनं पचति, आदित्यं पश्यति, अहिं लङ्घयति, ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलान्युपसर्पति, अजां नयति ग्रामम्, गां दोग्धि पयः । अथेह कस्मान्न भवति ? –क्रियते कटः, कृतः कटः, शतेन क्रीतः–शत्यः पटः; आरूढो वानरो यं स आरूढवानरो वृक्ष इति; त्यादि-कृत्-तद्धित-समासैरभिहितत्वाल्लोक-शास्त्रयोश्चाभिहितेऽर्थे शब्दप्रयोगायोगात् ।

यद्ये वं कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयमिति भीष्मादि-विशेषणविशिष्टस्य कटस्य करोतिक्रियया व्याप्यत्वात् कर्मत्वम्, तच्च कट-शब्दादेवोत्पन्नया द्वितीययाऽभिहितमिति भीष्मादिभ्यो द्वितीया न प्राप्नोति, यथा-कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इति करोतेः क्त-प्रत्ययेनेति, नैवम्-भीष्मत्वादियुक्तस्य कटस्य सम्बन्धिकर्मत्वं प्रतिपाद्यम्, न च जातिशब्दाः सम्भविनोऽपि गुणान् प्रतिपादयितुं समर्था इति तत्प्रतिपादनाय यथा भीष्मादिशब्दप्रयोगो भवति तथा द्वितीयाऽपि तेभ्यो भविष्यति, नहि सामान्यवाचिनः कटशब्दादुत्पद्यमाना द्वितीया भीष्मादीनामनियताधाराणां गुणानां कर्मत्वाभिधातुं शक्नोति; यदि वा कटोऽपि कर्म भीष्मादयोऽपि,

यथैव ह्ययं कटं करोत्येवं तद्गतान् भीष्मादीनपि, तत्र यद् यत् करोतिना व्याप्तुमिष्टं तत् सर्वं द्रव्यं गुणश्च कर्मेति सर्वेषां पृथक् कर्मत्वे प्रत्येकं द्वितीया, पश्चात् त्वेकवाक्यतया विशेषणविशेष्यभाव इति; यदिवा द्रव्यस्य क्रियासु साक्षादुपयोगादस्तु कटस्यैव कर्मत्वम्, भीष्मादीनां तु ❈ न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या ❈ इति नियमाद् अविभक्तिकानामप्रयोगार्हत्वादेकविभक्तिमन्तरेण च सामानाधिकरण्य-विशेषणत्वा-योगाद्, यथा-ईश्वरसुहृदां स्वयं निर्धनत्वेऽपि तदेकयोगक्षेमत्वात् तद्धनेनैव फलभाक्त्वं भवत्येवमकर्मणामपि कटकर्मत्वेनैव द्वितीया भविष्यति; कृतः कटो भीष्म उदारो दर्शनीय इत्यादौ तु करोतेरुत्पद्यमानः क्तो यस्य यस्य तया क्रियया सम्बन्धस्तस्य तस्य साकल्येन कर्मत्वमभिदधातीति क्वचिदपि द्वितीया न भवति; कथं तर्हि 'कृतं पश्य, आहृतमाहर, कर्ता क्रियते, दात्रेण लुनाति, दानीयाय ददाति, भीमाद् बिभेति, प्रासादे प्रसीदति, शयने शेते,' इत्यादिषु क्तादिभिरभिहितेषु कर्मादिषु द्वितीयादयो भवन्ति ?, उच्यते-कर्मादिसामान्यं कृद्भिरभिहितं, तत्राप्यभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतो नामार्थः सम्पन्न इति कर्मादिशक्तियुक्त द्रव्यमेव तदन्तैः शब्दैरभिधीयते, यथेदं कर्म, इदं करणमिति, तत्र याऽसौ स्वरूप-कालभिन्नायां क्रियायां सव्यापारतया कर्मादिरूपता तदभिधानाय यथायथं द्वितीयादयो भवन्ति, यत्र पुनरेकद्रव्याधारा प्रधानाऽप्रधानक्रियाविषयाऽनेका शक्तिर्भवति तत्र प्रधानक्रियाविषयायां शक्तौ प्रत्ययैरभिहितायामप्रधानक्रियाविषया शक्तिः प्रधानशक्त्यनुरोधादभिहितवत् प्रकाशमाना विभक्त्युत्पत्तौ निमित्तं न भवति, यथौदनः पक्त्वा भुज्यते देवदत्तेनेति भावाऽभिधायिना क्त्वाप्रत्ययेनौदनाधिकरणाप्रधानपचिक्रियाविषया कर्मशक्तिरनभिहि-ताऽपि प्रधानभुजिक्रियाविषयाऽऽत्मनेपदेनाभिहितेति तद्वत् प्रकाशमाना द्वितीयोत्पत्तौ निमित्तं न भवति, यथा च ग्रामो गन्तुमिष्यते देवदत्तेनेति ग्रामस्य प्रधानेषिक्रियाविषयां कर्मशक्तिमात्मनेपदेनाभिदधताऽप्रधानमभिक्रियाविषयाऽपि कर्मशक्तिरुपभुक्तेति तदभिधानाय द्वितीयाचतुर्थ्यौ न भवत इति ।

इह च गौणत्वं क्रियाऽपेक्षं, तेनाऽजां नयति ग्राममित्यादौ ग्रामाद्यपेक्षयाऽजादेः प्रधानत्वेऽपि गौणत्वं न विहन्यत इति । इह तु-कृतपूर्वी कटं, भुक्तपूर्वी ओदनम्, व्याकरणं सूत्रयतीत्यादौ यः कृतादिभिः कटादेरभि- सम्बन्धः स प्रत्ययेऽर्थान्तराऽभिधायिन्युत्पन्ने कृतादीनामुपसर्जनत्वा-न्निवर्तते, क्रियया तु सह सम्बन्धोऽस्तीति व्याप्यत्वाद् द्वितीया भवति ॥40॥

न्या०स०–कर्मणि । शब्दप्रयोगायोगादिति-अर्थप्रत्यायनाय हि लोके शब्दः प्रयुज्यते, स चार्थो यदा शब्दान्तरेण प्रतिपादितः स्यात् तदा प्रयोजनाभावाच्छब्दान्तर-प्रयोगो न कर्तव्यः । *अनियताधाराणामिति*-नहि भीष्मत्वादीनां कट एवाधारः किं त्वन्येऽपि । *न केवला प्रकृतिरिति*-

नापदं प्रयुञ्जीतेति न्यायात् । *तदेकयोग-क्षेमत्वादिति*—अलब्धलाभो योगः, लब्धार्थपरिरक्षणं क्षेमः, तस्य देवदत्तादेर्याविको योग-क्षेमौ तयोर्भावः ।

*कर्मादिसामान्यमि*ति-करणादिक्रियामात्र योग्यमित्यर्थः । *तत्रापी*ति-सामान्यकर्माभिधानेऽपि । *अन्तर्भूत* इति-तत्राभिहितोऽपि कश्चिन्नान्तर्भवति, यथा-राज्ञः पुरुष इत्यत्र वाक्ये षष्ठ्या सम्बन्धोऽभिधीयते, न तु क्वचिदन्तर्भावमुपयातीति द्वयोरुपादानम् । *तत्रे*ति-कर्मादिशक्तियुक्त द्रव्य इत्यर्थः । *स्वरूपकालभिन्नाया*मितिकृताहृतेत्यादिक्रियापेक्षया स्वरूपेण कालेन च पश्चाहरेत्यादिका क्रिया भिन्ना । *सव्यापारतये*तिकारकत्वेनेत्यर्थः । *यथायथमि*ति-या यस्य स्वा इत्यर्थः । *प्रधानाप्रधानक्रिये*तिएकस्मिन् वाक्ये युगपदनेकप्रधानक्रियाणामसम्भवात् प्रधानाप्रधानक्रियाविषयैवानेका शक्तिरिति तत्क्रियापेक्षया शक्तेरपि गुणप्रधानभावो भवतीत्यत आह-*प्रधानशक्त्यनुरो*धादित्यादि । अत्रैवोदाहरणान्तरं दर्शयति-*यथा च ग्रामो गन्तुमिष्यत* इति । ननु गौणान्नाम्नः कर्मणि द्वितीयेत्युक्तम्, अजां नयति ग्राममित्यादौ तु ग्रामाद्यपेक्षया अजादेः प्रधानत्वान्न ततो द्वितीया प्राप्नोतीत्याह*इह चे*ति । *क्रियापेक्षमि*तिआख्यातपदेनासमानाधिकरणं गौणमिति गौणत्वस्य द्वयोरपि कर्मणोर्भावात् क्रियापेक्षं गौणत्वमाश्रितम् । *न विहन्यत* इति-तेन गौणत्वाजाशब्दादपि द्वितीया सिद्धा ।।2. 2. 40. ।।

क्रियाविशेषणात् ।। 2. 2. 41. ।।

क्रियाया यद् विशेषणं तद्वाचिनो गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । मृदु पचति, स्तोकं पचति, मन्दं गच्छति, सुखं शेते, दुःखं जीवति, सयुक्तिकं भाषते, अथो पचति शोभनं ते भार्या, अत्र ``सपूर्वात् प्रथमान्ताद्वा'' (2. 1. 32.) इति विकल्पो न भवति । द्वितीयार्थं च वचनं न कर्मसंज्ञार्थं, तेन कृद्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति; ओदनस्य शोभनं पक्ता, सुखं स्थाता, कष्टं स्थाता, चिरमासिता, तथा मन्दं गन्ता ग्रामायेत्यादौ चतुर्थी न भवति ।।41।।

न्या०स०—क्रियावि० ।प्रत्यासत्तेः क्रियाविशेषणं यत् समानाधिकरणं तस्मादेव द्वितीया । नन्विदं सूत्रं प्रथमाधिकारे क्रियतां, प्रथमयाऽपि सर्वाण्यपि रूपाणि सेत्स्यन्ति, उच्यते-पुण्यवांस्त्वमथो पचति शोभनं ते भार्येत्यादौ विकल्पः प्राप्नोति । ननु रूपाद्युपाधिवत् क्रिया द्रव्यस्यैवोपाधिर्न चोपाधेरुपाध्यन्तरसम्भवः, निर्गुणा गुणाः क्रिया चेति वचनात्, तत् कथं क्रियाया विशेषणसम्भवः ? सत्यमेतत्-किन्तु सजातीयस्य द्रव्योपाधेरपेक्षयोत्कर्षो दृश्यते, यथा-शुक्लः, शुक्लतरः, शुक्लतम इति, रूप-रसादीनां कला इति प्रविभागप्रचयापचयाभ्यामुत्कर्षापकर्षवृत्तित्वं भवति, तत् तूपाध्यन्तरयोगात्, तदाहुस्तद्विदः—

``भवे द्विगुणमाधुर्यमनन्तगुणकालकाम् ।
द्रव्यं चतुर्गुणोद्भूतगन्धमाम्रफलादिकम्'' ॥1॥

यथा च रूपादीनां तथा क्रियाणामपि परस्परापेक्षया विशेषसम्भवाच्छोभनं पचतीत्येवं विशेषणयोग: स्यात्, कथमन्यथा पापच्यते पचतितरामित्यादौ तासामेकरूपत्वाद् यङादिप्रत्यय-विधि: स्यात् । ननु चासत्त्वभूता क्रिया, तदुपाधिस्तु सुतरामसत्त्वभूत:, तत् कथं सत्त्वाभिधायिना नाम्ना प्रतिपाद्यत इति, उच्यते-धातुप्रकृतिवाच्याऽसत्त्वभूतैव क्रिया यथा क्रियाशब्देन नामरूपेण सत्त्वरूपापन्ना प्रतिपाद्यते तथोपाधिरपि सत्त्वरूपापन्न: शोभनादिशब्देनेत्यदोष:[1] । *मन्दं गन्ते*ति मन्दशब्दस्य हि कर्मत्वे–

``गतेर्नवानाप्ते'' (2. 2. 63.) इत्यनेन ततश्चतुर्थी स्यात्; यदा गन्तेत्यत्र तृच् तदा मतान्तरेण ग्रामशब्दाच्चतुर्थी, स्वमते तु ``कर्मणि कृत:'' (2. 2. 83.) इत्यनेन परत्वात् षष्ठ्येव भवति, यदा तु तृन् तदा ``तृन्नुदन्त०'' (2. 2. 90.) इति षष्ठीनिषेधात् स्वमतेऽपि चतुर्थी ॥2. 2. 41. ॥

काला-ऽध्वनोर्व्याप्तौ ॥ 2. 2. 42. ॥

स्वेन संबन्धिना द्रव्य-गुण-क्रियारूपेण कार्त्स्न्येन संबन्धो व्याप्ति:, अत्यन्तसंयोग इति यावत्, तस्यां द्योत्यायां कालेऽध्वनि च वर्तमानाद् गौणान्नाम्नो द्वितीया भवति । मासं गुडधाना:, मासं कल्याणी, मासमधीते; क्रोशं पर्वत:, क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीते । काला-ऽध्वनोरिति किम् ?, स्थाल्यां पचति । व्याप्ताविति किम् ? मासस्य मासे वा द्व्यहं गुडधाना:, मासस्य मासे वा एकरात्रं कल्याणी, मासस्य मासे वा द्विरधीते; क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे पर्वत:, क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशे कुटिला नदी, क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेशेऽधीते । षष्ठ्या सप्तम्या वा अयमपवाद:, तेन मासमधीते, क्रोशमधीते इत्यकर्मकत्वे इदमुदाहरणम्, कर्मत्वे ``कर्मणि'' (2. 2. 40.) इत्येव द्वितीया सिद्धा । भावादपीच्छन्त्यन्ये–गोदोहं वक्र:, गोदोहं बुद्बुदा: ॥42॥

---

1. कथं पुनरसत्त्वभूतोऽर्थ: सत्त्वरूपेण प्रकाश्यत इति चेत् ? स्ववाचकप्रकाश-बलादिति ब्रू म:, स्वशक्तिरियं-वाचकानां यदसत्त्वं सत्त्वरूपतया प्रकाशयन्ति; पदार्थस्य वा स्वरूपमिदमीदृशं यद् विशिष्टेन वाचकेनाभि-धीयमानोऽसत्त्वरूपतया प्रकाशते, तदुक्तम्–
``व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी । सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपनिदर्शिनी ॥1॥
स्फटिकादि यथा द्रव्यं, भिन्नरूपैरुपाश्रयै: । स्वशक्तियोगात् सम्बद्धं, ताद्रूप्येणैव गम्यते ॥2॥ इति ॥41॥

न्या०स०–काला-ऽध्वनो० । *स्वेन संबन्धिनेत्यत्र* ``द्विहेतो०'' (2. 2. 87.) इत्यनेन विकल्पेन षष्ठीविधानात् कर्तरि तृतीया । *कार्त्स्न्येनेति* सहार्थे तृतीया । *संबन्ध* इति-अत्र काला-ऽध्वनोः कर्मतापन्नयोरिति गम्यम् । *मासस्य मासे या द्व्यहं गुडधाना* इति-अत्र द्व्यहशब्दादनेन द्वितीया, मासशब्दात् तु व्याप्तेरभावान्न, एवमुत्तरेष्वपि । *क्रोशस्य क्रोशे वा एकदेश* इति-अत्रैकदेशशब्दाद् व्याप्तेः संभवेऽपि अध्वनोऽभावादनेन द्वितीया न । *अकर्मकत्व इदमिति*-अयमर्थः यदा शास्त्रादिकर्मणा इङ्धातुः सकर्मको विवक्ष्यते तदा ``कालाऽध्व-भाव-देशं वा०'' (2. 2. 23.) इत्यस्य प्राप्तिरेव नास्ति, तत्राऽकर्मणामिति भणनात्, यदा त्वविवक्षितकर्मत्वेनाकर्मको धातुर्विवक्ष्यते तदा ``काला-ध्व-भाव-देशं वा०'' (2. 2. 23.) इत्यस्य प्राप्तावप्यकर्मसंज्ञापक्ष आश्रीयते, कर्मत्वपक्षे हि ``कर्मणि'' (2. 2. 40.) इत्येव सिद्धेः ।।2. 2. 42.।।

सिद्धौ तृतीया ।। 2. 2. 43. ।।

सिद्धौ-क्रियाफलनिष्पत्तौ, द्योत्यायां कालाऽध्ववाचिनो गौणान्नाम्नः 'टा-भ्याम्-भिस्' लक्षणा यथासंख्यमेक-द्वि-बहौ तृतीया विभक्तिर्भवति, व्याप्तौ गम्यायाम् । मासेन मासाभ्यां मासैर्वाऽऽवश्यकमधीतम्, क्रोशेन क्रोशाभ्यां, क्रोशैर्वा प्राभृतमधीतम् । सिद्धाविति किम् ? मासमधीत आचारो नानेन गृहीतः, अत्र व्याप्तिमात्रं गम्यते न सिद्धिः । भावादपीच्छन्त्यन्ये–गोदोहेन कृतः कटः । द्वितीयाऽपवादो योगः ।।43।।

न्या०स०–सिद्धौ तृ० । *सिद्धाविति*–यद्यपि त्रिप्रकारा व्याप्तिः प्रस्तुता तथापि सामर्थ्यात् क्रियाव्याप्तेरेव सिद्धाविति विशेषणम्, यस्य ह्यारम्भस्तस्य सिद्धिः, द्रव्य-गुणयोश्च सिद्धरूपयोः शब्देनाप्रतिपादनान्न तावारभ्येते, नापि निष्पद्येते इति न ताभ्यां व्याप्तेः सिद्ध्या संबन्धः । ननु यदि क्रिया सिद्धिं व्यभिचरेत् तदा युज्येत एतद्विशेषणं क्रियाव्याप्तेः, न च काचित् क्रियाऽपरिसमाप्ताऽस्ति, सत्यमेतत्–किन्तु काचित् फलं संपाद्य समाप्यते, काचिदन्यथा, तत्र विशेषणोपादानसामर्थ्यादधिगतफला या समाप्यते तद्व्याप्तौ द्वितीयाबाधिका तृतीयेत्याह-*क्रियाफलेत्यादि* ।

मासेनावश्यकमिति-अत्र आवश्यकं नाम–अध्ययनविशेषः, *अधीतमिति* सिद्धं गृहीतं शिक्षितमिति यदर्थमध्ययनं तत्फलनिष्पत्तिर्गम्यते । *द्वितीयापवाद* इति-कालाऽध्वनोर्व्याप्ते र्विद्यमानत्वात् पूर्वेण द्वितीयायां प्राप्तायां तद्बाधनार्थो योगः, तेन यदुच्यते कैश्चिद्-'मासेनाऽनुवाकोऽधीतः, क्रोशेनानुवाकोऽधीत इति करण एव तृतीया इतीदं नारम्भणीयम्' इति तदसम्यगिति ।। 2. 2. 43. ।।

हेतु-कर्तृ-करणेत्थम्भूतलक्षणे ।। 2. 2. 44. ।।

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, इमं कञ्चित् प्रकारं भूतः—आपन्नः— इत्थम्भूतः, स लक्ष्यते येन स इत्थम्भूतलक्षणः; हेत्वादिष्वर्थेषु वर्तमानाद् गौणान्नाम्नस्तृतीया भवति। हेतौ धनेन कुलम्, अन्नेन वसति, विद्यया यशः, कन्यया शोकः, तीक्ष्णेन परशुना छिनत्ति; कर्तरि—चैत्रेण कृतम्, मैत्रेण भुज्यते; करणे-दात्रेण लुनाति, मनसा मेरुं गच्छति, समेन धावति-समेन पथा ग्रामं धावतीत्यर्थः, एवं विषमेण धावति, आकाशेन याति; आधार-विवक्षायां तु सप्तम्यपि—समे धावति, विषमे धावति, आकाशे याति; इत्थम्भूतलक्षणे-अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत्, चूलया परिव्राजक-मद्राक्षीत्; छात्रत्वादिकं प्रकारमापन्नस्य मनुष्यस्य कमण्डल्वादि लक्षणम् ।

इत्थम्भूतग्रहणं किम् ? वृक्षं प्रति विद्योतनम्। अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षी-दित्यत्र तु लक्ष्यप्रधानो निर्देशो न लक्षणप्रधान इति न भवति। ``सहार्थे'' (2. 2. 45.) इत्येव तृतीया सिध्यति, लक्ष्यलक्षणभावे तु षष्ठी मा भूदितीत्थंभूतलक्षण-ग्रहणम्। तथा `धान्येनार्थः, धान्येनाऽर्थी, मासेन पूर्वः, मासेनाऽवरः, असिना कलहः, वाचा निपुणः, गुडेन मिश्रः, आचारेण श्लक्ष्णः, माषेणोनः, माषेण न्यूनः, मासेन विकलः, पुंसाऽनुजः, शङ्कुलया खण्डः; गिरिणा काणः' इत्यादौ हेतौ कृत-भवत्यादिगम्यमानक्रियाऽपेक्षया कर्तरि करणे वा तृतीयेति ।।44।।

न्या०स०—हेतु-क. । फलसाधनयोग्य[1] इति फलं-कार्यं, तस्य साधनं-निष्पादनं करणमिति यावत्, तत्र योग्यः—सामान्यतो दृष्टसामर्थ्यः, योग्यग्रहणमन्तरेण फलसाधन इत्युच्यमाने यः फलं साधयति क्रियाविष्टस्तत्र प्रतिपत्तिः स्यात्, योग्यग्रहणेन तु योग्यतामात्रप्रतिपत्ता-वकुर्वन्नपि तत्फलं हेतुरिति, योग्योऽत्र निर्व्यापारो गृह्यते, सव्यापारत्वे तु कर्तृत्वमेव, धनादीनि कुलादिकमकुर्वन्त्यपि योग्यतामात्रेण तृतीयामुत्पादयन्ति, अन्नेन वसतीत्यादावपि क्रियाया-मन्नादेर्योग्यता मात्रविवक्षैवेति हेतावेव तृतीया । *इममि*ति-प्रत्यक्षम्, *कञ्चिदि*ति—विवक्षितम्, *प्रकारमि*ति थम्प्रत्ययार्थः, *आपन्न* इति भूतार्थः, भूङः प्राप्त्यर्थस्य प्रयोगात् । *स लक्ष्यते येने*ति-लक्षयतेः करणेऽनट् इत्थम्भूतस्य लक्षणमिति कर्मषष्ठ्या समासः, वृत्तौ *स लक्ष्यते येने*ति त्वर्थकथनमात्रम् ।

1. कर्तृ प्रयोजकस्यापि शास्त्रकृतां हेतुत्वेन व्यवहारादुभयगतत्वेऽपि लौकिक एव हेतुरिह गृह्यते, कर्तुः प्रयोजके हि कर्तृत्वात् कर्तृद्वारेणैव तृतीयासिद्धेरित्याह—*फलसाधनयोग्य* इति ।

इत्थम्भूतग्रहणं किमिति–ननु इत्थम्भूतग्रहणं किमर्थम् ? यतो 'लक्षणे' इत्युक्तेऽपि '*अपि भवान् कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीद्*' इत्याद्युदाहरणानि भविष्यन्ति, अथेत्थं भणिष्यन्ति भवन्तः– वृक्षं प्रति विद्योतनमित्यत्रापि तृतीया स्यात्, तन्न-यतो ``भागिनि०'' (2. 2. 37.) इति सूत्रेण प्रतिना योगे द्वितीया भविष्यति, एवं सति प्रतेरयोगेऽपि द्योतकत्वाद् वृक्षं विद्योतनं स्यात्, न तु वृक्षेणेति, सत्यम्-इत्थंभूतग्रहणमेवं ज्ञापयति-यत्र साक्षात् प्रतिना योगो भवति तत्र ``भागिनि च प्रतिपर्यनुभिः'' (2. 2. 37.) इति सूत्रेण द्वितीया भवति, अत्र तु वृक्षस्य विद्योतनमित्येव भवति ।

अपि भवान् कमण्डलुपाणिमिति–``विशेषणसर्वादि०'' (3. 1. 150.) इति सूत्रेण विशेषणद्वारेण पाणेः पूर्वनिपाते प्राप्ते ``न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च'' (3. 1. 155.) इति निषेधात् कमण्डलोः प्राग्निपातः । ननु वाक्यावस्थायां कमण्डलुशब्दात् किमिति न तृतीया ? उच्यते-वाक्ये आख्यातपदेन सामानाधिकरण्यमिति प्रधानत्वेन गौणत्वाभावात्; तर्हि समासे सति कथं न ? उच्यते–तदा लक्ष्यप्रधानत्वान्न; ननु समासे सति विभक्त्यन्तवर्जनान्नामत्वाभावे नाम्नो विहितायास्तृतीयायाः कथमत्र प्राप्तिः ?, नैवम्-``नामन्त्र्ये'' (2. 1. 92.) इति प्रतिषेध-सूत्रकरणात्, तद्धि हे राजन्नित्यादिषु नलोपाभावार्थम्, तन्न युक्तम्-प्राप्तिपूर्वको हि प्रतिषेधः, अत्र तु ``नाम्नो नोऽनह्नः'' (2. 1. 91.) इत्यनेन हे राजन्नित्यादिषु विभक्तिद्वारा नामत्वाभावे नलोपप्राप्तिरेव नास्ति, तस्माद् ``नामन्त्र्ये'' (2. 1. 92.) इति प्रतिषेधसूत्रकर-णान्नामकार्यं प्रतिपन्नम्, ततः समासमध्येऽपि प्राप्तिः; तर्हि धर्मश्रित इत्यादावपि समासे द्वितीयादिप्रसङ्गः स्यात्, तन्न-कर्मादिशक्तेः संबन्धस्य च समासेनै-वाभिहितत्वात्; तर्हि नामार्थमात्रे प्रथमा भवतु, तदपि न–आख्यातपदसामानाधिकरण्ये प्रथमा; तर्हि नीलोत्पलमि-त्यादिषु नीलेन सहाख्यातपदसामानाधिकरण्ये कथं प्रथमा ?, उच्यते-तत्रापि सामानाधिकरण्यं नास्ति, अन्यथा सापेक्षत्वे समासोऽपि न स्यादिति; तर्हि कमण्डलुपाणिशब्दात् उपसर्जनीभूतलक्षणात् तृतीया प्राप्नोति, न–लक्षणस्य प्राधान्ये तृतीया न लक्ष्यस्य इति न भवतीति शाकटायनः ।।2. 2. 44.।।

सहार्थे ।। 2. 2. 45. ।।

सहार्थस्तुल्ययोगो विद्यमानता च, तस्मिन् शब्दादर्थाद् वा गम्यमाने गौणान्नाम्नस्तृतीया भवति । पुत्रेण सहाऽऽगतः, पुत्रेण सह स्थूलः, पुत्रेण सह गोमान्, शिष्येण सह ब्राह्मणः, तिलैः सह माषान् वपति, ``सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी ।'' अर्थग्रहणात्-पुत्रेण साकम्, पुत्रेण समम्, पुत्रेण सार्धं, पुत्रेणामा, पुत्रेण युगपद्; अर्थाद् गम्यमाने पुत्रेणाऽऽगतः,

वृद्धो यूना, न्यक्षेण करोति; एवं-कात्स्न्येंन, साकल्येन, अनवयवेनेत्यादावपि सहार्थोऽस्ति।

'सुखेनास्ते, दुःखेन जीवति, कष्टेन क्रामति, अनायासेन करोति' इत्यादावास्यादि-क्रियाभिः सह सुखादेः सहार्थोऽस्ति, क्रियाविशेषणत्वविवक्षायां तु द्वितीयैव-सुखमास्ते, दुःखं जीवति, कष्टं क्रामति, अनायासं करोतीत्यादि। गौणादित्येव-सहोभौ चरतो धर्मम्, चैत्रमैत्राभ्यां सह कृतमिति तु कर्तर्येव तृतीया ॥45॥

न्या०स०—सहार्थे। तुल्यः—साधारणोऽप्रधानस्य प्रधानेन क्रियादिना[1] यः संबन्धः स-*तुल्ययोगः*। *विद्यमानता* चेति-ननु च विद्यमानतायामपि तुल्ययोगोऽस्त्येव, सत्तया सहोभयोः सम्बन्धात्, तथाहि—"सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी।" इति सहैव दशभिः पुत्रैः सतीति शक्यं प्रतिपत्तुम्, तत्र विद्यमानता चेति तुल्ययोगात् किं पृथग् निर्दिश्यते, उच्यते-विवक्षितयोगाभावात्, सहैव दशभिरित्यत्र वहनमात्रं विवक्षितं, तद् गर्दभ्या एव न तत्पुत्राणां, यथा पुत्रेण सहागत इत्यागमनमुभयोरपीति तुल्ययोगाद् विद्यमानता भिन्ना। *न्यक्षेण* सामस्त्येनेत्यर्थः॥2. 2. 45.॥

यद्भेदैस्तद्वदाख्या ॥ 2. 2. 46. ॥

यस्य-भेदिनः प्रकारवतोऽर्थस्य, भेदैः-प्रकारैर्विशेषैः, तद्वतः-तत्प्रकारवदर्थयुक्तस्य, आख्या-निर्देशो भवति, तद्वाचिनो गौणान्नाम्नस्तृतीया भवति। अक्ष्णा काणः, पादेन खञ्जः, हस्तेन कुणिः, शिरसा खल्वाटः, प्रकृत्या दर्शनीयः, प्रायेण वैयाकरणः, गोत्रेण काश्यपः, जात्या ब्राह्मणः, जात्या सुशीलः, स्वभावेनोदारः, निसर्गेण प्राज्ञः, वर्णेन गौरः, स्पर्शेन शीतः, वचनेन मृदुः, रसेन स्वादुः, मुखेन सुरूपः, उरसा विशालः, बाहुभ्यां दृढः-सर्वत्र पुरुषस्तद्वान् संबध्यते। यद्ग्रहणं प्रकृतिनिर्देशार्थम्, तत इत्याक्षेपात्।

भेद-ग्रहणं किम्? यष्टीः प्रवेशय, कुन्तान् प्रवेशय। तद्वद्ग्रहणं किम्? अक्षि काणं पश्य। आख्याग्रहणं प्रसिद्धिपरिग्रहार्थम्, तेनाऽक्ष्णा दीर्घ इति न भवति। कृत-भवत्यादिक्रियाऽध्याहारेण कर्तृ-करणयोस्तृतीया सिद्धैव, संबन्ध-षष्ठीनिवृत्त्यर्थं तु वचनम्॥46॥

न्या०स०—*यद्भेदैः*। अवयवावयविलक्षणसंबन्धे षष्ठीप्राप्तौ वचनम्। यस्य- भेदिनश्चक्षुरादेः, भेदैः—काणत्वादिभिः, तद्वतः चक्षुरादिमतः पुरुषादेस्तत्प्रकारवदर्थयुक्तस्य, कोऽर्थः? सः—प्रकारवान अक्ष्यादिरर्थः, तेन युक्तस्य चैत्रादेः, आख्या-निर्देशो भवति *तद्वाचिन*

---

1. आदि शब्दात् स्थौल्यादिगुणो गवादिद्रव्यं ब्राह्मण्यादि जातिग्रहः।

अक्ष्यादिवाचिनः, तृतीया भवतीत्यर्थः । *अक्ष्णा काणः* अक्षि काणं चाकाणं च भवतीति काणत्वभेदेन तद्वांश्चैत्रादिर्निर्दिश्यते । *शिरसा खल्वाटः* खलन्ति-अपगच्छन्ति केशा अस्मादिति ``कपाट०'' (उणा० 148) इत्यादिशब्दात् साधुः । *प्रकृत्या दर्शनीयः* प्रकृतिः– स्वभावः, तद्भेदः–दर्शनीयत्वम्, स्वभावो हि दर्शनीयत्वमदर्शनीयत्वं च भवति, तद्भेदेन दर्शनीय इति प्रकृतिमानाख्यायते । प्रैतीति ``तन्व्यधि०'' (5. 1. 64.) इति णे-प्रायः, तद्भेदो वैयाकरणत्वं तार्किकत्वं चेति तद्भेदेन वैयाकरण इति तद्वान् निर्दिश्यते ।

ननु च 'प्रकृत्या दर्शनीयः, प्रायेण वैयाकरणः' इति युक्तः प्रयोगः, दर्शनीयत्वं हि प्राकृतं वैकृतं चास्ति, वैयाकरणत्वं च प्रायिकमन्यच्च, तत्रेतरव्युदासार्थं प्रकृत्या प्रायेणेति चार्थवः, काण इत्यादिप्रयोगे त्वक्ष्णेत्यादिरव्यभिचारेण प्रतीतेरयुक्तः प्रयोगोऽर्थस्य गतत्वात्, उच्यते-लोकोऽत्र पर्यनुयोक्तव्यः योऽर्थवतोऽनर्थकतामनपेक्ष्य प्रतीतेऽपि शब्दान् प्रयुङ्क्ते, लोके च न सर्वं एवं सूक्ष्मेक्षिकया शब्दान् प्रयुङ्क्ते, यद्वा सूक्ष्मेक्षिकया प्रयोगेऽपि उपचरितार्थनिवृत्तिरक्ष्णेत्यादिप्रयोगे प्रयोजनं-सत्यमयं काणो न तूपचारेणेति *गोत्रेण काश्यपः* काश्यपो माठर इति च गोत्रभेदः, तेन गोत्रमानाख्यायते-काश्यप इति । *भेदग्रहणं किमिति*- यदि भेदग्रहणं न क्रियते तदा 'येन तद्वदाख्या' इत्युच्यमाने यष्टीः प्रवेशयेत्यत्रैव स्यात्, अत्र हि यष्ट्यादिना तद्वानुपचारेणाख्यायते, अक्ष्णा काण इत्यादौ च न स्यात्, नह्यत्राक्ष्यादिशब्देन तद्वान्निर्दिश्यते । *अक्षि कारणं पश्येति*– काणशब्देन हि अक्षिभेदेनाक्ष्याख्यायते, न तद्वान् चैत्रादिः । *षष्ठीनिवृत्त्यर्थं तु वचनमिति*– तथापि न विधेयमेतत् सूत्रं, मा भूत् कर्त्रादौ तृतीया, इत्थंभूतलक्षणत्वादक्ष्यादेर्भविष्यति, यदाह–

``इत्थंभूतस्य काणस्य, लक्षणं ह्यक्षि बुध्यते ।
ततस्तृतीया तेनैव, तत्र सूत्रेण सिध्यति'' ।।1।।

अत्रोच्यते-अक्ष्यादेरित्थंभूतस्य काणादिलक्ष्यस्य भेदाभावाल्लक्षणत्वानुपपत्तिः, यदाह उद्द्योतकरः–

``लक्ष्यलक्षणभावो हि, भेदे सत्युपपद्यते ।
यथा छात्र-कमण्डल्वोश्छात्रोपाध्याययोर्यथा ।।1।।
लक्षणादातपत्रादेस्तत्र लक्ष्यं तु भिद्यते ।
इह त्वेवमसंभाव्यमभेदादक्षि-काणयोः ।।2।।
यत् तत् काणं तदेवाक्षि, लक्ष्यते तत्र तेन किम् ? ।
तत् काणः पुरुष इत्येतत् कथं तूपचारतः ।।3।।'' ।।2. 2. 46.।।

कृताद्यैः ॥ 2. 2. 47. ॥

कृत इत्येवंप्रकारैर्निषेधार्थैर्युक्ताद् गौणान्नाम्नस्तृतीया भवति । कृतं तेन, भवतु तेन, अलमतिप्रसङ्गेन, किं गतेन । कृत, कृतम्, भवतु, अलम् किम्; एवंप्रकाराः कृतादयः ॥47॥

काले भान्नवाऽऽधारे ॥ 2. 2. 48. ॥

काले वर्तमानान्नक्षत्रवाचिनो गौणान्नाम्न आधारे तृतीया वा भवति । पुष्येण पायसमश्नीयात्, पुष्ये पायसमश्नीयात्; मघाभिः पललौदनम्, मघासु पललौदनम् । काल इति किम् ?, पुष्येऽर्कः, मघासु ग्रहः, अध्वनि मा भूत् । चित्रासु जाता चित्रा माणविका, तस्यां–चित्रायामास्ते, अत्र माणविकायां मा भूत् । भादिति किम् ? ``तिलपुष्पेषु यत् क्षीरं, तिलच्छेदेषु यद् दधि ।'' अत्र तिलपुष्प-तिलच्छेदशब्दौ स्वाऽवच्छिन्ने काले वर्तेते इति प्राप्नोति । आधार इति किम् ? अद्य पुष्यं विद्धि । `स्थाल्या पच्यते' इत्यादिवत् आधारस्य करणविवक्षायां तृतीया सिध्यति संबन्धविवक्षायां तु षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥48॥

न्या०स०–काले भा० । स्वार्थिकप्रत्यया नातिवर्तन्ते प्रकृतिलिङ्गवचनानीति कालेऽपि नक्षत्रशब्दो नक्षत्रलिङ्गसंख्य एव । *पुष्येण पायसमश्नीयात्* पुष्येण चन्द्रयुक्ते नेत्यादिप्रक्रियायां पुष्यशब्दः काले वर्तते, पयसि संस्कृतं भक्ष्यं ``संस्कृते भक्ष्ये'' (6. 2. 140.) अण, पयसा संस्कृतमिति तु कृते तृतीयाधिकारनिवेशितेन ``संस्कृते'' (6. 4. 3.) इति सूत्रेण इकणेव भवति । *अध्वनि मा भूदिति*-अत्र विशिष्टतारकावच्छिन्ने क्षेत्रे पुष्य-मघाशब्दौ वर्तेते, न काले इति । *चित्रा माणविका* इति-यद्यपि चित्रा-शब्दो माणविकायां वर्त्तमानः कालमप्युपाधित्वेनोपादत्ते, यतश्चित्रासु जाता या सा चित्रा इति विशेषणत्वेन प्रतीयमानत्वात् कालेऽपि वृत्तिः संभाव्यते, तथापि तत्र कालस्य गौणत्वात् ❊ गौण-मुख्ययोश्च मुख्ये कार्यसंप्रत्ययात् ❊ न भवति । *स्वावच्छिन्ने काले* इति-स्वेन-आत्मना, अवच्छिद्यते यस्तिलच्छेदतिलपुष्पविशिष्टः कालः, कोऽर्थः ?–यत्र काले तिलाः पुष्यन्ति तिलानां छेदश्च भवतीत्यर्थः ।

``तिलपुष्पेषु यत् क्षीरं, तिलच्छेदेषु यद् दधि ।
तिलवापेषु यत् तोयं, तेन वृद्धो न जीवति'' ॥1॥

इति सुश्रुतमतम्, सारोद्धारमते पूर्वार्द्धं तदेव, उत्तरार्द्धं तु–

``माघमासे च यद् भुक्तं, तेन वृद्धो विनश्यति ।''
कोऽर्थः ? पुनर्नवो भवति ॥2. 2. 48. ॥

प्रसितोत्सुका-ऽवबद्धैः ॥ 2. 2. 49. ॥

एतैर्युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणान्नाम्नस्तृतीया वा भवति । केशैः प्रसितः, केशेषु प्रसितः; प्रकर्षेण सितो बद्धः प्रसितः, नित्यप्रसक्त इत्यर्थः; गृहेणोत्सुकः, गृहे उत्सुकः; केशैरवबद्धः, केशेष्ववबद्धः । आधार इत्येव—मनसा प्रसितः, मनसोत्सुकः, मनसाऽवबद्धः । करणतृतीयाया विकल्पो मा भूत् । अवबद्धोत्सुकशब्दसाहचर्यात् तदर्थ एव प्रसितशब्दोऽत्र गृह्यते । पूर्ववत् षष्ठीबाधनार्थं वचनम् । बहुवचनमेक-द्वि-बहाविति यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ॥49॥

न्या०स०—प्रसितो० । प्रसितशब्दोऽयं गुणवचनोऽप्यस्ति-प्रकृष्टःसितः शुक्ल इति, क्रियावचनोऽप्यस्ति-यः स्यतेः सिनोतेर्वा भवतीति, तत्रोत्सुकाऽवबद्धशब्दसाहचर्यात् तदर्थः सिनोतिरेव क्तान्तो गृह्यत इत्याह—*प्रकर्षणे*त्यादि । ननु प्रसितशब्दस्य शुक्लगुणवचनस्य क्रियार्थस्य च संभवादुभयार्थस्यापि ग्रहणप्रसङ्ग इत्याह—*अवबद्धोत्सुकसाहचर्या*दिति ॥2. 2. 49.॥

व्याप्ये द्विद्रोणादिभ्यो वीप्सायाम् ॥ 2. 2. 50. ॥

व्याप्ये वर्तमानेभ्यो द्विद्रोणादिभ्यो गौणनामभ्यो वीप्सायां तृतीया वा भवति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, द्विद्रोणं द्विद्रोणं क्रीणाति, तृतीया वीप्सायां विहितेति तृतीयान्तस्य पदस्य द्विर्वचनं न भवति, द्वितीया तु कर्मणि विहिता न विप्सायामतस्तदन्तस्य द्विर्वचनं भवति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, पञ्चकं पञ्चकं क्रिणाति; सहस्रेणाऽश्वान् क्रीणाति, सहस्रं सहस्रं क्रीणाति, द्विद्रोणादयः प्रयोगगम्याः ॥50॥

न्या०स०—व्याप्ये द्वि० । *द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति*, द्वौ द्रोणौ मानमस्य धान्यस्य ``मानम्'' (6. 4. 169.) इतीकण, तस्य ``अनाम्न्य०'' (6. 4. 141.) इति लुप्, यद्वा द्वौ द्रोणौ मेयावस्य धान्यस्य, कोऽर्थः ? अनेन धान्येन द्वौ द्रोणौ मीयेते, तदा इकण नागच्छति मेयवाचित्वाद् द्रोणस्य, यद्वा द्वयोर्द्रोणयोः समाहारो द्विद्रोणम्, पात्रादित्वात् स्त्रीत्वाभावः, अत्र द्रोणो व्रीहिराढको व्रीहिरितिवत् द्रोणशब्दो मेयवृत्तिः तेन धान्यस्य समानाधिकरणो द्विद्रोणशब्दः ।

*एवं-पञ्चकेन पशून् क्रीणाती*ति-पञ्चेति संख्या मानमस्य ``सख्यायाः संघसूत्र०'' (6. 4. 171.) इति यथाविहितः ``संख्याडतेः०'' (6. 4. 130.) इति कः, पञ्चक पञ्चकं संघ पशून् क्रीणातीत्यर्थः, *पञ्चकं पञ्चकमि*त्यत्र पशुसामानाधिकरण्येऽपि पञ्चकशब्दाद् ब्राह्मणाः

संघ इतिवद् एकवचनम् । *द्विद्रोणादय* इति—आदिशब्दस्य प्रकारार्थत्वाद् येभ्यो वीप्सायां प्रयोगे तृतीया दृश्यते ते द्विद्रोणादयः, न तु गर्गादिवत् सन्निविष्टा इति ।।2. 2. 50.।।

समो ज्ञोऽस्मृतौ वा ।। 2. 2. 51. ।।

अस्मृतौ वर्तमानस्य संपूर्वस्य जानातेर्यद् व्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणान्नाम्नस्तृतीया वा भवति । मात्रा संजानीते, मातरं संजानीते । सम इति किम् ? मातरं जानाति । ज्ञ इति किम् ? मातरं संवेत्ति । अस्मृताविति किम् ? मातरं संजानाति, मातुः संजानाति; स्मरतीत्यर्थः । व्याप्य इत्येव—मातरं स्वरेण संजानीते, करणे विकल्पो न भवति । मातुः संज्ञातेति कृतिपरत्वात् षष्ठी । नवाऽधिकारे वाग्रहणमुत्तरत्र तन्निवृत्त्यर्थम् ।।51।।

न्या०स०—समो ज्ञो० । संजानीते इति—``सम्प्रतेरस्मृतौ'' (3. 3. 69.) इत्यात्मनेपदम् ? ।।2. 2. 51.।।

दामः संप्रदानेऽधर्म्ये आत्मने च ।। 2. 2. 52. ।।

संपूर्वस्य दामः संप्रदानेऽधर्म्यरूपे वर्तमानान्नाम्नस्तृतीया भवति, तत्संनियोगे च दाम आत्मनेपदं भवति । दास्या संप्रयच्छते, वृषल्या संप्रयच्छते, कामुकः सन् द्रव्यं दास्यै ददातीत्यर्थः । दाम इति किम् ? दास्यै संददाति । संप्रदान इति किम् ? द्रव्यं वृषल्या संप्रयच्छते, कर्मणि मा भूत् । अधर्म्य इति किम् ? पत्न्यै संप्रयच्छति । सम इत्येव-दास्यै प्रयच्छति । इह संपूर्वस्य दामः प्रशब्दव्यवधानमन्तरेण प्रयोगाऽभावात् तद्व्यवधानेऽपि भवति ।।52।।

न्या०स०—दामः सम्प्र० । नन्वनेन ब्राह्मणेन दानं प्रवृत्तमित्यादिवत् सम्प्रदानस्य करणत्वविवक्षायां दास्या संप्रयच्छते इत्यादौ तृतीयोत्पत्तेः किमर्थमिदमारभ्यते, यद्वा सहार्थे इयं तृतीया, तथाहि-दास्यै स्वयं धनं ददाति, साप्यात्मानं तस्मै ददातीति, दानपूर्वके सम्भोगे दाम् वर्तते, दत्त्वा दास्या सह सम्भुङ्क्त इति, एवं चात्र क्रियाव्यतिहारोपपत्तेस्तद्वारेणैवात्मनेपदम्, अत्रोच्यते—एवं हि धात्वन्तरेऽपि विनापि समुपसर्गेणाधर्म्यत्वाभावेऽपि स्यात्, द्रव्यं वृषल्या सम्प्रयच्छत इत्यत्रापि सम्प्रदानविवक्षायां चतुर्थी स्यात्, अत इह चतुर्थीप्रत्युदाहरणेषु च तृतीया मा भूदित्येवमर्थमिदं वक्तव्यम्, विवक्षयापि न सिध्यति, विवक्षानियमो हि विना वचनेन दुरधिगम इतीदमारभ्यत इति ।

ननु सम इति परदिग्योगलक्षणा पञ्चमी, ततश्च ``पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य'' (7. 4. 104.)

तच्चानन्तरस्येति प्रशब्दस्य व्यवधाने न प्राप्नोतीत्याह– इह *सम्पूर्वस्येति* । यद्वा सम इति पूर्वत्र पञ्चम्यन्तमपीह लक्ष्यवशा*त्* षष्ठ्यन्तं विज्ञायते, तत्र व्यवधानेऽपि समा द्योतमानार्थत्वाद् दामः सम्बन्धोपपत्तेर्भवत्येव विधिः ।।2. 2. 52.।।

चतुर्थी ।। 2. 2. 53. ।।

संप्रदाने वर्तमानाद् गौणान्नाम्नो ङे-भ्यां-भ्यस्-लक्षणैक-द्वि-बहौ यथासंख्यं चतुर्थी विभक्तिर्भवति । द्विजाय गां ददाति, शिष्याभ्यां धर्ममुप-दिशति, मुनिभ्यो भिक्षां ददाति, पत्ये शेते, राज्ञे विज्ञपयति, राज्ञे दण्डं ददाति । संप्रदान इत्येव-अजां नयति ग्रामम् ।।53।।

तादर्थ्ये ।। 2. 2. 54. ।।

किञ्चिद् वस्तु संपादयितुं यत् प्रवृत्तं तत् तदर्थम्, तस्य भावे तादर्थ्ये–संबन्धविशेषे द्योत्ये गौणान्नाम्नः षष्ठ्यपवादश्चतुर्थी भवति । यूपाय दारु, कुण्डलाय हिरण्यम्, रन्धनाय स्थाली, अवहननायोलूखलम् ।।54।।

न्या०स०–तादर्थ्ये । यूपाय दारु अत्र यूपादिहेतुभूतस्य दार्वादेर्हेतुतृतीया न, अगौणत्वात् ।।2. 2. 54.।।

रुचि-कृप्यर्थ-धारिभिः प्रेय-विकारोत्तमर्णेषु ।। 2. 2. 55. ।।

रुच्यर्थैः कृप्यर्थैर्धारिणा च धातुना योगे यथाक्रमं प्रेये विकारे उत्तमर्णे च वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति, वचनसाम्यं यथासंख्यार्थम्; बहुवचनं तु एक-द्वि-बहाविति यथासंख्याऽभावार्थम् । रुच्यर्थैः प्रेये–प्रीयमाणे–जिनदत्ताय रोचते धर्मः, गुरुदत्ताय स्वदते दधि; तस्याभिलाषमुत्पादयतीत्यर्थः । प्रेय इति किम् ? चैत्राय रोचते मोदको माधुर्येण, माधुर्यशब्दात् न भवति । प्रेयसंबन्धादभिलाषकरणार्थस्य रुचेर्ग्रहणम्, तेनेह न भवति-सर्वेषामेतद् रोचते, कथं वा तवेति, प्रतिभातीत्यर्थः ।

कथं रोचते मम घृतं सह मुद्गैः शालयो दधिशरं कुकुराश्च ?, घृतमेव ममापि रोचते शृतशीतं च सशर्करं पयः ?, संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव भविष्यति । कृप्यर्थैर्विकारे-मूत्राय कल्पते यवागूः, उच्चाराय संपद्यते यवान्नम्, श्लेष्मणे जायते दधि, तद्विकाररूपमापद्यत इत्यर्थः । विकार इति किम् ? चैत्रस्य कल्पन्ते धनानि, संपद्यन्ते शालयः । गौणादित्येव–मूत्रमिदं संपद्यते यवागूः, उच्चारोऽयं संपद्यते यवान्नम्, शृङ्गाच्छरो जायते, गोमयाद् वृश्चिकः प्रभवति,

मूत्रं संपद्यते यवाग्वाः; यवाग्वा इति च पञ्चमी अपायविवक्षायाम् । धारिणोत्तमर्णे-चैत्राय शतं धारयति । उत्तमर्ण इति किम् ? शतशब्दान्न भवति । उत्तमर्णो धनिकः ।।55।।

*न्या०स०—रुचि-क्लृप्यर्थ० । सम्बन्धमात्रे*ति-अत्र सत्यपि प्रेयत्वे पेयता न विवक्षिता, अपि तु तत्क्रियासंबन्धमात्रमिति न चतुर्थी । *मूत्राय कल्पते यवागूः* यवागूः कर्त्री संपद्यते, किं संपद्यते ? मूत्रं-मूत्ररूपमित्यर्थः । ननु मूत्र-यवागूशब्दयोर्द्वयोरपि संपद्यते इति क्रियया सह सम्बन्धाद् गौणत्वाभावात् कथं मूत्रशब्दाच्चतुर्थी ?, उच्यते-एतत्सूत्रसामर्थ्यादेवात्र गौणमुख्यभावेन क्रियासंबन्धात् मूत्रस्य गौणत्व ।, तथाहि-प्रथमं यवाग्वा सह क्रियायाः संबन्धः पश्चान्मूत्रस्येति । गौणादिति व्यावृत्त्युदाहरणे तु मूत्रादेर्विशेष्यार्थ मूत्रादिकं प्रथमं क्रियया संबन्धनीयम्, यद्वा मूत्रायेति कोऽर्थः ? मूत्ररूपविकारसंबन्धित्वेन यवागूः संपद्यत इत्यर्थः ।

*तद्विकाररूपमि*ति-अत्र तस्य यवाग्वादेर्विकारस्तस्य रूपं कर्मतापन्नमापद्यते-प्राप्नोति, मूत्रं कर्तृ, अकर्मकोऽपि पदिस्तदा तद्विकाररूपं मूत्रं कर्तृ आपद्यते सम्पद्यते इत्यर्थः, अत्र प्रथमाया प्राप्तौ चतुर्थी । *चैत्रस्य कल्पन्ते* इत्यत्र चैत्रो धनादीनां स्वामी न विकार इति न भवति । *मूत्रं संपद्यते यवाग्वा* इति-यवाग्वा अपगच्छदिदं मूत्रं संपद्यत इत्यपायः । *चैत्राय शतं धारयती*ति– ``धृंङत् अवस्थाने'' ध्रियते–तिष्ठति स्वरूपान्न प्रच्यवते शतं कर्तृ, तत् ध्रियमाणं प्रयुङ्क्त इति णिग्, अपरपठितश्चुरादौ वा । *उत्तमर्णो धनिक* इति–यो हि धनं प्रयुङ्क्ते स लोके उत्तमत्वेन प्रसिद्ध, यस्तु गृह्णाति सोऽधमत्वेन, उत्तमाधमाभ्यां संबद्धमृणमपि तथैव व्यपदेष्टव्यमित्युत्तममृणं यस्येति कार्यत् ।।2. 2. 55.।।

प्रत्याङः श्रुवाऽर्थिनि ।। 2. 2. 56. ।।

प्रत्याङ्भ्यां परेण श्रृणोतिना युक्तादर्थिनिअभिलाषुके वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्विजाय गां प्रतिश्रृणोति, द्विजाय गामाश्रृणोति; याचितोऽयाचितो वा प्रतिजानीते इत्यर्थः । प्रत्याङ इति किम् ? चैत्रस्य श्रृणोति । अर्थिनीति किम् ? द्विजाय गां प्रतिश्रृणोतीत्यत्र गवि मा भूत् ।।56।।

*न्या०स०—प्रत्याङः । अर्थिनी*ति-अर्थयते इत्यर्थी अभिलाषुकः, ``अर्थणि उपयाचने'' इति पाठात् । *याचितोऽयाचितो वे*ति-अधमत्वाद् याचमाने महत्त्वादयाचमानेऽपि केनाप्याकारादिना स्वाभिलाषं समर्पयति द्विजादौ ओमिति तस्य प्रतिजानीतेप्रतिपद्यते, अभ्युपगच्छतीत्यर्थः ।।2. 2. 56.।।

प्रत्यनोर्गृणाऽऽख्यातरि ॥ 2. 2. 57. ॥

प्रत्यनुभ्यां परेण गृणातिना योगे आख्यातरि वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति । आचार्याय प्रतिगृणाति, आचार्यायानुगृणाति; आचार्योक्तमनुवदति, प्रशंसन्तं वा प्रोत्साहयतीत्यर्थः । प्रत्यनोरिति किम् ? आचार्यं गृणाति । आख्यातरीति किम् ? आचार्याय मनसा प्रतिगृणातीत्यत्र मनसि मा भूत् ॥57॥

*न्या०स०–प्रत्यनो । आचार्यं गृणाती*ति-आचष्टे इत्यर्थः, अत्राचार्यमाचक्षाणमिति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा द्व्यङ्गविकलत्वं स्यात् ॥ 2. 2. 58.॥

यद्वीक्ष्ये राधीक्षी ॥ 2. 2. 58. ॥

वीक्ष्यं-विमतिपूर्वकं निरूपणीयम्, विप्रश्नविषय इति यावत्, तद्विषया क्रियापि वीक्ष्यम्, यत्संबन्धिनि वीक्ष्ये राध्यतिरीक्षतिश्च वर्तते तस्मिन् वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सामर्थ्याद् राधीक्षिभ्यामेव युक्ताच्चतुर्थी भवति । मैत्राय राध्यति, मैत्रायेक्षते; तस्य दैवं पर्यालोचयतीत्यर्थः ।

स्त्रीभ्य ईक्षते-स्त्रीणामभिप्रायः कीदृश इति विमतिपूर्वकं निरूपयतीत्यर्थः । ``ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः स्वधर्मो रक्षसामयम्'' परस्त्रीणामभिप्राये यत् संदेहादीक्षितव्यं-निरूपयितव्यं-किमेवं करोषि नवेति, तद् रक्षसां कुलधर्मो न दोषः । दैवे एवेक्ष्ये इच्छन्त्येके । राधीक्ष्यर्थधातुयोगेऽपीच्छन्त्येके, मैत्राय राधयति, साधयति, पश्यति, जानीत इति चोदाहरन्ति । यद्ग्रहणं किम् ? मैत्रस्य शुभाशुभमीक्षते, शुभाऽशुभात् मा भूत्, मैत्रात् तु राधीक्षिभ्यां योगाभावादेव न भवति । वीक्ष्यग्रहणं किम् ? मैत्रमीक्षते । राधीक्ष्यर्थविषयाद् विप्रष्टव्यादिच्छत्यन्यः–लाभाय राध्यति, लाभाय राधयति, लाभाय साधयति, लाभायेक्षते, लाभाय पश्यति ॥58॥

न्या०स०–यद्वीक्ष्ये० । विविधा-विशेषानुपलम्भादेकस्मिन् वस्तुनि सादृश्यादिनिमित्तादनेकपक्षालम्बनानवधारणात्मिका मतिः–विमतिः, संदेहज्ञानमिति यावत्, तत्पूर्वकं *निरूपणीयम्* अदृष्टमिष्टानिष्टफलं पुण्यपापरूपम्, अप्रत्यक्षं पराभिप्रायादिकं वा, तस्यैव निरूपणार्हत्वात् । पुनः स्पष्टयति-*विप्रश्नविषय* इति-विचारविषयो दैवादिर्लाभालाभादिर्वा । *क्रियाऽपी*ति-पर्यालोचनादिका । *तस्य दैवमि*ति-शुभाशुभमित्यर्थः ।

``ईक्षितव्यं परस्त्रीभ्यः, स्वधर्मो रक्षसामयम् ।
संक्रुध्यसि मृषा किं त्वं, दिदृक्षुं मां मृगेक्षणे !'' ॥1॥

देवे एवेक्ष्ये इति-न त्वभिप्रायादावित्यर्थः । *एके* इति-शाकटायनाः । *एके* इति-चान्द्राः । राधिरपरपठितश्चुरादिर्णिगन्तो वा । साधिर्णिगन्त एव । *राधीक्षिभ्यां योगाभावादि*ति-एवं तर्हि मैत्राय राध्यतीत्यादावपि संबन्धाभावान्न स्यात्, न-तत्र मैत्रेणैव सह राधीक्ष्योः संबन्धो विवक्षितोऽन्यस्याश्रुतत्वात् । *अन्य* इति-रत्नमतिर्बौद्धः ॥2. 2. 58.॥

उत्पातेन ज्ञाप्ये ॥ 2. 2. 59. ॥

उत्पातः–आकस्मिकं निमित्तम्, तेन ज्ञाप्ये–ज्ञाप्यमानेऽर्थे वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति ।

``वाताय कपिला विद्युदातपायाऽतिलोहिनी ।
पीता वर्षाय विज्ञेया, दुर्भिक्षाय सिता भवेत्'' ॥1॥

वातादयः स्वकारणेभ्य एवोत्पद्यन्ते, विद्युता तु ज्ञाप्यन्त इति तादर्थ्यं नास्ति । उत्पातेनेति किम् ? राज्ञ इदं छत्रमायातं विद्धि राजानम् । षष्ठ्यपवादो योगः ॥59॥

न्या०स०–उत्पातेन० । उत्क्रम्य प्रसिद्धं निमित्तं पततीति बाहुलकात् सोपसर्गादपि ``वा ज्वलादि'' (5. 1. 62.) इति णः। निमित्तं द्विधा–जनकं ज्ञापकं च, यत्र तादर्थ्यं तत्र जनक एव हेतुः, यथा-रन्धनाय स्थाली, अत्र तु तादर्थ्याभावात् ज्ञापक एव हेतुः । *षष्ठ्यपवाद* इति-ज्ञाप्यज्ञापकसंबन्धविवक्षायामित्यर्थः ॥2. 2. 59.॥

श्लाघ-ह्नु-स्था-शपा प्रयोज्ये ॥ 2. 2. 60. ॥

ज्ञाप्य इत्यनुवर्तते, श्लाघादिभिर्धातुभिर्युक्ताद् ज्ञाप्ये प्रयोज्येऽर्थे वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति । मैत्राय श्लाघते, मैत्राय ह्नुते, मैत्राय तिष्ठते, मैत्राय शपते, श्लाघा-ह्नव-स्थान-शपथान् कुर्वाण आत्मानं परं वा ज्ञाप्यं जानन्तं मैत्रं प्रयोजयतीत्यर्थः । प्रयोज्य इति किम् ? मैत्रायाऽऽत्मानं श्लाघते, मैत्राय शतं ह्नुते; आत्मादौ मा भूत् । केचित् त्वप्रयोज्यो यो ज्ञाप्यो य आख्यायते तत्रैवेच्छन्ति ॥60॥

न्या०स०–श्लाघह्नु० । ``युजण् संपर्चने'' प्रयोज्यत इति ``य एच्चातः'' (5. 1. 28.)

इति ये, प्रयोक्तुं शक्य इति वा ``शक्तार्हे०'' (5. 4. 35.) इति घ्यणि ``निप्राद् युजः शक्ये'' (4. 1. 116.) इति गत्वाभावे प्रयोज्यः । द्वितीयाप्राप्तौ वचनम् । *मैत्राय तिष्ठते* अत्र ``ज्ञीप्सास्थेये'' (3. 3. 64.) आत्मनेपदम्, स्थानेनात्मानं ज्ञापयतीत्यर्थः *मैत्राय शपते* ``शप उपलम्भने'' (3. 3. 35.) आत्मनेपदम्, वाचा मात्रादि–शरीरस्पर्शनेन नाहं जाने न मया कृतमिति मैत्रं ज्ञापयतीत्यर्थः । *केचित् त्विति*-भोज-शाकटायनाः । यस्तु मैत्रादिर्जानन् ज्ञाप्यते तत्र न भवतीति, तथा च अन्येषां ग्रन्थे द्विकर्मकोऽयं ज्ञापिः, तत्र केचिद् यस्मै आख्यायते तत् ज्ञाप्यं संप्रदानत्वेन प्रतिपन्नाः, केचिद् य आख्यायते तमिति, तन्मते-मैत्रमात्मने श्लाघते इत्युदाहरणम् ।।2. 2. 60.।।

तुमोऽर्थे भाववचनात् ।। 2. 2. 61. ।।

क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे तुम् वक्ष्यते, तस्याऽर्थे ये भाववाचिनो घञादयः प्रत्यया विधास्यन्ते तदन्ताद् गौणान्नाम्नः स्वार्थे चतुर्थी भवति । पाकाय व्रजति, पक्तये व्रजति, पचनाय व्रजति, इज्यायै व्रजति; पक्तुं यष्टुं वा व्रजतीत्यर्थः । तादर्थ्यस्य प्रत्ययेनैवोक्तत्वात् चतुर्थी न प्राप्नोतीति शेषषष्ठी हेतुहेतुमद्भावविवक्षायां वा हेतुतृतीया स्यादिति चतुर्थ्यर्थं वचनम् ।

तुमोऽर्थे इति किम् ? पाकस्य, त्यागस्य, पाकेन वर्तते, त्यागेन वर्तते, अध्ययनेन वसति; नाऽत्र क्रियायां क्रियार्थायामुपपदे प्रत्ययो विहितः, किं तर्हि ? भावमात्रे, पश्चात् - तु क्रिययाऽभिसंबन्ध इति हेतौ तृतीयैव भवति । भाववचनादिति किम् ? पक्ष्यतीति गां दास्यतीति च पाचकस्य व्रज्या, गोदायस्य परिसर्या । तुम इति व्यस्तनिर्देश उत्तरार्थः ।।61।।

न्या०स०–तुमोऽर्थे० । भवनं भावः ``भावाकर्त्रोः'' (5. 3. 18.) घञ्, वक्तीति ब्रवीतीति वा ``रम्यादिभ्यः'' (5. 3. 126.) कर्त्तर्यनट्, भावस्य वचनो भाववचनस्तस्मात् । *पाकाये*ति पक्तुं पक्ष्यते इति वा वाक्ये ``भाववचनाः'' (5. 3. 15.) इति घञादयः ।। 2. 2. 61.।।

गम्यस्याऽऽप्ये ।। 2. 2. 62. ।।

यस्यार्थो गम्यते न च शब्दः प्रयुज्यते स गम्यः, तस्य तुमो यदाप्यं–व्याप्यं तत्र वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति । द्वितीयाऽपवादः । एधेभ्यो व्रजति, फलेभ्यो व्रजति; एधान् फलानि चाऽऽहर्तुं व्रजतीत्यर्थः । गम्यस्येति किम् ? एधानाहर्तुं व्रजति । आप्य इति किम् ? एधेभ्यो व्रजति शकटेन, करणात् मा भूत् । तुम इत्येव-प्रविश पिण्डीं द्वारम्, अत्र भक्षयेति पिधेहीति च गम्यम् ।।62।।

न्या०स०—गम्यस्या० ।शब्दोऽर्थवानप्यप्रयुज्यमानः प्रयुज्यमानश्च भवति, अप्रयुज्यमान-श्चार्थ-प्रकरण-शब्दान्तरसन्निधानैः प्रतीयमानार्थः, स च गम्य इत्युच्यते । *एधेभ्यो व्रजति ननु* एधार्थं व्रजतीति तादर्थ्य एव चतुर्थी भविष्यति, किमनेन ? उच्यते-व्रज्याया एधाहरणार्थतायां विश्रामोऽस्ति न त्वेधार्थतायामिति न सिध्यति ।।2. 2. 62.।।

गतेर्नवाऽनाप्ते ।। 2. 2. 63. ।।

गतिः-पादविहरणं, तस्या गतेराप्येऽनाप्ते असंप्राप्ते वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । ग्रामं गच्छति, ग्रामाय गच्छति; नगरं व्रजति, नगराय व्रजति; विप्रनष्टः पन्थानं गच्छति, पथे गच्छति, उत्पथेन पन्थानं पथे वा गच्छति ।

गतेरिति किम् ? आदित्यं पश्यति, मेरु श्रृणोति, स्त्रियं गच्छति; मनसा मेरुं गच्छतीत्यत्र ज्ञानार्थो गमिः । आप्य इत्येव—ग्रामादागच्छति । अनाप्त इति किम् ? पन्थानं गच्छति । कृद्योगे तु परत्वात् ।षष्ठ्येव भवति-ग्रामस्य गन्ता । द्वितीयैवेत्यन्ये ग्रामं गन्ता । चतुर्थी चेत्यन्ये ग्रामं गन्ताग्रामाय गन्तेति ।।63।।

न्या०स०—गतेर्नवा० । गतिशब्दस्य ज्ञानाद्यर्थत्वेऽप्यनाप्त इति वचनात् पादविहरणरूपैव गतिर्गृह्यते, ज्ञानादिव्याप्यस्याऽनाप्तत्वाऽसंभवादित्याह-*गतिः पादविहरणमि*ति । *स्त्रियं गच्छती*ति-भजनार्थोऽत्र गमिर्न गत्यर्थ इति न चतुर्थी । *पन्थानं गच्छती*ति-अनाप्ते असंप्राप्ते कर्म्मणि चतुर्थी, पन्थास्तु संप्राप्त इति चतुर्थ्यभावः । *द्वितीयैवेत्यन्य* इति-सारसंग्रहकारादयः, ते हि ``गत्यर्थकर्मणि द्वितीया-चतुर्थ्यौ' इति सूत्रेण कर्मणि द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादो वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते इति पक्षे द्वितीया सिद्धैवेति द्वितीयाग्रहणात् ग्राम गन्तेत्यत्र कृतः कर्मणि अपवादभूतामपि षष्ठीं बाधित्वा द्वितीयैव भवति, चतुर्थी तु षष्ठ्या परत्वद् बाध्यत एवेति मन्यन्ते । *चतुर्थी चेत्यन्य* इति-उत्पल इत्यर्थः, स ह्येवं मन्यते-द्वितीयाविषय इयं वैकल्पिकी चतुर्थ्यारभ्यते, द्वितीयायाश्चात्रापवादात् कुतोऽप विषय उपनत इति तद्विषये पक्षे चतुर्थी प्रवर्तत एव-*ग्रामं गन्ता, ग्रामाय गन्ते*ति । एतेषु चायमस्मदभिमतः षष्ठीपक्षः श्रीशेषभट्टारकस्यापि संमतः, कथं हि शब्दानां साधुत्वं युक्तिबलेन शक्यं व्यवस्थापयितुं, यत्र तुल्यपदार्थे उष्णं च तदुदकं च उष्णोदकमिति साधुः, उष्णं च तत् पानीयं च उष्णपानीयमिति कालदृष्टोऽपशब्दः, तापसश्चायं कुमारश्च तापसकुमार इति साधुः, तापसी चेयं कुमारी च तापसकुमारीति अचिकित्स्योऽपशब्दः, पानीयोष्णं कुमारतापसी चेति साधुरेव ।।2. 2. 63.।।

मन्यस्याऽनावादिभ्योऽतिकुत्सने ।। 2. 2. 64. ।।

अतीव कुत्स्यतेऽनेनेत्यतिकुत्सनम्, तस्मिन् मन्यतेराप्ये वर्तमानात् नावादिगणवर्जिताद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । न त्वा तृणाय मन्ये, न त्वा तृणं मन्ये; न त्वा बुसाय मन्ये, न त्वा बुसं मन्ये; न त्वा लोष्ठाय मन्ये, न त्वा लोष्ठं मन्ये; न त्वा शुने मन्ये, न त्वा श्वानं मन्ये; तृणाद्यपि न मन्ये–तृणादेरपि निकृष्टं मन्य इति कुत्सयते । मन्यस्येति किम् ? न त्वा तृणं चिन्तयामि । श्यनिर्देशः किम् ? न त्वा तृणं मन्ये । अनावादिभ्य इति किम् ? न त्वा नावं मन्ये, न त्वा अन्नं मन्ये, न त्वा शुकं मन्ये, न त्वा शृगालं मन्ये, न त्वा काकं मन्ये; नावन्नयोरपि परप्रणेयताऽनायासोच्छेद्यतादिभिरतिकुत्सनत्वं भवति ।

कुत्सन इति किम् ? न त्वा रत्नं मन्ये, न ते मुखं चन्द्रं मन्ये, न ते मुखं पद्मं मन्ये; रत्नादिभ्योऽपि त्वदादीन् अधिकान् मन्य इति प्रशंसा । कुत्स्यतेऽनेनेति करणाश्रयणं किम् ? न त्वा तृणाय मन्य इति युष्मदो न भवति । अतिग्रहणं किम् ? त्वां तृणं मन्ये, सुवर्णं तृणं मन्ये; अत्र नञ्प्रयोगाभावे साम्यमात्रं प्रतीयते न त्वतिकुत्सा । कुत्सामात्रेऽपीच्छन्त्येके तृणाय त्वां मन्ये, तृणाय मन्यमानः सर्वान्, हरिमपि अमंसत तृणायेति । न त्वा तृणस्य मन्तेति कृद्योगे परत्वात् षष्ठी । चतुर्थ्यपीति कश्चित्-न तव बुसाय मन्ता, न तव बुसस्य मन्ता, न चैत्रस्य शुने मन्ता, न चैत्रस्य शुनो मन्तेति । उक्तकर्मणि तु-न त्वं बुसो मन्यसे मया, न चैत्रः श्वा मन्यते मया, नाऽहं बुसो मन्ये वृषलेनेत्यतिकुत्सनात् प्रथमेति । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।64।।

न्या०स०–मन्यस्या० । *न त्वा बुसाय मन्ये* ``बुसच् उत्सर्गे'' बुस्यति-त्यजति उपादेयभावमिति ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के बुसम् । *न त्वा नावं मन्ये* नावादयो लक्ष्यदर्शनेनानुसर्त्तव्याः । अथ नावन्नयोरत्यन्तोपकारकत्वात् कथमतिकुत्सनत्वं, गम्यत इत्याह– *नावन्नयोरपीति*-परेण स्वेच्छया अभिमतं स्थानं प्रकर्षण नीयते परप्रणेयः, पराधीनप्रवृत्तिरित्यर्थः, तस्य भावः परप्रणेयता । *अनायासोच्छेद्यतादिभिरिति*-आदि-शब्दादचेतनत्वविनश्वरत्वादिग्रहः । *न त्वा शुकमिति*-शुकः पाठितो भणति त्वं तदपि न । *न त्वा रत्नमिति*–यतो रत्नं पाषाणः । *न ते मुखं चन्द्रमिति*-चन्द्रे कलङ्कः, त्वन्मुखं निष्कलङ्कम् । न ते *मुखं पद्ममिति*-पद्मस्य रात्रौ संकोचः, त्वदास्यस्य न कदापि । युष्मदोऽपि मन्यव्याप्यत्वात् पक्षे चतुर्थी प्राप्नोतीत्याह– *कुत्स्यतेऽनेनेति* ।

``हरिमप्यमंसत तृणाय, कुरुपतिमजीगणन्नवा ।
मानतुलितभुवनत्रितयाः, सरितः सुतादबिभयुर्न भूभृतः'' ।।1।।

परत्वात् षष्टीति-``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन तृणशब्दाद् नित्यं षष्ठी, युष्मच्छब्दात् तु ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इति षष्ठीविकल्पाद् द्वितीया, यदा तु युष्मदग्रतः ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन नित्यं षष्ठी तदा तृणशब्दाद् ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इत्यनेन विकल्पेन षष्ठी, तद्विकल्पपक्षे चतुर्थ्यपि-न तव तृणाय मन्ता, तृणस्य मन्ता, तृणं मन्तेति वा । *चतुर्थ्यपीति कश्चिदि*ति-अजितयशोवादी दुर्गसिंहश्च, ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन षष्ठीप्राप्तौ, ``वैकत्र द्वयोः'' (2. 2. 85.) इत्यस्य तु पक्षे सिद्धैवेति । *न त्वं बुसो मन्यसे* इति–अत्र विशेषणविशेष्यभावेन उभयमपि कर्म उक्तम्, यथा-कटः क्रियन्ते वीरणानि ।। 2. 2. 64.।।

हित-सुखाभ्याम् ।। 2. 2. 65. ।।

हित-सुखाभ्यां युक्ताद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । आतुराय आतुरस्य वा हितम्, आमयाविने आमयाविनो वा हितम्, चैत्राय चैत्रस्य वा सुखम् ।।65।।

तद् भद्रा-ऽऽयुष्य-क्षेमा-ऽर्थार्थेनाऽऽशिषि ।। 2. 2. 66. ।।

तदिति हित-सुखयोः परामर्शः, अर्थशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते; हिताद्यर्थैर्युक्ताद् गौणान्नाम्न आशिषि गम्यमानायां चतुर्थी वा भवति । हितार्थे-हितं जीवेभ्यो भूयात्, हितं जीवानां भूयात्; पथ्यं मैत्राय भूयात्, पथ्यं मैत्रस्य भूयात्; सुखार्थे-सुखं प्रजाभ्यो भूयात्-सुखं प्रजानां भूयात्; शं प्रजाभ्यो भूयात्, शं प्रजानां भूयात्; शर्म भवताद् भव्येभ्यः, शर्म भवताद् भव्यानाम्; भद्रार्थे-भद्रमस्तु जिनशासनाय, भद्रमस्तु जिनशासनस्य; कल्याणमस्तु जिनशासनाय, कल्याणमस्तु जिनशासनस्य; आयुष्यार्थे-आयुष्यमस्तु चैत्राय, आयुष्यमस्तु चैत्रस्य; दीर्घमायुरस्तु मैत्राय, दीर्घमायुरस्तु मैत्रस्य; चिरं जीवितमस्तु मैत्राय, चिरं जीवितमस्तु मैत्रस्य, क्षेमार्थे-क्षेमं भूयात् संघाय, क्षेमं भूयात् संघस्य, कुशलं भूयात् संघाय, कुशलं भूयात् संघस्य; निरामयं भूयात् साधुभ्यः, निरामयं भूयात् साधूनाम्; अर्थार्थे-अर्थो भूयात् मैत्राय, कार्यं भूयात् मैत्रस्य; प्रयोजनं भूयात् मैत्राय, प्रयोजनं भूयात् मैत्रस्य कार्यं भूयात् मैत्राय, कार्य भूयात् मैत्रस्य । आशिषीति किम् ? आयुष्यं प्राणिनां घृतम्, तत्त्वाख्याने न भवति । हित-सुखशब्दाभ्यां पूर्वेण विकल्पः सिद्ध एव, तदर्थार्थ तु तद्ग्रहणम् ।।66।।

न्या०स०–तद्भद्रा० । भद्र-क्षेमार्थयोरन्यत्रैकार्थत्वेऽपि क्षेमम्-आपदोऽभावः, भद्र-संपदुत्कर्ष इत्यर्थभेदाद् द्वितीयोपादानम् । *आयुष्यमस्तु चैत्रायेति*-आयुः प्रयोजनमस्य घृतादेरायुष्यं-

घृतादि; ततश्च *दीर्घमायुरस्तु मैत्रायेत्यादौ* चतुर्थी न प्राप्नोति, यत आयुः शब्देन जीवितमेवाभिधीयते, न तु जीवितकारणं घृतादिकम्, उच्यते-कार्ये कारणोपचारात्, यथा-इन्द्रः स्थूणा, यदा त्वायुरेव भेषजादि (त्वात्) स्वार्थे ट्यणि आयुष्यशब्दो निष्पाद्यते तदा निर्विवादं सिद्धमेव ।

आमयस्याभावः– *निरामयम्* ``विभक्तिसमीप०'' (3. 1. 39.) इति समासः । *आयुष्यं प्राणिनामिति*-अत्र आयुषि साधु ``तत्र साधो'' (7. 1. 15.) यः । *तद्ग्रहणमिति*-तर्हि प्रागप्यर्थग्रहणमस्तु, सत्यम्-तदर्था-नामाशिषि नियमार्थमिदम् ।।2. 2. 66.।।

परिक्रयणे ।। 2. 2. 67. ।।

परिक्रीयते-नियतकालं स्वीक्रियते येन तत् परिक्रयणं वेतनादि, तस्मिन् वर्तमानाद् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी वा भवति । शताय परिक्रीतः, शतेन परिक्रीतः; संभोगाय परिक्रीतः कर्ताऽस्मि तव नाऽप्रियम् । संभोगेन वा; शतादिना नियतकालं स्वीकृत इत्यर्थः । परीति किम् ? शतेन क्रीणाति, क्रयस्यात्र करणं न परिक्रयस्य । करणाश्रयणं किम् ? शताय परिक्रीतो मांसम्, मासात् मा भूत् ।।67।।

न्या०स०–परिक्र० । स्वीकारो ह्यात्मसात्करणं परिक्रय उच्यते, परिशब्दोऽत्र प्रत्यासत्ति द्योतयति, यथा-परिसहस्रा गाव इति सहस्रप्रत्यासन्नाः संभाव्य परिसहस्रा गाव उच्यन्ते, एवमत्रापि क्रयप्रत्यासन्नोऽल्पकालो वेतनादि तत् स्वीकारः परिक्रय उच्यते, तत्र यत् करणं परिक्रयक्रियायां साधकतम वेतनादि तत् करणव्युत्पत्त्या परिक्रयणमुच्यते । *वेतनादीति*-आदिपदाद् भाटकादिपरिग्रहः। *करणाश्रयणं किमिति*-करणाश्रयणं विना परिक्रीयतेऽस्मिन्नित्यनया व्युत्पत्त्या मासादपि स्याच्चतुर्थी । *शताय परिक्रीतो मासमिति*-क्रीत इति रूपं कर्मणि कर्तरि वा, तथाहि– परिक्रीयते स्म परिक्रीतः, कः कर्मतापन्नः चैत्रः, कं ? मासम्, कोऽर्थः ? मासे; यद्वा परिक्रीणीते स्म कर्त्तरि क्तः कर्मणोऽविवक्षितत्वात्; अथात्र मासमिति कर्म विद्यते तत् कथं कर्त्तरि क्तः, उच्यते-मासमित्यत्र ``कालाध्वभाव०'' (2. 2. 42.) इत्यनेनाधारस्य युगपत् कर्मसंज्ञाऽकर्मसंज्ञा च, तत्र कर्मसंज्ञायां कर्मणि द्वितीया, अकर्मसंज्ञायां तु कर्त्तरि क्तः ।।2. 2. 67.।।

शक्तार्थ-वषड्-नमः स्वस्ति-स्वाहा स्वधाभिः ।। 2. 2. 68. ।।

शक्तार्थैर्वषडादिभिश्च शब्दैर्युक्तात् गौणान्नाम्नश्चतुर्थी भवति, पृथग्योगाद् वेति निवृत्तम् ।

शक्तो मैत्रश्चैत्राय, शक्नोति मैत्रश्चैत्राय, प्रभवति मैत्रश्चैत्राय, अलं मल्लो मल्लाय, समर्थो मल्लो मल्लाय, प्रभुर्मल्लो मल्लाय; वषट्-वषडग्नये, वषडिन्द्राय, नमस्-नमोऽर्हद्भ्यः, नमः सिद्धेभ्यः; स्वस्ति-स्वस्ति प्रजाभ्यः, स्वस्ति संघाय; स्वाहा-इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा; स्वधा-पितृभ्यः स्वधा। स्वस्तिशब्दः क्षेमार्थः, तद्योगे आशिष्यपि परत्वाद् नित्यमेव-स्वस्ति संघाय भूयात्, स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात्।

तृतीयया योगाऽभिधानादिह न भवति—नमो जिनाऽऽयतनेभ्यः, नात्र जिनानां नमसा योगः, नमस्यति जिनानित्यत्रापि नमस्यधातुना योगो न नमसा। यद्येवं कथं स्वयंभुवे नमस्कृत्येति नानेनात्र चतुर्थी, किन्तु नमस्कृतिलक्षणया क्रिययाऽभिप्रेयमाणत्वात् संप्रदानत्वे ``चतुर्थी'' (2. 2. 53.) इत्यनेनैव ; स्वयंभुवं नमस्कृत्येत्यत्र तु क्रियाऽभिप्रेयत्वाविवक्षायां द्वितीयैव ॥68॥

न्या०स०—शक्तार्थ०। पृथग्योगाद् वेति निवृत्तमिति—तत्र कश्चित् सामस्त्येन पृथग्योगः, कश्चिदेकदेशेन संभवति, अत्र तावदेकदेशेन, तथाहि—``हितसुखाभ्याम्'' (2. 2. 65.) इत्यनेन स्वस्तिशब्दस्यैकयोगाकरणात्, एकयोगे च कृतेऽनाशसायां ``हितसुखस्वस्तिभिः'' इत्यनेन, आशंसायां तु ``तद्भद्र०'' (2. 2. 66.) इत्यनेन तदिति पूर्ववस्तुपरामर्शेन क्षेमद्वारेण वा विकल्पः सिद्ध एव, तदकरणाद् 'वा' इति निवृत्तमित्यर्थः। ननु कथमत्रैकदेशेन पृथग्योगो न सामस्त्येन ? उच्यते—``तद्भद्र'' (2. 2. 66.) इत्यत्र व्यभिचारात्, तथाहि—``तद्भद्र०'' (2. 2.66.) इत्यत्रार्थपरो निर्देशः, अयं तु शब्दपरः एवेति; ``परिक्रयणे'' (2. 2. 67.) इत्यनेन तु एकयोगत्वं न व्याख्येयमर्थस्याऽसंगतेः, तत्र हि परिक्रयणे वर्त्तमानान्नाम्न इत्युक्तम्, अनेन त्वेकयोगे वषडादिवत् परिक्रयणशब्द-स्वरूपपरिग्रहः स्यादिति। *परत्वान्नित्यमेवे*ति—ननु ``स्पर्द्धे'' (7. 4. 119.) परः, समानविषययोश्च स्पर्ध इति, समानविषयत्वं ``तद्भद्र०'' (2. 2. 66.) इत्यस्य दर्शयति, तथाहि—स्वस्ति जाल्मायेत्यत्र जाल्मत्वेनाशीरभावात् तत्त्वाख्यानमिदमिति स्वस्तिचतुर्थ्या अवकाशः, क्षेमं भूयात् संघायेत्यत्र तु क्षेमचतुर्थ्या अवकाशः, स्वस्ति प्रजाभ्य इत्यत्रोभयप्राप्तौ परत्वादाशिष्यपि नित्यं स्वस्तिचतुर्थी भवतीत्यर्थः। *नमसे*ति-यद्वाऽस्तु नमसा योगः, तथापि नमःशब्दस्यार्थवतो ग्रहणादनर्थकयोगे न भवति, अत्र हि नमस्यधातुरर्थवान्न तु तदेकदेशो नमःशब्द इति; अथवा पदान्तरसंबन्धानपेक्षणादन्तरङ्गया द्वितीयया कारक-विभक्त्या उपपदविभक्तिस्तदपेक्षणाद् बहिरङ्गा चतुर्थी बाध्यते ❈ उपपदविभक्तेः कारक-विभक्तिर्बलीयसी ❈ इति न्यायात्, ननु कारकविभक्तिरपि क्रियापदापेक्षिणीति कथ-मन्तरङ्गा ? नैष दोषः—कारकस्य क्रियामात्रसंबन्धाव्यभिचारात् स्वरूपान्तर्गतैव सापेक्षय।

यद्येवमिति—कारकविभक्त्या द्वितीयया। बाध्यमाना कथमत्र चतुर्थीति प्रश्नार्थः।

``स्वयंभुवे नमस्कृत्य, ब्रह्मणेऽमिततेजसे।
मुनिप्रणीतान् विविधान्, मन्त्रान् व्याख्यामि शाश्वतान्'' ॥1॥
॥2. 2. 68.॥

पञ्चम्यपादाने ॥ 2. 2. 69. ॥

अपादाने कारके गौणान्नाम्नो यथासंख्यमेक-द्वि-बहौ 'ङसि-भ्यां-भ्यस्' लक्षणा पञ्चमी विभक्तिर्भवति। ग्रामादागच्छति, पर्वतादवरोहति, गोदाभ्यामागच्छति, यवेभ्यो गां वारयति, कुसूलात् पचति, बलाहकाद् विद्योतते विद्युत्, चौराद् बिभेति ॥69॥

आङाऽवधौ ॥ 2. 2. 70. ॥

अवधिर्मर्यादा, अभिविधिरपि तद्विशेष एवेति तस्यापि ग्रहणम्; अवधौ वर्तमानात् आङा युक्ताद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति। आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, पाटलिपुत्रमवधीकृत्य तद्व्याप्याऽव्याप्य वा वृष्ट इत्यर्थः; आ कुमारेभ्यो यशो गतं गौतमस्य ॥70॥

न्या०स०—आङाव०। प्रवृत्तस्य यत्र निरोधः स मर्यादा, मर्यादाभूतमेव यदा क्रियया व्याप्यते तदाऽभिविधिः। *पाटलिपुत्रमवधीकृत्येति*—एतावानर्थ आङा द्योत्यते ॥2. 2. 70.॥

पर्यपाभ्यां वर्ज्ये ॥ 2. 2. 71. ॥

वर्ज्ये-वर्जनीयेऽर्थे वर्तमानात् पर्यपाभ्यां युक्ताद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति। परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, परि परि पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः; अप पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः, पाटलिपुत्रं वर्जयित्वेत्यर्थः। वर्ज्य इति किम्? अपशब्दो मैत्रस्य ॥71॥

न्या०स०—पर्यपा०। वर्ज्य-वर्ज्यकसंबन्धः पर्यपाभ्यां द्योत्यत इति। ``वाक्यस्य परिवर्जने'' (7. 4. 88.) इत्यनेन *परि परीत्यत्र* वा द्वित्वम्। *अपशब्दो मैत्रस्य* अपगतः शब्दात्, तत्पुरुषस्य पूर्वपदप्रधानत्वात् पूर्वपदेन 'अप' इत्यनेन सह मैत्रशब्दस्य योगोऽस्तीति न वर्ज्य इति व्यावृत्तेद्वर्यङ्गविकलता, अत्र मैत्रशब्दान्मा भूत् ॥2. 2. 71.॥

यतः प्रतिनिधि-प्रतिदाने प्रतिना ॥ 2. 2. 72. ॥

प्रतिनिधीयत इति प्रतिनिधिर्मुख्यस्य सदृशोऽर्थः, प्रतिदानं गृहीतस्य प्रत्यर्पणं विशोधनमिति यावत्; प्रतिना योगे यतः प्रतिनिधिर्यतश्च प्रतिदानं तद्वाचिनो गौणान्नाम्नः

पञ्चमी भवति । प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति, अभयकुमारः श्रेणिकतः प्रति, सदृश इत्यर्थः; तिलेभ्यः प्रति माषानस्मै प्रयच्छति, तिलान् गृहीत्वा माषान् ददातीत्यर्थः; एवं-सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रति सिञ्चति, सर्पिषोऽस्मै तैलं प्रति सिक्त्वा व्रजति । यत इति किम् ? 'तिलेभ्यः प्रति माषान् प्रयच्छति' इत्यत्र माषशब्दान्मा भूत् । प्रतिनिधि-प्रतिदान इति क्रिम् ? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।।72।।

न्या०स०–यतः प्रति० । यस्मात् ``किमद्व्यादि०'' (7. 2. 89.) इत्यपादाने तस् ``आ द्वेरः'' (2. 1. 41.) यदा यस्य यतः, तदा ``आद्यादिभ्यः'' (7. 2. 84.) ``पृषोदर०'' (3. 2. 155.) इति दलोपः । प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दात् प्रथमा औ दीयते । *प्रतिनिधीयत* इति-प्रतीतः सन् मुख्यस्थाने निधीयते–आरोप्यते, सदृशः क्रियते इति तात्पर्यार्थः । *प्रतिदानमि*ति-तुल्यजातीयेनाऽतुल्यजातीयेन वा विशोधनमिति शेषः ।

प्रद्युम्नो वासुदेवात् प्रति द्युभिर्मीयते ``द्युसुनिभ्यो माङो डित्'' (उणा० 266) नः, प्रकृष्टं द्युम्नंपराक्रमो यस्य प्रद्युम्नः, सदृशः क्रियते, केन सह ? वासुदेवेनेति, ``तुल्यार्थैः०'' (2. 2. 116.) इति तृतीया-षष्ठ्योः प्राप्तिः । श्रेणीः कायति प्रसन्नचक्षुषेति-श्रेणिकः, तस्मात् ``प्रतिना पञ्चम्याः'' (7. 2. 87) इति तसुः । *तिलेभ्यः* प्रतीति-प्रयच्छति-प्रददाति, कान् ? माषान्, कथं भूतान् ? प्रति-प्रतिदानभूतान्, केषां ? तिलानामिति, प्रतिशब्दात् द्वितीयैकवचनम् । *प्रति सिञ्चति* नात्र सिचः प्रतिना योगोऽपि तु सर्पिष इति ``स्थासेनि०'' (2. 3. 40.) इत्यनेनोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम् ।।2. 2. 72.।।

आख्यातर्युपयोगे ।। 2. 2. 73. ।।

आख्याता-प्रतिपादयिता, तत्र वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति; उपयोगे-नियमपूर्वकविद्याग्रहणविषये । उपाध्यायादधीते, आचार्यादागमयति, श्रावकात् श्रृणोति ; प्रत्येकबुद्धादधिगच्छति । आख्यातरीति किम् ? उपाध्यायात् शास्त्रमागमयति, अत्र शास्त्रान्मा भूत् । उपयोग इति किम् ? नटस्य श्रृणोति, उपयोगविवक्षायां त्वत्राऽपि भवति-नटाद् भारतं शृणोति । अपादानत्वेनैव सिद्धे उपयोग एव यथा स्यादित्येवमर्थं वचनम् ।।73।।

न्या०स०–आख्यातर्यु० । *नियमपूर्वके*ति-नियमो विद्याग्रहणार्थं गुरुशुश्रूषादिकं शिष्यवृत्तमाख्यायते, न तूपयोगमात्रं, यत उपयोगमात्रं नटादपि भवत्यतस्तस्मादपि स्यात् पञ्चमी । *श्रावकादि*ति-श्रावयतीति णकः । *प्रत्येके*ति-प्रत्येकम्-इन्द्रध्वजादिकं निमित्तमाश्रित्य,

बुद्धः प्रत्येकबुद्धः ।।2. 2. 73.।।

गम्ययपः कर्मा-ऽऽधारे ।। 2. 2. 74. ।।

गम्यस्य-अप्रयुज्यमानस्य, यपो-यबन्तस्य, यत् कर्म आधारश्च तत्र वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति ; द्वितीया-सप्तम्योरपवादः । प्रासादात् प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते; प्रासादमारुह्याऽऽसने चोपविश्य प्रेक्षते इत्यर्थः । गम्यग्रहणं किम् ? प्रासादमारुह्य शेते, आसने उपविश्य भुङ्क्ते; नह्यत्र यबन्तस्याऽप्रयोगे तदर्थः प्रतीयते ।

यब्ग्रहणं किम् ? प्रविश पिण्डीम् प्रविश तर्पणम्, वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्रः अत्र हि भक्षय-कुरु-अस्ति-वसतीनां गम्यता न तु यपः । ननु यथा कुशूलादादाय पचति-कुशूलात् पचतीत्यत्रा-दानाऽङ्गे पाके पचेर्वर्तनादुपात्तविषयमेतदपादानमिति पञ्चमी भवति, एवमिहाऽपि अपक्रमणाऽङ्गे दर्शने दृशेर्वर्तनाद् भविष्यति; तथाहि—तत् ततोऽपक्रामति, अनपक्रामद्धि न विषयं गृह्णीयात्, सत्यम्-किन्तु आरुह्य उपविश्येति यबन्तार्थोऽपि गम्यते, ततो यथा यबन्ते प्रयुज्यमाने कर्मा-ऽधिकरणयोर्द्वितीया-सप्तम्यौ भवतस्तद्वदप्रयुज्यमानेऽपि तदर्थप्रतीतेस्ते प्रसज्येयातामिति सूत्रमा- रभ्यते ।।74।।

न्या०स०—गम्ययपः० । *एवमिहापी*ति-अयमर्थः प्रासादान्निः सृत्यापक्रम्य चक्षू रश्मिद्वारा प्रेक्षते, प्रासादान्निस्सरता चक्षुषा कृत्वा देवदत्तः प्रेक्षते वा । *तत् ततोऽपक्रामती*ति, अयमर्थः— ततः प्रासादादेः, तत्-चक्षुरादि, अपैतिनिस्सरतीति तस्यापायेऽवधिभूतत्वादपादाने पञ्चमी सिदैव । *अनपक्रामद्धी*ति-एतन्नैयायिकमताभिप्रायेणोक्तं, ते हि प्राप्यकारीणीन्द्रियाणि मन्यन्ते । *दृशेर्वर्तनादि*ति-दृशेरिति कोऽर्थः ? दृशिसमानार्थस्य ईक्षेरित्यर्थः ।।2. 2. 74.।।

प्रभृत्यन्यार्थ-दिक्शब्द-बहिरारादितरैः ।। 2. 2. 75. ।।

प्रभृत्यर्थैः अन्यार्थैः दिक्शब्दैः 'बहिस् आरात् इतर' इत्येतैश्च शब्दै-र्युक्ताद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति । प्रभृत्यर्थः—ततः प्रभृति, कार्त्तिक्याः प्रभृति, आरभ्य ग्रीष्मात्, ग्रीष्मादारभ्य । अन्यार्थः—अन्यो मैत्रात्, भिन्न-श्चैत्रात्, अर्थान्तरं घटात्, व्यतिरिक्तः पटात्, विलक्षणोऽश्वात्, पृथग् गजात्, हिरुग् गार्ग्यात् ।

दिक्शब्दः—ग्रामात् पूर्वस्यां दिशि वसति, ग्रामादुत्तरस्यां दिशि वसति; दिशि दृष्टाः शब्दा दिक्शब्दा इति देश-कालादिवृत्तिनापि भवति-पूर्व उज्जयिन्या गोनर्दः, उत्तरो विन्ध्यात् पारियात्रः, पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः, पश्चिमो रामाद् युधिष्ठिरः, एतदर्थमेव च शब्दशब्दोपादानम्;

गम्यमानेनाऽपि च दिक्शब्देन भवति-क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, परेणेति गम्यते, ``कमेर्णिङ्'' (3. 4. 2.) परो भवतीति गम्यते; प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात्, उदग् ग्रामात्, प्राचीनं ग्रामादाम्राः, दक्षिणाहि ग्रामात्, उत्तराहि ग्रामात्, दक्षिणा ग्रामात्, उत्तरा ग्रामात्, न्यग् मैत्रस्याऽवस्थित इत्युपसर्जनत्वान्न दिक्शब्दता । बहिस्-बहिर्ग्रामात्, बहिष्पुरात्, आरादित्यव्ययं दूरसमीपयोर्वाचकम्, तेन तद्योगे वक्ष्यमाणस्य ``आरादर्थैः'' (2. 2. 78.) इति विकल्पस्यापवादोऽयम्-आराद् ग्रामात् क्षेत्रम्, आरात् मैत्रात् पीठम्; इतर-शब्दो द्वयोरुपलक्षितयोरन्यतरवचनः, तेनान्यार्थाद् भिद्यते-इतरश्चैत्रात्, तस्य द्वितीयो मैत्रादिरित्यर्थः । अथ `जिनदत्तादन्योऽयं मैत्रस्य, जिनदत्तादितरोऽयं चैत्रस्य, छात्राणां पूर्वमामन्त्रयस्व, कायस्य पूर्वम्' इत्यादौ मैत्र-चैत्र-च्छात्र-कायशब्देभ्यः कथं न भवति ? उच्यते-प्रत्यासत्तेर्यस्यैवान्यत्वादिधर्मनिमित्तोऽन्यशब्दादिना योगस्तत एव जिनदत्तादेः पञ्चमी भवति, न मैत्रादेरिति ॥75॥

न्या०स०–प्रभृत्य० । दिशः शब्दाः, दिशि दृष्टाः शब्दा वा, तदा ``मयूर-व्यंसक०'' (3. 1. 116.) इति दृष्टलोपः, दिशि ये वाचकत्वेन दृष्टास्ते इह दिक्शब्दाः इति विज्ञायन्ते, न तु दिशि वर्तमाना एव, तेन दिशो वाचकत्वेन दृष्टस्य शब्दस्य देशे काले, आदिशब्दात् भावे द्रव्ये च वृत्तावपि तद्योगे पञ्चमी । *ग्रीष्मादारभ्ये*ति-आरम्येति क्त्वान्तम्, अक्त्वान्तमव्ययं वा । *अर्थान्तरमि*ति-अर्थमन्तरयति, अथवा एकस्मादर्थादिति वा । *पृथगि*ति-पृथिः सूत्रधातुः ``रुधि-पृथि०'' (उणा० 874) इति किदक् ।

हिरुक् इति-ह्रियते इति ``द्रागादयः'' (उणा ० 870) । *पारियात्र* इति-पारियातुरयं ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) अण्, अथवा परियाता देवता अस्य ``देवता'' (6. 2. 101.) अण्, यद्वा परिगता यात्रा यस्यासौ परियात्रः, परियात्र एव पारियात्रः–पर्वतः, पर्वतसमीपदेशोऽपि । प्रागेव ``अदिक्स्त्रियाम्०'' (7. 1. 107.) इति स्वार्थे ईनः, नपुंसकत्वं तु सामान्यभावेन, तथा च वर्तते, किं तत् ? कर्तृ *प्राचीनं*, किं तत् ? *आम्रा* इति, यथा प्राक्शब्दः केवलोऽपि दिग्वाची तथा स्वार्थिकेनप्रत्ययान्तोऽपि, ततस्तदन्त-योगेऽपि पञ्चमीति । अञ्चत्यन्तयोगे यथा प्राग् ग्रामादित्यादौ पञ्चमी तथाऽत्रापीति कश्चिन्मुह्येत् तं प्रत्याह-*न्यग् मैत्रस्ये*ति-त्यक्-उपसर्जनं यथा भवति एवमवस्थित इत्यर्थः । *अत्यार्थाद् भिद्यते* इति-अयमर्थः अन्य इति प्रकृतिविलक्षणोऽर्थ उच्यते, इतर इति च दृश्यमानप्रतियोगीत्यर्थः, *छात्राणामि*ति-छात्राणामवयवश्छात्रस्तस्मात् पूर्वं छात्रमामन्त्रयस्वेति पूर्वत्वं छात्रान्तरापेक्षं, न छात्राणामिति समुदायापेक्षम्, समुदायस्य हि एकदेशः सः, न तस्य समुदायापेक्षया पूर्वत्वम्, तत्र पूर्वत्वेन योगश्छात्रान्तरस्य, समुदायस्य त्वेकदेशत्वेनेति । *कायस्य पूर्वमि*ति-कायस्यावयविनो यद्भागान्तरं,

किं विशिष्टं ? पूर्वं, कस्याः सकाशात् ? नाभेः कायस्य संबन्धि यदवयवान्तरं पूर्वं तस्य नाभिरूपेणाऽवयवान्तरेण सह सबन्धः, कायस्य त्ववयवत्वेन ॥2. 2. 75.॥

ऋणाद्धेतोः ॥ 2. 2. 76. ॥

फलसाधनयोग्यः पदार्थो हेतुः, हेतुभूतं यद् ऋणं तद्वाचिनो गौणान्नाम्नः पञ्चमी भवति; तृतीयाऽपवादः । शताद् बद्धः, सहस्राद् बद्धः । हेतोरिति किम् ? शतेन बद्धः, शतेन बन्धितः, शतेन चैत्रेण बन्धितः; कर्तरि प्रयोज्ये प्रयोजके च कर्तृलक्षणा तृतीया भवति, हेतुर्हि फलसाधनयोग्यः पदार्थः कर्त्रादिभ्योऽन्य उच्यते इति कथं कर्तुर्हेतुत्वम् ? ॥76॥

गुणादस्त्रियां नवा ॥ 2. 2. 77. ॥

अस्त्रियां वर्तमानाद् हेतुभूतगुणवाचिनो गौणान्नाम्नः पञ्चमी वा भवति । जाड्याद् बद्धः, जाड्येन बद्धः; पारिख्यात्याद् मुक्तः, पारिख्यात्येन मुक्तः; मोहाद् बद्धः, मोहेन बद्धः; ज्ञानाद् मुक्तः, ज्ञानेन मुक्तः । गुणादिति किम् ? धनेन कुलम् । हेतोरित्येव-जाड्यस्यैतद् रूपम् ।

अस्त्रियामिति किम् ? बुद्ध्या मुक्तः, प्रज्ञया मुक्तः, विद्यया यशः । अस्त्यत्राग्निर्धूमात्, नास्तीह घटोऽनुपलब्धेः, सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वाऽन्यथानुपपत्तेरित्यादौ नाऽग्न्यादेर्धूमादिर्हेतुः, कस्य तर्हि ? तज्ज्ञानस्य, कथं तर्हि पञ्चमी ? ``गम्ययपः कर्माऽऽधारे'' (2. 2. 74.) इति भविष्यति, धूमादिकमुपलभ्याग्न्यादिः प्रतिपत्तव्य इति ह्यत्राऽर्थः, ज्ञानहेतुत्वविवक्षायां तु हेतुत्वलक्षणा तृतीया भवति-धूमेनाग्निः, अनुपलब्ध्या घटाऽभावः, सत्त्वान्यथानुपपत्त्या सर्वमनेकान्तात्मकं प्रतिपत्तव्यमिति ॥77॥

न्या०स०–गुणाद० । जडस्य भावः-दृडादित्वात् ट्यण् । परिख्यातस्य भावः ``पतिराजान्त०'' (7. 1. 60.) इति ट्यण् । *अस्त्यत्राग्निधूमादित्यु*दाहरणत्रयं यथाक्रमं शैव-बौद्ध-जैनमतेन । *सत्त्वान्यथे*ती–सत्त्वम्-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वम्, तस्य सत्त्वस्य, अन्यथा-अनेकान्तात्मकत्वमन्तरेण, अनुपपत्तेः-अघटनात् ॥2. 2. 77.॥

आरादर्थैः ॥ 2. 2. 78. ॥

आराद् दूरा-ऽन्तिकयोः, तन्त्रेणोभयग्रहणम्; दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च शब्दैर्युक्ताद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी वा भवति । दूरं ग्रामात्, दूरं ग्रामस्य; विप्रकृष्टं ग्रामात्, विप्रकृष्टं ग्रामस्य; अन्तिकं

ग्रामात्, अन्तिकं ग्रामस्य ; अभ्याशं ग्रामात्, अभ्याशं ग्रामस्य; संनिकृष्टं ग्रामात्, संनिकृष्टं ग्रामस्य । आरात्शब्दयोगे तु प्रभृत्यादिसूत्रेण नित्यमेव पञ्चमी ।

अथ दूरं हितं ग्रामात्, दूरं हितं ग्रामस्य भूयादित्यादौ हितादियोगे पञ्चम्यभावपक्षे ``हितसुखाभ्याम्'' (2. 2. 65.) इति चतुर्थी कस्मान्न भवति ?, उच्यते-हित-सुखादियोगे सा चतुर्थी, इह तु दूरान्तिकादिनैव योगो न तद्विशेषणेन हितादिनेति न भवति, यदा तु हितादिना विशेष्यतया योगस्तदा चतुर्थी भवत्येव । अन्ये त्वसत्त्ववचनैरेवाऽऽरादर्थैरिच्छन्ति ।।78।।

न्या०स०–आरादर्थैः । दूरान्तिकादिनैव योग इति-कथं ? वर्त्तते, किं तत् कर्तृ ? दूरं, कस्य ? ग्रामस्य, किं भूतं दूरं ? हितमिति दूरशब्देनैव ग्रामस्य संबन्धो विवक्षितो न तु हितशब्देन । *असत्त्वत्वचनैरि*ति-धर्ममात्रवृत्तिभिः । कारकशेषत्वात् षष्ठीप्राप्तौ वचनम् ।।2. 2. 78.।।

स्तोका-ऽल्प-कृच्छ्र-कतिपयादसत्त्वे करणे ।। 2. 2. 79. ।।

यतो द्रव्ये शब्दप्रवृत्तिः स पर्यायो गुणोऽसत्त्वम्, तेनैव वा रूपेणाऽभिधीयमानं द्रव्यादि; तस्मिन् करणे वर्तमानेभ्यः स्तोकादिभ्यः पञ्चमी वा भवति । स्तोकाद् मुक्तः, स्तोकेन मुक्तः, अल्पाद् मुक्तः, अल्पेन मुक्तः; कृच्छ्राद् मुक्तः, कृच्छ्रेण मुक्तः; कतिपयाद् मुक्तः, कतिपयेन मुक्तः ।

असत्त्व इति किम् ? स्तोकेन विषेण हतः, अल्पेन मधुना मत्तः, कृच्छ्रेण भोजनेन निर्विण्णः; विषादिद्रव्यसामानाधिकरण्यादत्र सत्त्ववृत्तिता । करण इति किम् ? क्रियाविशेषणे मा भूत्–स्तोकं चलति । इह च स्तोकादीनामसत्त्ववाचित्वाद् द्वित्व-बहुत्वाऽसंभवे एकवचनमेव ।

``स्तोकस्य चाऽभिनिर्वृत्तेरनिर्वृत्तेश्च तस्य वा ।
प्रसिद्धिं करणत्वस्य, स्तोकादीनां प्रचक्षते'' ।।1।। 79।।

न्या०स०–स्तोकाल्प० । यतः स्तोकत्वादेर्निमित्ताद् द्रव्ये विशेष्ये स्तोकादि-शब्दप्रवृत्तिः स गुणोऽसत्त्वं, शब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमित्यर्थः । *तेनैव वे*ति-असत्त्वरूपेण, अयमर्थः– तिरोहितधनादि विशेष्यं स्तोकादिरूपेणैव सामान्यात्मनाऽभिधीयमानं धानादिरूपव्यावृत्तं स्तोकादिरूपापन्नं द्रव्यं गुणः क्रिया वा यदा प्रतीयते तदा द्रव्याद्यसत्त्वमिति । *असत्त्ववाचित्वादि*ति द्रव्यस्यैव विशेषसंख्यायोगित्वादिति शेषः ।

दित्वबहुत्वासंभवे इति-एकत्वनिबन्धनैकवचनस्यापि असंभवेऔत्सर्गिकमेकवचनम् । स्तोकाल्पादिशब्दानां स्तोकत्वाद्यर्थाभिधायकत्वेनासत्त्ववाचित्वात् क्रियां प्रति साधकतमत्वाभावात्

करणत्वाभावे कथमनेन पञ्चमीत्याशङ्कायाममीषां पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या करणत्वमाह । यद्वा स्तोकेन राहुणा मुक्तः शशीत्यादौ मोचनामोचनलक्षणं क्रियाद्वयं विद्यते, यतः स्तोकेन मुक्त इति, कोऽर्थः ? किञ्चिन्मुक्तः किञ्चिदमुक्त इत्यर्थः, ततश्च कस्याः क्रियायां अपेक्षया अत्र करणसंज्ञेत्याह-*स्तोकस्ये*त्यादि-स्तोकस्याऽभिनिर्वृत्तिं निष्पत्तिं स्तोकस्य चाऽनिर्वृत्तिमनिष्पत्तिमाश्रित्य स्तोकादीनां, करणत्वप्रसिद्धिमाचक्षते पूर्वाचार्याः ॥2. 2. 79.॥

अज्ञाने ज्ञः षष्ठी ॥ 2. 2. 80. ॥

अज्ञानेऽर्थे वर्तमानस्य जानातेः संबन्धिनि करणे वर्तमानाद् गौणान्नाम्न एक-द्वि-बहौ यथासंख्यं 'ङसोसाम्' लक्षणा षष्ठी विभक्तिर्भवति । वेति निवृत्तम् । सर्पिषो जानीते-सर्पिषा करणभूतेन प्रवर्तत इत्यर्थः, प्रवृत्तिरत्र जानातेरर्थः; एवं सर्पिषोर्जानीते, सर्पिषां जानीते; अथवा—सर्पिषि रक्तो विरक्तो वा चित्तभ्रान्त्या सर्वमेवोदकादि सर्पीरूपेण प्रतिपद्यत इति मिथ्याज्ञानवचनोऽत्र जानातिः, मिथ्याज्ञानं चाज्ञानमेव भवति ।

अज्ञान इति किम् ? स्वरेण पुत्रं जानाति । करण इत्येव-तैलं सर्पिषो जानाति—तैलं सर्पीरूपेण प्रतिपद्यत इत्यर्थः, अत्र तैलात् कर्मणो मा भूत्, सर्पिषस्तु करणत्वाद् भवत्येव । तृतीयाऽपवादो योगः ॥80॥

न्या०स०—अज्ञाने० । *वेति निवृत्तमि*ति-भिन्नविभक्तिविधानादिति शेषः । *सर्पिषो जानीते* अत्र ''ज्ञः'' (3. 3. 82.) इत्यात्मनेपदम् । अत्र करणस्य संबन्धिरूपविवक्षया सर्पिष इदं ज्ञानं नान्यस्येति षष्ठी सिध्यतीति किमर्थोऽयं योग इत्याह—*तृतीयापवादो योग* इति-अयमर्थः-सिध्यति षष्ठी, किन्तु करणविवक्षायां तृतीया मा भूदित्ययं योगः । *सर्पिषामि*ति-आज-गव्य-माहिषाणां घृतानामित्यर्थः ॥2. 2. 80.॥

शेषे ॥ 2. 2. 81. ॥

कर्मादिभ्योऽन्यः क्रियाकारकपूर्वकः कर्माद्यविवक्षालक्षणोऽश्रूयमाणक्रियः श्रूयमाणक्रियो वाऽस्येदंभावरूपः स्वस्वामिभावादिः संबन्धविशेषः—शेषः, तत्र गौणान्नाम्नः षष्ठी भवति । राज्ञः पुरुषः, उपगोरपत्यम्, पशोः पादः, वृक्षस्य शाखा, क्षीरस्य विकारः, गवां समूहः, कुम्भस्य समीपम्, पृथिव्याः स्वामीति, न माषाणामश्नीयात्, सुभाषितस्य शिक्षते, न ते सुखस्य जानते, न तस्य सायमश्नीयात्, अन्नस्य नो देहि, अक्षाणां दीव्यति, घ्नतः पृष्ठं ददाति, नटस्य श्रृणोति, वृक्षस्य पर्णं पतति, महतां विभाषते । कथं पुनः कर्मादीनां

सतामप्यविवक्षा ? यथा–अनुदरा कन्या, अलोमिका एडकेति ।

गौणादित्येव–राज्ञः पुरुषः, अत्र संबन्धस्य द्विष्टत्वेऽपि प्रधानात् पुरुषान्न भवति, प्राधान्यं चास्याऽऽख्यातपदसामा-नाधिकरण्यम्, तेन ततः प्रथमैव भवति, यदा तु पुरुषो राजानं प्रति गुणत्वं प्रतिपद्यते तदा पुरुषस्य राजेति भवत्येव । कथं राज्ञः पुरुषस्य कम्बल इति ? राजाऽपेक्षया पुरुषस्य प्राधान्येऽपि कम्बलाऽपेक्षया गौणत्वाद् भवति । प्रथमाऽपवादो योगः ॥81॥

न्या०स०–शेषे० । सरस्वतीकण्ठाभरणे कर्मादिकारकाणि, इन्द्र-चान्द्राभ्यां करणप्राधान्य, श्रुतपालेन कलापके चाऽपादानस्य प्राधान्यं, शकटाभिप्रायेण स्वमते च कर्तुः प्राधान्यम् । *क्रियाकारकपूर्वक* इति-क्रिया च कारकं च क्रियाकारके, ते पूर्वे यस्य स तथा, यथा-राजपुरुषः, राजा कर्ता पुरुषं बिभर्ति अतो राजपुरुष इत्युच्यते । *कर्माद्यविवक्षालक्षण* इति-कर्मादिभ्योऽन्य इति तु विशेषेभ्योऽन्यत्वं विवक्षितुं न तु सामान्यादनाश्रितविशेषात् कारकादपि । *अश्रूयमाणक्रियः* यथा-*राज्ञः पुरुष* इत्यादि । *श्रूयमाणक्रियः*, यथा-न *माषाणामश्नीया*दिति ।

अस्येदंभावरूप इति-अस्येदंशब्दस्य यो भावः–प्रवृत्तिनिमित्तं सः । *संबन्धविशेष* इति-अत्र कारकसंबन्धाद् भिद्यमानः सम्बन्धः संबन्धविशेष उच्यते, यावता संबन्ध इत्युक्तेऽपि सिद्ध्येत्, विशेषस्थापना-योक्तम् । *राज्ञः पुरुष* इत्यादिषु यथाक्रमं संबन्धः कथ्यते–स्वस्वामि-भावसंबन्धः, जन्यजनकसं०, अवयवा-ऽवयविसं०, आधार-ऽऽधेयसं०, प्रकृतिविकारभाव-संबन्धः, समूह-समूहिभावसं०, समीप-समीपिभावसं०, पाल्य-पालकभावसं०, आश्याशन-भावसं०, शिक्षणीय- शिक्षणभावसं०, ज्ञान-ज्ञेयभावसं०, आस्यासनभावसं०, भक्ष्य-भक्षणभावसं०, देवनद्यूतभावसं०, दान-दानिविषयसं०, श्रवण-श्रवणावधिभावसं, पतन-पतनावधिभावसं०, विभाष्य-विभाषणभावसंबन्धः, इत्यादिः । *प्रथमापवाद* इति-एक-द्वि-बहाविति संख्यामात्रमुपादाय नाम्नः प्रधानादप्रधानाच्च सामान्येन प्रथमा विधीयते, तत्राऽयं षष्ठीविधिगौणादिति विशेषमुपादाय प्रवर्त्तमानस्तदपवादो भवति ॥ 2. 2. 81. ॥

रि-रिष्टात्-स्तादस्तादसतसाता ॥ 2. 2. 82. ॥

'रि-रिष्टात् - स्तात् अस्तात् - अस्-अतस्-आत्' प्रत्ययान्तैर्युक्ताद् गौणान्नाम्नः षष्ठी विभक्तिर्भवति । रि-उपरि ग्रामस्य, रिष्टात्-उपरिष्टाद् ग्रामस्य, स्तात्-परस्ताद् ग्रामस्य, अवरस्ताद् ग्रामस्य; अस्तात्-पुरस्ताद् ग्रामस्य, अवस्ताद् ग्रामस्य, अधस्ताद् ग्रामस्य; अस्-पुरो ग्रामस्य, अवो ग्रामस्य, अधो ग्रामस्य; अतस्-दक्षिणतो ग्रामस्य, उत्तरतो ग्रामस्य,

परतो ग्रामस्य, अवरतो ग्रामस्य; आत्-अधराद् ग्रामस्य, दक्षिणाद् ग्रामस्य, उत्तराद् ग्रामस्य, पश्चाद् ग्रामस्य; दक्षिणपश्चाद् ग्रामस्य । पञ्चम्यपवादो योगः ॥82॥

न्या०स०–रिरिष्टा । परस्तादिति–परः परा वा प्रकृतिः ``परावरात् स्तात्'' (7. 2. 116.) ``सर्वादयोऽस्यादौ'' (3. 2. 16.) इति पुंभावः । *दक्षिण-पश्चादिति*-दक्षिणा च साऽपरा च दक्षिणापरा तस्यां वसति । रिप्रभृतयः प्रत्ययाः स्वार्थिका दिक्शब्देभ्यो विधीयन्ते, अतस्तदन्ता अपि दिक्शब्दा एव इति ``शेषे'' (2. 2. 81.) इत्यस्यापवादः ``प्रभृत्यन्यार्थ०'' (2. 2. 75.) इति पञ्चमी विधीयते अत एव दक्षिणा ग्रामाद् रमणीयम्, दक्षिणाहि ग्रामाद् रमणीयमिति ``आही दूरे'' (7. 2. 120.) इति प्रत्ययद्वययोगे षष्ठी न लभ्यत इत्याह–*पञ्चम्यपवाद* इति ॥2. 2. 82.॥

कर्मणि कृतः ॥ 2. 2. 83. ॥

कृतः–कृदन्तस्य संबन्धिनि कर्मणि गौणान्नाम्नः षष्ठी भवति, द्वितीयाऽपवादः । अपां स्रष्टा, पुरां भेत्ता, वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्राणां दर्शक, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्ता, उदकस्य पिबः, ग्रामस्य गमनम्, गवां दोहः । कर्मणीति किम् ? शस्त्रेण भेत्ता । क्रियाविशेषणस्यापि कर्मत्वाभावान्न भवति-साधु पक्ता, स्तोकं पक्ता । कृत इति किम् ? कटं करोति, कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम्; त्यादि- तद्धितयोः कर्मणि मा भूत् । कथमर्थस्य त्यागी ?, सुखस्य भोगी ?, विषयाणां जयी ?, वीराणां प्रसविनीति ? अत्र ताच्छीलिकयोर्धिनणिनोः कर्मेति भवति ॥83॥

न्या०स०–कर्मणि कृतः । द्वितीयापवाद इति–``कर्मणि'' (2. 2. 40.) इत्यनेन प्राप्तायाः । *पुत्रपौत्राणामिति*-पुत्रस्यापत्यमनन्तरं ``पुनर्भू पुत्र०'' (6. 1. 39.) इत्यञ्, पुत्रस्य पौत्राः पुत्रसहिताः पौत्रा वा इति विधेयम्, द्वन्द्वे तु ``गवाश्वादिः'' (3. 1. 144.) इति समाहृतिः स्यात् । पिबतीति पिबः ``घ्राध्मा०'' (5. 1. 58.) इति शः।

कृत इति किमिति–अयमर्थः– ननु कर्म कारकं, तच्च क्रियामन्तरेण न संभवति, यतः क्रियायाः कारकं कारकं भवति, क्रिया च प्रत्ययसहितं धातुमाक्षिपति, धातोश्च द्वये एव प्रत्यया विधीयन्ते–त्यादयः कृतश्च, तत्र ``तं पचति०'' (6. 4. 161.) इत्यादिज्ञापकात् त्यादिप्रयोगे द्वितीयाविधानात् कृत्प्रयोग एव षष्ठी भविष्यति, किं कृद्ग्रहणेनेति, नैवम्-कृद्ग्रहणमन्तरेण तद्धितप्रयोगेऽपि यत् कर्म तत्रापि षष्ठी स्यात् तन्निषेधार्थं कृत्ग्रहणम् । *कृतपूर्वी कटमिति*-

वर्तते, कः कर्ता ? कृतपूर्वी, पूर्व कृतवानित्यर्थः, कं कृतपूर्वी ? कटम्, तत्र यथा चित्रगुरित्यादौ बहुव्रीहिणा स्वामिसामान्येऽभिहिते विशेषाभिधानाय चैत्रादिः प्रयुज्यते तथाऽत्रापि सामान्यकर्मण्यभिहिते विशिष्ट- कर्माभिधानाय कटादेः क्तेनाऽनभिहितस्य द्वितीयान्तस्य प्रयोगः, सामान्येन व्यवहारासंभवाद् विशेषणावश्यं निर्वाहः कार्यः । *कथमि*ति-त्यागोऽस्यास्ति इति इनि तद्धित-प्रत्ययेऽर्थस्येत्यादि कर्मणि षष्ठी न प्राप्नोतीत्याशङ्कार्थः । ``युज-भुज०'' (5. 2. 50.) इति घिनण् । ``जीण्-दृक्षि०'' (5. 2. 72.) इति ``प्रात्सूजोरिन्'' (5. 2. 51.) इति यथाक्रमं त्यागीत्यादिषु प्रत्ययाः ।।2. 2. 83.।।

द्विषो वाऽतृशः ।। 2. 2. 84. ।।

अतृश्प्रत्ययान्तस्य द्विषः कर्मणि गौणान्नाम्नः षष्ठी वा भवति । चौरस्य द्विषन्, चौरं द्विषन्; ``तृन्नु०'' (2. 2. 90.) आदिसूत्रेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।84।।

*न्या०स०–द्विषो वाऽतृशः । विकल्पोऽयमि*ति-अन्ये तु संबन्धविवक्षायामेवेयं षष्ठीति प्रतियन्तः सूत्रं नारभन्ते, एवं-``वा क्लीबे'' (2. 2. 92) इत्यपि ।।2. 2. 84. ।।

वैकत्र द्वयोः ।। 2. 2. 85. ।।

द्विकर्मकेषु धातुषु द्वयोः कर्मणोरेकत्रैकतरस्मिन् वा षष्ठी भवति, अन्यत्र पूर्वेण नित्यमेव । अजाया नेता स्रुघ्नम्, अजाया नेता स्रुघ्नस्य, अथवा-अजां नेता स्रुघ्नस्य, अजाया नेता स्रुघ्नस्य, पयसो दोहको गाम्, पयसो दोहको गोः; यदि वा गोर्दोहकः पयः, गोर्दोहकः पयसः । अन्ये तु नीवह्यादीनां द्विकर्मकाणां गौणे कर्मणि, दुहादीनां तु प्रधाने विकल्पमिच्छन्ति; उभयत्राऽपि नित्यमेवेत्यन्ये ।।85।।

*न्या०स०–वैकत्र० । द्वयोः कर्मणोरि*ति–ननु कृत इत्यस्यैव षष्ठ्यन्तस्य द्वयोरिति कस्मान्न विशेषणम् ?, तत्रापि हि द्वयोः कृदन्तयोरेकं यत् कर्म तत्र षष्ठी वा भवतीत्ययं सूत्रार्थो घटते, तथा च अपां स्त्रष्टा भेत्ता च मैत्र इत्यादावेव विकल्पः स्यादिति, नैवम्–एवं सति ``कर्मणि कृतो द्वयोश्च वा'' इत्येकमेव योगं कुर्यात्, एवं च सति एकस्य कृतः कर्मणि नित्यं षष्ठी भवति, द्वयोस्तु कृदन्तयोर्वा भवतीति सूत्रार्थे समस्तार्थस्य सिद्धत्वात्, तस्मात् पृथग्योगात् कर्मण एव विशेषणं न कृत इत्यस्य । *अन्यत्रे*ति-यतः ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इत्यनेन द्वयोरपि कर्मणोः षष्ठी प्राप्ता पक्षेऽनेन निषिध्यते । *अजाया नेता स्रुघ्नमि*ति-एकत्रेति

सामान्येन निर्देशात् प्रधाना-प्रधानकर्मणोरविशेषेण ग्रहणमित्युभयत्रैवोदाहरति । ननु कर्मणीत्यधिकृतत्वादेकशब्दस्य च द्वितीयसव्यपेक्षत्वात् एकत्रेत्युक्तेऽपि द्वयोः कर्मणोरेकतरस्मिन्निति गम्यत एव, किं द्वयोरित्यनेन ? नैवम्—एवं सति ❊ प्रधानाप्रधानसंनिधौ प्रधाने कार्यसंप्रत्ययः ❊ इति न्यायात् प्रधान एव कर्मणि स्यात्; यद्वा गौणादित्यधिकारात् कर्मापेक्षयापि गुणकर्मण्येव स्यादिति द्वयोरपि प्रधानाप्रधानकर्मणोः पर्यायेण षष्ठीविकल्पार्थं द्वयोरित्युपादानमित्यदोषः ॥2. 2. 95.॥

कर्तरि ॥ 2. 2. 86. ॥

कृदन्तस्य कर्तरि गौणान्नाम्नः षष्ठी भवति, तृतीयाऽपवादः । भवत आसिका, भवतः शायिका, भवतः स्वापः, भवत आसना, भवतोऽग्रगामिका । कर्तरीति किम् ? गृहे शायिका । कृत इत्येव-त्वया शय्यते ॥86॥

न्या०स०—कर्त्तरि० /आसितुं पर्यायः ``पर्याय०'' (5. 3. 120.) इति णकः, आसिका । आसनम्, आसना ``णिवेत्ति०'' (5. 3. 111.) इत्यनः ॥2. 2. 86॥

द्विहेतोरस्त्र्यणकस्य वा ॥ 2. 2. 87. ॥

स्त्र्यधिकारविहिताभ्यामकार-णकाभ्यामन्यस्य द्वयोः कर्तृ-कर्मषष्ठ्योः प्राप्तिहेतोः कृतः कर्तरि षष्ठी वा भवति, नित्यं प्राप्ते विभाषेयम् । विचित्रा सूत्रस्य कृतिराचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वा, साध्वी संग्रहण्याः कृतिः क्षमाश्रमणस्य क्षमाश्रमणेन वा, आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकस्य अगोपालकेन वा, साधु खलु पयसः पानं मैत्रस्य मैत्रेण वा, साध्वी खल्वनेकान्तजयपताकायाः कृतिराचार्यहरिभद्रस्याऽऽचार्यहरिभद्रेण वा। गम्यमानेऽपि कर्मणि भवति—अन्तर्द्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति, यस्याऽदर्शनमिच्छतीति वा; अत्राऽऽत्मन इति कर्म गम्यते ।

द्विहेतोरित्येकवचननिर्देशः किम् ? आश्चर्यमोदनस्य नाम पाकोऽतिथीनां च प्रादुर्भाव इति, भिन्नकृतोः कर्तृ-कर्मषष्ठीहेतुत्वमत्रेति न भवति । अस्त्र्यण-कस्येति किम् ? चिकीर्षा मैत्रस्य काव्यानाम्, भेदिका चैत्रस्य काष्ठानाम्; णिगन्तभिदेस्तु भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानाम् । कर्तरीत्येव—साधु खल्विदं शब्दानामनुशासनमाचार्यस्याऽऽचार्येण वेत्यत्र शब्दशब्दात् कर्मणि विकल्पो न भवति । अन्ये तु घञल्प्रत्यययोर्द्विहेत्वोः कर्मण्येव षष्ठीमिच्छन्ति न कर्तरि- आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपालकेन, आश्चर्य इन्द्रियाणां जयो यूना ॥87॥

न्या०स०–द्विहेतो० । नित्यं प्राप्ते इति–``कर्त्तरि'' (2. 2. 86.) इत्यनेन *खल्विदमि*ति ``खल संचये च'' खलतीति ``भृ-मृ-तृ०'' (उणा० 716) इति बहुवचनादुः । (संग्रहण्याः) संगृह्यन्ते स्तोकशब्दैर्बहवोऽर्था अस्यामिति ``ऋ-ह्व-सृ०'' (उणा० 638) इत्यणिः । *अगोपालकेनै*ति–पालयतीति णकः, गवां पालकः ``अकेन क्रीडाजीवे०'' (3. 1. 81.) समासः ।

*अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छती*ति–पञ्चमीविधायकं पाणिनिसूत्रमिदम्, अस्य चायमर्थः– अन्तर्द्धौ-अन्तर्द्धिविषये आत्मनः कर्मतापन्नस्य येनोपाध्यायादिना कर्तृ भूतेन यददर्शनं तदिच्छतीत्यर्थः । *भिन्नकृतोरि*ति-ननु पाक इत्यत्रापि भावा-ऽकर्त्रोर्घञ्, प्रादुर्भाव इत्यत्रापि स एव, तत् कथं भिन्नकृतोरित्युच्यते, सत्यम्-धातुभेदात् तस्यापि भेद इत्यदोषः। *भेदिका चैत्रस्य मैत्रस्य काष्ठानामि*ति-भेदयितुं पर्याय इत्येव कार्य, भावे तु ``णिवेत्ति०'' (5. 3. 111.) इत्यनेनाऽनप्रत्यय एव स्यात् । नन्वत्र प्रयोज्य-प्रयोजककर्त्रोः प्रधाने प्रयोजके षष्ठी प्राप्नोति ❊ गौण-मुख्ययोः० ❊ इति न्यायात्, सत्यम्-यथा एकवाक्यस्थयोः कर्त्रोस्तृतीया स्यात् तथा तद्बाधिका षष्ठ्यपि । *अन्ये तु* घञलेति-ललितस्वभाव इत्यर्थः । काशिकाकारस्तु स्त्र्यधिकारविहितयोरणकयोः प्रतिषेधादन्यस्मिन्नापि स्त्रीप्रत्यय एव षष्ठीमिच्छति । अपरे तु णकाकारयोर्भावाभि-धायकयोः कृतोः प्रतिषेधाशंसनादन्यस्मिन् भावाभिधायक एव षष्ठीमिच्छन्ति ।।2. 2. 87.।।

कृत्यस्य वा ।। 2. 2. 88. ।।

कृत्यस्य कर्तरि गौणान्नाम्नः षष्ठी वा भवति । भवतः कार्यः कटः, भवता कार्यः कटः; कर्तव्यः, करणीयः, देयः, कृत्यो वा कटः । कर्तरीत्येव-गेयो माणवको गाथानाम्, प्रवचनीयो गुरुर्द्वादशाऽङ्गस्य ।।88।।

*न्या०स०–कृतस्य वा । गेयो माणवको गाथानामि*ति-अत्र व्यावृत्तेर्गाथानामित्यत्र कर्मणि साफल्यं, माणवकात् तु अगौणत्वात् प्राप्तिरेव नास्ति ।।2. 2. 88.।।

नोभयोर्हेतोः ।। 2. 2. 89. ।।

उभयोः-कर्तृ-कर्मणोः षष्ठीहेतोः कृत्यस्य संबन्धिनोरुभयोरेव षष्ठी न भवति । नेतव्या ग्राममजा मैत्रेण, ऋष्टव्या ग्रामं शाखा चैत्रेण; जेतव्यः शतं मैत्रश्चैत्रेण । उभयोर्हेतोरिति किम् ? एकैकहेतोर्मा भूत्-उपस्थानीयः पुत्रः पितुः, उपस्थानीयः पिता पुत्रस्य ।।89।।

न्या०स०—नोभयो:० । ननु द्विकर्मकेषु धातुषु तावदयं प्रतिषेधः, तत्रैवोभय-प्राप्तिसंभवात्, तत्र प्रधानकर्मणः कृत्येनैवाभिहितत्वात् षष्ठ्यविषयत्वा ❁ प्रधानाऽप्रधानसंनिधौ प्रधान एव संप्रत्ययः ❁ इति न्यायात् तव्यादिवत् अप्रधानादप्यप्रसङ्गात् कर्त्तर्येव प्रतिषेधो न्याय्य इत्युभयग्रहणमतिरिच्यते, नैवम्-द्वितीयाबाधिका हि कृत्प्रयोगे षष्ठी, विधीयते, द्वितीया चाप्रधानाद् यथा भवति तथाऽत्र षष्ठ्यपि भविष्यति । *उप-स्थानीयः पुत्रः पितुः* उपतिष्ठते ``प्रवचनीयादयः'' (5. 1. 8.) इति कर्तर्यनीयः, अत्र पितुः शब्दात् ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) इति कर्मणि षष्ठी, द्वितीये तु उपस्थीयते इति कर्मणि ``तव्या-ऽनीयौ'' (5. 1. 27.) ``कृत्यस्य वा'' (2. 2. 88.) इति कर्तरि पुत्रात् षष्ठी ।।2. 2. 89.।।

तृन्नुदन्ता-ऽव्यय-क्वस्वाना-ऽतृश्-शतृ ङि-णकच्-खलर्थस्य ।। 2. 2. 90. ।।

तृन उदन्तस्य अव्ययस्य क्वसोरानस्य अतृशः शतुः डेः णकचः खलर्थस्य च कृतः संबन्धिनोः कर्मकर्त्रोः षष्ठी न भवति । तृन्-वदिता जनाऽपवादान्; उदन्त-कन्यामलंकरिष्णुः, रिपून् जिष्णुः, शरान् क्षिप्णुः, ओदनं बुभुक्षुः, देवान् वन्दारुः, धारुर्वत्सो मातरम्, श्रद्धालुस्तत्त्वम्; अव्यय—कटं कृत्वा, पयः पायं पायं व्रजति, ओदनं भोक्तुं व्रजति; क्वसु—ओदनं पेचिवान्, तत्त्वं विद्वान्; आनेति उत्सृष्टाऽनुबन्धनिर्देशात् कान-शाना-ऽऽनशां ग्रहणम्, कटं चक्राणः, वचनमनूचानः; शान—मलयं पवमानः, कतीह कवचमुद्वहमानाः, कतीह शत्रून् निघ्नानाः, कतीह वपुर्भूषयमाणाः;

आनश्—ओदनं पचमानः, चैत्रेण पच्यमानः, कटं करिष्यमाणः, अतृश्-अधीयंस्तत्त्वार्थम्, धारयन्नाचाराङ्गम्; शतृ-कटं कुर्वन्, कटं करिष्यन्; ङि-परीषहान् सासहिः, कटं चक्रिः, दधिश्चित्तम्; णकच्-एधानाहारको व्रजति, कटं कारको व्रजति; चिन्निर्देशात् णकस्य न भवति-वर्षशतस्य पूरकः, पुत्रपौत्रस्य दर्शकः; खलर्थः— ईषत्करः कटो भवता, सुज्ञानं तत्त्वं भवता ।।90।।

न्या०स०—तृन्नुदन्ता० । ``कर्मणि कृतः'' (2. 2. 83.) ``कर्तरि'' (2. 2. 86.) इति च प्राप्तायाः षष्ठ्या अपवादः । *पायं पायं* ``रूणम् चाभीक्ष्ण्ये'' (5. 4. 48.) ``भृशा०'' (7. 4. 173.) इति द्वित्वं च । *भोक्तुं व्रजती*ति-अत्र हेतुहेतुमद्भावे तृतीया, ``तुमोऽर्थे०'' (2. 2. 61.) इत्यनेन चतुर्थी वा, संबन्धविवक्षायां षष्ठी वा । परिषह्यन्ते ``स्थादिभ्यः कः'' (5. 3. 82.)

``असोङसिवूसहस्सटाम्'' (2. 3. 48.) षत्वम्-परीषहाः, ``घञ्युपसर्गस्य०'' (3. 2. 86.) इति दीर्घः । आहरिष्यतीति ``क्रियायाम्०'' (5. 3. 13.) इति णकचि–*आहारकः* ।। छ ।। (2. 2. 90.)

क्तयोरसदाधारे ।। 2. 2. 91. ।।

सतो वर्तमानादाधाराच्चान्यस्मिन्नर्थे विहितौ यौ क्तौ-क्तक्तवत् तत्संबन्धिनोः कर्म-कर्त्रोः षष्ठी न भवति । कटः कृतो मैत्रेण, कटं कृतवान्; गतो ग्रामं चैत्रः, ग्रामं गतवान् । असदाधार इति किम् ? राज्ञां ज्ञातः, राज्ञां बुद्धः, राज्ञां मतः, राज्ञामिष्टः, राज्ञां पूजितः, ``कान्तो हरिश्चन्द्र इव प्रजानाम्;'' ``ज्ञानेच्छा०'' (5. 2. 92.) इत्यादिसूत्रेण सत्यत्र क्तः । कथं शीलितो मैत्रेण ?, रक्षितश्चैत्रेण ?; भूतेऽयं क्तः, वर्तमानताप्रतीतिस्तु प्रकरणादिनेति । अन्ये तु ज्ञानेच्छार्चार्थताच्छील्यादिभ्योऽतीते क्तं नेच्छन्ति, तन्मते-अपशब्दावेतौ । आधारे-इदमोदनस्य भुक्तम्, इदं सक्तूनां पीतम्, इदमहेः सृप्तम्, इदमेषामासितम्; ``अद्यर्थाच्चा-ऽऽधारे'' (5. 1. 12.) इति क्तः ।।91।।

न्या०स०–क्तयोर० । ननु सन् धात्वर्थः, तत्र धातुरेव वर्त्तते, कृ प्रत्ययस्तु ``कर्तरि'' (2. 2. 86.) इत्यादिना कारके भावे च विधीयते, तत्र सति प्रत्ययविधिरेव नास्ति कथं प्रतिषेधः–*सतोऽन्यस्मिन्नर्थ* इति, नैष दोषः–सदर्थसहचारी प्रत्ययार्थोऽपि सन्नित्युच्यते; यद्वा धात्वर्थोऽपि सन्निति प्रत्ययत एव विज्ञायते, नहि धातुतः क्रियालक्षणो धात्वर्थो भूतो भवन् भविष्यन्निति वा ज्ञातुं शक्यः, धातुर्हि क्रियामात्रमाह, न त्वमुं विशेषम्, स तु प्रत्ययादेव प्रतीयत इति कर्त्रादिकारकवृत्तिरपि प्रत्ययः सतीति विज्ञायते । *कथमि*ति-शीलितो मैत्रेणेत्यादावपि– ``ज्ञानेच्छा०'' (5. 2. 92.) इति क्तः, वर्तमानता-प्रतीतिरप्यस्ति, तत् कथं निषेध इत्याशङ्कार्थः ।

भूतेऽयं क्त इति–यद्ययं भूते क्तः कथं वर्तमानताप्रतीतिः ? उच्यते–वर्तमानमध्ये भूतो भविष्यंश्च कालोऽस्त्यतो भूते क्तः, यथा कटं करोतीत्यत्र कटस्य येऽवयवा निष्पन्नास्तदपेक्षयाऽ-तीतत्वं, ये च निष्पद्यमानास्तदपेक्षया वर्तमानत्वं, ये च निष्पत्स्यन्ते तदपेक्षया भविष्यत्वम् । *अहेः सृप्तमि*ति-सदाधारादन्यत्र चातुःशब्द्यं भवति, यदा कर्त्तरि क्तस्तदा-इममहिः सृप्तो देशं, यदा कर्मणि तदा-अयमहिना सृप्तो देशः, भावे तु ``वा क्लीबे'' (2. 2. 92.) इति वा षष्ठ्यामहेः सृप्तमहिना सृप्तमिति ।।2. 2. 91.।।

वा क्लीबे ।। 2. 2. 92. ।।

क्लीबे यो विहितः क्तस्तस्य कर्तरि षष्ठी वा न भवति । छात्रस्य हसितम्, छात्रेण

हसितम्; मयूरस्य नृत्तम्, मयूरेण नृत्तम्; कोकिलस्य व्याहृतम्, कोकिलेन व्याहृतम्; इहाहे: सृप्तम्, इहाऽहिना सृप्तम् । क्लीब इति किम् ? चैत्रेण कृतम्, ``क्तक्तवतू'' (5. 1. 174.) इति भावे क्त: पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते विकल्पोऽयम् ।।92।।

अकमेरुकस्य ।। 2. 2. 93. ।।

कमेरन्यस्योकप्रत्ययान्तस्य कर्मणि षष्ठी न भवति । आगामुकं वाराणसी रक्ष श्राद्ध:, भोगानभिलाषुक: । अकमेरिति किम् ? दास्या: कामुक: ।।93।।

न्या०स०–अकमे० । वाराणसीति–वरणा च असिश्च वरणासी नद्यौ, ते विद्येते अस्याम् ``अहरादिभ्योऽञ्'' (6. 2. 87.) पृषोदरादित्वात्: ह्रस्वदीर्घव्यत्ययेऽञन्तत्वाद् ङ्याम्: यद्वा वराण इति वीरणस्याख्या, वराणास्तृणविशेषा: सन्त्यस्यां ``तृणादे: सल्'' (6. 2. 81.) ``लिन्मिन्यनि'' (लिङ्गानुशासने) इति स्त्रीत्वे वराणसाया अदूरभवा ``निवासा-दूर०'' (6. 2. 96.) इत्यण् ।।2. 2. 93.।।

एष्यदृणेन: ।। 2. 2. 94. ।।

एष्यत्यर्थे ऋणे च विहितस्येन: कर्मणि षष्ठी न भवति । इन इति इन्-णिनोर्ग्रहणम् । ग्रामं गमी, औणादिक इन्, ग्राममागामी औणादिको णिन्; शतं दायी, सहस्रं दायी, कारी मेऽसि कटम्, हारी मेऽसि भारम्; एष्याधमर्ण्ये णिन् । एष्यदृणेति किम् ? अवश्यंकारी कटस्य, साधुदायी वित्तस्य ।।94।।

न्या०स०–एष्यदृ० । शतं दायी शतं धारयन् ददाति ``णिन् चावश्यक०'' (5. 4. 36.) इति णिन् । करोषीति हरसीति *(कारी, हारी)* पूर्ववण्णिन् । ।।2. 2. 94.।।

सप्तम्यधिकरणे ।। 2. 2. 95. ।।

गौणान्नाम्न एक-द्वि-बहावधिकरणे कारके 'ङि-ओस्-सुप्' लक्षणा यथासंख्यं सप्तमी विभक्तिर्भवति । दिवि देवा:, पर्यङ्के आस्ते, तिलेषु तैलम्, गुरौ वसति, युद्धे संनह्यते, अङ्गुल्यग्रे करिशतम् ।।95।।

न्या०स०—सप्तम्यधि० । अत्र सत्यर्थे वैषयिके वा सप्तमी ॥2. 2. 95.॥

नवा सुजर्थैः काले ॥ 2. 2. 96. ॥

सुचोऽर्थो वारलक्षणो येषां प्रत्ययानां तदन्तैर्युक्तात् कालेऽधिकरणे वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी वा भवति । द्विरह्नि भुङ्क्ते, पक्षे शेषे षष्ठी-द्विरह्नो भुङ्क्ते; मासे पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, मासस्य पञ्चकृत्वो भुक्ते; बहुधाऽह्नि भुङ्क्ते, बहुधाह्नो भुक्ते । सुजर्थैरिति किम् ? अह्नि भुङ्क्ते, रात्रौ शेते । बहुव्रीह्याश्रयणं किम् ? सुजर्थप्रत्ययस्याप्रयोगे गम्यमाने तदर्थे मा भूत् । काल इति किम् ? द्विः कांस्यपात्र्यां भुङ्क्ते । अधिकरणे इत्येव-द्विरह्ना भुङ्क्ते । आधारस्याऽऽधारत्वाऽविवक्षायां पक्षे शैषिकी षष्ठी सिद्धैव, नियमार्थं तु वचनम्, तेन प्रत्युदाहरणेषु शेषे षष्ठी न भवत्येव ॥96॥

न्या०स०—नवा सु० । अधिकरणे नित्यं सप्तमी सिद्धैव, पक्षे षष्ठीविधानार्थं तु सूत्रम् । *बहुव्रीह्याश्रयणं किमिति*-अन्यथा षष्ठीतत्पुरुषाश्रयेण 'सुजर्थे काले'' इति कृते यदाऽर्थादिना 'द्विर्भुङ्क्ते' इति द्विस्त्रिर्वेति प्रतीयते तदापि स्यात्, तदा मा भूदित्येवमर्थं तदाश्रयणमित्यर्थः ।

द्विःकांस्यपात्र्यामिति-कंसायेदं कंसीयं ``परिणामिनि तदर्थे'' (7. 1. 44.) इतीयः, ततः कंसीयस्य विकारः ``कंसीयाञ्ञ्यः'' (6. 2. 41.) इति ञ्यो यलुक् च । *द्विरह्ना भुङ्क्ते* इति-अहरधिकरणमपि अत्राऽशने करणविवक्षामनुभवतीति तृतीयैव भवति । *नियमार्थं तु वचनमिति*-सुजर्थैरेव योगे काले सप्तमी वा भवति, सुजर्थैर्योगे काल एव वा सप्तमी भवतीत्युभयथापि नियमात् प्रत्युदाहरणे षुआधारसप्तम्येव न षष्ठीति ॥2. 2. 96.॥

कुशला-ऽऽयुक्तेनाऽऽसेवायाम् ॥ 2. 2. 97. ॥

कुशलो-निपुणः, आयुक्तो व्यापृतः; आभ्यां युक्तादाधारे वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी वा भवति, आसेवायां-तात्पर्ये गम्यमाने । कुशलो विद्याग्रहणे, आयुक्तस्तपश्चरणे; पक्षे अधिकरणाऽविवक्षायां शेषषष्ठी-कुशलो विद्याग्रहणस्य, आयुक्तस्तपश्चरणस्य ।

आसेवायामिति किम् ? कुशलश्चित्र-कर्मणि, न च करोति; आयुक्तो गौः शकटे-आकृष्य युक्त इत्यर्थः, ``अधिकरणे'' (2. 2. 95.) इत्येव नित्यं सप्तमी । पक्षे आधारस्याऽविव-क्षायां विकल्पे सिद्धेऽनासेवायामाधाराऽविवक्षानिवृत्त्यर्थं वचनम् ॥97॥

न्या०स०—कुशलायुक्ते० । *आयुक्त* इति—``युजृं पी'' आयुङ्क्ते स्म, ``युजिच्'' आयुज्यते स्म, कर्तरि क्तः ।।2. 2. 97.।।

स्वामीश्वराधिपति-दायाद-साक्षि-प्रतिभू-प्रसूतैः ।। 2. 2. 98. ।।

एभिर्युक्ताद् गौणान्नाम्नः सप्तमी वा भवति; पक्षे-शेषषष्ठी । गोषु स्वामी, गवां स्वामी; गोष्वीश्वरः, गवामीश्वरः; गोष्वधिपतिः, गवामधिपतिः; गोषु दायादः, गवां दायादः; गोषु साक्षी, गवां साक्षी, गोषु प्रतिभूः, गवां प्रतिभूः, गोषु प्रसूतः, गवां प्रसूतः । ``स्वामीश्वराऽधिपति०'' इति पर्यायोपादानात् पर्यायान्तरयोगे न भवति—ग्रामस्य राजा, ग्रामस्य पतिः; षष्ठ्येव भवति । सप्तम्यर्थं वचनम् ।।98।।

न्या०स०—स्वामीश्वरा । *अधिपती*ति-अधिरूढः पति ``प्रात्यव०'' (3. 1. 47.) इति सः, अधिकश्चाऽसौ पतिश्च वा । प्रसूते स्म ``गत्यर्थ०'' (5. 1. 11.) इति क्तः । *सप्तम्यर्थ वचनमि*ति-अयमर्थः—स्वाम्यादीनां गवादिसंबन्धित्वं, तन्निवृत्तो हि तेषां स्वाम्यादिभावाभावः, तत्रास्त्येव षष्ठी, सप्तमी तु क्रियाप्रतीत्यभावान्नास्तीति पक्षे *सप्तमीप्रा*पणार्थं वचनमिति ।।2. 2. 98.।।

व्याप्ये क्तेनः ।। 2. 2. 99. ।।

इष्टादिभ्यः क्तान्तेभ्य इष्टमनेनेत्याद्यर्थे तद्धित इन् वक्ष्यते, क्तप्रत्ययान्ताद् य इन् तदन्तस्य व्याप्ये वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी भवति; वेति निवृत्तम् । अधीतं व्याकरणमनेनेति वाक्याऽवस्थायामभिधायाऽधीतीति वृत्त्योक्ते नाऽनभिहिते कर्मणि प्रत्त्यायार्थकर्तृकेण च धात्वर्थेन, व्याप्यमाने कृतपूर्वी कटमित्यादाविव द्वितीयायां प्राप्तायां तदपवादोऽयम् ।

अधीतं व्याकरणमनेना-ऽधीती व्याकरणे, आम्नातं द्वादशाङ्गमनेनाऽऽम्नाती द्वादशाङ्गे, परिगणितं ज्योतिरनेन परिगणिती ज्योतिषि; इष्टो यज्ञोऽनेनेष्टी यज्ञे । क्तेन इति किम् ? कटं करोति । क्तग्रहणं किम् ? कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् । इन्ग्रहणं किम् ? उपश्लिष्टो गुरून् मैत्रः । व्याप्य इति किम् ?, मासमधीती व्याकरणे, अत्र मासान्मा भूत्, मासस्य हि न कर्मत्वम्, द्वितीया तु ``काला-ऽध्वनोर्व्याप्तौ'' (2. 2. 42.) इत्यनेन ।।99।।

न्या०स०—व्याप्ये क्तेनः । *वेति निवृत्तमि*ति—व्याप्योपादानात्, तेन ह्यधिकार-भेदः, पृथग्योगादिति वा । *प्रत्ययार्थे*त्यादि-प्रत्ययस्यार्थः प्रत्ययार्थः, प्रत्ययार्थः कर्ता यस्य धात्वर्थस्य

अध्ययनलक्षणस्य स तथा, तेन व्याप्यमाने व्याकरण इति ॥2. 2. 99.॥

तद्युक्ते हेतौ ॥ 2. 2. 100. ॥

हेतुर्निमित्तं कारणम्, तेन-व्याप्येन युक्ते-संयुक्ते हेतौ वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी भवति । हेतुतृतीयाऽपवादः ।

``चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्पलको हतः'' ॥1॥

तद्युक्त इति किम् ? वेतनेन धान्यं लुनाति, नाऽत्र वेतनं धान्येन संयुक्तम्, धनेन वसति । हेताविति किम् ? देवस्य पादौ स्पृशति ॥100॥

न्या०स०–तद्युक्ते० । तेन व्याप्येन युज्यते स्म । तथात्र नानादेशजविनेयानुग्रहार्थं युक्तं–*हेतुर्निमित्तंकारणमि*ति बहुतरपर्यायकथनम्, हेतुशब्दोपादानात् त्विह विशिष्टमेव निमित्तमभिप्रेतं, न निमित्तमात्रम्, अन्यथा `तद्युक्ते निमित्ते' इति कृते दात्रेण धान्यं लुनातीति निमित्तमात्रवाचिनो दात्रादपि स्यात् सप्तमी, ❈ न चोपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी ❈ इति न भविष्यतीति वाच्यम्, यतो यथा कर्तृ-करणयोस्तृतीया विहितेति तृतीयायाः कारकविभक्तित्वं तथाऽत्र सप्तम्या अपि `व्याप्येन युक्तः' इति कारकश्रुत्या कारकविभक्तित्वम्; साह्यु पपदविभक्तिर्यत्र कारकगन्धोऽपि नास्ति, यथा शक्तार्थवषडादिभिर्योगे चतुर्थीति, तस्माद्धे तुशब्दाभिधेयं विशिष्टमेव निमित्तं, यदर्थः क्रियारम्भस्तदेवात्र निमित्तमभिप्रेतं न निमित्तमात्रं, तेन दात्रान्न सप्तमी, नहि दात्रार्था लवनक्रियेति । *द्वीपिनमि*ति-द्विधा गता आपो यत्र ``ऋक्पूः०'' (7. 3. 76.) ``द्व्यन्तरनवर्णो०'' (3. 2. 109.) इतीयादेशे द्वीपमस्यास्ति इन्, अयं नन्तः पुंल्लिङ्गः, यदा तु द्वीपमाचष्टे णिजि ``विपिन०'' (उणा० 284) इति निपात्यते तदाऽकारान्तः ``अभिधानद्वीपिनौ'' इति प्रतिपदपाठात् पुंक्लीबः। कुञ्जौ दन्तावस्य स्तो ``मध्वादिभ्यो रः'' (7. 2. 26.) पुष्पं लातीति डेऽज्ञाताद्यर्थविवक्षायां के च-पुष्पलकः । *देवस्य पादावि*ति-अस्त्यत्र पादलक्षणेन कर्मणा देवस्य योगो हेतुत्वं तु नास्तीति ॥2. 2. 100.॥

अप्रत्यादावसाधुना ॥ 2. 2. 101. ॥

असाधुशब्देन युक्ताद् गौणान्नाम्नोऽप्रत्यादौ-प्रत्यादिप्रयोगाऽभावे सप्तमी भवति । असाधुर्मैत्रो मातरि । अप्रत्यादाविति किम् ? असाधुर्मैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु, मातरमभि ॥101॥

न्या०स०—अप्रत्यादा० । इहादिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वात् प्रति परि अनु अभि इत्येत एवाप्रत्यादावित्यनेन ग्राह्याः । ननु साधुशब्देन सदाचार उच्यते, आचरणं च क्रियाविषयमिति मातृशब्देन तत्स्था परिचर्यादिक्रिया उच्यते इति मातृपरिचरणादिक्रियाणां सम्यगाचरिता मातरि साधुरित्युच्यते, तद्वैपरीत्येनासाधुर्मातरीति, ततश्चाऽसाधुर्मैत्रो मातरीति मातृविषयस्य साधुत्वस्य निषेधात् प्रथमं मात्रा साधोर्योगादन्तरङ्गत्वादुत्तरेणैत्र सिद्धा सप्तमी, किमनेनेति, नेत्रम्-पदान्तरसंबन्धादेकपदवर्तित्वेन नञ्संबन्धस्यान्तरङ्गत्वादसमर्थनञ्समासस्य च नियतविषयत्वादर्थान्तराभिधायिना नञ्समासेनैव मातुः संबन्धो युक्तोऽब्राह्मणमानयेत्यादिवदिति ``साधुना'' (2. 2. 102.) इत्युत्तरेण न सिध्यतीति वचनम् । नन्वभियोगे ``लक्षणवीप्स्य०'' (2. 2. 36.) इत्यनेन, प्रत्यादियोगे तु ``भागिनि०'' (2. 2. 37.) इत्यनेन च द्वितीयाया विशेष-विधानात् सप्तमी न भविष्यति, किमप्रत्यादावित्यनेन, सत्यम्-असाधुशब्दाभावेऽपि द्वितीया चरितार्था इति प्रत्यादिप्रयोगे सप्तमी स्यात् ।।2. 2. 101.।।

साधुना ।। 2. 2. 102. ।।

साधुशब्देन युक्ताद् गौणान्नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति । साधुर्मैत्रो राजनि, साधुर्मातरि । अप्रत्यादावित्येव साधुर्मैत्रो राजानं प्रति, राजानं परि, राजानमनु, राजानमभि । उत्तरत्राऽर्चायां विधानात्, अनर्चायां तु व्यावृत्ते-स्तत्त्वाख्याने विधिरयम् । कथं तर्हि साधुर्भृत्यो राज्ञ इति ? भृत्यापेक्षाऽत्र षष्ठी न साध्वपेक्षा, साध्वपेक्षायां तु सप्तम्येव भवति ।।102।।

न्या०स०—साधुना । उत्तरत्रेति—पूर्वे त्वर्चाग्रहणमुत्तरत्र निपुणविशेषणार्थमेव प्रतियन्तः सर्वत्र साधुशब्दयोगे सप्तमी प्रतियन्ति, यदुत्पलः—`एवं चार्चाग्रहणं निपुणविशेषणार्थं संपद्यते' इति ।।2. 2. 102.।।

निपुणेन चाऽर्चायाम् ।। 2. 2. 103. ।।

निपुणशब्देन साधुशब्देन च युक्ताद् गौणान्नाम्नोऽप्रत्यादौ सप्तमी भवति, अर्चायां गम्यमानायाम्, षष्ठ्यपवादः । मातरि निपुणः, पितरि साधुः । अर्चायामिति किम् ? निपुणो मैत्रो मातुः, साधुर्मैत्रः पितुः, मातैवैनं निपुणं मन्यते, पितैव साधुमित्यनर्चायां न भवति । अप्रत्यादावित्येव-निपुणो मैत्रो मातरं प्रति, मातरं परि, मातरमनु, मातरमभि ।।103।।

न्या०स०—निपुणेन० । अर्चायामिति—``अर्चिण् अर्चने'' ``भीषिभूषि०'' (5. 3. 109.)

इत्यत्र् बहुवचनात् । *मातरि निपुणः* अत्र मातरि सुष्ठु वर्तत इति मैत्रादेः प्रशंसा गम्यत इति ।।2. 2. 103.।।

स्वेशेऽधिना ।। 2. 2.104. ।।

स्वे-ईशितव्ये, ईशे च स्वामिनि वर्तमानादधिना युक्ताद् गौणान्नाम्नः सप्तमी भवति, अधिः स्वस्वामिसंबन्धं द्योतयति, तत्र स्व-स्वामिवाचिनोर्यद् गौणत्वेन विवक्ष्यते ततो भवति । स्वे-अधि मगधेषु श्रेणिकः; अध्यवन्तिषु प्रद्योतः; ईशे-अधि श्रेणिके मगधाः, अधि प्रद्योतेऽवन्तयः; षष्ठीबाधनार्थो योगः ।।104।।

न्या०स०–स्वेशे० । ईशितव्य इति–यथेष्टं विनियोज्ये । अधेरुपरिभावस्वस्वामिसंबन्धयोर्योद्योतकत्वेऽपि 'स्वेशे' इति वचनादत्र स्वस्वामिसंबन्धद्योती गृह्यते । संबन्धस्योभयनिष्ठत्वे युगपदुभयत्र सप्तमी स्यादित्याह-*यद्गौणत्वेने*ति । *अधि मगधेष्वि*-त्यादिषु ''विभक्तिसमीप०'' (3. 1. 39.) इति नाव्ययीभावो विभक्त्यर्थत्वाभावात्, यतो विभक्तिर्विभक्त्यर्थः कारकम्, अत्र च षष्ठ्यपवादः सप्तमी इति न विभक्त्यर्थत्वम्; यदि च समासः स्यात् तदा वाक्यं निवर्तेत नित्यसमासत्वात् 'अधिस्त्रि इत्यादिवत्; यदा तु सप्तम्यर्थ एवाधिशब्दस्तदात्राप्यव्ययीभाव एव–अध्यवन्ति प्रद्योत इति ।

नन्वत्र क्रमेण परस्परमाधाराधेयभावविवक्षायां पर्यायेण ''सप्तम्यधि-करणे '' (2. 2. 95.) एव सप्तमी भविष्यति, किमनेनेति, सत्यम्-संबन्धविवक्षया षष्ठ्यपि स्यादिन्याह-*षष्ठीबाधनार्थो योग* इति ।।2. 2. 104.।।

उपेनाऽधिकिनि ।। 2. 2. 105. ।।

उपेन युक्तादधिकिनि वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी भवति, उपेत्यधिकाऽधिकिसंबन्धं द्योतयति । उप खार्यां द्रोणः, द्रोणोऽधिकः खार्या इत्यर्थः । उप निष्के कार्षापणः, कार्षापणोऽधिको निष्कस्येत्यर्थः । उपेनेति किम् ? खार्या उपरि द्रोणः । अधिकिनीति किम् ? अधिके मा भूत्, तेनोपद्रोणे खारीति न भवति ।।105।।

न्या०स०–उपेना० । अत्रापि यदधिकं तदधिकिन्यारूढमित्याधारविवक्षायां सप्तमी सिद्धैव, परं पूर्ववत् विभक्त्यन्तरबाधनार्थम् । *अधिको निष्कस्ये*ति–साधुर्भृत्यो राज्ञ इतिवन्निष्कशब्दस्याधिकशब्देन सह सबन्धाभावात् ''अधिकेन भूयसस्ते'' (2. 2. 111.) इत्यनेन

निष्कशब्दान्न पञ्चमी ।।2. 2. 105.।।

यद्भावो भावलक्षणम् ।। 2. 2. 106. ।।

भावः-क्रिया, प्रसिद्धं लक्षणमप्रसिद्धं लक्ष्यम्; यस्य संबन्धिना भावेन-क्रियया भावोऽपरक्रिया लक्ष्यते, तस्मिन् भाववति वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः सप्तमी भवति । गोषु दुह्यमानासु गतः, दुग्धास्वागतः; अत्र कालतः प्रसिद्धेन गवां दोहेन भावेनाऽन्यस्य गमनमप्रसिद्धं लक्ष्यते; एवं–देवाऽर्चनायां क्रियमाणायां गतः कृतायामागतः ।

गम्यमानेनाऽपि भावेन भावलक्षणे भवति–आम्रेषु कलायमात्रेषु गतः, पक्वेषु आगतः, अत्र जातेष्विति गम्यते । गम्यमानमपि हि विभक्तेर्निमित्तं भवति, यथा-वृक्षे शाखा, ग्रामे चैत्रः; अत्र भवति, वसति चेत्याधारनिमित्तं गम्यते । यत्र क्रियाऽर्हाणां कारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा-ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते, ऋद्धेष्वासीनेषु दरिद्रा भुञ्जते, यत्र च क्रियानर्हाणामकारकत्वं तद्विपर्ययो वा, यथा-दरिद्रेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते, दरिद्रेषु भुञ्जानेषु ऋद्धा आसते; तत्राऽपि भावो भावस्य लक्षणं भवतीत्यनेनैव सप्तमी । यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थम् । भाव इति किम् ? यो जटाभिस्तस्य भोजनम् । भावलक्षणमिति किम् ? यस्य भोजनं स मैत्रः तृतीयाऽपवादो योगः ।।106।।

न्या०स०–यद्भावो० । *कलायमात्रेष्विति*-कलायो मालवकप्रसिद्धोऽधमधान्यविशेषो मानमेषां स्यात् ``मात्रट्'' (7. 1. 145.) इत्यनेन मात्रट् । यत्रेति-अयमर्थ यत्र ऋद्धानां दरिद्राणां च भुजिक्रियामासनक्रियां च प्रति यथासंख्यं कारकत्वं, कोऽर्थः ? तां प्रति कर्तृत्वं, तद्विपर्ययोऽकारकत्वं वा. तत्रापि भावो भावस्य लक्षणमित्यनेनैव सप्तमी सिद्धेति, यदन्यैः– ``क्रियार्हाणां कारकत्वं तद्विपर्ययो वा'' `यत्र क्रियानर्हाणामकारकत्वं तद्विपर्ययो वा'' इति सप्तमीविधायकं सूत्रद्वयं कृतं तन्नारम्भणीयम्, यस्य भावो भावस्य लक्षणं ततो भाववतः सप्तमीष्यते, यद्ग्रहणमन्तरेण चैतन्न लभ्यते इत्याह–*यद्ग्रहणं प्रकृत्यर्थमि*ति । यो जटाभिरुपलक्षितस्तस्य भोजनमित्यत्र न भावो भावस्य लक्षणमपि तु द्रव्यम् । *तृतीयापवाद* इति इत्थंभूतलक्षणेऽर्थे ।।2. 2. 106.।।

गते गम्येऽध्वनोऽन्तेनैकार्थ्यं वा ।। 2. 2. 107. ।।

कुतश्चिदवधेर्विवक्षितस्याऽध्वनोऽवसानमन्तः, यद्भावो भावलक्षणं तस्याऽध्वनोऽध्ववाचिशब्दस्याऽध्वन एवाऽन्तेनाऽन्तवाचिना सहैकार्थ्यं सामानाधिकरण्यं वा भवति, तद्विभक्तिस्तस्माद्

भवतीत्यर्थः; गते गम्येगतशब्देऽप्रयुज्यमाने इत्यर्थः । गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि, चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवतीत्यर्थः; एवं लोकमध्याल्लोकान्तमुपर्यधश्च सप्त रज्जू-नामनन्ति, पक्षे—पूर्वेण सप्तमी; गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु, गतेष्विति गम्यते ।

गत इति किम् ? दग्धेषु लुप्तेष्विति वा प्रतीतौ मा भूत् । गम्य इति किम् ? गतशब्दप्रयोगे मा भूत्-गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु गतेषु भवति, अत्रैकार्थ्यं न भवति; सप्तमी तु पूर्वेण नित्यं भवति । अध्वन इति किम् ? कार्तिक्या आग्रहायणी मासे, अत्राऽप्यैकार्थ्याभावे पूर्वेण नित्यं सप्तमी । अन्तेनेति किम् ? अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेषु भोजनम्, भोजनं हि भोक्तृधर्मो नाऽध्वनोऽन्त इति पूर्ववत् सप्तम्येव । नन्वन्तेन सहाऽध्वनोऽभेदोपचारात् सिद्धमेवैकार्थ्यं किमनेन ? सत्यम्-कालेऽप्येवं मा भूदिति वचनम् ॥107॥

न्या०स०—गते गम्ये० । *कुतश्चिदवधेः* गवीधुमत इत्यादिलक्षणात्, *विवक्षितस्य* इयत्तापरिच्छेदायोपात्तस्याध्वनोऽवसानं-सांकाश्याद्यन्तः । यद्भाव इति-यस्याध्वानश्चतुर्योजनरूपस्य भावेन गमनरूपेणाऽपरो भावः सांकाश्यभवनरूपो लक्ष्यते तस्येत्यर्थः । *ऐकार्थ्यमि*ति-एकोऽर्थो द्रव्यमनेकभेदाऽधिष्ठानं यस्य स एकार्थस्तस्य भाव ऐकार्थ्यम् । *तद्विभक्ति*रिति-अन्ययैकविभक्ति-मन्तरेण सामानाधिकरण्यं न घटेत । गवामीः—श्रीः तां दधाति ``पॄकाहृषि०'' (उणा० 729) इति किदुः, सोऽत्राऽस्ति मतुः, अव्युत्पन्नो वा गवीधुमच्छब्दः । *अद्य नश्चतुर्षु गव्यूतेष्वि*ति-गव्यूतिरत्रास्ति विषयतयाऽवयवितया वा ``अभ्रादिभ्यः'' (7. 2. 46.) अः, गव्यूतं क्रोश एकः । *नन्वन्तेने*ति-चतुर्षु योजनेषु यत् सांकाश्यं तच्चत्वारि योजनानि ॥2. 2. 107.॥

षष्ठी वाऽनादरे ॥ 2. 2. 108 ॥

यद्भावो भावलक्षणं तस्मिन् भाववति वर्तमानाद् गौणान्नाम्नोऽनादरे गम्यमाने षष्ठी वा भवति, पक्षे पूर्वेण सप्तमी । रुदतो लोकस्य प्राव्राजीत्, रुदति लोके प्राव्राजीत्; क्रोशतो बन्धुवर्गस्य प्राव्राजीत्, क्रोशति बन्धुवर्गे प्राव्राजीत्; रुदन्तं क्रोशन्तं वाऽनादृत्य प्राव्राजीदित्यर्थः ॥108॥

न्या०स०—षष्ठी वा० । *पक्षे पूर्वेण सप्तमी*ति-वाशब्दमन्तरेणानादरे षष्ठ्याऽपवादतया सप्तमी बाध्येत । ननु ``यद्भावः०'' (2. 2. 106.) इति भावलक्षणे सामान्ये सप्तमी, तत्रानादर इति विशेषे षष्ठी, सप्तम्यामनादरप्रतीतिरर्थप्रकरणादेरित्यर्थभेदान्न बाध्य-बाधकभावोऽस्तीति किं पक्षे सप्तम्यर्थेन वाशब्देनेति, उच्यते—यथाऽनादरादन्यत्र साम्यतः सप्तम्यस्ति, एवं ``शेषे'' (2. 2. 81.) इत्यनेन षष्ठ्यपि, तत्रोभयत्रापि प्रव्रजन् रुदतापि लोकेन निवर्त्त्यमानस्तद्रोद-

नमनादृत्य प्राव्राजीदित्यनादरः प्रकरणादेः प्रतीयत इति सामान्येऽर्थे षष्ठी सप्तमीं बाधेतेति पक्षे तदर्थं वावचनम् ॥2. 2. 108.॥

सप्तमी चाऽविभागे निर्धारणे ॥ 2. 2. 109. ॥

जाति-गुण-क्रियादिभिः समुदायादेकदेशस्य बुद्ध्या पृथक्करणं निर्धारणम्, तस्मिन् गम्यमाने गौणान्नाम्नः षष्ठी सप्तमी च भवति; अविभागे-निर्धार्यमाणस्यैकदेशस्य समुदायेन सह कथञ्चिदैक्ये शब्दाद् गम्यमाने। क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेषु वा शूरतमः, शालयः शुकधान्यानां शुकधान्येषु पथ्यतमाः, कृष्णा गवां गोषु वा संपन्नक्षीरतमा, धावन्तो गच्छतां गच्छत्सु वा शीघ्रतमाः, युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणां कुरुषु वा। अविभाग इति किम्? माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः, पञ्चालाः कुरुभ्यः संपन्नतराः, मैत्रश्चैत्रात् पटुः, अयमस्मादधिकः; अत्र हि शब्दात् भेद एव प्रतीयते, न तु कथञ्चिदैक्यमिति न भवति। पञ्चमीबाधनार्थं वचनम्, अन्ये तु पञ्चमीमपीच्छन्ति-गोभ्यः कृष्णा संपन्नक्षीरतमा ॥109॥

न्या०स०—सप्तमी० । क्षतात् त्रायते ``स्था-पा०'' (5. 1. 142.) इति कः, पृषोदरादित्वादलोपे क्षत्रं, तस्यापत्य ``क्षत्रादियः'' (6. 1. 93.), *क्षत्रियः पुरुषाणामित्यादिषु* क्षत्रियत्व-शालित्वजात्या कृष्णत्वगुणेन धावनक्रियया, आदिशब्दा युधिष्ठिर-प्रभृतिसंज्ञया च निर्धारणम्। ननु निर्धार्यमाणस्यावयवस्य समुदायाभ्यन्तरत्वात् ततश्च। समुदायस्याऽधिकरणविवक्षयां वृक्षे शाखेतिवत् स म्याः सिद्धत्वात् सबन्धविवक्षायां त्ववयवस्य वृक्षस्य शाखेतिवत् षष्ठ्या अपि सिद्धत्वात् किमनेनेति, नैवम्-विभागे प्रतिषेधार्थत्वादस्य सर्वत्रैव निर्धारणस्य विभागरूपत्वेनाऽविभागपूर्वकत्वादविभागग्रहणस्य निरर्थकत्वादविभाग ग्रहणसामर्थ्यादवधारणमाश्रीयते-अविभागो यत्र शब्दत एव प्रतीयते तत्र निर्धारणे सप्तमी-षष्ठ्याविति, यथा क्षत्रियः पुरुषाणां पुरुषेष्वित्यत्र निर्धार्यमाणस्य क्षत्रियस्य पुरुषत्वेनाऽविभागप्रतीतिः; तेन माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतरा इत्यत्र न भवति, नह्यत्र केनचित् प्रकारेण माथुराणां पाटलिपुत्रकेष्वविभागः शब्दतः प्रतीयते, नहि पाटलिपुत्रका म थुरा नाप्याढ्यतरा इति वाक्याद् भेद एव प्रतीयते इत्याह-*शब्दाद् गम्यमाने* इति।

गवां कृष्णेत्यादौ विभज्यमाना गौर्गोत्वेन समुदायादविभक्ता, कार्ष्ण्येन तु विभक्ता, तस्माद् विभज्यमानस्यैकदेशस्य विभागाश्रयस्य च समुदायस्य यत्र विभागा-विभागौ स एवानयोर्विषयः, यत्र तु तयोर्विभाग एव, न कथञ्चिदैक्यं तत्र पञ्चम्येव भवति, अत एवाह-*पञ्चमीबाधनार्थमि*ति-अयमर्थः निर्धारणस्य विभागरूपत्वाद् यस्य हि यतो विभागस्तस्य

तदपेक्षयाऽवधिरूपत्वाद् अपादानत्वात् ``पञ्चम्यपादाने'' (2. 2. 69.) इति पञ्चम्यां प्राप्तायां यत्र विभागोऽपि तत्र तदपवादो योग इत्यर्थः, यद्येव सर्वथा समुदायभावानापन्ने निर्धारणमेव न युज्यते, समुदायाद्धि एकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणमित्युक्तत्वात्, सत्यमेतत्-बुद्ध्या हि केनचिद् धर्मेण कल्पितेन माथुराः पाटलिपुत्रकाश्च समुदाय-भावमापद्यन्ते इति सिध्यति निर्धारणमित्यदोषः ॥2. 2. 109.॥

क्रियामध्येऽध्व-काले पञ्चमी च ॥ 2. 2. 110. ॥

क्रिययोर्मध्ये योऽध्वा कालश्च तस्मिन् वर्तमानाद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी, चकारात् सप्तमी च भवति । इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति, क्रोशे वा लक्ष्यं विध्यति; इह धानुष्काऽवस्थानमिषुमोक्षो वैका क्रिया, लक्ष्यव्यधश्च द्वितीया, तन्मध्ये क्रोशोऽध्वा; अद्य भुक्त्वा मुनिर्द्व्यहात् भोक्ता, द्व्यहे वा भोक्ता; अत्र द्वयोर्भुक्तिक्रिययोर्मध्ये द्व्यहः कालः । ननु च `क्रोशे स्थितं लक्ष्यं विध्यति' द्व्यहे पूर्णे भुङ्क्ते, इत्यधिकरण एव सप्तमी; `क्रोशात् निःसृत्य स्थितं लक्ष्यं विध्यति, द्व्यहमतिक्रम्याऽनु भुङ्क्ते' इत्यपादाने ``गम्ययपः कर्माऽऽधारे'' (2. 2. 74.) इति पञ्चमी सिद्धैव, सत्यम्-यदा त्वस्यैव क्रियाकारकसंबन्धस्य फलभूता शेषसंबन्धलक्षणोत्तरावस्था विवक्ष्यते, यथा–द्विरह्नो भुङ्क्ते, योजनस्य शृणोतीति, तदाऽपि क्रियामध्ये षष्ठी मा भूदिति वचनम् ॥110॥

*न्या०स०–क्रियामध्ये० । इहस्थोऽयमि*ति-नन्विष्वास इति धनुरुच्यते, यथा-अङ्गराजो महेष्वास इति, महान् इष्वासो यस्येति व्युत्पत्तेः, धनुश्च व्यधने करणं, कर्ता तु मैत्रादिः, तत् कथमुक्तम्-इष्वासो विध्यतीति, उच्यते–इष्वास इति क्रियाशब्दोऽयमिति यः कश्चिदिषूनस्यति क्षिपति स मैत्रादिरप्युच्यते; यद्वा रूढिशब्दत्वेऽपि करणस्य स्वातन्त्र्य-विवक्षायामिष्वासो विध्यतीति उपपद्यत एव, यथा स्थालीकरणस्य कर्तृ विवक्षायां स्थाली पचतीत्युच्यते । *अद्य भुक्त्वे*ति-नन्विहस्थोऽयमिष्वास इत्यादि क्रियाभेदाद् युक्तमिदमुदाहरणम्, इदं त्वयुक्तमद्य भुक्त्वा मुनिर्द्व्यहाद् भोक्तेति भुजिक्रियाया एकत्वात्, सत्यम्–भुजिक्रियाया एकस्या अपि कालभेदाद् भेदस्य सिद्धत्वादाधारोऽपि तस्या भिद्यते ।

*अधिकरण एव सप्तमी*ति–क्रियामध्यव्यवस्थितस्याध्वनोऽधिकरणत्वात् सप्तमी सिद्धा, क्रोशैकदेशस्याधिकरणत्वात् क्रोशेऽप्यधिकरणत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्; एवं कालादपि द्व्यहे पूर्णे इत्यत्र पूर्णद्व्यहस्य यदुपश्लिष्टमहस्तत्र भोक्ते त्यर्थावसायादौपश्लेषिकी सप्तमी सिद्धा, पञ्चमी त्वध्वनोऽपादानत्वात् क्रोशान्निर्गच्छद्भिः शरैर्लक्ष्यं विध्यतीत्यर्थावगमात्; कालात् तु

``गम्ययप:०'' (2. 2. 74.) इति द्व्यहमतिक्रम्य भोक्तेत्यर्थप्रतीतेः, किमर्थोऽयं योग इत्याक्षेपार्थः यथा च शरनिर्गमनस्य धनुरपादानं तथा क्रोशोऽपि तस्मादपि हि ते निर्गच्छन्ति, यद्वा क्रोशस्थं धनुरपि क्रोशेनाभिधीयते उपचारात्, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् । *अस्यैवे*ति-अपादानस्याधारस्य वेत्यर्थः । *फलभूते*ति-क्रियाकारकसंबन्धो हि कटं करोतीत्यादावप्यस्ति । तद्व्यवच्छित्त्यै शेषसंबन्धलक्षणा फलभूता कार्यभूतोत्तरावस्था इत्युक्तम् । *षष्ठी मा भूदिति वचनमि*ति-अयमर्थः—यदा भोजन-श्रवणादौ कालाऽध्वनोः क्रियाकारकजन्यं शेषसंबन्धित्वमेव केवलं विवक्ष्यते न त्वपादानाधिकरणत्वे तदा ताभ्यां षष्ठ्येव स्यादिति सूत्रारम्भः । किञ्च यदा द्व्यह-क्रोशशब्दौ द्व्यहक्रोश-विषयावेव न तदेकदेशविषयौ तदा नापायो नाप्याधारतेति षष्ठी प्राप्नोति, क्रोशं वाहयित्वा विध्यति, द्व्यहं वाहयित्वा भोक्तेति वा प्रतीतेर्द्वितीया प्राप्नोति तद्बाधनार्थोऽयं योग आरभ्यते, वृत्तौ तु षष्ठो मा भूदिति षष्ठीग्रहणमुपलक्षणार्थम्, तेन द्वितीयाऽपि मा भूदित्यर्थः सिद्धो भवति ।।2. 2. 110.।।

अधिकेन भूयसस्ते ।। 2. 2. 111. ।।

अधिरूढ इत्यर्थेऽधिकशब्दो निपात्यते, अधिरूढ इति कर्तरि कर्मणि च क्तो भवति, तत्र यदा कर्तरि तदाऽधिक इत्यनेनाऽल्पीयानुच्यते, यदा तु कर्मणि तदा भूयान्, तत्र सामर्थ्यादल्पीयोवाचिनाऽधिकशब्देन युक्ताद् भूयसो—भूयोवाचिनो गौणान्नाम्नस्ते-सप्तमी-पञ्चम्यौ भवतः । अधिको द्रोणः खार्याम्, अधिको द्रोणः खार्याः ।।111।।

न्या०स०—अधिकेन० । भूयस इत्युपादानात् अधिकशब्देनाल्पीयानेवोच्यत इत्याह—*सामर्थ्या*दिति । अत्राधिकाधिकिसंबन्धस्य विद्यमानत्वात् खारीशब्दात् ``शेषे'' (2. 2. 81.) इत्यनेन षष्ठी प्राप्नोति, तथाऽधिकशब्दस्य कर्तृ साधनाध्यारूढार्थत्वात् ``कर्मणि'' (2. 2. 40.) इति द्वितीया च, अतस्तयोर्बाधिके सप्तमी-पञ्चम्यावनेन विधीयेते ।।2. 2. 111.।।

तृतीयाऽल्पीयसः ।। 2. 2.112. ।।

अधिकशब्देन सामर्थ्याद् भूयोवाचिना युक्तादल्पीयोवाचकाद् गौणान्नाम्नस्तृतीया भवति । अधिका खारी द्रोणेन ।।112.।।

*न्या०स०—तृतीया० । सामर्थ्या*दिति-अल्पीयस इत्युपादानात् कर्मसाधनो भूयोऽर्थोऽधिकशब्दः प्रतिपत्तव्य इति । कर्तरि तृतीया सिद्धेव षष्ठीबाधनार्थं तु वचनम् ।।2. 2. 112.।।

पृथग्-नाना पञ्चमी च ॥ 2. 2. 113. ॥

पृथग्-नानाशब्दाभ्यां युक्ताद् गौणान्नाम्नः पञ्चमी तृतीया च भवति । पृथग् मैत्रात्, पृथग् मैत्रेण; नाना चैत्रात्, नाना चैत्रेण । यदा पृथग्-नाना-शब्दावन्यार्थौ तदा प्रभृत्यादिसूत्रेण पञ्चमी सिद्धैव तृतीयैवाऽनेन विधीयते, यदा त्वसहायार्थौ तदा पञ्चमीविधानार्थमपीदम् । अन्ये तु द्वितीयामपीच्छन्ति ॥113॥

ऋते द्वितीया च ॥ 2. 2. 114. ॥

ऋते इत्येतदव्ययं वर्जनार्थम्, तेन युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीया पञ्चमी च भवति । चित्रं यथाश्रयमृते, नह्यङ्गं विक्रियते रागमृते, ऋते धर्मात् कुतः सुखम् । द्वितीयां नेच्छन्त्येके ॥114॥

न्या०स०—ऋते द्वि० । नह्यङ्गं विक्रियत इति—विषयादिभिः कर्तृभिरित्यर्थः, विक्रियत इति कर्मण्ययं प्रयोगः, कर्मकर्तरि तु ``भूषार्थ०'' (3. 4. 93.) इति किरादित्वात् क्यप्रतिषेधः स्यात् ॥2. 2. 114.॥

विना ते तृतीया च ॥ 2. 2. 115. ॥

विनाशब्देन युक्ताद् गौणान्नाम्नस्ते-द्वितीयापञ्चम्यौ तृतीया च भवति । विना वातम्, विना वर्षम्, न विना शब्दभावनाम्, याञ्चां विना विद्धि, विना वातात्, विना वातेन । द्वितीयां नेच्छन्त्यन्ये ॥115॥

न्या०स०—विना ते । विनेति तृतीयान्तमव्ययम् ।
``आद्यः करणविन्यासः, प्राणस्योर्ध्वं समीरणम् ।
स्थानानामाभिघातश्च, न विना शब्दभावनाम्'' ॥2. 2. 115.॥

तुल्यार्थैस्तृतीया-षष्ठ्यौ ॥ 2. 2. 116. ॥

तुल्यार्थैर्युक्ताद् गौणान्नाम्नस्तृतीया-षष्ठ्यौ भवतः । मात्रा तुल्यः, मातुस्तुल्यः; पित्रा समानः, पितुः समानः; गुरुणा समः, गुरोः समः; चैत्रेण सदृशः, चैत्रस्य सदृशः । अर्थग्रहणं पर्यायार्थम् । उपमा नास्ति कृष्णस्य, तुला नास्ति सनत्कुमारस्येत्यादावुपमादयो न

तुल्यार्धा इति न भवति । गौणाधिकाराच्च गौरिव गवयः, यथा गौस्तथा गवय इत्यादौ न भवति । तृतीयामविकल्य्य षष्ठीविधानं सप्तमीबाधनार्थम्, तेन गवां तुल्यः स्वामी, गोभिस्तुल्यः स्वामीत्यत्र ``स्वामीश्वरा'' (2. 2. 98.) इत्यादिना सप्तमी न भवति ।।116।।

न्या०स०–तुल्यार्थैः० । न तुल्यार्था इति–तुल्यादयो हि धर्मिवाचकाः, तुलोपमादयस्तु तुल्यत्वादिधर्मवचना इति न तुल्यार्थाः। *गौणाधिकाराच्चे*ति-प्रधानाद् गोशब्दान्न भवतीत्यर्थः, तुल्यार्थतापि नास्तीति चकारेण परिहारान्तर समुच्चीयत इति शेषः । नन्वनन्तरात् पूर्वसूत्रात् तृतीयाऽनुवर्तते, ततः ``तुल्यार्थैर्वा'' इति तद्विकल्पे कृते ``शेषे'' (2. 2. 81.) इत्यनेन पक्षे शेषलक्षणा षष्ठी सिद्धैव, किमर्थं तद्विधानमित्याह–*तृतीये*त्यादि । *गवां तुल्यः स्वामी*ति-गवां तुल्य इत्यर्थः, यद्यस्मत्स्वामी गवां तुल्य इत्यर्थो विवक्ष्यते तदा गोशब्दस्य स्वामिशब्देनायोगात् सप्तमीप्राप्तिरेव नास्तीति । *गवय* इति–

कीदृग् गवय इत्येवं पृष्टो नागरिकैर्यदा ।
वदत्यारण्यको वार्तां यथा गौर्गवयस्तथा'' ।। 2. 2. 116. ।।

द्वितीया-षष्ठ्यावेमेनाऽनञ्चेः ।। 2. 2. 117. ।।

एनप्रत्ययान्तेन युक्ताद् गौणान्नाम्नो द्वितीयाषष्ठ्यौ विभक्ती भवतः, न चेत् सोऽञ्चेः परो विहितो भवति । पूर्वेण ग्रामम्, पूर्वेण ग्रामस्य; अपरेण ग्रामम्, अपरेण ग्रामस्य; दक्षिणेन विजयार्धम्, दक्षिणेन विजयार्धस्य; उत्तरेण हिमवन्तम्, उत्तरेण हिमवतः । अनञ्चेरिति किम् ? प्राग् ग्रामात्, प्रत्यग् ग्रामात्; उदग् ग्रामात् ।।117।।

*न्या०स०–द्वितीया० । पूर्वेणे*ति-पूर्वस्यामदूरवर्तिन्यां दिशि ``अदूरे एनः'' (7. 2. 122.) ।।2. 2. 117.।।

हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ।। 2. 2. 118. ।।

हेतुर्निमित्तं कारणमिति पर्यायाः, एतदर्थैः शब्दैर्युक्तात् प्रत्यासत्तेस्तैरेवसमानाधिकरणाद् गौणान्नाम्नस्तृतीयाद्यास्तृतीया-चतुर्थी-पञ्चमी-षष्ठी-सप्तम्यो भवन्ति । धनेन हेतुना वसति, धनाय हेतवे वसति, धनाद् हेतोर्वसति, धनस्य हेतोर्वसति, धने हेतौ वसति; एवं-धनेन निमित्तेन, धनेन कारणेन, धनेनाऽपदेशेन; धनेन प्रयोजनेनेत्यादयोऽपि । तत्सामानाधिकरण्याच्च हेत्वर्थेभ्योऽपि ता एव भवन्ति । प्रत्यासत्तेस्तैरेव समानाधिकरणादिति किम् ? अन्नस्य

हेतुः। अन्ये तु हेत्वर्थशब्दयोगे नेच्छन्ति, हेतुशब्दप्रयोगे तु षष्ठीमेवेच्छन्ति । असर्वाद्यर्थमिदम् ।।118।।

न्या०स०–हेत्वर्थैः० । *प्रत्यासत्तेरिति*–हेत्वर्थैस्तु व्यधिकरणाद् हेतुसंबन्धे षष्ठ्येवास्ति, न तत्र तृतीयाद्या इति सामर्थ्या हेत्वर्थैः समानाधिकरणाद् हेतोरेव तृतीयाद्या भवन्तीति । ननूत्तरसूत्रेण सर्वा विभक्तय इति सर्वे विभक्त्यन्तर्गतत्वात् तृतीयद्या अपि सिद्धाः, किमर्थमिद मित्याह *असर्वाद्यर्थमिति* । हेतौ तृतीयायां ``ऋणाद्धेतोः'' (2. 2. 76.), ``गुणादस्त्रियां नवा'' (2. 2. 77.) इति पञ्चम्यां प्राप्तायामयं विधिरारभ्यत इति ।।2. 2. 118.।।

सर्वादेः सर्वाः ।। 2. 2. 119. ।।

हेत्वर्थैर्युक्तात् प्रत्यासत्तेस्तत्समानाधिकरणात् सर्वादेर्गौणान्नाम्नः सर्वा विभक्तयो भवन्ति । को हेतुर्वसति चैत्रः, कं हेतुं वसति, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद् हेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ; एवं यो हेतुः, यं हेतुम्, येन हेतुना, यस्मै हेतवे, यस्माद् हेतोः, यस्य हेतोः, यस्मिन् हेतौ; स हेतुः, तं हेतुम्, तेन हेतुना, तस्मै हेतवे, तस्माद् हेतोः, तस्य हेतोः, तस्मिन् हेतौ; सर्वो हेतुः, सर्वं हेतुम्; भवान् हेतुः, भवन्तं हेतुम्, भवता हेतुना; उभौ हेतू, उभाभ्यां हेतुभ्यामित्यादि; एवं किं कारणं ?, किं निमित्तं ?, किं प्रयोजनमित्यादि । तत्समानाधिकरणादित्येव–कस्य हेतुः । प्रथमां नेच्छन्त्येके, द्वितीयामपरे ।।119।।

न्या०स०–सर्वादेः० । प्रियाः सर्वे यस्येति बहुव्रीहौ हेत्वर्थयोगेऽपि न सर्वा विभक्तयः अन्यपदार्थप्रधानत्वेन सर्वादेर्गौणत्वात्, ❉ गौणे मुख्ये च मुख्ये कार्यसप्रत्ययः ❉ कर्मधारये परमसर्वं हेतु वसतीत्यादि तु भवति, ❉ ग्रहणवता नाम्ना० ❉ इति तु नोपतिष्ठतेऽत्र ।।2. 2. 119.।।

असत्त्वारादर्थात्-टा-ङसि-ङ्यम् ।। 2. 2. 120. ।।

सत्त्वं–द्रव्यं, ततोऽन्यदसत्त्वम्, आराद् दूराऽन्तिकयोः, तन्त्रेणोभयोर्ग्रहणम्; असत्त्ववाचिनो दूरार्थादन्तिकार्थाच्च `टा ङसि ङि अम्' इत्येते प्रत्यया भवन्ति, गौणादिति निवृत्तम् । दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूराद् ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूरे ग्रामस्य ग्रामाद् वा, दूरं ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एवं विप्रकृष्टेन, विप्रकृष्टात्, विप्रकृष्टे, विप्रकृष्टं ग्रामस्य ग्रामाद् वा तिष्ठति; अन्तिकार्थः- अन्तिकेन, अन्तिकात्, अन्तिके, अन्तिकं ग्रामस्य ग्रामाद् वा वसति; एंवमभ्याशेन, अभ्याशात्, अभ्याशे, अभ्याशं ग्रामस्य ग्रामाद् वा ।

केचिदारादर्थैः पञ्चम्यन्तैर्युक्तात् पञ्चमीं नेच्छन्ति, तेन—दूराद् ग्रामस्य, अन्तिकाद् ग्रामस्येत्येव भवति, न तत् सर्वसंमतं पञ्चम्या अपि दर्शनात्—

``दूरादावसथान्मूत्रं, दूरात् पादावसेचनम् ।
दूराच्च भाव्यं दस्युभ्यो, दूराच्च कुपिताद् गुरोः'' ॥1॥ इति ।

असत्त्वेति किम् ? दूरः पन्थाः, अन्तिकः पन्थाः, दूराय पथे देहि, अन्तिकाय पथे देहि, दूरस्य पथः, अन्तिकस्य पथः स्वम् । कथं चिरं ?, चिरेण ?, चिराय ?, चिरात्?, चिरस्येति ?; विभक्तिप्रतिरूपका निपाता एते, यथा—परस्परम्, परस्परेण, परस्परस्येत्यादयः ॥120॥

न्या०स०—असत्त्वा० । असत्त्वे आरादर्थः, न विद्यते सत्त्वं यस्य स चाऽसौ आरादर्थश्च वा । *गौणादिति निवृत्तमिति*-विभक्तिसंबद्धत्वात् तन्निवृत्तावित्यर्थः, अत्र हि टादीनि वचनात्युपात्तानि, न तृतीयाद्या विभक्तयः । *दूरेण ग्रामस्य ग्रामाद् वा* इत्यादि—इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यार्थाभिधायकत्वेऽप्येतेषां धर्ममात्रेण प्रयोगादसत्त्व-रूपार्थाभिधायकत्वं न विरुध्यते, तथाऽत्र ग्रामशब्दात् ``आरादर्थैः'' (2. 2. 78.) इति वा पञ्चम्यां पक्षे ``शेषे'' (2. 2. 81.) इति षष्ठी । *अन्तिकाय पथे* इति—अत्रोपपद-विभक्तेः कारकविभक्तिरिति पञ्चमीं बाधित्वा चतुर्थी । *न तत् सर्वसंमतमिति*-यतः काशिकाकारोऽप्याह—पञ्चम्या अपि दर्शनात् लोकाचारग्रन्थे । *कथमिति*-आरादर्थत्वाभावात् कथमेभ्यो द्वितीयाद्या इत्याशङ्कार्थः ॥2. 2. 120.॥

जात्याख्यायां नवैकोऽसंख्यो बहुवत् ॥ 2. 2. 121. ॥

जातेरेकत्वादेकवचन एवः प्राप्ते पक्षे बहुवचनार्थं बहुवद्भाव उच्यते, जातेराख्या-अभिधानं जात्याख्या; तस्यामेकोऽर्थो जातिलक्षणोऽसंख्यः—संख्या-वाचिविशेषणरहितो बहुवद् वा भवति । संपन्नो यवः, संपन्ना यवाः; संपन्नो व्रीहिः, संपन्ना व्रीहयः; जात्यर्थस्य बहुवद्भावात् तद्विशेषणानामपि बहुवद्भावः; तथा चोभयवाचिभ्यो बहुवचनम् । जातिग्रहणं किम् ? चैत्रः, मैत्रः । आख्याग्रहणं किम् ? काश्यपप्रतिकृतिः काश्यपः, भवत्ययं जातिशब्दो न त्वनेन जातिराख्यायते, किं तर्हि ? प्रतिकृतिः ।

एक इति किम् ? संपन्नौ व्रीहि-यवौ, ``मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गे ष्वक्षिणी शुभे'' इत्यादावपि सव्येतरत्वलक्षणाऽवान्तरजाति-द्वयोपाधियोगादेकत्वं नास्तीति बहुवद्भावो न भवति; जातिमात्रविवक्षायां तु भवत्येव-मगधेषु स्तनाः पीनाः, स्तनः पीनः; कलिङ्गेष्वक्षीणि शुभानि, अक्षि शुभमिति । असंख्य इति किम् ? एको व्रीहिः संपन्नः सुभिक्षं करोति, अत्र

विशेषणभूतसंख्याप्रयोगोऽस्तीति 'एके व्रीहयः संपन्नाः सुभिक्षं कुर्वन्ति' इति न भवति ॥121॥

न्या०स०—जात्याख्यायां० । वैषयिकेऽधिकरणे सप्तमी निमित्तसप्तमी वा । *जात्यर्थस्येति-* न जातिशब्दस्य, तथा सति संपन्ना यवा इति यवशब्दादेव जातिशब्दाद् । बहुवचनं स्यात्, न संपन्नशब्दात् तद्विशेषणभूतादिति, जात्यर्थस्य बहुवद्भावे संपन्नादि विशेषणान्यपि सामानाधिकरण्याद् यवादिशब्दोपात्ते जात्यर्थे वर्त्तन्त इति तेभ्योऽपि बहुत्वाश्रयं बहुवचनमुपपन्नमिति । *चैत्रः, मैत्र* इति-नेह जातिरभिधेया यदृच्छाशब्दत्वादनयोः, जातिर्हि सामान्यमुच्यते, यच्छबलशाबलेय-धवलधावलेयाद्यनेकव्यक्तिभेदेषु गौर्गौरित्याद्यनुवृत्तप्रत्ययकारणमिति, यदि च बालकुमारादिभेदेऽनुवर्त्तमानमभिन्नं रूपं जातिरुच्यते तथा सति नाजातिः कश्चिच्छब्दार्थोऽस्ति, इति जातिग्रहणमनर्थकं स्यात्, तस्मात् सादृश्यसामान्यमिह जातिर्न स्वरूपसामान्यमिति । *भवत्ययं जातिशब्द* इति—``गोत्रं च चरणैः सह'' इति लक्षणेन परमाख्याग्रहणात् प्राधान्येन जातावभिधेयायां भवति, इह तु तद्विशिष्टा प्रतिकृतिराख्यायते इति ।

``मगधेषु स्तनौ पीनौ, कलिङ्गेष्वक्षिणी शुभे ।
बाहू प्रलम्बावङ्गेषु, बङ्गेषु चरणौ दृढौ ॥'' ॥2. 2. 121.॥

अविशेषणे द्वौ चाऽस्मदः ॥ 2. 2. 122. ॥

अस्मदो द्वावेकश्चार्थो वा बहुवद् भवति, अविशेषणे—न चेत् तस्य विशेषणं प्रयुज्यते । आवां ब्रूवः, वयं ब्रूमः, अहं ब्रवीमि, वयं ब्रूमः । अविशेषण इति किम् ? आवां गार्ग्यौ ब्रूवः, अहं पण्डितो ब्रवीमि, अहं चैत्रो ब्रवीमि । कथं नाटय्ये च दक्षा वयम् ?, ``त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाऽभिमानोन्नताः ?, ``सा बाला वयमप्रगल्भमनसः'' ? इत्यादि; दक्षत्वादीनां विधेयत्वेनाऽविशेषणत्वाद् भविष्यति, यदनूद्यमानमवच्छेदकं तद्विशेषणमिति । एकाऽनेकस्वभावस्याऽऽत्मनोऽनेकस्वभावविवक्षायां बहुवचनं सिद्धमेव, सविशेषणप्रतिषेधार्थं तु वचनम् ॥122॥

न्या०स०—अविशे० । न विशेषणमविशेषणम्, यद्वा विशेषणस्याभावः । अस्मदः इत्यत्र अनुकरणत्वादस्मच्छब्दकार्याप्रवृत्तिः । *अविशेषणे* इत्यत्र प्रतिषेधः प्रधानः प्रसज्यो नञ्, यद्यत्र पर्युदासः स्याद्-विशेषणादन्यस्मिन्निति तदा विशेषणे न विधिर्नापि प्रतिषेधो विशेषणे ततोऽन्यस्मिंस्तु प्रयुज्यमाने विधिः, कोऽर्थः ? सत्यप्यस्मदर्थस्य विशेषणे ततोऽन्यस्मिन् प्रयुज्यमाने स्यादित्यर्थः, ततश्चाहं मैत्रो ब्रवीमीत्यत्रापि मिवन्तस्तस्य विशेष्यस्य भावाद् मंत्र

इति विशेषणे सत्यपि स्यादित्याह–*न चेत् तस्ये*ति ।

आवां *ब्रूव* इति-अत्र द्वयोर्मध्ये एको ब्रूते ततश्च कथमावां ब्रूव इति, उच्यते-द्वयोरप्यभेदोपचारात् । *विषेयत्वेने*ति-अज्ञातज्ञापनीयत्वेनेत्यर्थः । *एकानेकस्वभावस्ये*ति-अयमर्थः–एकोऽप्यात्मा यथैक-त्वेनानुभूयते तथा द्रष्टा श्रोता मन्तेत्यादिनानात्वेनापि, नह्येकान्तेनैकत्वेनानेकत्वेन वेतरविनिर्मुक्तेन प्रतिपत्तिरस्ति, तत्र यथैकत्वेन द्वित्वेन च तस्मिन् विवक्षिते एकवचनं द्विवचनं च तया बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं सिद्धम् । नटानां नृत्तं ``नटान्नृत्तं ञ्यः'' (6. 3. 165.) नाट्यम् ॥2. 2. 122.॥

फल्गुनी-प्रोष्ठपदस्य भे ॥2. 2. 123. ॥

फल्गुनीशब्दस्य प्रोष्ठपदाशब्दस्य च भे–नक्षत्रे वर्तमानस्य द्वावर्थौ बहुवद् वा भवतः । कदा पूर्वे फल्गुन्यौ, कदा पूर्वाः फल्गुन्यः; कदा पूर्वे प्रोष्ठपदे, कदा पूर्वाः प्रोष्ठपदाः; उदिते पूर्वे फल्गुन्यौ, उदिताः पूर्वाः फल्गुन्यः; उदिते पूर्वे प्रोष्ठपदे, उदिताः पूर्वाः प्रोष्ठपदाः । भ इति किम् ? फल्गुनीषु जाते फल्गुन्यौ माणविके । द्वावित्येव तेनैकस्मिन् ज्योतिषि न भवति-दृश्यते फल्गुनी । एकवचनान्तः प्रयोग एव नास्तीत्यन्ये । फल्गुनी-प्रोष्ठपदस्येति शब्दपरो निर्देशःकिम् ? तत्पर्यायस्य मा भूत्-अद्य पूर्वे भद्रपदे ॥123॥

न्या०स०–फल्गु० । *प्रोष्ठपदे* इति-प्रवृद्धः ओष्ठो यस्य प्रोष्ठो गौस्तस्येव पादौ यस्या ययोर्वा ``सुप्रात०'' (7. 3. 129.) इति निपात्यते ॥ 2. 2. 123. ॥

गुरावेकश्च ॥ 2. 2. 124. ॥

गुरौ-गौरवार्हेऽर्थे वर्तमानस्य शब्दस्य द्वावेकश्चाऽर्थो बहुवद् वा भवति त्वं गुरुः, यूयं गुरवः; युवां गुरू, यूयं गुरवः; स कारुणिक उपाध्यायः, ते कारुणिका उपाध्यायाः, तौ कारुणिकावुपाध्यायौ, ते कारुणिका उपाध्यायाः; एष मे पिता, एते मे पितरः; अयं तपस्वी, इमे तपस्विनः; गुरुशिष्यौ, गुरुशिष्याः; इह भवानाह, इह भवन्तस्त्वाहुः । आपः, दाराः, गृहाः, वर्षाः, पञ्चालाः जनपदः, गोदो ग्रामः, खलतिकं वनानि, हरीतक्यः फलानि, पञ्चालमथुरे, चञ्चाऽभिरूपो मनुष्य इति । सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनि स्याद्वादमनुपतति मुख्योपचरितार्थाऽनुपातिनि च शब्दाऽऽत्मनि रूढितस्तत्तल्लिङ्गसंख्योपादानव्यवस्थाऽनुसर्त्तव्या ॥124॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तौ द्वितीयस्याऽध्यायस्य द्वितीयः पादः समाप्तः ।।2।2।।

मूलार्कः श्रूयते शास्त्रे, सर्वकल्याणकारणम् ।
अधुना मूलराजस्तु, चित्रं लोकेषु गीयते ।।6।।

न्या०स०—गुरा० । *कारुणिक* इति—करुणा प्रयोजनमस्य करुणया वा चरति । अयं भवात् *इहभवान्* ``भवत्वायुः०'' (7. 2. 91.) इत्यधिकारात् ``त्रप् च'' (7. 2. 92.) इति त्रप्, ``क्वकुत्र०'' (7. 2. 93.) इति पश्चान्निपात्यते । इमे भवन्तः *इहभवन्तः* । पञ्चालानां देशोऽपि पञ्चाला उपचारात् । गोदौ-ह्रदौ तत्समीपग्रामोऽपि *गोदौ* । *खलतिकं वनानी*ति-खलतीति ``कुशिक०'' (उणा० 45) इत्यादिना निपात्यत इत्याम्नायः, यद्वा खलान् तिक्नोति ``मूलविभुजादयः'' (5. 1. 114.) कः, खलतिकाख्यपर्वतसमीपवर्तिवनानामपि खलतिक इत्याख्या । हरति रोगानिति ``हृरुहि०'' (उणा० 79) इति ईतके-हरीतकी । पञ्चालाश्च मथुरा च *पञ्चालमथुरे* । चीयते उपचीयते तृणैरिति चञ्चा । ``चमेर्डोचडञ्चौ'' (उणा० 122) अभिमतं रूपं यस्य अभिमतं रूप्यते वा अभिरूपो मनुष्यश्चञ्चेव अकिञ्चित्करत्वात् *अनुपतती*ति-अनुयाति अनुव्रजतीत्यर्थः । *अनुसर्त्तव्ये*ति-लिङ्गानि च संख्याश्च तास्ताश्च ताः लिङ्गसंख्याश्च तासामु-पादानं तस्य व्यवस्था साऽनुसर्तव्या ।

नन्वाप इत्येकस्यात्मापि जलकणिकायां बहुवचनान्तोऽप्शब्दः प्रयुज्यते, दारशब्दश्चैकस्यामपि योषिति पुंल्लिङ्गो बहुवचनान्तः, एवं गृह-शब्दोऽप्येकस्मिन्नपि गृहे, एवं *वर्षा* इत्येकस्मिन्नपि ऋतौ, एवं *पञ्चाला* इति बहुवचनान्तेनैकोऽर्थ उच्यते जनपदः, तत्र बहुत्वाभावाद् बहुवचनाऽयोगः, यद्यसौ बहुत्वसंख्यायोगी स्यात् तदैकवचनानुपपत्तिः जनपद इति एकत्वाभावात्, नह्येकोऽर्थ एको भवति अनेकश्च, विरोधात्, कथञ्चित् तथाभावे तूभयमप्युभयसंख्यायोगि स्यात्, न चैतदिष्यत इति, एवं गोदौ ग्राम इति द्वित्वैकत्वनियमाऽयोगः, *खलतिकं वनानी*त्येकवचनान्तेन बह्वभिधानमनुपपन्नम्, तथा *हरीतक्यः फलानी*ति स्त्रीनपुंसकयोर्लिङ्गयोरयोगः तथा *पञ्चालमथुरे* इत्यनुत्तरपदस्य देशवृत्तेर्बहुविषयस्य बहुवद् भावप्रतिषे धानुपपत्तिः, एवं *चञ्चाभिरूप* इत्यादावपि चञ्चादिलिङ्गता स्यादित्यत्र यत्नः कर्त्तव्यः, येन सर्व समञ्जसंस्यादित्याशङ्का यामाह—*सर्वलिङ्गसंख्ये वस्तुनी*त्यादिसर्वाणि—त्रीण्यपि लिङ्गानि, सर्वाश्चएकत्व-द्वित्व- बहुत्वलक्षणाः संख्या एकस्मिन्नेव वस्तुनि सन्ति, तथाहि—वस्त्वर्थो मात्रेति शब्दाः सर्वत्र वस्तुतत्त्वे—घटवस्तु घटार्थो घटमात्रेति प्रवर्त्तन्ते इति लिङ्गानि दृश्यन्तेः गुणगुणि-द्रव्यपर्याया-ऽवयवावयविरूपे वस्तुनि घट इत्यभेदविवक्षायामेकत्वसंख्या, गुण-गुणिनौ द्रव्य-

पर्यायौ अवयवा-ऽवयविनौ घटौ नैकैकमात्र इति द्वित्वसंख्या, गुण-पर्यायाऽवयवानां बहुत्वात् तद्भेदविवक्षायां गुणाश्च गुणी च गुणगुणिनो घटा इति बहुत्वसंख्या; न चैतदेकस्मिन् वस्तुनि स्याद्वादानुपातिनि विरुद्धं स्यात्, यतः कथञ्चिदिति वादः स्याद्वादः तथाहि–स एवायं मैत्र इत्याजन्ममरणमविच्छेदः प्रतीयते, तन्न भेदमात्रं वस्तु, बालोऽयं न युवा, युवाऽयं न बालः, सुप्ताऽयं न उत्थितः, उत्थितोऽयं न सुप्त इति विच्छेदश्च प्रतीयते तन्नाभेदमात्रम्, न च तयोर्भेद एव 'मैत्रो बालो मैत्रो युवा' इत्येकत्वेन प्रतिभासनात्, गौरश्चेतिवद् भेदप्रतिभासाभावात्, एकान्तेन भेदेऽन्यतरविलोपः, तथा च भेदाभेदप्रतिभासायोगः, न चान्यतरस्य मिथ्यात्वमितरा-विशेषात् तस्मादन्तरालावस्थं वस्तु, तदेतत् । स्याद्वादानुपातीति नात्रानेकरूपता विरुध्यते, तदेवं क्रमाक्रमभाव्यनेकभेदात्मके वस्तुनि सर्वमुपपद्यते, तत्राप इति नैकस्यां व्यक्तौ प्रवर्तते, अपि तु बहुव्यक्तिविषय एव ।

एवं दारादयोऽपि पुंल्लिङ्गाः, यथा द्वौ त्रय इति भेदविषया एव नैकैकविषया एव, एकद्रव्यविषयत्वेऽपि गुणपर्यायावयवभेदोपादानाद् वस्तुसामर्थ्याद् बहुत्वोपपत्तिः । एवं पञ्चाला इति वस्तुशक्तिस्वाभाव्यादवयवद्वारेण प्रवतते, जनपद इति समुदायद्वारेण । एवं गोदौ ग्राम इत्यादावप्येकानेकसंख्योपपत्तिः । हरीतक्यः फलानीति लिङ्गभेदश्च सर्वलिङ्गत्वाद् वस्तुनः । पञ्चालमथुरे इति पञ्चालादीनां बहुत्वविषयाणां समासे उत्तरपदादन्यत्र समुदायाभिधानं न त्ववयवाभिधानमिति बहुत्वाभावः, नियतविषयाश्च शब्दशक्तयो भवन्ति, यथा-राज्ञ पुरुष इति वाक्ये राजशब्दो विशेषणादियोगिनमर्थमाचष्टे, वृत्तौ तु तद्विलक्षणं राजपुरुष इति । चञ्चाभिरूपो मनुष्य इति सा श्यान्मनुष्यवृत्तेश्च तद्रूपं यन्न विशेषणयोगि । पञ्चालादिशब्दानां च क्षत्रियाद्यर्थवृत्तीनामपि सोऽयमित्यभिसम्बन्धादुपचाराज्जनपदाद्यर्थेऽपि वृत्तिरित्युक्त–*मुख्योपचरितार्थानुपातिनी*त्यादि । अत्र च रूढिः प्रमाणं, यतो वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थव्युत्प-त्तिरित्युच्यते-*रूढित* इति-रूढिः शिष्टव्यवहारे प्रसिद्धिः । *तत्तल्लिङ्गसंख्योपादानव्यवस्थे*ति-सा सा येदानीं प्रदर्शितेति ।।2. 2. 124.।।

।। द्वितीयस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ तृतीयः पादः

नमस्-पुरसो गतेः क-ख-प-फि रः सः ॥ 2. 3. 1. ॥

गतिसंज्ञकयोः 'नमस् पुरस्' इत्येतयोः संबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फेषु परेषु सकारादेशो भवति । नमस्कृत्य, नमस्करोति, नमस्कर्ता, नमस्कर्तुम्, नमस्कर्तव्यम्; पुरस्कृत्य, पुरस्करोति, पुरस्कर्ता, पुरस्कर्तुम्, पुरस्कर्तव्यम्; पुरस्खादः, पुरस्खादनम्; पुरस्पातः, पुरस्पतनम्, पुरस्फक्कः, पुरस्फक्कनम् । गतेरिति किम् ? नमः कृत्वा, नमः करोति; नमःशब्दमुच्चारयतीत्यर्थः, नमःशब्दस्य कृग्योगे विकल्पेन गतिसंज्ञाविधानाद् वा तिस्रः पुरः करोति ॥1॥

न्या०स०—नमस्-पुरसो० । *नमस्कृत्ये*ति-अनमो नमःकरणं पूर्वं—"साक्षादादिः०" (3. 1. 14.) इति गतिसंज्ञायां "गति-क्वन्यः०" (3. 1. 42.) इति सः । *नमः कृत्वे*ति-अत्र नमः शब्दान्तरं न त्वव्ययमिति अमः "अनतो लुप्" (3. 2. 6.) । पुर इति-"पृंक्" पिपर्तीति भ्राजादिनिपातनात् क्विपि दीर्घत्वे च "ओष्ठ्यादुर्" (4. 4. 117.) इत्युरि-पूः, ततः शस् ॥2. 3. 1.॥

तिरसो वा ॥ 2. 3. 2. ॥

गतिसंज्ञकस्य तिरःशब्दस्य संबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फेषु परेषु सकाराऽऽदेशो वा भवति । तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य; तिरस्करोति, तिरःकरोति; तिरस्कर्ता, तिरः कर्ता; तिरस्कर्तुम्, तिरः कर्तुम् । गतेरित्येव-तिरः कृत्वा काष्ठं गतः, अन्तर्धावपि "कृगो नवा" (3. 1. 10.) इति विकल्पेन गतिसंज्ञाविधानात् तिरः कृत्वा । अगतेरप्यन्तर्धाविच्छत्यन्यः तिरस्कृत्वा ॥2॥

पुंसः ॥ 2. 3. 3. ॥

पुम्स्शब्दसंबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फेषु परेषु सो भवति । पुंस्कोकिलः, पुंस्खननम्, पुंस्पाकः, पुंस्फलम्, पुंस्काम्यति, पुंस्कः, पुंस्पाशः ॥3॥

न्या०स०—पुंसः । ननु "पुमोऽशिट्यघोषे०" (1. 3. 9.) इत्यत्र रमपहाय सत्वमेव विधीयतां किमनेनेति ? सत्यम्-एतद् विना 'पुंश्चरः, पुंष्टिट्टिभः' इत्यादयो न सिद्ध्यन्तीति आरभ्यतेः न च वाच्यं "सो रुः" (2. 1. 72.) इति रुत्वे तस्य शत्वषत्वादौ च कृते सर्वाणि

सेत्स्यन्ति ? विधानसामर्थ्येन रुत्वाभावात् । *पुंस्काम्यति* अत्र ``रो: काम्ये'' (2. 3. 7.) इति नियमात् ``नामिनस्तयो: ष:'' (2. 3. 8.) इति षत्वं न, *'पुंस्क:, पुंस्पाश:'* इत्यत्र तु कृतमपि षत्वं परस्मिन् ``पुंस:'' (2. 3. 3.) इति सत्वे कर्तव्ये ``णषमसत्०'' (2. 1. 60.) इत्यनेनासिद्धं, तत: सप्तमपादे सत्वापेक्षया परमपि षत्वं ``णषम्०'' (2. 1. 60.) इत्यत्र ज्ञातव्यम्, अत: षत्वमर्वाचीनं सत्वं तु परविधिरिति ।। 2. 3. 3. ।।

शिरो-ऽधस: पदे समासैक्ये ।। 2. 3. 4. ।।

'शिरस् अधस्' इत्येतयो: संबन्धिनो रेफस्य पदशब्दे परे सो भवति, समासै क्ये-तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र समासे भवत: । शिरस्पदम्, अधस्पदम्; ``अव्ययं प्रवृद्धादिभि:'' (3. 1. 48.) इति समास: । पद इति किम् ? शिर:खण्डम् । समासेति किम् ? शिर:पदम्, अध: पदम् । ऐक्य इति किम् ? परमशिर:पदम्, परमाध: पदम् ।।4।।

न्या०स०—शिरोऽधस:० । *पदशब्दे पर इति*—न वाच्यं ❉ स्वं रूपं—शब्दस्य ❉ इत्यनेन ❉ कृत्रिमाकृत्रिमयो:० ❉ इत्यनेन या ``तदन्तं पदम्'' (1. 1. 20.) इत्यादि सूत्रै: परिभाषितस्य ग्रहणं प्राप्नोतीति, समास इति वचनादुत्तरपदमन्तरेण च समासस्यासम्भवात् तस्य सामर्थ्यलब्धत्वात् पदग्रहणानर्थक्यप्रसङ्गादिति । *शिरस्पदम्* अत्र ``सप्तमी शौण्डाद्यै:'' (3. 1. 88.) इति स:, षष्ठीतत्पुरुषो वा । *अध: पदम्* इत्यत्र ``अव्ययं प्रवृद्धादिभि:'' (3.1.48.) इति नित्यं से प्राप्ते बाहुलकाद् वाक्यमपि । ``ऋते तृतीयासमासे'' (1. 2. 8.) इतिवत् समास इत्युक्तेऽपि तौ शाब्द्या वृत्या निर्दिश्येते इति न कोऽपि दोष: ।।2. 3. 4.।।

अत: कृ-कमि-कंस-कुम्भ-कुशा-कर्णी-पात्रेऽनव्ययस्य ।। 2. 3. 5. ।।

अकारात् परस्यानव्ययसंबन्धिनो रेफस्य कृ-कम्यादिस्थेषु क-ख-प-फेषु परेषु सो भवति, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र समासे भवत: । कृ-अयस्कृत्, अयस्कार:, अयस्कृतम्; कमि-यशस्काम:, पयस्काम:; कंस-अयस्कंस: पयस्कंस:; कुम्भ-अयस्कुम्भ:, पयस्कुम्भ:; द्वन्द्वे-पयस्कुम्भकपालानि; कुशा—अयस्कुशा; पयस्कुशा; कर्णी-अयस्कर्णी, पयस्कर्णी; पात्र-अयस्पात्रम्, पयस्पात्रम्; नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात्—अयस्कुम्भी, पयस्पात्री; शुनस्कर्ण इति तु कस्कादि: । अत इति किम् ? गी:कार:, धू:कार:, भा:करणम्, वा:पात्रम्,

भास्कर इति तु कस्कादिः । कृकम्यादिष्विति किम् ? अयःकीलः, पयःपानम् । अनव्ययस्येति किम् ? स्वःकारः, प्रातःकामः । समास इत्येव—यशः करोति । ऐक्य इत्येव—उपपयःकारः, परमयशःकामः । अयसः कुम्भकपालम्-अयः कुम्भकपालम्, पयसः पात्रखण्डं-पयःपात्रखण्डम्; अत्र हि निमित्तनिमित्तिनौ नैकसमासस्थौ, यदा त्वेवं समासोऽयसः कुम्भोऽयस्कुम्भस्तस्य कपालं तदा भवत्येवायस्कुम्भकपालमित्यादि । इह कृ-कम्योः केवलयोः समासो न भवतीति प्रत्ययान्तयोर्ग्रहणम् । अथ क्विबन्ता धातुत्वं न जहतीति क्विबन्तयोरेव कस्मात् न भवति ? ``गतिकारकस्य'' (3. 2. 85.) इत्यादिसूत्रे क्विब्ग्रहणात्, नह्यन्यप्रत्ययान्तानां धातूत्तरपदानाम-ग्रहणे क्विब्ग्रहणमर्थवद् भवति । कमिग्रहणात्, कामयतेर्न भवति-पयः कामयते पयःकामा ``शीलि-कामिभक्ष्याचरि'' (5. 3. 87.) इत्यादिना णः । कमेस्त्वणिपयस्कामीति भवति, कथं पयस्कामा ? कमनं कामः, पयसि कामोऽस्या इति बहुव्रीहिणा भविष्यति । कमिग्रहणेनैव कंसे लब्धे पृथक् कंसग्रहणं ज्ञापकम्-अस्तीदमपि दर्शनम्—❈ उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि ❈ इति ॥5॥

न्या०स०—अतः कृ०। अयस्कार इति-अत्रायः करोतीति अर्थकथनमिदं, यतोऽयस् अम् कृ अण् इति समासः, ततोऽण्योगे कर्मनिमित्ता षष्ठी न भवति ``न नाम्येकस्वरात्'' (3. 2. 9.) इत्यत्र सूत्रेऽमोऽलुप्समासविधानात् । *यशस्काम* इति—णिङो विकल्पेन विधानात् कमिर्भवति, वाक्यं तु णिङन्तस्यैव कार्यं, यतोऽशव्विषये सः विकल्पः शव्विषये तु नित्यमेव । *अयस्कंस* इत्यत्र अयसा मिश्रः कस इति वृत्तिपदेनैव क्रियायाः प्रख्यापनान्नास्त्यसामर्थ्यं, विकारिविकारसंबन्धषष्ठीसमासो वा, पुल्लिङ्गाश्रयेणैव दृश्यत इति स्त्रियां नोदाह्रियते । ``कमूङ'' ``मा-वा-वद्यमि०'' (उणा० 563) इति सः, कंस्ते इति वा अच् कंसः । *अयस्कुशे*ति-अयोविकारस्याविवक्षितत्वात् ``भाजगोण०'' (2. 4. 30.) इति ङीर्न । अयःप्रधान यस्याः सा अयःप्रधाना, सा चासौ कुशा चेति कर्मधारयः । *अयस्कर्णी*ति-अय इव कर्णौ यस्या इति बहुव्रीहौ ``नासिकोदर०'' (2. 4. 39.) इति वैकल्पिको ङीः, समुदायस्य तु जातिवाचित्वे प्रतिपद्ये ``पाककर्ण०'' (2. 4. 55.) इति नित्यः; अय इव कर्णायति इति तु कृतेऽचि गौरादित्वाद् ङीः । *अयस्कुम्भी* इत्यत्र गौरादित्वाद् ङी । *शुनस्कर्ण* इत्यत्र उष्ट्रमुखादित्वाद् से ``षष्ठयाः क्षेपे'' (3. 2. 30.) अलुप् । नन्वयस्कृतमित्यादौ कृग्धातुरुत्तरपदं नास्ति तत् कथं सकार इत्याह—*इह कृ-कम्योरि*ति । *कथं पयस्कामे*ति—कमेर्णिङि ``शोलिकामि०'' (6. 1. 73.) इति णे-पयःकामा, णिङभावे तु कर्मणोऽणि पयस्कामीति प्राप्नोति, तत् कथं पयस्कामेत्याह—*कमनमि*त्यादि ॥2. 3. 5.॥

प्रत्यये ॥ 2. 3. 6. ॥

अनव्ययस्य यो रेफस्तस्य प्रत्ययविषयेषु क-ख-प-फेषु सो भवति । पाश-कल्प-काः प्रयोजयन्ति, काम्ये विशेषविधानादन्यस्य चाभावात् । पयस्पाशम्, यशस्पाशम्; पयस्कल्पम्, यशस्कल्पम्; पयस्कम्, यशस्कम् । अनव्ययस्येत्येव-स्वःपाशम्, प्रातःकल्पम् । प्रत्यय इति किम् ? पाशो बन्धः, कल्पो विधिः, कं शिरः, पयःपाशः, पयःकल्पः, पयःकम् ॥6॥

न्या०स०–प्रत्यये । अत इतीह नाश्रीयते तेन पयस्कल्पेत्यादि सिद्धम् । इह प्रत्ययेन समासासम्भवात् समास इति सम्बद्धमैक्य इति च नानुवर्तते । *प्रत्यय इति किमि*ति-अत्र प्रत्ययग्रहणाभावे रोः काम्ये चेति कार्यं तस्य चायमर्थः—रोः स्थाने काम्ये चकारात् कखपफि च सो भवति, तर्हि नियमः कथमिति ? उच्यते-कखपफमध्यपातित्वात् काम्यग्रहणे लब्धे यत् काम्यग्रहणं करोति तद् ज्ञापयति-रोरेव काम्ये, ततश्च प्रत्ययग्रहणं विना अयःपाश इत्यादिष्वपि ``रोः काम्ये'' (2. 3. 7.) इति सूत्रेण सत्वं स्यात्, तन्मा प्रसाङ्क्षीदिति प्रत्ययग्रहणम् । स्वः– पाशमित्यादिषु औत्सर्गिकं नपुंसकत्वम् । *पयः- कमि*त्यत्र पयसि कमिति कार्यं न तु षष्ठीसमासः, ``तृप्ता०'' (3. 1. 85.) इति निषेधात् ॥2. 3. 6.॥

रोः काम्ये ॥ 2. 3. 7. ॥

अनव्ययसंबन्धिनो रेफस्य रोरेव काम्यप्रत्यये परे सो भवति । पयस्काम्यति, यशस्काम्यति । रोरिति किम् ? द्वाःकाम्यति, वाःकाम्यति; अहःकाम्यति । प्रत्यय इत्येव-पुरुषैः काम्यम् । अनव्ययस्येत्येव-अधःकाम्यति । पूर्वेणैव सिद्धे रोरेवेति नियमार्थं वचनम् ॥7॥

न्या०स०–रोः काम्ये । *नियमार्थमि*ति-विपरीतनियमस्तु ``वर्चस्का०'' (3. 2. 48.) इति निर्देशात् प्रत्यये रोः काम्ये चेत्येकयोगाभावाद् वा न ॥2. 3. 7.॥

नामिनस्तयोः षः ॥ 2. 2. 8. ॥

तयोरिति प्रत्ययसूत्रसंगृहीतानां पाश-कल्पकानां, रोः काम्ये इति यथानिर्दिष्टस्य काम्यस्य च ग्रहणम्; तयोः परयोर्नामिन उत्तरस्य रेफस्य षकार आदेशो भवति । सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम्, धनुष्पाशम्, गीष्पाशा, धूष्पाशा; सर्पिष्कल्पम्, धनुष्कल्पम्; गीष्कल्पा, सर्पिष्कम्, सार्पिष्कः, धानुष्कः; सर्पिष्काम्यति, धनुष्काम्यति । नामिन इति किम् ? अयस्कल्पम् । तयोरिति किम् ? मुनिः करोति, भिन्द्युः पापानि । रोः काम्य इत्येव ? गीःकाम्यति, धूःकाम्यति ॥8॥

न्या०स०–नामिन० । अत्र अनव्ययस्येति वर्तते, यतः पूर्वसूत्राभ्यां सकारे प्राप्तेऽयं ष इति, तेन उच्चैष्क इत्यादि न भवति, उच्चैष्काम्यतीत्यादि च । *सार्पिष्क* इति–``प्रत्यये'' (2. 3. 6.) इति सूत्रे पाश-कल्प-का इत्युपलक्षणत्वादिकणोऽपि ग्रहणम् यद्वा इकारे लुप्तेऽयमपि क इत्यनेनात्रापि षत्वं, सर्पिषा संस्कृतः ``संस्कृते'' (6. 4. 3.) इतीकण्, सप्तमीवाक्ये तु ``संस्कृते भक्ष्ये'' (6. 2. 140.) इत्यनेनाण् स्यात् ।।2. 3. 8.।।

निर्दुर्बहिराविष्प्रादुश्चतुराम् ।। 2. 3. 9. ।।

निरादीनां संबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फेषु परेषु षो भवति । बहुवचन-निर्देशो निस्दुसोर्निर्दुरोश्च परिग्रहार्थः । निष्कृतम्, निष्पीतम्; दुष्कृतम्, दुष्पीतम्; बहिस्-बहिष्कृतम्, बहिष्पीतम्; आविस्-आविष्कृतम्, आविष्पीतम्; प्रादुस्-प्रादुष्कृतम्, चतुर्–चतुष्कण्टकम्, चतुष्पात्रम् । कथं नि 3ष्कुल ! दु 3ष्पुरुष !, नैष्कुल्यम्, दौष्कुल्यम् ?, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् ।।2. 3. 9.।।

*न्या०स०–निर्दुर्बहिः । प्रादुष्कृतमि*ति-अत्र अन्ये तु निबन्धकाराः प्रादुष्पीत-मित्यप्यधीयते, तच्च न युक्तं, तथाह्युद्योतकरः–प्रादुष्पीतमित्यसदेतदुदाहरणं विरोधात्, प्रादुःशब्दस्य कृभ्वस्तिविषय एवोपलम्भादिति । *चतुष्कण्टकमि*ति-अत्र बहुव्रीहिः समाहारो वा, समाहारेऽपि पात्रादित्वात् स्त्रीत्वप्रतिषेधाद् ङीर्न भवति । *कथमि*ति–अयमाशयः–निर्दुरोः षत्वमुच्यमानमन्य-त्वात् कथमत्र, तथाहि-अत्र परत्वात् षकरात् पूर्वं ``दुरादामन्त्र्यस्य०'' (7. 4. 99.) इति प्लुतः घ्यणि वृद्धिश्चेति ।।2. 3. 9.।।

सुचो वा ।। 2. 3. 10. ।।

सुजन्तानां संबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फेषु परेषु षकारो वा भवति । द्विष्करोति, त्रिष्करोति, त्रिष्खनति, चतुष्पचति, चतुष्फलति; पक्षे जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ विसर्जनीयश्च भवति–द्वि) (करोति, द्विः करोति; त्रि) (खनति, त्रिः खनति; चतु ⌣ पचति, चतुः पचति; चतु ⌣ फलति, चतुः फलति । सुजन्तस्य चतुरः परत्वादनेन विकल्पो न तु पूर्वेण नित्यो विधिः । कखपफीत्येव-द्विश्चरति, त्रिस्तरति ।।10।।

न्या०स०–सुचो वा । सुच इति न रेफस्य विशेषणं, तेन चतुष्पचतीत्यत्रापि विकल्पः, नह्यत्र सुचः स्थाने रेफः ``रात् सः'' (2. 1. 90.) इति सुचो लोपात्, अतः सुजिति

प्रकृतेर्विशेषणं, तत्र च तदन्तविज्ञानमित्याह—*सुजन्तानामि*ति—एवं हि विज्ञायमाने सुचो लोपेऽपि स्थानिवद्भावेन सुजन्त एवायं चतु:शब्द इति । न चैवं त्रिष्करोतीति त्रिशब्दस्यापि सुजन्तसम्बन्धित्वात् कस्मान्न भवतीति वाच्यम्, अनन्तरे कृतार्थत्वादिति ॥2. 3. 10.॥

वेसुसोऽपेक्षायाम् ॥ 2. 3. 11. ॥

इस् उस्प्रत्ययान्तस्य यो रेफस्तस्य क-ख-प-फेषु परेषु षो वा भवति, अपेक्षायां—स्थानिनिमित्तपदे चेत् परस्परापेक्षे भवतः । सर्पिष्करोति, सर्पिष्खादति, सर्पिष्पिबति, सर्पिष्फेनायते; धनुष्करोति, धनुष्खण्डयति, धनुष्पतति, धनुष्फलति; परमसर्पिष्करोति, परमसर्पिष्पिबति, परमधनुष्पतति, परमधनुष्पठति; पक्षे सर्पिः करोति, परमसर्पिः करोतीत्यादि । इसुस इति किम् ? पय) (करोति, पय ⌣ पिबति; इसुसोः प्रत्यययोर्ग्रहणादिह न भवति, मुनिः करोति, नदीभिः क्रियते, मुहुः पठति, भिन्द्युः पापानि; मुहुरित्यव्युत्पन्नमव्ययम् । इसा साहचर्यादुस औणादिकस्य ग्रहणम्, तेनेह न भवति-चक्रुः कुलानि । त्याद्युस्यपीच्छत्यन्यः । अपेक्षायामिति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम् । एकार्थीभावे च न भवति-परमसर्पिः कुण्डम् ॥11॥

न्या०स०—वेसु० । प्रत्यययोर्ग्रहणादिति-इह ❊ प्रत्यया-ऽप्रत्यययोः० ❊ ❊ लक्षण-प्रतिपदोक्तयोः० ❊ ❊ अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ❊ इत्यनेन च इसुसोः प्रत्यययोर्ग्रहणादिह न भवतीत्यर्थः ॥ 2. 3. 11. ॥

नैकार्थेऽक्रिये ॥ 2. 3. 12. ॥

न विद्यते क्रिया प्रवृत्तिनिमित्तं यस्य तस्मिन्ने कार्थे—समानाधिकरणे पदे यत् कखपफं तस्मिन् परे इसुस्प्रत्ययान्तस्य संबन्धिनो रेफस्य षो न भवति, ``वेसुसोऽपेक्षायाम्'' (2. 3. 11.) इत्यस्यायं प्रतिषेधो नान्यस्य, तद्विषय एवारम्भात् सर्पि) (कालकम् । यजु ⌣ पीतकम् । एकार्थे इति किम् ? सर्पिष्कुम्भे, सर्पि) (कुम्भे; धनुष्पुरुषस्य, धनु ⌣ पुरुषस्य । अक्रिय इति किम् ? सर्पिष्क्रियते, सर्पिः क्रियते, धनुष्प्राप्तम्, धनुः प्राप्तम् ॥12॥

न्या०स०—नैकार्थेऽक्रिये एकार्थे इत्यत्र एकशब्दः समानार्थः, यथा चैत्रमैत्रयोरेकमातेति, एका—समानेत्यर्थः, अर्थशब्दस्तु इदं-तदित्यादि सर्वनाम्ना व्यपदिश्यमानेऽनेकस्य युगपत् प्रयुज्य मानस्य भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकस्य शब्दस्याधिकरणे द्रव्ये वर्तते । सर्पि ⌣ कालकमित्यादि-

कालकं पीतकमिति गुणवचनमक्रियावाचि समानाधिकरणमतः प्रतिषेधः । *पीतकमि*ति-पीतशब्दः पावदित्वात् स्वार्थे कः, यद्वा पीतेन रक्तमिति ``नीलपीतादकम्'' (6. 2. 4.) इति कः ।।2. 3. 12.।।

समासेऽसमस्तस्य ।। 2. 3. 13. ।।

पूर्वेणासमस्तस्य इसुस्प्रत्ययान्तस्य संबन्धिनो रेफस्य क-ख-प-फे परे षो भवति, समासे- तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनावेकत्र समासे भवतः । सर्पिष्कुम्भः, असर्पिः सर्पिः कृत्वा सर्पिष्कृत्य, सर्पिष्खण्डम्, सर्पिष्पानम्, सर्पिष्फलम्; धनुष्कृत्य, धनुष्खण्डम्, धनुष्पृष्ठम्, धनुष्फलम् । समास इति किम् ? तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम् । असमस्तस्येति किम् ? परमसर्पिःकुण्डम्, इन्द्रधनुः–खण्डम्; पूर्वेणापि न भवति समासे सत्यपेक्षाया अभावात् । इदमेवासमस्तस्येति वचनं ज्ञापकम्-इसुसोः ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इत्ययं नियमो न भवति, तेन परमसर्पिष्करोति, परमसर्पिः करोतीत्यत्र ``वेसुसोऽपेक्षायाम्'' (2. 3. 11.) इत्यनेनाधिकस्यापि विकल्पो भवति । बहुसर्पिष्कुण्डम्, बहुसर्पिष्पात्रमित्यत्र तु बहुप्रत्ययादेरपि असमस्तत्वादनेन नित्यं भवति ।।13।।

न्या०स०–समासे० । *सर्पिष्पानमि*ति–``पानस्य भावकरणे'' (2. 3. 69.) इति णत्वे प्राप्ते ``षात् पदे'' (2. 3. 92.) इति निषेधः । *इदमेवे*ति-ननु परमसर्पिष्करोति परमधनुष्करोतीति परमसर्पिः–परमधनुःशब्दयोरिसुसन्तत्वाभावान्मा भूत् षकारः, परः मुत्तरपदार्थप्रधानत्वात् समासस्य सर्पि-र्धनुःशब्दयोरिसुसन्तत्वात् तदाश्रयः षो भविष्यति, किं तदर्थेन ज्ञापकेन; न चैवं सति परमसर्पिः कुण्डमित्यत्रापि प्राप्नोति, सर्पिःशब्दस्य कुण्डेनासमासात्, किन्तु परमसर्पिःशब्दः, उच्यते यद्यपि परमसर्पिःकरोत्युत्तरपदार्थप्रधाने समासे प्रधानस्यापेक्षया योगात् षत्वं सिद्ध्यति, तथापि परमं सर्पिर्यस्य सर्पिषः समीपं सर्पिषो निष्क्रान्तमिति- परमसर्पिष्करोति, उपसर्पिष्करोति, निःसर्पिष्करोतीत्यत्र न सिद्ध्यति, सर्पिःशब्दस्य करोतिक्रियायाश्च व्यपेक्षाभावादिति तदर्थमिदं ज्ञापकमिति भावः ।।2. 3. 13.।।

भ्रातुष्पुत्र-कस्कादयः ।। 2. 3. 14. ।।

भ्रातुष्पुत्रादयः कस्कादयश्च क-ख-प-फेषु परेषु रेफस्य स्थाने यथासंख्यं कृतषत्व-सत्वाः साधवो भवन्ति । भ्रातुष्पुत्रः, ``ऋतां विद्या-योनिसंबन्धे'' (3. 2. .37.) इति षष्ठ्या अलुप्, परमसर्पिष्कुण्डिका, परमधनुष्कपालम्, परमबर्हिष्पूलः, परमयजुष्पात्रम्; अत्र सर्पिष्कुण्डिका-

धनुष्कपाल-बर्हिष्पूलयजुष्पात्राणां पूर्वेण षत्वे सिद्धेऽपि समस्तार्थमिह पाठः, अन्ये त्वेषां समस्तानां षत्वं न मन्यन्ते, तन्मते तु-परमसर्पिः कुण्डिकेत्यादिषु षत्वं न भवति । कस्कः—वीप्सायां द्विर्वचनम्; कुतः कुतः आगतः कौतस्कुतः; शुनस्कर्णः—``षष्ठ्याः क्षेपे'' (3. 2. 30.) इत्यलुप्; सद्यस्कालः— बहुव्रीहिरसमासो वा; सद्यः क्रयणं सद्यस्क्रीः, तत्र भवः—साद्यस्क्रः । भ्रातुष्पुत्र, सर्पिष्कुण्डिका, बर्हिष्पूल, यजुष्पात्र इति भ्रातुष्पुत्रादयः । कस्कः, कौतस्कुतः, शुनस्कर्णः, सद्यस्कालः, सद्यस्क्रीः, साद्यस्क्रः, भास्करः, अहस्करः, अयस्काण्डः, तमस्काण्डः, अयस्कान्तः, अयस्कुण्डः, मेदस्पिण्डः; अयस्पिण्ड इति कस्कादयः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन यथादर्शनमन्येऽपि भवन्ति । सर्वत्र नामिनः परस्य रेफस्य षत्वमन्यत्र सत्वं द्रष्टव्यम् ।।14।।

न्या०स०—भ्रातुष्पुत्र० । *साद्यस्क्रः* सद्यस्क्रीशब्दादेव साद्यस्क्रस्य सिद्धत्वात् पृथगुपादानं प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थं, तेन सद्यस्क्रियो भावः—सद्यःक्रीता इत्यत्र न सत्वम् *कौतस्कुतः* गणपाठादण्, अन्यथा ``क्वेहामात्र०'' (6. 3. 16.) इति त्यच् स्यात्, किञ्च तसन्तस्य प्रथमान्तत्वेन ``ततः०'' (6. 3. 149.) इति पञ्चम्यन्ताद् विधीयमानो न प्राप्नोति । केचित् त्वपञ्चम्यन्तादधि अणमिच्छन्ति, सतस्तन्मतेन ``तत आगते'' (6. 3. 149.) इत्यनेन वाऽण् । ननु द्वित्वे तत एकपदत्वाभावात् कथं ``तत आगते'' (6. 3. 149.) इत्यण् ? सत्यम्—भूतपूर्वकन्यायाद्, भविष्यति । अहस्करः—अहः किरति लिहाद्यचिति कार्यं, कृगस्तु ``अतः कृकमि०'' (2. 3. 5.) इति सिद्धमेव । *अयस्कान्ते*ति-कनै इत्यस्य रूपं, कामपतेस्तु ``अतः कृकमि०'' (2. 3. 5.) इति सिद्धमेव, कामपतेर्वा समस्तार्थमिह पाठः, तेन परमायस्कान्त इत्यपि भवति । *कस्क* इति—यद्येवं ``कः कः कुत्र न घुर्घुरापितघुरीघोरो घुरेत् सूकरः'' इत्यादि कथम् ?, यतस्तत्रापि कस्कः इति स्यात्, सत्यम्-परमताभिप्रायेण, ते हि ``भ्रातुष्पुत्र०'' (2. 3. 14.) इति सूत्रं सन्धिविधौ विदधति, ततो विरामे विवक्षिते सति ``न सन्धिः'' (1. 3. 52.) इत्यस्य प्रवृत्तेर्न सत्वम् ।।2. 3. 14.।।

नाम्यन्तस्था-कवर्गात् पदान्तः कृतस्य सः शिड्-नान्तरेऽपि ।। 2. 3. 15. ।।

नामिनोऽन्तस्थायाः कवर्गाच्च परस्य पदान्तः—पदमध्ये कृतस्य-विहितस्य कृतसंबन्धिनो वा सः सकारस्य षो भवति, शिटा नकारेण चान्तरेऽपि—व्यवधानेऽपि । नामिनः—आशिषा, अग्निषु, नदीषु, वायुषु, वधूषु, पितृषु, एषा, गोषु, नौषु, सिषेवे, शिष्यते, चिचीषति, सुष्वाप, लुलूषति, जेष्यति, अनैषीत्, अच्योष्ट, अकौषीत्; 'सर्पिष्मान्, यजुष्मान्, दोष्मान्'

इत्यादौ ``न स्तं मत्वर्थे'' (1. 1. 23.) इति पदप्रतिषेधात् पदमध्यत्वम् । अन्तस्थायाः– गीर्षु, धूर्षु, चिकीर्षति, पुपूर्षति, हल्षु । कवर्गात्-वाक्षु, त्वक्षु, पिपक्षति, शिक्षति, अपाङ्क्षु, क्रुङ्क्षु । शिड्नान्तरेऽपि-सर्पिष्षु, हविष्षु, अत्र सकारेण व्यवधानम्; सर्पिःषु, धनुःषु; सपींषि, यजूंषि, बह्वाशींषि कुलानि नकारस्यावश्यमनुस्वारभवनात् शिट्ग्रहणेनैव सिद्धे नकारोपादानं नकारस्थानेनैवानुस्वारेण यथा स्यादित्येवमर्थम्, तेन मकारानुस्वारेण न भवति– पुंसु । शिटा नकारेण चान्तरे इति प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेरुभयव्यवधाने न भवति–``णिसुकि चुम्बने'' निंस्से । नाम्यन्तस्थाकवर्गादिति किम् ? असौ, दास्यति । पदान्त इति किम् ? पदादौ पदान्ते च मा भूत्-दधिसेक्, दधिसेचौ; ईषदपरिसमाप्तः सेक्-बहुसेक्, बहुसेचौ; अत्रान्तर्वर्तिन्या विभक्त्या सेक् शब्दस्य पदत्वात् सकारस्य पदादित्वम्; अन्ते-अग्निस्तत्र । कृतस्येति किम् ? बिसम्, मुसलम्, सिसाधयिषति । अथ बिसं बिसं, मुसलं मुसलमित्यादौ द्वित्वे कृते सकारस्य षत्वं कस्माद् न भवति ? उच्यते-नात्र कृतः सकारः किन्तु तत्संपृक्तः समुदायो द्विरुच्चार्यते । तिसृभिरित्यत्र तु विधानबलात् न भवति । अधिकारश्चायमा षत्वविधेः ।।15।।

न्या०स०–नाम्यन्तस्था० । *अनुस्वारभवनादि*ति–नित्यत्वादन्तरङ्गत्वाच्चेत्यर्थः । *बिसमि*ति–अव्युत्पन्नो ग्राह्यः, न तु ``पटि-वीभ्यां डिसडिसौ'' (उणा० 579) इति; यद्वा ``विसच् प्रेरणे'' विस्यति ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के-विसम्; यदा तु डिस-डिसौ तदा विधानसामर्थ्यान्न भवति ।।2. 3. 15.।।

समासेऽग्नेः स्तुतः ।। 2. 3. 16. ।।

अग्निशब्दात् परस्य स्तुत्शब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति । ❇ अग्निष्टुत्, अग्निष्टुतौ; ❇ अग्निष्टुतः ।।16।।

न्या०स०–समासे० । असष इति वचनात् सकारस्य पदमध्यत्वं नास्तीति । वचनम् ।।2. 3. 16.।।

ज्योतिरायुर्भ्यां च स्तोमस्य ।। 2. 3. 17. ।।

ज्योतिरायुःशब्दाभ्यामग्नेश्च परस्य स्तोमशब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति । ज्योतिःष्टोमः, आयुःष्टोमः; अग्निष्टोमः । समास इत्येव–ज्योतिः स्तोमं दर्शयति ।।17।।

न्या०स०—ज्योतिरायु : । ज्योतिः स्तोमं दर्शयतीति-ज्योतिः प्रदीपादि कर्तृ समूहं दर्शयतीत्यर्थः ।।2. 3. 17.।।

मातृ-पितुः स्वसुः ।। 2. 3. 18. ।।

मातृपितृभ्यां परस्य स्वसृशब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति । मातृष्वसा, पितृष्वसा । समास इत्येव-मातुः स्वसा, पितुः स्वसा ।।18।।

न्या०स०—मातृ-पितुः० । अकृतत्वात् पदादित्वाच्चाप्राप्तविधानम् । मातृ-पितुरित्यत्र सूत्रत्वात् ``आ द्वन्द्वे'' (2. 2. 39.) इति न प्रवर्तते । वन्दिरत्नमतिस्तु—आकारस्यानिर्देश ऋकारान्तस्वरूपपरिग्रहार्थः, ऋकारान्तस्वरूपं षष्ठीतत्पुरुष एव न तु द्वन्द्व इति मन्यते ।।2. 3. 18.।।

अलुपि वा ।। 2. 3. 19. ।।

मातृपितृभ्यां परस्य स्वसृशब्दसंबन्धिनः सकारस्याऽलुपि समासे षो वा भवति । मातुःष्वसा, मातुःस्वसा; पितुःष्वसा, पितुःस्वसा; —``स्वसृपत्योर्वा'' (3. 2. 38.) इति षष्ठ्या अलुप् । समास इत्येव-मातुः स्वसा, पितुः स्वसा ।।19।।

न्या०स०—अलुपि वा । पूर्वेण प्राप्ते विभाषेयमारभ्यते । *मातुःष्वसेति*—``शषसे शषसं वा'' (1. 3. 6.) इति पाक्षिके रस्य सत्वे चातूरूप्यम् ।।2. 3. 19.।।

नि-नद्याः स्नातेः कौशले ।। 2. 3. 20. ।।

निनदीशब्दाभ्यां परस्य स्नातेः संबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति, कौशले-नैपुण्ये गम्यमाने । निष्णः कटकरणे, निष्णातः कटकरणे; नदीष्णः प्रतरणे, नदीष्णातः प्रतरणे; कुशल इत्यर्थः । नद्याः स्नातस्य नेच्छन्त्येके । कौशल इति किम् ? निस्नातः, नदीस्नः, यः स्रोतसा ह्रियते ।।20।।

न्या०स०—नि-नद्याः० । *नदीष्णातः प्रतरणे* इत्यादिष्ववयवार्थो व्युत्पत्त्यर्थमेवाश्रीयते, कृतषत्वेन त्वनेन क्रियासु तात्पर्येणानुष्ठातोच्यते—'नद्याः स्नातस्य' इत्यत्र । *एक* इति-चन्द्रप्रभृतयः, ते हि नद्याः स्नातस्य नेः स्नातस्य वेच्छन्ति ।।2. 3. 20.।।

प्रतेः स्नातस्य सूत्रे ।। 2. 3. 21. ।।

प्रतेः परस्य स्नातसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति, सूत्रेऽभिधेये, विशेषानुपादानात् चोर्णादिसूत्रं व्याकरणादिसूत्रं च गृह्यते । प्रतिष्णातं सूत्रम्-ऊर्णादिसूत्रं क्षालनेन शुद्धम्, व्याकरणादिसूत्रं त्वतिव्याप्त्यादिदोषाभावेन शुद्धमित्यर्थः । सूत्र इति किम् ? प्रतिस्नातमन्यत् । प्रत्ययान्तोपादानं प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थम्-प्रतिस्नातृ सूत्रम्, प्रतिस्नायकं सूत्रम् ।।21।।

*न्या०स०—प्रतेः स्ना० । प्रत्ययान्तरनिवृत्त्यर्थ*मिति-अन्यथा पूर्वसूत्रात् स्नातिरनुवर्तिष्यत एव किं तदुपादानेन इत्यर्थः ।।2. 3. 21.।।

स्नानस्य नाम्नि ।। 2. 3. 22. ।।

प्रतेः परस्य स्नानसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति, सूत्रविषये नाम्नि-समुदायश्चेत् सूत्रविषयं नाम भवतीत्यर्थः । प्रतिष्णानं सूत्रमित्यर्थः । नाम्नीति किम् ? प्रतिस्नानमन्यत् ।।22।।

*न्या०स०—स्नानस्य नाम्नि । प्रतिष्णान*मिति—प्रतिस्नातीति नन्द्यादिभ्यो रम्यादिभ्यो वाऽनः, अथवा प्रतिस्नाति तेनेति करणेऽनट् ।।2. 3. 22.।।

वेः स्त्रः ।। 2. 3. 23. ।।

वेः परस्य स्तृणातेः सकारस्य समासे षो भवति, नाम्नि—समुदायश्चेत् संज्ञाविषयो भवति । विष्टरो वृक्षः, विष्टरमासनम्, विष्टारपङ्क्तिश्छन्दः; विष्टारबृहती छन्दः । नाम्नीत्येव—विस्तरो वचसाम्, विस्तारः पटस्य ।।23।।

*न्या०स०—वेः स्त्रः । विष्टरमासन*मिति अत्र विष्टरोऽतरौ, नपुंसकत्वम् । *विष्टारपङ्क्तिरि*ति-विस्तीर्यते ``छन्दोनाम्नि'' (5. 3. 70.) इति घञ्, विस्तरस्य पङ्क्तिः, विस्तरस्य बृहतीति तु वाक्ये न घञ् संज्ञाया अभावात्, समुदायेन हि संज्ञा गम्यते । संज्ञाविषयत्वं च सामस्त्येन एकदेशेन च भवतीति क्रमेणोदाहरति-विष्टर इत्यादि-विस्तीर्यत इति ``युवर्ण०'' (5. 3. 28.) इत्यलि-विष्टरः । *विष्टार इति हि* छन्दोनाम्नोऽवयवः, विष्टारपङ्क्तिः ।।2. 3. 23.।।

अभिनिष्टानः ॥ 2. 3. 24. ॥

'अभिनिस्' इत्येतस्मात् परः, ष्टानशब्दः समासे कृतषत्वो निपात्यते, नाम्नि—समुदायश्चेत् संज्ञाविषयो भवति। अभिनिष्टानो वर्णः, विसर्गस्यैषा संज्ञा, वर्णमात्रस्ये-त्यन्ये। नाम्नीत्येव-अभिनिःस्तन्यते अभिनिस्तानो मृदङ्गः ॥24॥

न्या०स०—अभि-नि०। अत्रोपलक्षणत्वान्निरोऽपि ग्रहः। ''व्यत्यये लुग् वा'' (1. 3. 56.) रलुक् ॥2. 3. 24.॥

गवि-युधेः स्थिरस्य ॥ 2. 3. 25. ॥

'गवि युधि' इत्येताभ्यां परस्य स्थिरशब्दसंबन्धिनः सस्य समासे षो भवति, नाम्नि। गविष्ठिरः, अस्मादेव निर्देशात् सप्तम्या अलुप् युधिष्ठिरः ॥25॥

न्या०स०—गवि-युधेः०। अनयोः सप्तम्यन्तानुकरणयोरपि युध्शब्दस्य यथाप्राप्तः ''अद्व्यञ्जनात्०'' (3. 2. 18.) इत्यनेनैवालुप् ॥2. 3. 25. ॥

एत्यकः ॥ 2. 3. 26. ॥

ककारवर्जितान्नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य सकारस्य एति-एकारे परे समासे षो भवति, नाम्नि। हरिषेणः, श्रीषेणः, वायुषेणः, मातृषेणः। एतीति किम्? हरिसिंहः। अक इति किम्? विष्वक्सेनः, शतभिषक्सेनः। नाम्नीत्येव—पृथ्वी सेनास्य-पृथुसेनः। नाम्यन्तस्था-कवर्गादित्येव-सर्वसेनः महासेनः ॥26॥

न्या०स०—एत्यकः। विष्वक्सेनः विषुवति परसेनां विषूः, प्रेरकः, तमञ्चति क्विपि ङ्यां विषूची; विषुशब्दोऽव्ययं वा नानात्वे वर्तते, तदञ्चति; यद्वा विष्वगित्यव्ययं सामस्त्ये च वर्तते, पश्चात् त्रिष्वपि बहुव्रीहिः ॥2. 3. 26.॥

भादितो वा ॥ 2. 3. 27. ॥

भं-नक्षत्रं, तद्वाचिन इकारान्तात् परस्य सकारस्यैकारे परे समासे षो वा भवति, नाम्नि। रोहिणिषेणः, रोहिणिसेनः; रेवतिषेणः, रेवतिसेनः; भरणिषेणः, भरणिसेनः;

``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः । इत इति किम् ? पुनर्वसुषेणः, अत्र पूर्वेण नित्यमेव, शतभिषक्सेनः ।।27।।

न्या०स०–भादि० । बिभर्ति करणेऽनटि, ``ऋ-हृ०'' (उणा० 638) इत्याद्यणौ वा भरणिः । रोहिण्य इव रेवत्य इव भरण्य इव कल्याणिनी सेना यस्येति । *पुनर्वसुषेण* इत्यादि–पुनर्वस्वनयोराराधितयोः पुनर्वसू, शतभिषज् नक्षत्रमतो भ इति व्यावृत्तेर्नद्व्यङ्गवैकल्यम् ।।2. 3. 27.।।

वि-कु-शमि-परेः स्थलस्य ।। 2. 3. 28. ।।

वि-कु-शमि-परिभ्यः परस्य स्थलशब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति । नाम्नीति निवृत्तम् । विगतं वीनां वा पक्षिणां स्थलं-विष्ठलम्, कुत्सितं कोः–पृथ्व्या वा स्थलं-कुष्ठलम्, शमीनां स्थलं शमिष्ठलम्, ``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः, सूत्रे ह्रस्वस्य शमिशब्दस्योच्चारणाद् दीर्घान्न भवति-शमीस्थलम्, दीर्घादप्येके; परिगतं स्थलं परिष्ठलम् । एभ्य इति किम् ? भूमिस्थलम् ।।28।।

न्या०स०–वि-कु-शमि० । नाम्नीति निवृत्तम् विष्ठलादिशब्दात् संज्ञाया अप्रतीतेः उत्तरत्र गोत्रग्रहणाद् वा । *स्थलमि*ति-तिष्ठत्यत्र सिकतादिकमिति ``स्थो वा'' (उणा० 473) अलः–*स्थलः । शमिष्ठलमि*ति–शमिशब्दः शमशब्दो वा, शमेः ``इतोऽक्त्य०'' (2. 4. 32.) इति ङीः । अत्र शमाद् गौरादित्वाद् ङीः । वि-कुशब्दावव्ययाऽनव्ययौ विशेषानुपादानाद् द्वावपि गृह्येते, तत्राव्ययपक्षे ``गतिक्वन्य०'' (3. 1. 42.) इति ``प्रात्यव०'' (3. 1. 47.) इति च तत्पुरुषोऽन्यत्र षष्ठीसमास इत्याह–*विगतं वीनां* वेति । *दीर्घान्न भवती*ति-बाहुलकान्न ह्रस्व इत्यर्थः ।।2. 3. 28.।।

कपेर्गोत्रे ।। 2. 3. 29. ।।

कपिशब्दात् परस्य स्थलशब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति, गोत्रेऽभिधेये । कपिष्ठलो, नाम गोत्रस्य प्रवर्तयिता, यस्य कापिष्ठलिः पुत्रः गोत्रमिह लौकिकं गृह्यते, लोके चाद्यपुरुषा येऽपत्यसंततेः प्रवर्तयितारो यन्नाम्नोऽपत्यसंततिर्व्यपदिश्यते तेऽभिधीयन्ते । गोत्र इति किम् ? कपीनां स्थलं कपिस्थलम् ।।29।।

न्या०स०—कपेः ।कपिभिरावृतं स्थलमस्य तस्यापत्यं ``बाह्वादिभ्यो गोत्रे'' (6. 1. 32.) इञ् प्रत्ययः । *गोत्रमि*हेत्यादि-न तु स्वापत्यसन्तानस्येत्यादि-लक्षणं शास्त्रीयम् ।।2. 3. 29.।।

गो-ऽम्बा-ऽऽम्ब-सव्या-ऽप-द्वि-त्रि-भूम्यग्नि-शेकु-शङ् कु-क्वङ्गु-मञ्जि-पुञ्जि-बर्हिःपरमे-दिवे स्थस्य ।। 2. 3. 30. ।।

'गो अम्बा आम्ब सव्य अप द्वि त्रि भूमि अग्नि शेकु शङ्कु कु अङ्गु मञ्जि पुञ्जि बर्हिस् परमे दिवि' इत्येतेभ्यः परस्य स्थशब्दसंबन्धिनः सकारस्य समासे षो भवति । गोष्ठम्, अम्बाष्ठः, ``ङ्यापो बहुलं नाम्नि'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वत्वे अम्बष्ठः, श्लिष्टनिर्देशादुभाभ्यामपि भवति-आम्बष्ठः; सव्यष्ठः, अपष्ठः, द्विष्ठः, त्रिष्ठः, भूमिष्ठः, अग्निष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, कुष्ठः, अङ्गुष्ठः, मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, बर्हिष्ठः, परमेष्ठः, दिविष्ठः, अत एव निपातनात् सप्तम्या अलुप्, ``तत्पुरुषे कृति'' (3. 2. 20.) इति तु ``नेम्-सिद्धस्थे'' (3. 2. 29.) इति प्रतिषेधात् नोपतिष्ठते ।।30।।

न्या०स०—गोऽम्बाम्ब० । *आम्बष्ठः* अम्ब्यते अपह्नवकारितया घञि, अथवा अम्यते इति ``शम्यमेर्णिद्वा'' (उणा० 318) अम्बोऽपह्नवकर्ता, तस्यायं कार्यभूतः अणि-आम्बोऽपह्नवरूपो धर्मः, तत्र तिष्ठतीत्यत्र सर्वत्र ``स्था-पा-स्ना-त्रः कः'' (5. 1. 142.) अपतिष्ठतीत्यत्र तु ``उपसर्गादातो डः'' (5. 1. 56.) इति डः प्रत्ययः–अपष्ठः । अधिकरणे तु गोष्ठमित्यत्र ``स्थादिभ्यः कः'' (5. 3. 82.) शीङ्क् शमूच् इत्यनयोः ``कैशी-शमि०'' (उणा० 749) इति कौ-शेकुरुद्भिद्विशेषः, शङ कुस्तु ``शङ् कुः पत्र-शिराजाले सङ्ख्या-कीलकशम्भुषु ।'' सवनीयः सव्यः ``य एच्चातः'' (5. 1. 28.) मञ्जेः सौत्रस्य ``पदि-पठि०'' (उणा० 607) इति इप्रत्यये मञ्जिः । ``पूङ् पवने'' इत्यस्मात् ``पुवः पुन् च'' (उणा० 128) इति जे–पुञ्जः, स इवाचरति ``कर्त्तुः क्विप्०'' (3. 4. 25.) तस्य लुप् । पुञ्जतीति ``स्वरेभ्य इः'' (1. 3. 30.) पुञ्जिः ।।2. 3. 30.।।

निर्दुस्सोः सेध-सन्धि-साम्नाम् ।। 2. 3. 31. ।।

निरादिभ्यः परेषां सेधादीनां सस्य समासे षो भवति, वचनभेदाद् यथासंख्याभावः । निःषेधः, दुःषेधः, सुषेधः; निःषन्धिः, दुःषन्धिः, सुषन्धिः; निःषाम, दुःषाम, सुषाम ।।31।।

न्या०स०–निर्दुस्सो:० । अत्र रेफस्य सकारेऽनेन शिडन्तरत्वात् परसकारस्य षत्वे पूर्वसकारस्य च ``सस्य श-षौ'' (1. 3. 61.) इति षत्वे-निषेधादयः ।।2. 3. 31.।।

प्रष्ठोऽग्रगे ।। 2. 3. 32. ।।

प्रात् परस्य स्थसकारस्य षो निपात्यते, अग्रगे-अग्रगामिण्यभिधेये । प्रष्ठोऽग्रगामी, प्रस्थोऽन्यः ।।32।।

न्या०स०–प्रष्ठोऽग्र० । प्रतिष्ठते-प्रष्ठः, ``उपसर्गादातो डः०'' (5. 1. 56.) न तु ``स्था-पा०'' (5. 1. 142.) इति कः, तस्य नामपूर्वाद्धातोर्विहितत्वात् नामग्रहणे च प्रायेणोपसर्गस्य न ग्रहणमित्यस्यार्थस्य ज्ञापयिष्यमाणत्वात् ।।2. 3. 32.।।

भीरुष्ठानादयः ।। 2. 3. 33. ।।

भीरुष्ठानादयः शब्दाः समासे कृतषत्वाः साधवो भवन्ति । भीरूणां स्थानं-भीरुष्ठानम्, अङ्गुलीनां सङ्गः-अङ्गुलिषङ्गः; अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । `भीरुष्ठान, अङ्गुलिषङ्ग, सव्येष्ठृ, परमेष्ठिन्, सुष्ठु, दुष्ठु, अपष्ठु, वनिष्ठु, गौरिषक्थ, प्रतिष्णिका, नौषेचिका, दुन्दुभिषेवण' इति भीरुष्ठानादयः । समास इत्येव-भीरोः स्थानमित्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।33।।

न्या०स०–भीरुष्ठान० । सव्ये तिष्ठति ``सव्यात् स्थः'' (उणा० 855) इति डिति ऋप्रत्यये–सव्येष्ठृ, ``तत्पुरुषं कृति'' (3. 2. 20.) इति सप्तम्यलुप्, असौ सव्येष्ठासारथिः । अन्ये–ऋप्रत्ययान्तस्य च्छन्दोविषयत्वादाकारान्तः क्विबन्तोऽयमिति मन्यन्ते, तन्मते-`सव्येष्टाः' इति विसर्गान्तः, ``तत्पुरुषे कृति'' (3. 2. 20.) इत्यलुप् । परमेष्ठिनित्यत्र गणपाठसामर्थ्यादलुप् । *सुष्ठु* इत्यादि-अत्र ``दुःस्वप-वनिभ्यः स्थः'' (उणा० 732) इति उप्रत्यये सुष्ठ्वादयः । शोभनं स्थानं यत्र तत् सुष्ठु दुष्ठु इति पृषोदरादित्वाद् वा, क्रियाप्रधानावेतौ सुष्ठु करोति दुष्ठु करोतीति क्रियापदसंनिधावेवेतयोः प्रयोगात् । *गौरिषक्थः* गौर्या इव सक्थिनी यस्य ``सक्थ्यः०'' (7. 3. 126.) इति टः ``ङ्यापो बहुलम्०'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः । *प्रतिष्णिकेत्यत्र* प्रतिस्नातीति ``उपसर्गादातः०'' (5. 1. 56.) इति प्रतिस्ना, यद्वा प्रतिस्नान्त्यस्यां ``स्थादिभ्यः०'' (5. 3. 82.) इति के ``गति-क्वन्य०'' (3. 1. 42.) इति सः, ततः स्वार्थे के ``ड्यादीदुतः०'' (2. 4. 104.) इति ह्रस्वत्वे ``इच्चापुंसोऽनि०'' (2. 4. 107.) इतीत्वे षत्वे । *आकृतिगणार्थमि*-ति-अत्र नौषेचनं दुन्दुभिषेचनमित्यादि ज्ञेयम् ।।2. 3. 33.।।

ह्रस्वान्नाम्नस्ति ।। 2. 3. 34. ।।

नाम्नो विहिते तकारादौ प्रत्यये परे ह्रस्वान्नामिन उत्तरस्य सकारस्य षो भवति । तल्-त्व-तस्-त्य-तय-तरप्-तमपः प्रयोजयन्ति । सर्पिष्टा, यजुष्टा; सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम्; सर्पिष्टः, यजुष्टः; निष्ट्यः चतुष्टयः; सर्पिष्टरम्, वपुष्टरम्; सर्पिष्टमम्, वपुष्टमम् । ❉ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ❉ इति प्लुतत्वस्यासिद्धत्वादिहापि भवति-सर्पि 3ष्ट्वम्, चतु 3ष्टयः, सर्पि 3ष्टरम्, यजु 3ष्टमम् । ह्रस्वादिति किम् ? गीस्त्वम्, धूस्त्वम्, गीस्तरा, धूस्तमा, उच्चैस्तराम्, उच्चैस्तमाम् नामिन इत्येव-तेजस्ता, तेजस्त्वम्, पयस्ता, पयस्त्वम्, तेजस्तरम्, तेजस्तमम् । नाम्न इति किम् ? भिन्द्युस्तराम् विहितविशेषणं किम् ? सर्पिस्तत्र, सर्पिषस्तरणं तमनं वा-सर्पिस्तरः, सर्पिस्तमः । तीति किम् ? सर्पिस्साद् भवति ।।34।।

न्या०स०—ह्रस्वान्ना० । *सर्पिष्ट* इत्यत्र ``अहीयरुह०'' (7. 2. 88.) इति तस् । `अन्तरङ्ग' इति—अयमर्थः—परत्वाद् पूर्वमपि लुप्ते आमन्त्र्याद्याश्रयत्वेन बहिरङ्गत्वं लुपस्य । *सर्पिस्तत्रे*ति—ननु *सर्पिस्तत्रे*त्यादौ ``वेसुसोऽपेक्षायाम्'' (2. 3. 11.) इत्यस्य कखपफीति व्यावृत्त्यैव षत्वव्यावृत्तेः सिद्धत्वात् किमनेन ? नैवम्-अपेक्षायां प्राप्तिरनेन तु अनपेक्षायामपि शङ्क्यते, यथा—पश्यात्र सर्पिस्तत्र यजुर्वर्तत इति ।।2. 3. 34.।।

निसस्तपेऽनासेवायाम् ।। 2. 3. 35. ।।

निसः संबन्धिनः सकारस्य तकारादौ तपतौ परे षो भवति, अनासेवायामर्थे, पुनः पुनः करणमासेवा । निष्टपति सुवर्णम्, सकृदग्निं स्पर्शयतीत्यर्थः । अनासेवायामिति किम् ? निस्तपति सुवर्णं सुवर्णकारः, पुनः पुनस्तपतीत्यर्थः । `निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः' इत्यत्र तु सदप्यासेवनं न विवक्ष्यते । तीत्येव-निरतपत् । शव्निर्देशो भौवादिकपरिग्रहार्थः, यङ्लुब्निवृत्त्यर्थश्च, निस्तातप्ति, निस्तातपीति ।

❉ ``तिवा शवाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च ।
एकस्वरनिमित्तं च पञ्चैतानि न यङ्लुपि'' ❉ ।।35।।

न्या०स०—निसस्तपे० । *निरतपदि*ति-अत्र पूर्वं कृतमपि षत्वं परस्मिन्नडागमे ``णषमसत्'' (2. 1. 60.) इत्यनेन असिद्धम् । *निस्तातपी*ति-अत्र भृशं निष्टपतीति वाक्यं कार्यम्, आभीक्षण्ये तु अनासेवायामिति व्यावृत्त्यैव निरस्तत्वाद् । अन्त्यत्वादप्राप्ते वचनम् ।।2. 3. 35.।।

घस्-वसः ॥ 2. 3. 36. ॥

नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य घसेर्वसेश्च धातोः संबन्धिनः सकारस्य षो भवति । जक्षतुः, जक्षुः, जक्षिवान्; ऊषतुः, ऊषुः, उषितः, उषितवान् घसिरिह प्रकृत्यन्तरम्, आदेशस्य कृतत्वेनैव सिद्धत्वात्, अकृतसकारार्थं वचनम् । शिङ्नान्तरेऽपि-बहूंषि, बहुषु वसन्तीति नगराणि । नाम्यन्तस्थाकवर्गादित्येव–जघास, वसति ॥36॥

न्या०स०–घस्वसः । अत्र वसो भौवादिकस्य ग्रहः, ``वसिक् आच्छादने'' इत्यस्य तु य्वृदभावेन नामिनः सस्यासंभवात्, ❉ अदाद्यनदाद्योः ❉ इति न्यायाद् वा । *बहूंषी*ति-वसन्तीति क्विपि य्वृति उषः, बहवः उषो वास्तव्या येषु तानि, अत्र नागमरूपे स्यादिविधौ प्रथमं कृतमपि षत्वं निवर्तत इति प्राग् नागमः, तस्मिन् च नामिनो व्यवधानेऽपि शिङ्नान्तरेऽपि इति षत्वम् ॥2. 3. 36.॥

णि-स्तोरेवाऽस्वद-स्विद-सहः षणि ॥ 2. 3. 37. ॥

स्वद-स्विद-सहवर्जितानां ण्यन्तानां स्तौतेरेव च संबन्धिनः सकारस्य नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य षणि-षत्वभूते सनि परे षो भवति, नान्येषाम् । सिषेवयिषति, सुष्वापयिषति, सिषेधयिषति; तुष्टूषति । स्वदादिपर्युदासः किम् ? सिस्वादयिषति, सिस्वेदयिषति, सिसाहयिषति । स्तौतिसाहचर्यात् स्वदादिपर्युदासेन सदृशग्रहणाच्च ण्यन्तानामपि षोपदेशानामेव ग्रहणम्, तथा च कृतत्वात् सकारस्य ``नाम्यन्तस्थाकवर्गा०'' (2. 3. 15.) आदिसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनम्-णिस्तोरेव षणि षत्वं नान्यस्य, तेनेह न भवतिसुसूषति, सिसिक्षति, सिसेविषति । एवकारः षण्येव णिस्तोरिति विपरीतनियमनिवृत्त्यर्थः, तेनेहापि भवति-असीषिवत्, तुष्टाव । षणीति किम् ? सिषेव, सुष्वाप । षत्वं किम् ? सुषुप्सति, तिष्ठासति । नकारः किम् ? व्यतिसुषुपिषे । कथं प्रतीषिषति ?, अधीषिषति ? षणि निमित्ते धातोः षत्वनियम उक्तः, इह तु सन एव द्विरुक्तस्य षत्वं न धातोरिति न प्रतिषेधः `सोषुपिषते, सेषिविषते' इत्यादौ तु यङि द्वित्वं पश्चात् सन्निति न प्रतिषेधः । येषां तु दर्शने द्वित्वेऽपि पुनः सनि द्विरुक्तिः, तन्मते-सुसोषुपिषत इत्यत्र षणि सुशब्दात् परस्य सस्य षत्वं न भवत्येव ॥37॥

न्या०स०–णिस्तो० । *प्रतीषिषती*ति-अत्र ``इणं् क् गतौ'' इति लिख्यते, तस्य च ज्ञानार्थत्वात् ``सनीङश्च'' (4. 4. 25.) इति न गम्वादेशः । ``इंक् स्मरणे'' ``इंङ्क् अध्ययने''

इत्यनयोस्तु अज्ञान इति विशेषणं नासम्भवात्, अतोऽनयोर्गम्वादेशः प्राप्नोतीत्येतौ न लिख्येते, ``इणं् क् गतौ'' इत्यस्याप्यज्ञानार्थत्वविवक्षायामादेशप्राप्तिः । ``इं दुं'' इत्यस्य तु ज्ञानार्थत्वविवक्षायामविवक्षायामपि नादेशः, ``इणिकोर्गाः'' (4. 4. 23.) इत्यत इणिकोश्चानुकृष्टत्वात् ``सनीङश्च'' (4. 4. 25.) इति चकारेण । *सोसुपिषत* इति–अत्र यङोऽकारस्य स्थानित्वेन न गुणः, तथा ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यस्यैवायं नियमः, एतद्विषय एवारम्भात् ॥2. 3. 37.॥

सञ्जेर्वा ॥ 2. 3. 38. ॥

इकारान्तनिर्देशात् सञ्ज इह ण्यन्तो गृह्यते, सञ्जयतेर्नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य षणि परे सस्य षो वा भवति । सिसञ्जयिषति, सिषञ्जयिषति । नित्यं एत्वमित्येके ॥38॥

*न्या०स०–सञ्जेर्वा । इकारान्तनिर्देशा*दिति-अत एव इह इकार उच्चारणार्थो न क्वचिदपि विहितः ॥2. 3. 38.॥

उपसर्गात् सुम्-सुव-सो-स्तु-स्तुभोऽट्यप्यद्वित्वे ॥2. 3. 39. ॥

अद्वित्वे-द्विर्वचनाभावे सति सुनोति-सुवतिस्यति-स्तौति-स्तोभतीनां सकारस्योपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य षो भवति, अट्यपिअडागमेऽपि सति, अड्व्यवधानेऽपीत्यर्थः । सुग्-अभिषुणोति, परिषुणोति । शिङ्नान्तरेऽपीत्यधिकारात्-निःषुणोति, दुःषुणोति; अभिषुण्वन्तं प्रयुङ्क्ते अभिषावयति, अत्रोपसर्गसंबन्धे सति णिः । ण्यन्तानां धातूनामुपसर्गसंबन्धे न भवति–अभिसावयति, परिसावयति; अट्यपि–अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत् । गिन्निर्देशात् सौतिसवत्योर्मा भूत-अभिसौति, अभिसवति । सुव-अभिषुवति, परिषुवति; अट्यपि–अभ्यषुवत्, पर्यषुवत्, शनिर्देशात्, सूतिसूयत्योर्न भवति अभिसूते, अभिसूयते । सो–अभिष्यति, परिष्यति, अट्यपि–अभ्यष्यत्, पर्यष्यत् । स्तु–अभिष्टौति, परिष्टौति; सुष्टुतम्, सुष्टवम्, दुःष्टवम्; अट्यपि–अभ्यष्टौत्, प्रत्यष्टौत् । स्तुभ्-अभिष्टोभते, परिष्टोभते; अट्यपि–अभ्यष्टोभत्, पर्यष्टोभत्। उपसर्गादिति किम् ? दधि सुनोति, मधु सुनोति । पूजायां सोः पूजाऽतिक्रमयोश्चातेरुपसर्गत्वाऽभावादिह न भवति–सुस्तुतम्, अतिस्तुतम् । ❊ येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तमेव प्रत्युपसर्गसंज्ञा ❊ इति धात्वन्तरयोगे न भवति–निर्गताः सावका अस्मादसौ निःसावको देशः, अभिसावकीयतीत्यत्र सावकीयतेरभिना योगो न भवति । शिङ्नान्तरेऽपीत्य-धिकारात् अटा व्यवधाने न प्राप्नोतीत्यट्यपीति ग्रहणम्, अपिशब्दोऽभावार्थः; अन्यथाट्ये व स्यात् । अद्वित्वे

इति किम् ? अभिसुसूषति, अभ्यसुसूषत्; परिसुसूषति, पर्यसुसूषत्; अभिसिषासति, अभ्यसिषासत्; अत्र पूर्वसकारस्य षत्वं न भवति, मूलधातोस्तु यथाप्राप्तं षत्वं भवत्येव । केचित् तूपसर्गपूर्वाणां सुनोत्यादीनां पञ्चानामपि सन्नन्त–स्तौति-वर्जितानां द्वित्वे सति मूलप्रकृतेरपि षत्वं नेच्छन्ति- अभ्यसूसवत्, अभिसुसाव, अभिसोसूयते; सो–अभ्यसीसयत्, अभिसेसीयते, अभिसिसासतिः स्तु–अभितोस्तूयते, अभितुस्ताव, अभ्यतुस्तवत्; स्तुभ्-अभितुस्तुभे, अभितोस्तुभ्यते, अभ्यतुस्तुभत्; इत्यादि; पदादौ प्रतिषेधे प्राप्ते वचनम् ।।39।।

न्या०स०–उपसर्गा० ।अत्र प्रत्यष्टौत् न पर्यष्टौत् परिपूर्वस्य ``स्तु-स्वञ०'' (2. 3. 49.) इति विकल्पभणनात् । *ण्यन्तानामि*ति–धात्वन्तरत्वादिति शेषः । *अट्यपी*ति–विशेषविहितत्वेन पूर्वं कृतमपि षत्वं परस्मिन् अडागमेऽसिद्धं स्यादिति । *सौति-सवत्यो*रिति–``षुं क् प्रसवे'', ``सुं प्रसवैश्वर्ययोः'' इत्यनयोः । *सूति-सूयत्यो*रिति ``पूङौक्, पूङौच्'' इत्यनयोः । *सुष्टुतमि*ति- सातिशयं स्तूयते स्म वाक्यम्, पूजायां तु सोरुपसर्गत्वाभावात् ।।2. 3. 39.।।

स्था-सेनि-सेध-सिच-सञ्जां द्वित्वेऽपि ।। 2. 3. 40. ।।

उपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परेषां स्थादीनां सकारस्य षो भवति, द्वित्वेऽपि अट्यपि–द्विर्वचनेनाऽटा द्वाभ्यां च व्यवधानेऽपीत्यर्थः । स्थाअधिष्ठास्यति, प्रतिष्ठास्यति, अधितष्ठौ, प्रतितष्ठौ, अध्यष्ठात्, अध्यष्ठास्यत्; सेनि-सेनया अभियाति-अभिषेणयति, अभिषिषेणयिषति, अभ्यषेणयत्, अभ्यषिषेणयिषत्; सेध-प्रतिषेधति, प्रतिषिषेधिषति, प्रत्यषेधत्, प्रत्यषिषेधिषत्; सिच्-अभिषिञ्चति, सुषिक्तं नाम किं तवात्र, अभिषिषिक्षति, अभ्यषिञ्चत्, अभ्यषिषिक्षत्; सञ्ज-अभिषजति, अभिषषञ्ज, अभिषिषङ्क्षति, अभ्यषजत्, अभ्यषिषङ्क्षत्; ण्यन्तानामपि भवति–प्रतितिष्ठन्तं प्रयुङ्क्ते प्रतिष्ठापयति एवं प्रतिषेधयति । उपसर्गादित्येव–अधिस्थास्यति, गतार्थत्वान्नात्राधिरुपसर्गः, वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति, अत्र वीप्स्यसंबद्धस्य परेर्धातुना संबन्धाभावात् नोपसर्गत्वम्, निर्गताः सेचका अस्मान्निःसेचको देशः, अत्र ❈येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तमेव प्रत्युपसर्गसंज्ञा❈ इति न भवति । सेधेति कृतगुणस्य निर्देशः सिध्यतिनिवृत्त्यर्थः–अभिसिध्यति, अकारस्तूच्चारणार्थो न तु शव्निर्देशः; तेन यङ्लुप्यपि भवति–प्रतिषेषिधीति सेनेरषोपदेशार्थं स्था-सञ्जोरवर्णान्तव्यवधानेऽपि विध्यर्थं सिच्-सञ्ज-सेधां षणि नियमबाधनार्थं सर्वेषामड्व्यवधाने पदादौ च षत्वार्थं वचनम् ।।40।।

न्या०स०–स्था-सेनि० । अथ सुस्थितो दुस्थित इत्यादौ कथं षत्वाभावः ? उच्यते–उपसर्गप्रतिरूपका निपाता एते इत्युपसर्गत्वाभावात् षत्वाभावः । *ण्यन्तानामपीति*–णिगः प्रागेवोपसर्गसंबन्धात् । *असोपदेशार्थमिति*–असोपदेशत्वं च सह इनेन वर्तते इति व्युत्पत्तौ, सर्वेऽपि साधितस्यापि वा व्युत्पत्तिपक्षे । *स्था-सञोरिति*–उपसर्गस्थस्य नामिनोऽवर्णान्तेन द्विर्वचनेनेत्यर्थः । *नियमबाधनार्थमिति*-सेनेस्तु ``णि-स्तोरेवा०'' (2. 3. 37.) इति सिद्धं, तिष्ठतेस्तु सन् षत्वरूपो नास्तीति ॥2. 3. 40.॥

अङ्प्रतिस्तब्ध-निस्तब्धे स्तम्भः ॥ 2. 3. 41. ॥

उपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य स्तम्भः सकारस्य द्वित्वेऽपि अट्यपि षो भवति, न चेदसौ स्तम्भिर्ङे प्रतिस्तब्धे निस्तब्धे च विषये भवति । विष्टभ्नाति, प्रतिष्टभ्नाति, वितष्टम्भः, प्रतितष्टम्भः, प्रतिताष्टभ्यते, अभितिष्टम्भिषति, व्यष्टभ्नात् प्रत्यष्टभ्नात् । अङ्प्रतिस्तब्ध-निस्तब्ध इति किम् ? व्यतस्तम्भत्, प्रत्यतस्तम्भत्, प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः ॥41॥

न्या०स०–अङ प्रति० । ष्टभुङ् इत्यस्य लाक्षणिकत्वात् न ग्रहणमिति नैयासिकाः प्राहुः, पारायणकारैस्तु अस्यापि षत्वं कृतम्, एवमुत्तरसूत्रेऽपि ज्ञेयम् ॥2. 3. 41.॥

अवाच्चाऽऽश्रयोर्जा-ऽविदूरे ॥ 2. 3. 42. ॥

अवादुपसर्गात् परस्य स्तम्भः सकारस्याश्रयादिष्वर्थेषु गम्यमानेषु द्वित्वेऽपि अट्यपि षो भवति, अङे-ङविषयश्चेत् स्तम्भिर्न भवति । आश्रयः आलम्बनम्-दुर्गमवष्टभ्नाति, दुर्गमवष्टभ्यास्ते, अवतष्टम्भ दुर्गम्, दुर्गमवाष्टभ्नात्; ऊर्ज-ऊर्जित्वम्-अहो वृषलस्यावष्टम्भः, अवष्टब्धो रिपुः शूरेण; अविदूरमनतिविप्रकृष्टम्-आसन्नमदूरासन्नं च गृह्यते-अवष्टब्धा शरात्, अवष्टब्धा सेना । अवादिति किम् ? प्रस्तब्धः । चकारोऽङ इत्यस्यानुवृत्त्यर्थोऽनुक्तसमुच्चयार्थश्च, तेन–`उपष्टम्भः, उपष्टम्भकः, उपष्टब्धः' इत्यादावुपादपि भवति । उपावादित्यकृत्वा चकारेण सूचनमनित्यार्थं, तेनोपस्तब्ध इत्यपि भवति । आश्रयादिष्विति किम् ? अवस्तब्धो वृषलः शीतेन । अङ इत्येवअवातस्तम्भत् ॥42॥

न्या०स०–अवाच्चा० । समुदायानुवृत्तावपि व्यभिचारादङ इत्यस्यैव ग्रह इत्याह–*अङे इति* । *दुर्गमिति*–दुःखेन गम्यते अस्मिन् इति ``सुगदुर्गमाधारे'' (2. 1. 132.) इति सिद्धिः, कर्मव्युत्पत्तौ तु खल् स्यात्, दुर्गं नगरादि बहुलं वृत्तेति क्लिबत्वम्, दुःखेन गम्यतेऽत्र तत्र

वाच्यलिङ्गः । पारायणकारैस्तु भौवादिकस्यास्य अवष्टम्भते दण्डमिति न तु नैयासिकाः । *अनित्यार्थमि*ति–यद्येवं तर्हि वोपादित्येवंविधमतः सूत्रात् पृथगेव कथं न कृतम्, सत्यम्–विचित्रा सूत्रकृति । *अवस्तब्धो वृषलः शीतेने*ति-सङ्कुचित इत्यर्थः ।।2. 3. 42.।।

व्यवात् स्वनोऽशने ।। 2. 3. 43. ।।

वेरवाच्चोपसर्गात् परस्य स्वनो धातोः सकारस्याशने–भोजनेऽर्थे द्वित्वेऽपि अट्यपि षो भवति । पूर्वसूत्रे चानुकृष्टत्वादिहाङ इति नानुवर्तते विष्वणति, अवष्वणति, भुङ्क्ते इत्यर्थः; सशब्दं भुङ्क्ते इत्यर्थ इत्यन्ये, भुञ्जानः कश्चिच्छब्दं करोतीत्यर्थ इत्यपरे । विषष्वाण, अवषष्वाण, विषंष्वण्यते, अवषंष्वण्यते, विषिष्वणिषति, अवषिष्वणिषति, व्यष्वणत्, अवाष्वणत्, व्यषिष्वणत्, अवाषिष्वणत् । व्यवादिति किम् ? अतिस्वनति, अत्यसिस्वनत् । अशन इति किम् ? विस्वनति, अवस्वनति मृदङ्गः; विविधं शब्दं करोतीत्यर्थः ।।43।।

सदोऽप्रतेः परोक्षायां त्वादेः ।। 2. 3. 44. ।।

प्रतिवर्जितोपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य सदो धातोः सकारस्य द्वित्वेऽप्यट्यपि षो भवति, परोक्षायां तु द्वित्वे सति आदेः पूर्वस्यैव भवति । निषीदति, विषीदति, निषाषद्यते, विषाषद्यते, निषिषत्सति, न्यषीदत्, व्यषीदत्, परोक्षायां त्वादेरेव–निषसाद, विषसाद । अप्रतेरिति किम् ? प्रतिसीदति, प्रत्यसीषदत्, प्रतिसिषत्सति; अत्र प्रतेः परस्याद्यसकारस्य षत्वं न भवति । प्रकृतिसकारस्य तु नामिनः परस्य ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यादिसूत्रेण भवत्येव; अस्यापि नेच्छन्त्येके-प्रत्यसीसदत्, प्रतिसिसत्सति । तुर्विशेषणार्थः, परोक्षायामेष विशेषोऽन्यत्र तूभयत्रापि भवति ।।44।।

न्या०स०–सदो । ``षद्लृंविशरण०'' इत्यस्य ``षद्लृंत्अवसादने'' इत्यस्य च ग्रहणम् । उपसर्गादित्यनुवर्तते । व्यवादित्यनुवृत्तौ तु तयोरेव विधानात् प्रतिवर्जनानर्थक्यं स्यात् ।।2. 3. 44.।।

स्वञ्जश्च ।। 2. 3. 45. ।।

उपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य स्वञ्जेः सकारस्य द्वित्वेऽप्यट्यपि षो भवति, परोक्षायां तु द्वित्वे सत्यादेरेव । अभिष्वजते, परिष्वजते प्रतिष्वजते, अभिषिष्वङ्क्षते, परिषिष्वङ्क्षते, प्रतिषिष्वङ्क्षते, अभिषाष्वज्यते, अभ्यष्वजत, प्रत्यष्वजत, अभ्यषष्वञ्जत; परोक्षायां त्वादेरेव–अभिषस्वजे, अभिषस्वञ्जे; परिषस्वजे, परिषस्वञ्जे; प्रतिषस्वजे, प्रतिषस्वञ्जे ।

योगविभागादप्रतेरिति नानुवर्तते, चकारः परोक्षायां त्वादेरित्यस्यानुकर्षणार्थः, ततश्चोत्तरत्रा-ननुवृत्तिः ॥45॥

न्या०स०—स्वञ्जश्च । अभिषिष्वङ्क्षते नन्वत्र ``णिस्तोरेव०'' (2. 3. 37.) इति निगमाद् मूलधातुसकारस्य षत्वं न प्राप्नोति, उच्यते-``स्पर्द्धे'' परः, (7. 4. 119.) इति न्यायात् इदमेव प्रवर्तते । *अभिषस्वञ्ज* इति-अत्र ``स्वञ्जेर्नवा'' (4. 3. 22.) परोक्षाया वा कित्त्वम्, पक्षे किद्वदभावात् नलोपाभावः । *योग विभागादित्यादि*-ननु योगविभागात् परोक्षायां त्वादेरिति नानुवर्तते इति कथं न विज्ञायते ? सत्यम्-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति ॥2. 3. 45.॥

परि-नि-वेः सेवः ॥ 2. 3. 46. ॥

परिनिव्युपसर्गस्थात् नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्य सेवतेर्धातोः सकारस्य द्वित्वेऽप्यट्यपि षो भवति । परिषेवते, परिषिषेविषते, परिषेषेव्यते, परिषिषेवे, पर्यषेवत; निषेवते, निषिषेविषते, निषिषेवे, न्यषेवत, विषेवते, विषिषेविषते, विषिषेवे; व्यषेवत । परिनिवेरिति किम् ? अनुसेवते, प्रतिसिषेवे, प्रतिसेषेव्यते, प्रत्यसिषेवत् अत्रोपसर्गाश्रितं षत्वं न भवति, धातोस्तु द्वित्वाश्रितं भवत्येव; उभयत्र नेच्छन्त्येके-प्रतिसिसेवे, प्रतिसेसेव्यते, प्रत्यसिसेवत् ॥46॥

न्या०स०—परिनिवेः० । सेव इति सामान्योक्तेऽपि 'षेवृङ्' इति गृह्यते, न तु 'सेवृङ्' इति । कृतस्येत्यनुवृत्तिरिति पारायणमतम्, न्यासकारास्तु षेवृङ्-सेवृङौ सषोपदेशौ अग्रहीषुः ॥2. 3. 46.॥

सय-सितस्य ॥ 2. 3. 47. ॥

परि-नि-विभ्यः परयोः सय-सितयोः सकारस्य षो भवति । परिषयः, निषयः, विषयः; परिषितः, निषितः, विषितः; सय इति सिनोतेरलन्तस्याजन्तस्य घान्तस्य वा, सित इति क्तान्तस्य रूपम् । स्यतेर्वा नियमार्थं-परिनिविपरस्यैव क्तान्तस्य स्यतेर्यथा स्यादिति, तेनोपसर्गान्तरपूर्वस्य ``उपसर्गात् सुग्०'' (2. 3. 39.) इत्यादिनापि न भवति; तेन-प्रतिसितः निःसितः, इत्यादि सिद्धम् । योगविभागाद् द्वित्वेऽपि अट्यपीति निवृत्तम्, तेन—मा विषसयदित्यत्र द्वित्वे सति पूर्वेण व्यवधानादुत्तरस्य न भवति, पूर्वस्य त्वव्यवहितत्वाद् भवत्येव-व्यसयीयत्, पर्यसितायत । कथं मा परिषिषयत् ? द्वित्वे सति उपसर्गात् परस्य पूर्वस्यानेन षत्वम्, उत्तरस्य तु ``नाम्यन्तस्था०'' (2. 3. 15.) इत्यादिनेति न दोषः ॥ 47॥

*न्या०स०—सय-सित० । स्यतेर्वा नियमार्थमि*ति-उद्योतकरस्त्वाह-सिनोतेरेव ग्रहणं न्याय्यं सयेत्यनेन साहचर्यात्, किञ्च स्यतिग्रहणे नियमार्थता जायते, सिनोतिग्रहणे तु विध्यर्थतापि स्यादिति, यतो विधि-नियमसम्भवे च विधिरेव ज्यायान् । न च वाच्यमेकेनैव सितग्रहणेन स्यति-सिनोत्युभयस्य उपादानात् विध्यर्थता नियमार्थतापि स्यादिति, यतोऽर्थेकत्वादेकवाक्यमिति केषाञ्चिद् वाक्यलक्षणम्, अर्थैकत्वाच्च सयसित इति वाक्यसमाप्तौ स्यतिग्रहणार्थं वाक्यान्तरं करणीयं भवतीति सिनोतेरेव ग्रहणम् । मा *विषसयदि*ति-विषमाख्य*त्* ``णिज् बहुलम्०'' (3. 4. 42.) अत्र द्वित्वे कर्त्तव्ये ``णषमसत्०'' (2. 1. 60.) इत्यनेन षत्वनिवृत्तौ ``अन्यस्य'' (4. 1. 8.) इति द्विर्वचनम् । *व्यसयीयदि*ति—विषयमैच्छत् क्यनि ईः । *पर्यसितायते*ति-परिषित इवाचरत् क्यङ ``दीर्घश्च्वि०'' (4. 3. 108.) इति दीर्घः ।।2. 3. 47.।।

असोङ-सिवू-सह-स्सटाम् ।। 2. 3. 48. ।।

परि-नि-विभ्यः परस्य सिवू-सहोर्धात्वोः स्सडागमस्य च संबन्धिनः सकारस्य षो भवति, न चेत् सिवूसहौ सो-ङविषयौ भवतः । परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति; परिषहते, निषहते, विषहते; परिष्करोति, विष्करः शकुनिः; नेस्तु परः सड् नास्तीति नोदाह्रियते । असोङेति किम् ? परिसोढः; परिसोढव्यः; निसोढः, निसोढव्यः; विसोढः, विसोढव्यः; ङे-मा परिसीषिवत्, मा परिसीषहत्; मूलधातोस्तु षत्वं भवत्येव । सोप्रतिषेधस्तु सहेरेव न सिवस्तस्य सोरूपासंभवात्, सिवोऽनुबन्धनिर्देशात् यङ्लुपि न भवति—परिसेषिवीति । बहुवचनं परि-नि-विभिः सह यथासंख्यनिवृत्त्यर्थम् ।।48।।

न्या०स०—असोङः । सोङे त्येतयोर्द्वन्द्वे पश्चात् नञाऽन्यपदार्थे सिवूसहलक्षणे बहुव्रीहौ कर्मधारये च पुनर्द्वन्द्वः ।।2. 3. 48.।।

स्तु-स्वञ्श्चाऽटि नवा ।। 2. 3. 49. ।।

परि-नि-विभ्यः परस्य स्तु-स्वञोर्धात्वोरसोङ—सिवू-सह-स्सटां च सकारस्याटि सति षो वा भवति । पर्यष्टौत्, पर्यस्तौत्; न्यष्टौत्, न्यस्तौत्; व्यष्टौत्, व्यस्तौत्; पर्यष्वजत, पर्यस्वजत; न्यष्वजत, न्यस्वजत; व्यष्वजत, व्यस्वजत; पर्यषीव्यत्, पर्यसीव्यत्; न्यषीव्यत्, न्यसीव्यत्; न्यषीव्यत्, व्यसीव्यत्; पर्यषहत, पर्यसहत, न्यषहत, न्यसहत; व्यषहत, व्यसहत; पर्यष्करोत्, पर्यस्करोत् । असोङसिवूसहेत्येव—पर्यसोढयत्, पर्यसीषिवत्, पर्यसीषहत् । स्तु-स्वञोर्नित्यं प्राप्ते सिवू-सह-स्सटां चाप्राप्ते विभाषा ।।49।।

न्या०स०–स्तु-स्वञ:० । *स्तु-स्वञोर्नित्यं प्राप्त* इति–``उपसर्गात् सुग्०'' (2. 3. 39.) इति ``स्वञ्जश्च'' (2. 3. 45.) इत्याभ्यामित्यर्थः ।।2. 3. 49.।।

निरभ्यनोश्च स्यन्दस्याऽप्राणिनि ।। 2. 3. 50. ।।

निरभ्यनुभ्यश्चकारात् परिनिविभ्यश्च परस्याप्राणिकर्तृकेऽर्थे वर्तमानस्य स्यन्देः सकारस्य षो वा भवति । निःष्यन्दते तैलम्, निःस्यन्दते तैलम्; अभिष्यन्दते; अभिस्यन्दते; अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते; परिष्यन्दते; परिस्यन्दते, निष्यन्दते, निस्यन्दते; विष्यन्दते, विस्यन्दते । शव्निर्देशाद् यङ्लुपि न भवति अभिसास्यन्दीति तैलम् । निरभ्यनोश्चेति किम् ? अतिस्यन्दते तैलम् । अप्राणिनीति किम् ? परिस्यन्दते मत्स्य उदके । पर्युदासोऽयं न प्रसज्यप्रतिषेधः, तेन यत्र प्राणी चाप्राणी च कर्ता भवति, तत्राऽप्राण्याश्रयो विकल्पो भवति, न तु प्राण्याश्रयः प्रतिषेधः–अनुष्यन्देते मत्स्योदके, अनुस्यन्देते वा । निर्निभ्यां नेच्छन्त्येके ।।50।।

न्या०स०–निरभ्यनोः० । *एके* इति-देवनन्दि-शकटललितस्वभावाः, नेस्तु चान्द्रादयः । *पर्युदासोऽयमिति*-अयमर्थः–अप्राणिनीति पर्युदासत्वाद् *विधेः* प्राधान्यात्, सम्भवति चैकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्रयणस्यायुक्तत्वात्, प्रसज्यप्रतिषेधे तु न चेदित्यादिवाक्यभेदस्यावश्यंभावित्वात्, यतो यत्र प्राणी चाप्राणी च भवति । प्रसज्यप्रतिषेध इति–प्रसङ्गं कृत्वा प्रतिषेधः प्रसज्यप्रतिषेधः ``अव्ययं प्रवृद्धादिभिः'' (3. 1. 48.) इति सः, ``प्रसज्यस्तु निषेधकृत्'' इत्यत्र तु ``ते लुग् वा'' (3. 2. 108.) इति प्रतिषेधलोपः । ननु तदा ``अव्ययस्य'' (3. 2. 7.) इति कथं सेर्न लुप् ? उच्यते–समाससम्बन्धी सिरत्र नाव्ययस्येति न भवति ।।2. 3. 50.।।

वे स्कन्दोऽक्तयोः ।। 2. 3. 51. ।।

विपूर्वस्य स्कन्देः संबन्धिनः सकारस्य षो वा भवति, अक्तयोः– न चेत् क्तक्तवत् प्रत्ययौ भवतः, द्विवचनादर्थवद्ग्रहणानपेक्षमुभयपरिग्रहः । विष्कन्ता, विस्कन्ता; विष्कन्तुम्, विस्कन्तुम् । अक्तयोरिति किम् ? विस्कन्नः, विस्कन्नवान् ।।51।।

परेः ।। 2. 3. 52. ।।

परिपूर्वस्य स्कन्देः सकारस्य षो वा भवति परिष्कन्ता, परिस्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिस्कन्तुम् । योगविभागादक्तयोरिति नानुवर्तते, तेन–क्तयोरपि विकल्पो भवति-परिष्कण्णः, परिस्कन्नः; परिष्कण्णवान्, परिस्कन्नवान् । केचित् तु परिपूर्वस्य स्कन्देरजन्तस्य घञन्तस्य

वा प्राच्यभरतविषये प्रयोगे नित्यं षत्वमन्यत्र विकल्पमिच्छन्ति, अन्ये तु प्राच्यभरतविषये प्रयोगे षत्वाभावमन्यत्र तु विकल्पमिच्छन्ति; तदुभयं नारम्भणीयमनेनैव सिद्धत्वादिति ।।52।।

न्या०स०—परेः । *योगविभागादि*ति विपरिभ्यां स्कन्दोऽक्तयोरित्येवंरूपात् अन्ये त्विति । चन्द्रपाणिनिदेवनन्दिप्रभृतयः *अनेनैवे*ति-वेतीत्यस्य व्यवस्थितविभाषार्थत्वादिति शेषः ।।2. 3. 52.।।

निर्नेः स्फुर-स्फुलोः ।। 2. 3. 53. ।।

निर्निभ्यां परयोः स्फुरति-स्फुलत्योः सकारस्य षो वा भवति । निःष्फुरति, निःस्फुरति, निष्फुरति, निस्फुरति; निःष्फुलति; निःस्फुलति, निष्फुलति निस्फुलति । वचनभेदो यथासंख्यनिवृत्त्यर्थः ।।53।।

न्या०स०—निर्नेःस्फु० । *निस्फुरती*ति-निसः सकारस्य रुत्वे ``श-ष-से०'' (1. 3. 6.) इति तस्य सत्वमनेन धातुसकारस्य षत्वं ``सस्य श-षौ'' (1. 3. 61.) इति षत्वम्, सत्वाभावपक्षे कदाचिद् विसर्गः कदाचित् ``व्यत्यये लुग् वा'' (1. 3. 56.) इति लोपः, मूर्धन्याभावपक्षे कदाचित् सकारद्वयश्रवणं कदाचिद् विसर्ग-लोपो ।।2. 3. 53.।।

वेः ।। 2. 3. 54. ।।

वेः परयोः स्फुरति-स्फुलत्योः सकारस्य षो वा भवति । विष्फुरति, विस्फुरति; विष्फुलति, विस्फुलति । योगविभाग उत्तरार्थः ।।54।।

न्या०स०—वेः । स्फुर-स्फुलो निर्नि-वेरित्येकयोगभावोऽत्र ।।2. 3. 54.।।

स्कभ्नः ।। 2. 3. 55. ।।

वेः परस्य स्कभ्नातेः सकारस्य नित्यं षो भवति । योगविभागाद् वेति निवृत्तम्, अन्यथा हि वेः स्कभ्नश्चेति क्रियेत । विष्कभ्नाति, विष्कम्भिता, विष्कम्भकः, विष्कम्भयति । श्नानिर्देशः किम् ? सश्नोर्मा भूत्-विस्कभ्नोति । स्कम्भूः सौत्रो धातुः अषोपदेशः ।।55।।

न्या०स०—स्कभ्नः । ननु श्नानिर्देशाद् यत्र श्नाप्रत्ययस्तत्रैव षत्वं प्राप्नोति, न तु तदभावे विष्कम्भितेत्यादौ ? नैवम्-श्नानिर्देशस्य श्नुनिषेधपरतया व्याख्याततत्वात् । *निष्कभ्नाती*त्यत्र

क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः । *सश्नोर्मा भूदिति*—यदाह चन्द्रः यद्यत्रापि स्यात् तदा स्कम्भ इति निर्दिशेत्, तस्मात् श्नानिर्देशादन्यत्र शिति प्रत्यये न षकार इति । शकटस्तु-श्नानिर्देशः ष्टभुङ् स्कभुङिति भौवादिकनिवृत्त्यर्थमिति, अत एवोत्पलेनापि विष्कभ्नाति विष्कभ्णातीति श्नुप्रत्ययेऽपि षत्वं गणपाठाभावाण्णत्वं च उदाहृतम् ।।2. 3. 55.।।

निर्-दुः-सु-वेः सम-सूतेः ।। 2. 3. 56. ।।

निर्दुःसुविभ्यः परस्य समसूतिसंबन्धिनः सकारस्य षो भवति । निःषमः, दुःषमः, सुषमः, विषमः; निःषूतिः, दूःषूतिः, सुषूतिः, विषूतिः । समसूतीति नाम्नोर्ग्रहणाद् धातोर्वैरूप्ये च न भवति-निःसमति, दुःसमति, सुसमति, विसमति; निःसूतम्, दुःसूतम्, सुसूतम्, विसूतम् । अन्ये तु समसूत्योर्धात्वोरेवेच्छन्ति, तन्मते—निःषमति, दुःषमति, निःषूतं, दुःषूतमित्यादावेव भवति ।।56।।

न्या०स०—नि-र्दु-सुः-वेः० । *समे*ति सह मया वर्तते इति समः ``गोश्चान्ते०'' (2. 4. 86.) । निर्गतो निश्चितो वा समात्, *सम* इति समतीति प्रयोगैकदेशः, ``षम ष्टम'' इत्यजन्तस्य च भवति । *सुती*त्यादादिकस्य ``इ-कि-श्तिव्०'' (5. 3. 138.) इति श्तिव्यपि भवति, सूति-सूयति-सुवतीनां क्त्यन्तानां च । तत्र ``अवः स्वप०'' (2. 3. 57.) इत्यनेन पृथग् योगान्नाम्नोरेव ग्रहणं न धात्वोरित्याह—*नाम्नोर्ग्रहणा*दितिनामग्रहणे च लिङ्गविशिष्टस्यापि, तेन सुषमा इत्यादिधात्वोरेवेच्छन्तीत्युक्त्वा कथं निःषूतमित्याद्युदाहृतम् ? सत्यम्-क्तप्रत्ययात् प्रागेव सूतेरुपसर्गेण योगाद् भविष्यति ।।2. 3. 56.।।

अवः स्वपः ।। 2. 3. 57. ।।

नि-र्दुः-सु-विपूर्वस्य वकाररहितस्य स्वपेर्धातोः सकारस्य षो भवति । निःषुषुपतुः, दुःषुषुपतुः, सुषुषुपतुः, विषुषुपतुः; निष्षुप्तः, दुःषुप्तः; सुषुप्तः; विषुप्तः । अव इति किम् ? निःस्वप्नः, दुःस्वप्नः, सुस्वप्नः, विस्वप्नः; विसुष्वाप ।।57।।

न्या०स०—अवः स्वपः निःषुप्त इत्यादौ ``ज्ञानेच्छा०'' (5. 2. 92.) इति क्तः ।।2. 3. 57.।।

प्रादुरुपसर्गाद्यस्वरेऽस्तेः ।। 2. 3. 58. ।।

प्रादु:शब्दादुपसर्गस्थाच्च नाम्यन्तस्थाकवर्गात् परस्यास्ते: सकारस्य यकारादौ स्वरादौ च प्रत्यये परे षो भवति । प्रादु:ष्यात्, निष्यात्, विष्यात्, अभिष्यात्, प्रादु:षन्ति, निषन्ति विषन्ति, अभिषन्ति; शिङ्नान्तरेऽपि-नि:ष्यात्, नि:षन्ति । प्रादुरुपसर्गादिति किम् ? दधि स्यात्, मधूनि सन्ति, यदत्र मां प्रति स्यात् तद् दीयताम्, सर्पिषोऽपि स्यात् । य-स्वर इति किम् ? प्रादु:स्त:, निस्त:, अनुस्त:, अनुस्व:, अनुस्म: । अस्तेरिति किम् ? विसृतम्, अनुसृतम्, अनुसूते: क्विपि अनुसूस्तस्यापत्यं शुभ्रादित्वादेयण् ऊलोप:–आनुसेय: । प्रादु:शब्दस्य तु कृभ्वस्तिष्वेव प्रयोगात् प्रत्युदाहरणं नास्ति ।।58।।

न्या०स०–प्रादुरु० । *शुभ्रादित्वादि*ति-न्यासे तु ``चतुष्पात्०'' (6. 1. 83.) इति एयञ्, वृत्तौ तु सारसंग्रहाद्यभिप्रायेण ``सुभ्र्वादिभ्य:'' (7. 3. 182.) इत्युक्तम् । *विसृतमि*त्यादि विसरतीति क्विपि तोऽन्ते ❊ क्विबन्ता धातुत्वं न त्यजन्ति ❊ इति न्यायात् 'विसृत्' इत्येवं रूपाद् धातुमात्रादमृरूपे स्वरादौ प्रत्ययेऽस्तेरिति किमिति व्यावृत्तेर्न द्व्यङ्गवैकल्यम्, यदा तु क्तस्तदापि अस्तौ सति स्वरस्य प्रत्ययेति चिन्तेति न द्व्यङ्गविकलता ।।2. 3. 58.।।

न स्स: ।। 2. 3. 59. ।।

कृतद्विर्भावसकारसंबन्धिन: सकारस्य षो न भवति । सुपिस्स्यते, सुतुस्स्यते; अत्र सुपूर्वस्य पिसेस्तृसेश्च सकारस्य क्ये ``अदीर्घात्०'' (1. 3. 32.) इत्यादिना द्विर्भाव: । ननु 'दधिस्यते, मधुस्यति, समचिस्करत्, अग्निसात् । करोति' इत्यादिषु प्रतिषेधाभावात् षत्वं प्राप्नोति ? उच्यते–स्सस्सडागमयो स्सात् प्रत्ययस्य च द्वि:सकारपाठस्य षत्वप्रतिषेधार्थत्वेनाभिधास्यमानत्वात् षत्वं न भवति ।।59।।

न्या०स०–न स्स: । *सुपिस्स्यत* इत्यादिप्रयोगस्थो द्विरुक्त: सकार: स्स इत्यनुक्रियते इत्याह–*कृते*त्यादि । *दधिस्यते* अत्र ``अस् च लौल्ये'' (4. 3. 115.) स्स: ।।2. 3. 59.।।

सिचो यङि ।। 2. 3. 60. ।।

सिश्चतेर्धातो: सकारस्य यङि प्रत्यये परत: षो न भवति । सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते; परत्वादुपसर्गलक्षणमपि षत्वं बाधते । एवमुत्तरत्रापि । यङीति किम् ? अभिषिषिक्षति । ङ्कार: किम् ? अभिषिच्यते ।।60।।

न्या०स०—सिचो० । *षत्वमिति*—``स्था-सेनि०'' (2. 3. 40.) इत्यनेन ॥2. 3. 60.॥

गतौ सेधः ॥ 2. 3. 61. ॥

गतौ वर्तमानस्य सेधतेर्धातोः सकारस्य षो न भवति । अभिसेधति, अनुसेधति गाः, अभिगच्छति—अनुगच्छतीत्यर्थः; अभिसेधयति, अनुसेधयति—गमयतीत्यर्थः; अभिसिसेधिषति, अनुसिसेधिषति अभिजिगमिषति, अनुजिगमिषतीत्यर्थः । गताविति किम् ? प्रतिषेधति, निषेधति-पापान्निवारयतीत्यर्थः ॥61॥

न्या०स०—गतौ से० । ननु कृसर-धूसर-केसरादिषु प्रत्ययसकारस्य षत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः, नैवम्-❊ उणादयोऽव्युत्पन्नानि नामानि ❊ इत्यबुधबोधनार्थं, व्युत्पाद्यमानान्यः प्युणादयो व्युत्पत्तिकार्यं न लभन्ते । इत्थं तर्हि वृक्ष इत्यत्रापि षत्वं न प्राप्नोति, उच्यते—तर्हि बाहुलकात् षत्वाभावः ॥2. 3. 61.॥

सुगः स्य-सनि ॥ 2. 3. 62. ॥

सुनोतेः संबन्धिनः सकारस्य स्ये सनि च प्रत्यये परे षो न भवति । अभिसोष्यति परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत्, पर्यसोष्यत्; सनि-सुसूषतेः क्विपि—सुसूः, सुसूषतीति तु नोदाह्रियते, णिस्तोरेव षणि इति नियमेनैव व्यावर्तितत्वात्, अभिसुसूषतीत्यपि नोदाह्रियते, अद्वित्वे इति व्यावृत्त्यैव निवर्तितत्वात् । स्यसनीति किम् ? सुषाव, अभिषणोति ॥62॥

न्या०स०—सुगः स्य० । *सुसूरिति*—वर्णविधौ स्थानित्वाभावात् षणीत्यभावः । *अभ्यसोष्यदित्यत्राप्यट्यपीति* वचनात् ``उपसर्गात् सुग्०'' (2. 3. 39.) इति प्राप्तं निषिध्यते ॥2. 3. 62.॥

र-षृवर्णान्नो ण एकपदेऽनन्त्यस्याऽल-च-ट-तवर्ग-श-सान्तरे ॥ 2. 3. 63. ॥

रेफ-षकार-ऋवर्णेभ्यः परस्याऽनन्त्यस्य नकारस्य रषृवर्णैरेवैकपदे वर्तमानस्य णो भवति, न चेन्निमित्तनिमित्तिनोरन्तरे लकार-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग-शकार-सकारा भवन्ति; शेषवर्ण-व्यवधानेऽपीत्यर्थः । तीर्णम्, चतुर्णाम्, पुष्णाति, नृणाम्, नॄणाम्; व्यवधानेऽपि भवति-करणम्, वृक्षाणाम्, करिणाम्, ऋषीणाम्, गुरुणा, गुरूणाम्, करेण, वृंहणम्, अर्केण,

मूर्खेण, स्वर्गेण, अर्धेण, दर्पेण, रेफेण, दर्भेण, धर्मेण, आर्येण, सर्वेण; अर्हेण । रषृवर्णादिति किम् ? तेन । एकपद इति किम् ? अग्निर्नयति, नृभिर्नृभिः, नेतृभिर्नेतृभिः । पद इत्येतावतैवैकपदे लब्धे एकग्रहणं नियमार्थम्, एकमेव यन्नित्यं तत्र यथा स्यात्; यदेकं चानेकं च तत्र मा भूत्-चर्मनासिकः, मेषनासिकः । अनन्त्यस्येति किम् ? वृक्षान् । लादिवर्जनं किम् ? विरलेन, अर्चनम्, मूर्छनम्, अर्जनम्, झर्झनम्, किरीटेन, कर्मठेन, मृडेन, दृढेन, कर्णेन, कीर्तनम्, तीर्थेन, नर्देन, क्रोधेन, रशना, रसना । अधिकारश्चायमा णत्वविधेः ।।63।।

न्या०स०–रषृवर्णा० । ननु ऋवर्णग्रहणं किमर्थम् ? यत ऋवर्णादपि तन्मध्य व्यवस्थितरेफाश्रयं णत्वं भविष्यति, अत एव पाणिनिनापि रषाभ्यामित्येवोक्तम्, उच्यते नहि वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते तद्भिन्नत्वाद् वर्णबुद्धेरनुपादानात्, तथाहि–मांस न विक्रेयमिति सत्यपि निषेधे गावो विक्रियन्ते, तत्र मांसबुद्धेरभावात् । *शेषवर्णव्यवधानेऽपीति*–प्रसज्यप्रतिषेधादितरैर्व्यवधानेऽपि भवति । *पुष्णाती*ति-अत्र ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इत्यनेनैव णत्वे सिद्धे षकारग्रहणं कषणमित्यादौ व्यवहितार्थं, तदर्थं च सत्परत्वात् ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 30.) इति बाधित्वा णत्वं प्रवर्तयति । *नृभिर्नृभिरि*तिद्विःप्रयोगो द्विर्वचनमित्याश्रयणाद् भिन्नपदत्वमित्यर्थः । *विरलेने*ति विपूर्वाद्रमेः ``मुरल०'' (उणा० 474.) इति निपातनात् डित्यले । *ऋषीणामि*त्यादौ दीर्घरूपे स्यादिविधौ कर्त्तव्ये पूर्वकृतमपि णत्वसिद्धं भवति ।।2. 3. 63.।।

पूर्वपदस्थानाम्न्यगः ।। 2. 3. 64. ।।

पूर्वपदस्थाद् रषृवर्णादगकारान्तात् परस्य सामर्थ्यादुत्तरपदस्थस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति, नाम्नि-संज्ञायां विषये । द्रुणसः, खुरणसः, खरणाः, खुरणाः, शूर्पणखा, चन्द्रणखा, वार्ध्रीणसः, हरिवाहणः, नरवाहणः, पुष्पणन्दी, श्रीणन्दी स्त्री । नाम्नीति किम् ? मेषनासिकः, चर्मनासिकः । अग इति किम् ? ऋगयनम् । एकस्मिन्नेव पदे इति पूर्वसूत्रे विज्ञानादुत्तरपदस्थस्य समासे न प्राप्नोतीति वचनम् । खरपस्यापत्यं खारपायणः, मातृभोगाय हितो मातृभोगीणः । गर्गभगोऽस्या अस्तीति गर्गभगिणीत्यादौ तु उत्तरपदसंबन्धी नकारो न भवतीति एकपदत्वात् पूर्वेणैव णत्वं भवति, यदा तु गर्गाणां भगिनीति विग्रहस्तदैकपदत्वाभावाद् गर्गभगिनीत्येव भवति । कथं `देवदारुवनम्, कुबेरवनम्, मनोहरवनम्, प्रभङ्करवनम्, इत्यादिसंज्ञायां णत्वं न भवति ? उच्यते–``कोटर-मिश्रक-सिध्रक-पुरग-सारिकस्य वणे'' (3. 2. 76.) इति णत्वनिपातनस्य नियमार्थत्वेन व्याख्यास्यमानत्वात् संज्ञायां कोटिरादिभ्य एव वनशब्दस्य णत्वं भवति नान्येभ्य इति ।।64।।

न्या०स०–पूर्वपदस्था० । *सामर्थ्या*दिति–अयमर्थः– रूढेन पूर्वपदमाक्षिप्यते तदन्तरेण तस्यासम्भवात्, तच्च नकारस्य विशेषणम् । *पुष्पणन्दी*ति–``पुष्पच्'' पुष्यन्तीति अचिपुष्पाणि नन्दयति अण् ङीः–पुष्पणन्दी आचार्यः, वत्स-ऋषभकार्प्पटैर्निश्चिक्ये, दिगम्बरेण तु योपान्त्यः, स च न शिष्टसम्मतः । वार्ध्रीणसः वर्ध्रस्येयं ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) अण् ङीः ``तद्धितस्वरे०'' (2. 4. 92.) इति पुंवन्निषेधः । *ऋगयनमि*ति-शिक्षादिषु ऋगयनपाठादेव णत्वनिषेधे सिद्धे किमग इत्यनेन ? सत्यम्–अबाधकान्यपि ज्ञापकानि भवन्ति । *उत्तरपदसम्बन्धी नकारो न भवती*ति-``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति न्यायात् । *पूर्वेणैव णत्वमि*ति-ननु पूर्वेणापि कथम् ? यतः खरपशब्दस्यान्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पदत्वमस्ति, तत्स्थत्वाद् रेफस्य चैकपदत्वाभावादिति, अत्रोच्यते-यत्र द्वावपि निमित्तनिमित्तिनावेकपदत्वं व्यभिचरतस्तत्र णत्वाभावः इह तु रेफस्य व्यभिचारेऽपि नकारस्य एकपदस्थत्वाव्यभिचारः, यद्वा सित्येवेति नियमेन आयनण्प्रत्यये खरपशब्दस्य पदत्वस्य निरस्तत्वात् पूर्वेणैव भवत्येव । *मनोहरा* वृक्षविशेषाः । *प्रभङ्क*रेति-प्रभां करोति ``सङ्ख्याहर्दिवा०'' (5. 1. 102.) इति टे ``नवा खित्-कृदन्त०'' (3. 2. 117.) इति पृथग्योगाद्ध्वस्वत्वे मोऽन्तः । *कोटरमिश्रके*त्यादि-कुटत् ``ऋच्छि-चटि०'' (उणा० 397) इत्यरे बाहुलकाद् गुणे, मिश्रण् णके, सिध्यतेः सेधतेर्वा ``ऋज्यजि०'' (उणादि० 388) इति रे यावादित्वात् स्वार्थिके कुत्सितादौ वा । पुरं गच्छतीति ``नाम्नो गमः०'' (5. 1. 131.) इति । श्रृणातेः ``कृशृकुटि०'' (उणादि० 619.) इति णिदि प्रत्ययेशारिः, स्वार्थिके के शारि कायतीति वा ।।2. 3. 64.।।

नसस्य ।। 2. 3. 65. ।।

पूर्वपदस्थाद् रषृवर्णात् परस्य नसशब्दसंबन्धिनो नकारस्य णो भवति । प्रगता प्रवृद्धा वा नासिका यस्य स प्रणसः, एवं निर्णसः; प्रणसं मुखं, निर्णसं मुखम् ।।65।।

निष्प्रा-ऽग्रे-ऽन्तः-खदिर-कार्श्या-ऽम्र-शरेक्षु-प्लक्ष-पीयुक्षाभ्यो वनस्य ।। 2. 3. 66. ।।

निरादिभ्यः परस्य वनशब्दनकारस्य णकार आदेशो भवति । बहुवचनं व्याप्त्यर्थम्, तेन संज्ञायामसंज्ञायां च भवति; अन्यथा हि ``कोटरमिश्रकसिध्रक०'' (3. 2. 76.) इत्यादिवक्ष्यमाणनियमबलेन संज्ञायां न स्यात् । निर्वणम्, प्रवणम्, अग्रेवणम्, ``पारेमध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा'' (3. 1. 30.) इत्यव्ययीभावः, तत्संनियोगे च पूर्वपदस्यैत्वम्; अन्तर्वणम्, खदिरवणम्, कार्श्यवणम्, वचनसामर्थ्यात् शकारव्यवधानेऽपि भवति; आम्रवणम्, शरवणम्, इक्षुवणम्,

प्लक्षवणम्, पीयुक्षावणम्, पीयुक्षाशब्दोऽव्युत्पन्न आबन्तः ॥66॥

न्या०स०–निष्प्राग्रे० । निष्प्राग्रेन्तरो नौषधिवचना नापि वृक्षवचनाः, तेभ्यः संज्ञायां कोटरादिनियमेन व्यावर्तितत्वादप्राप्तं णत्वं विधीयते, असंज्ञायामप्येकपदत्वाभावादप्राप्तमेव । इक्षु-शरशब्दावौषधिवचनौ, शेषा वृक्षवचनास्तेषां संज्ञायां कोटरादिनियमेन णत्वस्य व्यावर्तितत्वा-दुत्तरेणाप्राप्ते विध्यर्थमसंज्ञायां तूत्तरेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थम् । *कार्श्यवणमि*ति-कार्श्यशब्दो वृक्षविशेषवाची अव्युत्पन्नोऽथवा कृश्यतेः ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के ट्यणि धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् कार्श्यगुणयुक्तो वृक्षोऽपि कार्श्यः । *पीयुक्षे*ति–पीयुक्षाशब्दो द्राक्षापर्यायः, द्राक्षाविशेषो वा । ``पीङ् च्'' क्विपि पीः, पियं याति ``पीमृग०'' (उणा० 741) इति किदुः, पीयुं क्षायति ``आतो डो०'' (5. 1. 76.) इति डः ॥2. 3. 66.॥

द्वि-त्रिस्वरौषधि-वृक्षेभ्यो नवाऽनिरिकादिभ्यः ॥ 2. 3. 67. ॥

द्विस्वरेभ्यस्त्रिस्वरेभ्यश्च इरिकादिजितेभ्य ओषधिवाचिभ्यो वृक्षवाचिभ्यश्च परस्य वनशब्दसंबन्धिनो नकारस्य णो वा भवति । ओषधिः–दूर्वावणम्, दूर्वावनम्; मूर्वावणम्, मूर्वावनम्; व्रीहिवणम्, व्रीहिवनम्; माषवणम्, माषवनम्; नीवारवणम्, नीवारवनम्; कोद्रववणम्, कोद्रववनम्; प्रियङ्गुवणम्, प्रियङ्गुवनम्; ओषध्यः । *वृक्ष*–शिग्रुवणम्, शिग्रुवनम्; दारुवणम् दारुवनम्; करीरवणम्, करीरवनम्; शिरीषवणम्, शिरीषवणम्; बदरीवणम्, बदरीवनम्; प्रियङ्गुवणम्, प्रियङ्गुवनम् ।

``ओषध्यः फलपाकान्ता, लता गुल्माश्च वीरुधः ।
फली वनस्पतिर्ज्ञेयो, वृक्षाः पुष्पफलोपगाः'' ॥1॥

इति यद्यपि भेदोऽस्ति तथाप्यतिबहुत्वार्थबहुवचनबलाद् वृक्षग्रहणे वनस्पतीनामपि ग्रहणं भवति, अत एव च यथासंख्यमपि न भवति, तथा संज्ञायामसंज्ञायां च भवति । द्वि-त्रिस्वरेति किम् ? देवदारुवनम्, भद्रदारुवनम् । ओषधिवृक्षेभ्य इति किम् ? विदारीवनम्, पितृवनम्, शिरीषाणामदूरभवो ग्रामोऽपि शिरीषास्तेषां वनं शिरीषवनम् । अनिरिकादिभ्य इति किम् ? इरिकावनम्, मिरिकावनम्, तिमिरवनम्, क्षीरवनम्; हरिवनम् । इरिकादिराकृतिगणः । इरिकादिविशेषवर्जनाद् विशेषाणामेवेह विधिः, तेनेह न भवति-द्रुमवनम्, वृक्षवनम् ॥67॥

न्या०स०–द्वि-त्रिस्वरौ० । *कोद्रववणमि*ति-केन-अम्भसा उद्यन्ते ``कैरव०'' (उणा० 519.)

इति साधुः, केनो दद्रुवन्त्युच्छब्दायन्तेऽचि वा । *ओषध्यः फलपाकान्ता* इति-उष्यतेऽनेनेति ``व्यञ्जनाद् घञ्'' (5. 3. 132.) इति घञि-ओषः, ओषो धीयतेऽस्यामिति–ओषधिः ``व्याप्यादाधारे'' (5. 3. 88.) इति कौ ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इति ङ्याम्-*ओषध्यः*, ``उषेरधिः'' (उणा० 675) इति वा । फलस्य पाकेनान्तो विनाशः शोषो यासां ताः *फलपाकान्ताः । लताः* प्रतानवत्यो मालत्यादयः, लता वल्ली कर्कोट्यादिका । *गुल्माः* ह्रस्वस्कन्धास्तरवो बहुकाण्डपत्राः केतक्यादयः । एतल्लतागुल्मरूपं द्वयं *वीरुधः*; उत्पलस्त्वेवं व्याचष्टे-लता गुल्मास्तेभ्यो विलक्षणा वीरुधः । पुष्पं विना फलमेव यस्य स प्लक्षादिः फली । पुष्पं च फलं च उपगच्छन्ति *पुष्पफलोपगाः* ``नाम्नो गमः०'' (5. 1. 131.) इति डे *वृक्षाः* पुष्पपलोपगा इति । न चोभयमेव उपगच्छन्ति त एव वृक्षाः किं तर्हि ? येऽप्यन्यतरत् पुष्पं फलं वा उपगच्छन्ति । तेऽपि वृक्षा एव, तत्र वेतसादयः पुष्पमेव, प्लक्षादयः फलमेव, आम्रादयस्तूभयमप्युपगच्छन्ति, तत्र वृक्षो वनस्पतित्वमवकोशित्वं च न व्यभिचरति । वनस्पतिरवकेशी तु वृक्षत्वं व्यभिचरतः, यतः फली वनस्पतिर्ज्ञेयः फलवन्ध्यस्त्ववकेशीति, अत एवं च वनस्पत्यादिग्रहणमकृत्वा वृक्षग्रहणं कृतं तदन्तर्गतत्वाद् वनस्पतित्यादेरिति । विदारी लताविशेषः ॥2. 3. 67.॥

गिरिनद्यादीनाम् ॥ 2. 3. 68. ॥

गिरिनदीत्यादीनां नकारस्य वा णो भवति । गिरिणदी, गिरिनदी; गिरिणखः, गिरिनखः; गिरिणद्धः, गिरिनद्धः; गिरिणितम्बः, गिरिनितम्बः; वक्रणदी, वक्रनदी; वक्रणितम्बा, वक्रनितम्बा; चक्रणितम्बा, चक्रनितम्बा; माषोणः, माषोनः; तूर्यमाणः, तूर्यमानः; आर्गयणः, आर्गयनः; ऋगयनं वेत्त्यधीते वेत्यण्, ऋगयनस्य व्याख्यानं तत्र भवो वा शिक्षादित्वादण् । बहुवचनाद् यथादर्शनमन्येऽपि भवन्ति ॥68॥

न्या०स०–गिरि न० । तूर्यमाण इति तुर्यं मानमस्येति वाक्ये निमित्त-निमित्ति-नोरेकपदस्थत्वाभावादप्राप्ते विकल्पः, तूर्यतेस्त्वानशि श्ये मागमे च ``रषुवर्णा०'' (2. 3. 63.) इति नित्यं प्राप्ते । *शिक्षादित्वादिति*-अन्यथा बहुस्वरत्वात् प्रायो बहुस्वरादिकण् स्यात् ॥2. 3. 68.॥

पानस्य भावकरणे ॥ 2. 3. 69. ॥

पूर्वपदस्थेभ्यो रषृवर्णेभ्य परस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तत्संबन्धिनो नकारस्य णो वा भवति । क्षीरपाणं, क्षीरपानं वर्तते; कषायपाणं, कषायपानं वर्तते; सौवीरपाणं, सौवीरपानं

वर्तते । करणे-क्षीरपाणं, क्षीरपानं भाजनम्; कषायपाणः, कषायपानः कंसः । भावकरण इति किम् ? पीयतेऽस्मिन्निति पानः, क्षीरपानो घोषः ।।69।।

न्या०स०–पानस्य० । *सौवीरपाणमिति*-सौवीरेषु प्रायो भवं बाहुलकादकञं बाधित्वा भवेऽण, सुवीराणामिदं ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इति वा सौवीरं काञ्जिकम् ।।2. 3. 69.।।

देशे ।। 2. 3. 70. ।।

पूर्वपदस्थाद् रषृवर्णात् परस्य पानशब्दनकारस्य णो नित्यं भवति, देशे-समुदायेन चेद् देशो गम्यते; योगविभागाद् नवेति निवृत्तम् । पीयत इति पानम्, क्षीरं पानं येषां क्षीरपाणा उशीनराः, सुरापाणाः प्राच्याः, सौवीरपाणा वाहीकाः कषायपाणा गान्धारयः; तात्स्थ्यात् मनुष्याभिधानेऽपि देशो गम्यते । देशे इति किम् ? दाक्षीणां पानं दाक्षिपानम्, क्षीरपाना गोपालकाः ।।70।।

न्या०स०–देशे० । *योगविभागादिति*-अन्यथा ``पानस्य भावकरणदेशे'' इति क्रियेत, तथाऽत्र कर्मसाधनपानशब्दो गृह्यते भावकरणप्रधानस्य तु पूर्वेण विकल्प एव । *उशीनरा* इतिउश्यत इति ``स्थादिभ्यः कः'' (5. 3. 82.) वष्टीति क्विपि वा ख्वृति गौरादिङ्याम्-उशी नगरी, तस्या नराः; यद्वा वष्टेः ``पदि-पठि०'' ( उणा० 607.) इति इप्रत्यये बाहुलकात् कित्वे ख्वृति-उशयः, तेषां नरः, बहुलवचनाद् दीर्घत्वे-उशीनरः, तस्यापत्यानि ``राष्ट्रक्षत्रियात्'' (6. 1. 114.) इति विहितस्य ``बहुष्वस्त्रियाम्'' (6. 1. 124.) इति द्रेरञो लुप् । *सौवीरेति*-अजतेः ``ऋज्यजि०'' (उणा० 388) इति किति रे ``अघञ्क्य०'' (4. 4. 2.) इति वीभावे च–वीरः, वीरयतेर्वाऽचि-वीरः, शोभना वीरा यस्मात् तत् सुवीरं, तस्येदं तत आगतं वा । *गान्धारयः* गन्धारस्यापत्यं वृद्धम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) गान्धारिः- राष्ट्रक्षत्रियसरूपः, ततो गान्धारीणां राजानः, गान्धारे राज्ञोऽपत्यानि वा ``गान्धारिसाल्वेयाभ्यामञ्'' (6. 1. 115.) ``यञञोऽश्या०'' (6. 1. 126.) इति ``बहुष्वस्त्रियां'' (6. 1. 124.) लुप् । ननु क्षीरपाणादयः शब्दा मनुष्येषु वर्तन्ते, तत्सामानाधिकरण्यादुशीनरादयोऽपि तत्रैव तत् कथमिह देशो गम्यते इत्याह–*तात्स्थ्यादिति*-अयमर्थः–उशीनरादयो हि शब्दाः संज्ञात्वेन पूर्वं देशेष्वेव प्रवृत्ताः, पश्चात् तु तत्स्थानसंबन्धात् मनुष्येषु, तेन मनुष्याभिधानेऽपि देशाभिधानं गम्यते । *दाक्षीणां पानमिति*-अत्र कर्तरि षष्ठी ।।2. 3. 70.।।

ग्रामा-ऽग्रान्नियः ।। 2. 3. 71. ।।

ग्रामा-ऽग्राभ्यां परस्य नियो नकारस्य णो भवति । ग्रामणीः, अग्रणीः । ग्रामाग्रादिति किम् ? खरनीः, मेषनीः ॥71॥

न्या०स०–ग्रामाग्रा० । ननु ❈ गतिकारक० ❈ इति न्यायाद् विभक्त्युत्पत्तेः प्रागेव समासे निमित्त-निमित्तिनोरेकपदस्थत्वात् ``रषृवर्णा०'' (2. 3. 63.) इत्यनेनैव णत्वं सिद्धमेव किमनेनेति ? सत्यम्-नियमार्थं–यदि नियो णत्वं स्यात् तदा ग्रामाग्रादेव, तेन खरनी-मेषनीत्यादौ पूर्वेणापि न भवति ॥2. 3. 71.॥

वाह्याद् वाहनस्य ॥ 2. 3. 72. ॥

वोढव्यं वाह्यम्, तद्वाचिनो रेफादिमतः पूर्वपदात् परस्य वाहनशब्दसंबन्धिनो नकारस्य णो भवति । उह्यतेऽनेनेति वहनम्, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण, अतो वा निपातनादुपान्त्यदीर्घत्वम्; इक्षुवाहणम्, शरवाहणम् । वाह्यादिति किम् ? सुरवाहनम्, संबन्धमात्रमत्र विवक्षितम्; नरवाहनः, नात्र वाह्यात् परं वाहनम्, किं तर्हि ? वाहनात् ॥72॥

न्या०स०–वाह्याद् वा० । *वोढव्यं वाह्यमिति*-वहेरर्हेऽर्थे घ्यणि-वाह्यं वहनार्हमिक्ष्वादि, तेन यदापि वाहने वहनार्थमिक्ष्वादि वाह्यं नारोपितं भवति, तदर्थं तु केवलमुपकल्पितं भूतलस्थं तदापि भवत्येव । *सम्बन्धेति*-स्वस्वामिभावलक्षणेऽत्र षष्ठी न तु वहनक्रियापूर्वके कर्मकरणसम्बन्धे, यदा तु सुरा अपि वाह्यत्वेन विवक्ष्यन्ते तदा णत्वं भवत्येव । यदा तु नरवाहनशब्दः कुबेरवाचकस्तदा ``पूर्वपदस्था०'' (2. 3. 64.) इति प्राप्तस्य णत्वस्य ``क्षुभ्नादीनाम्'' (2. 3. 69.) इत्यनेन निषेधः, यदा तु यौगिको न संज्ञाशब्दस्तदा ``पूर्वपदस्था०'' (2. 3. 64.) इति न णत्वं, यथात्र व्यावृत्त्युदाहरणे ॥2. 3. 72.॥

अतोऽह्नस्य ॥ 2. 3. 73. ॥

रेफादिमतोऽकारान्तात् पूर्वपदात् परस्याह्नतशब्दसंबन्धिनो नकारस्य णो भवति । पूर्वाह्णः, अपराह्णः । अत इति किम् ? निरह्नः, दुरह्नः । अह्न इत्यकारान्तनिर्देशादिह न भवति–दीर्घाह्नी शरत् ॥73॥

न्या०स०–अतोऽह्नस्य० । *दीर्घाह्नी शरदिति*-दीर्घाह्नी दीर्घाहाः दीर्घाहा रूपत्रितयम् ॥2. 3. 73.॥

चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि ॥ 2. 3. 74. ॥

'चतुर् त्रि' इत्येताभ्यां पूर्वपदाभ्यां परस्य हायनशब्दसंबन्धिनो नकारस्य वयसि गम्यमाने णो भवति । चतुर्हायणो वत्सः, चतुर्हायणी वडवा; त्रिहायणो वत्सः, त्रिहायणी वडवा । वयसीति किम् ? चतुर्हायना, त्रिहायना शाला, ङीरपि वयस्येव भवति । चतुस्त्रेरिति किम् ? सहस्त्रहायनः पुरुषः, लक्षहायनः पक्षी ॥74॥

वोत्तरपदान्तन-स्यादेरयुव-पक्वा-ऽह्नः ॥ 2. 3. 75. ॥

पूर्वपदस्थाद् रषृवर्णात् परस्योत्तरपदान्तभूतस्य तथा नागमस्य स्यादेश्च नकारस्य णो वा भवति, न चेत् स नकारो युवन्-पक्वा-ऽहन्शब्दसंबन्धी भवति । उत्तरपदान्त-व्रीहिवापिणौ, व्रीहिवापिनौ; माषवापिणौ, माषवापिनौ; व्रीहिवापिणी, व्रीहिवापिनी कुले; माषवापिणी, माषवापिनी कुले; व्रीहिवापिणः, व्रीहिवापिनः; माषवापिणः, माषवापिनः; व्रीहिवापीणि, व्रीहिवापीनि कुलानि; व्रीहिवापिणा, व्रीहिवापिना । न–व्रीहिवापाणि, व्रीहिवानानि कुलानि; माषवापाणि, माषवापानि कुलानि; ''इव् व्याप्तौ'' इत्यस्यानटि-प्रेण्वनं, प्रेन्वनं; ''हिवु प्रीणने, पिवु सेचने'' इत्यनयोः शतरिप्रहिण्वन्, प्रहिन्वन्; प्रपिण्वन्, प्रपिन्वन्; हिवोरेव ह्यस्तन्यां-प्राहिण्वन् प्राहिन्वन्; बहुलवचनादनाम्नापि समासः, समासे हि पूर्वोत्तरपदव्यवहारः; पुरुषश्च वारि चेति पुरुषवारिणी इत्यत्र तु परमपि विकल्पं बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वादेकपदाश्रितं ''रषृवर्णात्०'' (2. 3. 63.) इत्यादिना नित्यमेव णत्वम् । स्यादि–व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन; माषवापेण, माषवापेन; व्रीहिवापाणाम्, व्रीहिवापानाम्; माषवापाणाम्, माषवापानाम्; व्रीहिवापान्, माषवापानित्यत्र तु अनन्त्यस्येत्यधिकाराद् न भवति । उत्तरपदेति किम् ? गर्गाणां भगः–गर्गभगः, सोऽस्या अस्तीति समासादिन्-गर्गभगिणी, अत्रोत्तरपदस्यान्तो नकारो न भवतीति विकल्पो न भवति, एकपदस्थत्वात् तु मातृभोगीण इत्यादिवन्नित्यमेव णत्वं भवति । अन्तादिग्रहणं किम् ? गर्गाणां भगिनी गर्गभगिनी, एवं दाक्षिभगिनी; अत्र न नकारोऽन्तः किन्तु ङीप्रत्ययः । यद्येवं माषवापिणी, माषवापिनीत्यत्र नकारस्योत्तरपदान्तत्वाभावात् विकल्पो न प्राप्नोति, उच्यते–❊गतिकारकोपपदानां कृद्भिः समासवचनं प्राक् प्रत्ययोत्पत्तेः❊ इति न्यायात् प्रागेव स्त्रीप्रत्ययादन्तरङ्गत्वादश्वक्रीतीत्यादावकारान्तेनेव क्रीतशब्देन नकारान्तेन वापिन्शब्देनोपपदसमासः पश्चात् स्त्रीप्रत्ययः, विभक्त्यन्तत्वाभावेऽपि च रूढत्वादुत्तरपदत्वम्, ततश्चोत्तरपदस्यान्तो नकार इति णत्वविकल्पो भवति । अयुवपक्वाह्न इति किम् ? आर्ययूना, क्षत्रिययूना; प्रपक्वानि, परिपक्वानि; प्रपक्वेन परिपक्वेन; प्रपक्वानाम्, परिपक्वानाम्; दीर्घाह्नी शरत्, दीर्घाह्ना निदाघेन, त्र्यह्नि, चतुरहनि ''संख्या-साय-वेरह्नस्याह्न ङौ वा'' (1. 4. 50.)

इति अह्नस्याह्नादेशः । अलचटतवर्गशसान्तर इत्येव—गर्दभवाहिनौ, गर्दभवाहिनः ।।75।।

न्या०स०—वोत्तर० । प्राप्ताप्राप्तविभाषेयम्, तथाहि—लिखितेषु प्रयोगेषु ❉ गतिकारक ❉ इति न्यायात् स्याद्युत्पत्तेः प्रागेव समास इत्येकपदत्वात् प्राप्ते; व्याघ्रीवत् पामा येषां तानि व्याघ्रीपामाणि, व्याघ्रीपामानि वेत्यादिषु त्वदर्शितेष्वप्राप्ते; पाणिनिस्तु अप्राप्ते विभाषां मन्यते, मन्मतेऽपि वापोऽस्त्यनयोः—वापिनौ, व्रीहीणां वापिनाविति यदा क्रियते तदा प्राप्ते, व्यक्तिविवक्षायाम् ``अजातेः शीले'' (5. 1. 154.), साध्वर्थविवक्षायां ``साधौ'' (5. 1. 155.), भृशाभीक्ष्ण्यार्थविवक्षायां ``भृशाभीक्ष्ण्ये०'' (7. 4. 73.) णिन् । *अत्रोत्तरपदस्यान्तोऽनकारो न भवती*ति-किन्तु ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति न्यायेन गर्गभग इत्येवं समुदायस्य । गर्दभं वहत इत्येवंशीलौ, गर्दभवद् वहत इति वा ``कर्तुर्णिन्'' (5. 1. 153.) ।।2. 3. 75.।।

कवर्गैकस्वरवति ।। 2. 3. 76. ।।

पूर्वपदस्थाद् रषृवर्णात् परस्य कवर्गवति एकस्वरवति चार्थादुत्तरपदे सति उत्तरपदान्तस्य तथा नागमस्य स्यादेश्च नकारस्य णो भवति, न चेत् स नकारः पक्वशब्दसंबन्धी भवति । स्वर्गकामिणौ, मोक्षकामिणौ; स्वर्गगामिणौ, वृषगामिणौ; स्वर्गगामिणी, वृषगामिणी; स्वर्गकामाणि, मोक्षकामाणि कुलानि; उरःकेण, उर) (केण; गुरुमुखेण, ऋषिमुखेण; क्षीरमेघाणाम्, पुष्पमेघाणाम् । एकस्वर-ब्रह्महणौ, वृत्रहणौ; क्षीरपाणि, यूषपाणि; क्षीरपेण, यूषपेण; उरःपेण, उर ⌣⌢ पेण; क्षीरपाणाम्, यूषपाणाम् । पुरोगान् परममृगानित्यत्र तु अनन्त्यस्येत्यधिकाराद् न भवति । अपक्वस्येत्येवक्षीरपक्वानि, यूषपक्वानि, क्षीरपक्वेन, यूषपक्वेन, क्षीरपक्वानाम्, यूषपक्वानाम्, अलचटतवर्गशसान्तर इत्येव—माषत्यागिनः, द्रव्यत्यागेन, माषजानि, माषजेन । नित्यार्थं वचनम् ।।76।।

न्या०स०—कवर्गैक० । *न चेदि*ति-सत्यपि त्रितयानुवर्तने प्रतिषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् कवर्गवत्त्वात् पक्वशब्दस्यैव प्रतिषेध इति । *स्वर्गकामिणावि*ति-सुखेन पुण्यकर्मभिरर्ज्यत इति घञि न्यङ्क्वादित्वाद् गे तं कामयेते इत्येवंशीलौ । *मोक्षकामिणावि*ति-मुच्यन्ते प्राणिनः कर्ममलकलङ्केनात्रेति ``मावावद्यमि०'' (उणा० 564.) इति से । *माषजानि* माषेषु जातानि ``सप्तम्या डः'' (5. 1. 169.) न तु मासाज्जातानि जातित्वात् । *नित्यार्थमि*ति-अयमर्थः ❉ गतिकारक० ❉ इति न्यायेन निमित्त-निमित्तिनोरेकपदस्थत्वात् ``रषुवर्णात्०'' (2. 3. 63.) इति नित्यं प्राप्तं ``वोत्तर०'' (2. 3. 75.) इति विकल्पितं पुनरनेन नित्यं विधीयत इत्यर्थः ।।2. 3. 76.।।

अदुरुपसर्गान्तरो ण-हिनु-मीनाऽऽनेः ॥ 2. 3. 77. ॥

दुर्वर्जोपसर्गस्थादन्तःशब्दस्थाच्च रषृवर्णात् परस्य णकार-हिनु-मीना-आनिसंबन्धिनो नकारस्य णो भवति, णेति णोपदेशा धातवो गृह्यन्ते, उपसर्गाण्णत्वविधानात् । प्रणमति, परिणमति; प्रणयति, परिणयति; प्रणामकः, परिणामकः; प्रणायकः, परिणायकः; अन्तर्–अन्तर्णयति, अन्तर्णायकः; हिनु-प्रहिणोति, प्रहिणुतः; मीना-प्रमीणाति, प्रमीणीतः; हिनुमीनाग्रहणे विकृतस्यापि भवति, एकदेशे विकृतस्यानन्यत्वात्; आनि-प्रयाणि, प्रवयाणि प्रापयाणि । आनीत्यर्थवत एव ग्रहणादनर्थकस्य न भवति-प्रवृद्धा वपा येषां तानि प्रवपानि मांसानि । अदुरिति किम् ? दुर्नयः, दुर्नीतम् । उपसर्गान्तरिति किम् ? प्रातर्नयति, पुनर्नयति । ❈ येन धातुना युक्ताः प्रादयस्तमेव प्रत्युपसर्गसंज्ञा भवन्ति ❈ इतीह न भवति-प्रगता नायका यस्मात् प्रणायको देश इति । राण-हिनु-मीना-ऽऽनेरिति किम् ? प्रनृत्यति, अणोपदेशत्वात् णत्वं न भवति । अलचटतवर्गशसान्तर इत्येव–प्रतिनमति, प्रददानि । परिनदनमित्यत्र तु क्षुभ्नादित्वात् न भवति ॥77॥

न्या०स०–अदुरुप० । हिनु-मीना-ऽऽनिग्रहणात् समास्सयासम्भवात् पूर्वपदस्थादित्यस्य निवृत्तावविशेषेणोपसर्गाण्णत्वविधिः । *हिनु-मीनाग्रहणे* इति-अथ 'प्रहिणोति प्रमीणीते' इत्यत्र गुणे इकारे च कृते हिनु-मीनेत्येतद्रूपविरहात् ''स्थानीवा०'' (7. 4. 109.) इत्यस्याप्यसद्विधौ स्वरस्य स्थानिवद्भावप्रतिषेधात् कथं णत्वमित्याह-*विकृतस्यापीति* । *प्रवपानि मांसानी*ति-उप्यत इति वपा भिदाद्यङ् । *आनीत्यर्थवत* इति–❈ येन धातुना युक्त० ❈ इति न्यायो धातोर्ज्ञातव्यो न नाम्न इति नाम्न उपसर्गत्वं भवत्येव, प्रवपानीति समुदायस्यार्थवत्त्वादानीत्यस्य पृथगर्थाभावादनर्थकत्वम्, उपसर्गत्वाभावाद् वा, अत एव प्रवृद्धा इति विग्रहो वृत्तौ दर्शितः, नह्यत्रानिना सहोपसर्गयोगः । यद्येवं प्रयाणीत्यत्रापि न प्राप्नोति, नह्यत्रापि आनि प्रति उपसर्गयोगः, किन्तु धातुं प्रति, नैवम्–योगस्यार्थद्वारकत्वात् तत्र प्रयोगविषयस्यैव धातोराश्रयणात् तस्य च न क्वचिदसंपृष्टस्य भावात् समुदायस्थस्यैवाश्रितत्वादित्यानिशब्दान्तं समुदायं प्रति य उपसर्गस्तस्मात् । परस्य समुदायस्य य आनितस्तस्य णत्वमिति सूत्रार्थसंप्रत्ययाददोषः । एवं णकारेऽपि द्रष्टव्यम्, अन्यथा णकारमात्रं प्रत्युपसर्गत्वाभावाण्णत्वासिद्धिः स्यादिति ॥2. 3. 77.॥

नशः शः ॥ 2. 3. 78. ॥

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य नशेः शकारान्तस्य संबन्धिनो नकारस्य णो भवति । प्रणश्यति, परिणश्यति; प्रणाशः, परिणाशः; अन्तर्णश्यति । श इति किम् ? प्रनष्टः,

परिनष्टः; प्रनङ्क्ष्यति; परिनङ्क्ष्यति । नशेरणोपदेशात् पूर्वेणासिद्धे विध्यर्थमिदम् ।।78।।

न्या०स०—नशः शः । प्रनष्ट इति-अत्र ``नशो धुटि'' (4. .4 109.) इति नागमस्य ``नो व्यञ्जनस्य०'' (4. 2. 45.) इति लुक् । *पुनङ्क्ष्यती*त्यादि-अत्र परेऽसदित्यन्तरङ्गत्वात् पूर्वं कृतमपि णत्वं षत्वादावसत्त्वात् षत्वे कृतेऽप्येकदेशविकृस्यानन्यत्वात् प्राप्तमपि श इति वचनात् साक्षाच्छकारान्तत्वाभावान्निवर्त्यते । *नशेरणोपदेश* इति—अस्माकं मतेऽयमणोपदेश इत्यर्थः, कलापके तु णोपदेशः ।।2. 3. 78.।।

नेर्ङ्मा-दा-पत-पद-नद-गद-वपी-वही-शमू-चिग्-याति-वाति-द्राति-प्साति-स्यति हन्ति-देग्धौ ।। 2. 3. 79. ।।

अदुरुपसर्गा-ऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्योपसर्गस्य नेर्नकारस्य माङादिषु धातुषु परेषु णो भवति । ङकारोपलक्षितो मा माङ्, तेन माङ्मेङोर्ग्रहणम्, न माति-मीनाति-मिनोतीनाम् । प्रणिमिमीते, परिणिमिमीते; प्रणिमयते, परिणिमयते । ङकारनिर्देशश्च नानुबन्धार्थः, किन्तु मात्यादिनिवृत्त्यर्थः, तेन यङ्लुप्यप्युदाहरिष्यते । दा इति संज्ञापरिग्रहात् ददाति-दयति-यच्छति-द्यति-दधाति-धयतीनां ग्रहणम्-प्रणिददाति, परिणिददाति; प्रणिदयते, परिणिदयते; प्रणियच्छति, परिणियच्छति; प्रणिद्यति, परिणिद्यति; प्रणिदधाति, परिणिदधाति; प्रणिधयति, परिणिधयति; पत—प्रणिपतति, परिणिपतति; पद—प्रणिपद्यते परिणिपद्यते; नद—प्रणिनदति, परिणिनदति; गद—प्रणिगदति, परिणिगदति; वपी—प्रणिवपति, परिणिवपति; वहीप्रणिवहति, परिणिवहति; शमू-प्रणिशाम्यति; परिणिशाम्यति; चिग् प्रणिचिनोति, परिणिचिनोति; याति प्रणियाति, परिणियाति; वाति प्रणिवाति, परिणिवाति; द्राति—प्रणिद्राति, परिणिद्राति; प्साति-प्रणिप्साति, परिणिप्साति; स्यति-प्रणिस्यति, परिणिस्यति; हन्ति प्रणिहन्ति, परिणिहन्ति; देग्धि-प्रणिदेग्धि, परिणिदेग्धि; तृचि-प्रणिमाता, प्रणिदातेत्यादि; अन्तरः खल्वपि-अन्तर्णिमिमीते, अन्तर्णिदेग्धि ।

अडागमस्य धात्ववयवत्वेन व्यवधायकत्वाभावात् प्रण्यमिमीतेत्यादावपि भवति, प्रण्यास्यतीत्यादौ तु आङा व्यवधानेऽपि प्रतिषेधाभावाद् भवति अदुरित्येव-दुर्निमाता । उपसर्गान्तर इत्येव—प्रातर्निमिमीते । वप्यादीनामनुबन्धेन तिवा च निर्देशो यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः, तेन 'प्रनिवावपीति' इत्यादौ न भवति, पूर्वेषु तु भवति—प्रणिमामाति, प्रणिमामेतीत्यादि । ङ्मादिष्विति किम् ? प्रनिमाति, प्रनिमीनाति; प्रनिमिनोति, प्रनिदायन्ते व्रीह्यः; प्रनिदायन्ते पात्राणि ।।79।।

न्या०स०—नेर्ङ्मादा० । *न मातीत्यादि*—ननु मिनोतिमीनात्योर्मारूपाभावाद् ग्रहणाशङ्कापि कुतः ? उच्यते—``मिग्मीगोऽखलचलि'' (4. 2. 8.) इत्यनेनात्वविधानात् । *नानुबन्धार्थ इति*—यया रीत्या धातुपाठे माङित्यपाठि तया रीत्या यदि सूत्रेऽपि क्रियेत तदाऽनुबन्धनार्थः स्यात्, अत्र तु विशेषणं—ङकारेण उपलक्षितो मा—इति । ननु ``सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य'' (7. 4. 105.) तच्चानन्तरस्य न व्यवहितस्येति न्यायात् प्रण्यास्यतीत्यादौ आङा व्यवधाने न प्राप्नोतीत्याह—*आङा व्यवधानेऽपी*ति—अयमर्थः—``पदेऽन्तरे०'' (2. 3. 93.) इति णत्वनिषेधकसूत्रे आङो वर्जनात् आढा व्यवधानेऽपि भवति ।।2. 3. 79.।।

अक खाद्यषान्ते पाठे वा ।। 2. 3. 80. ।।

पाठे-धातूपदेशे ककार-खकारादिः षकारान्तश्च यो धातुस्ताभ्यामन्यस्मिन् धातौ परेऽदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य नेर्नकारस्यणो वा भवति । प्रणिपचति, प्रनिपचति; परिणिपचति, परिनिपचति; प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति; परिणिभिनत्ति, परिनिभिनत्ति; प्रणिपापच्यते, प्रनिपापच्यते; प्रणिपापचीति, प्रनिपापचीति; प्रणिपिपक्षति, प्रनिपिपक्षति; प्रण्यपीपचत्, प्रन्यपीपचत्; प्रणिष्टभ्नाति, प्रनिष्टभ्नाति; स्तम्भेः सौत्रेषु पाठात् पाठविषयत्वम् । पूर्वसूत्रारम्भसामर्थ्यात् पूर्वसूत्रविभक्तोऽस्य विषयः, तेन 'प्रणिमयते, प्रणिदयते' इत्यादौ पूर्वेण नित्यमेव णत्वम् । अक-खादीति किम् ? प्रनिकरोति, प्रनिकिरति, प्रनिखनति; प्रनिखादति । अषान्त इति किम् ? प्रनिद्वेष्टि, प्रनिपिनष्टि । पाठ इति किम् ? इह च प्रतिषेधो यथा स्यात्-प्रनिचकार, प्रनिचखाद, प्रनिपेक्ष्यति । इह च मा भूत्-प्रणिवेष्टा, प्रनिवेष्टा; प्रणिदेष्टा, प्रनिदेष्टा; यङ्लुपि नेच्छन्त्येके प्रनिपापचीति, प्रनिसासत्ति इत्यादि ।।80।।

न्या०स०—अकखा० । अत्राकखादिषान्त इति सिद्धे नञ्द्वयं सुखार्थम्, नञ्द्वये हि सति कखादेः षान्तस्य च वर्जनं प्रतीयते, एकस्मिंस्तु कखादेः किंविशिष्टस्य षान्तस्येति प्रतीतिः स्यात्; असंभवान्न भविष्यतीति न च वाच्यम्, ``कषशिष'' इत्यादावेवंविधस्यापि दर्शनात् । *सौत्रेषु पाठादि*ति—ननु स्तम्भेर्धातुष्वपाठात् कथं पाठविषयत्वम् ? उच्यते—सौत्राणां सूत्रमेव धातूपदेशः । *प्रनिवेष्टे*ति—``विशंत् प्रवेशने'' इत्यस्य रूपम् ।।2. 3. 80.।।

द्वित्वेऽप्यन्तेऽप्यनितेः परेस्तु वा ।। 2. 3. 81. ।।

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्यानितेर्नकारस्य द्वित्वे चाद्वित्वे चान्ते चानन्ते च वर्तमानस्य णो भवति, परिपूर्वकस्य तु वा भवति । द्वित्वे-प्राणिणिषति, प्राणिणत्; अद्वित्वे-प्राणिति, पराणिति; अन्ते-हे प्राण् !, हे पराण् !; परेस्तु वा, द्वित्वे-पर्यणिणिषति, पर्यनिनिषति;

पर्याणिणत्, पर्यानिनत्; अद्वित्वे-पर्यणिति, पर्यनिति; अन्ते हे पर्यण्, हे पर्यन्; परिपूर्वकस्य द्वित्वे अन्ते च नित्यं णत्वमिच्छन्त्येके, अन्ये तु अन्तेऽनन्ते च नेच्छन्त्येव; ये तु द्वित्वे कृतेऽपि पुनर्द्वित्व-मिच्छन्ति तन्मतेऽपि 'द्वित्वे' इति वचनात् द्वयोरेवाद्ययोर्णत्वं भवति, न तु तृतीयस्य–प्राणिणिषयतेर्डे प्राणिणिनिषत् । अनन्त्यस्येत्यधिकारात् अन्ते न प्राप्नोतीति अन्तवचनम् । अनितीति तिवा निर्देशो दैवादिकनिवृत्त्यर्थः, न तु यङ्लुप्निवृत्त्यर्थः, यङोऽसंभ-वात् ॥81॥

*न्या०स०–द्वित्वेऽप्यन्ते० । प्राणिणिषतीत्या*दौ द्वयोरप्यननेनैव णत्वं द्वित्व इति वचनात् । '*प्राणिणिषति*' इत्यत्र परे द्वित्वे कर्त्तव्ये णषशास्त्रमसद् द्रष्टव्यमिति न्यायाद् द्वित्वे कृते णत्वम् । *हे प्राण् !* अन्ते ``नामन्त्र्ये'' (2. 1. 92.) इति नलोपनिषेधात् नान्तत्वं संभवतीत्यामन्त्र्ये दर्शितम् । ननु द्वित्वेऽपि *कृतेऽन्तेऽपी*ति वचनादन्तेऽपि शब्दादनन्तेऽपि भविष्यति, किं *द्वित्वेऽपी*त्यनेन ? नैवम्-द्वित्वेऽपीत्यस्याभावे प्राणिणिषतीत्यत्र प्रथमनकारेऽन्तेऽपीत्यस्य चरितार्थत्वाद् द्वितीयनकारस्य णत्वं न स्यात् टवर्गेण व्यवधानात्, *अन्तेऽपी*त्यत्रापिशब्दाभावे द्वित्वेऽप्यन्त एव स्यादिति, न तु प्राणिणिषतीत्याद्यनन्तेऽपि । ननु द्वित्वे सति अन्तस्थो नकारः क्व सम्भवति ? उच्यते-प्राणितेः सनि प्राणिणिषन्तं प्रयुङ्क्ते णिगि अल्लोपे क्विपि प्राणिणिषमाचष्टे णिजि पुनः ``त्र्यन्त्यस्वरादेः'' (7. 4. 43.) इत्यनेन इसिति लोपे क्विपि हे प्राणिण् ! इत्यादौ आमन्त्र्यत्वाच्च नलोपाभावः ॥2. 3. 81.॥

हनः ॥ 2. 3. 82. ॥

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य हन्तेर्नकारस्य णो भवति । प्रहण्यते, पराहण्यते, निर्हण्यते, अन्तर्हण्यते, प्रहणनम्, पराहणनम्, निर्हणनम्, परिहणनम्; अन्तर्हणनम् । प्रघ्नन्ति, प्राघानीत्यादौ ``हनो घि'' (2. 3. 94.) इति प्रतिषेधान्न भवति । अदुरित्येव–दुर्हनः ॥82॥

*न्या०स०–हनः० । प्रघ्नन्तीत्या*दौ हन् इत्युच्यमानेऽप्येकदेशविकृतस्यानन्यत्वाण्णत्वं प्राप्नोतीत्याह–हनो घीति ॥2. 3. 82.॥

व-मि वा ॥ 2. 3. 83. ॥

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य हन्तेर्नकारस्य वकारे मकारे च परे णो भवति । प्रहण्वः, प्रहन्वः; प्रहण्मः, प्रहन्मः; प्रहण्मि, प्रहन्मि; प्राहण्वहे, प्राहन्वहे, प्राहण्महे, प्राहन्महे; अन्तर्हण्वः अन्तर्हन्वः; अन्तर्हण्मः; अन्तर्हन्मः ॥83॥

न्या०स०—वमि वा । पूर्वेण नित्यं प्राप्ते विकल्पार्थम् । 'प्राहण्वहे' इत्यत्र ''आङो यम-हनः०'' (3. 3. 86.) इत्यात्मनेपदम् ।।2. 3. 83. ।।

निंस-निक्ष-निन्दः कृति वा ।। 2. 3. 84. ।।

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य निंसादीनां धातूनां नकारस्य कृत्प्रत्यये परे णो वा भवति । प्रणिंसनम्, प्रनिंसनम्; प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम्; प्रणिन्दनम्, प्रनिन्दनम् । कृतीति किम् ? प्रणिंस्ते, परिणिंस्ते; प्रणिक्षति, परिणिक्षति; प्रणिन्दति, परिणिन्दति; णोपदेशत्वान्नित्यं भवति ।।84।।

न्या०स०—निंस-निक्ष० । *नित्यं भवतीति*—''अदुरुपसर्ग०'' (2. 3. 77.) इत्यनेनेति शेषः । *णोपदेशत्वात्* ''अदुरुपसर्ग०'' (2. 3. 77.) इत्यनेन, ❈ गतिकारकङस्युक्तानां० ❈ इति न्यायादविभक्त्यन्तैः कृदन्तैः सह प्रादीनां समासे सति निमित्त-निमित्तिनोरेकपदस्थत्वात् ''रपृवर्णा०'' (2. 3. 63.) इत्यनेन वा नित्यं णत्वे प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् ।।2. 3. 84.।।

स्वरात् ।। 2. 3. 85. ।।

अदुरुपसर्गाऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य कृद्विषयस्य नकारस्य स्वरादुत्तरस्य णो भवति । प्रहाणः, प्रहाणवान्; प्रहीणः, प्रहीणवान्; परिहीणः, परिहीणवान्; प्रगूणः, प्रगुणवान्; प्रयाणम्, परियाणम्; प्रवपणम्, परिवपणम्; प्रयायमाणम्, परियायमाणम्; प्रयायिणौ, परियायिणौ; अप्रयाणिः, अपरियाणिः; प्रयाणीयम्, परियाणीयम्; प्रवहणीयम्, परिवहणीयम्; यथासंभवं 'क्त क्तवतु अन आन इन् अनि अनीय' इत्येते प्रत्ययाः प्रयोजयन्ति । स्वरादिति किम् ? प्रभुग्नः, प्रभुग्नवान् । अदुरित्येवदुर्यानः पन्थाः । कृतीत्येव—प्रवापेन । अलचटतवर्गश-सान्तर इत्येव प्रक्लृप्यमानम्, परिक्लृप्यमानम्; प्रेण्वनम्, प्रेन्वनम्; प्रदानम्, प्रधानम् ।।85।।

न्या०स०—स्वरात् । ❈ गतिकारक० ❈ इति न्यायात् ''रषृवर्णा०'' (2. 3. 63.) इति सिद्धमेव, किन्तु *प्रयायिणौ परियायिणावित्यत्र* ''वोत्तर०'' (2. 3. 75.) इति वा णत्वं स्यात् तन्निवृत्त्यर्थमिदमारभ्यते । *कृद्विषयस्येति*—कृतीति विषयसप्तमीयं, न निमित्तसप्तमी, तस्यां हि स्वरात् परस्य धातोर्नस्य कृति निमित्ते णत्वमिति सूत्रार्थः स्यात्, न चैतत्, असंभवात्, नहि ख्यादीनां कृति निमित्तभूते स्वरात् परो धातुनकारोऽस्ति, येन प्राप्तौ प्रतिषेधोऽर्थवान् स्यादिति स्वरादिति कृन्नकारस्य विशेषणम्, न ''अदुरुपसर्गान्तर०'' (2. 3. 77.) इत्यस्य,

धातोर्वा, ``देशेऽन्तरो यम-हनः'' (2. 3. 91.) इति प्रतिषेधाद् अनेन हि प्राप्तस्य स प्रतिषेधः । न चान्तःशब्दो धातुर्वा स्वरान्तो येन प्रतिषेधोऽर्थवान् स्यादिति, क्विश्चोपसर्गविशेषणे प्रभुग्न इत्यत्रापि स्यात् । कृद्विशेषणमपि न, तस्मिन्नपि कृते कृतो यः स्वरस्ततः परस्य नकारस्येति स्थिते प्रयाणीयमित्यादौ प्राप्तिः, प्रहीण इत्यादौ न स्यादिति । *प्रक्लृप्यमानमिति*-वर्णैकदेशस्य वर्णग्रहणेन ग्रहणात् समुदायव्यापारे चावयवस्य लकारस्याप्युच्चारणमित्यलचटेति प्रवर्तत एव, यत लृकारस्य मध्येऽर्धमात्रो लकारोऽग्रे, पश्चाच्च तुरीयः स्वरभागोऽस्ति ॥2. 3. 85.॥

नाम्यादेरेव ने ॥ 2. 3. 86. ॥

अदुरुपसर्गा ऽन्तः शब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य नागमे सति नाम्यादेरेव धातोः परस्य स्वरादुत्तरस्य कृद्विषयस्य नकारस्य णो भवति । प्रेङ्खणम्, प्रेङ्गणम्; प्रेङ्खमाणः, प्रेङ्गमाणः; अत्र शानः, प्रेङ्खिणौ, प्रेङ्गिणौ; अप्रेङ्खणिः, अप्रेङ्गणिः; प्रेङ्खणीयम्, प्रेङ्गणीयम् । नाम्यादेरिति किम् ? प्रमङ्गनम्, प्रकम्पनम् । एवकार इष्टावधारणार्थः, न एव सति नाम्यादेरिति हि नियमे इह णो न स्यात्-प्रेहणम्, प्रोहणम्; पूर्वेण सिद्धे नियमार्थं वचनम् । नग्रहणं नागमादेशोपलक्षणार्थम् । नकारस्य व्यवधाने हि प्राप्तिरेव नास्तिप्रेण्वनम् । व्यञ्जनान्तादेवायं नियमः, ण्यन्तात् तु ``णेर्वा'' (2. 3. 88.) इति परत्वात् विकल्प एव-प्रमङ्गणा, प्रमङ्गना ॥86॥

न्या०स०—नाम्यादेरे० । *प्रेङ्खण*मित्यादौ ``कवर्गैक०'' (2. 3. 76.) इति नागमस्य न णत्वं ``म्नां०'' (1. 3. 39.) इति बहुवचनेन बाधितत्वात् । *परत्वाद् विकल्प* इति प्रेङ्खणमित्यादौ ``नाम्यादे०'' (2. 3. 86.) इत्यस्यावकाशः, प्रयापणेत्यादौ ``णेर्वा'' (2. 3. 88.) इत्यस्य, 'प्रेङ्खणा, प्रेङ्खना' इत्यादौ तूभयप्राप्तौ परत्वाद् विकल्प एव, अत एव प्रमङ्गणमित्यादौ नियमाप्रवृत्तिः ॥2. 3. 86.॥

व्यञ्जनादेर्नाम्युपान्त्याद् वा ॥ 2. 3. 87. ॥

अदुरुपसर्गा ऽन्तःशब्दस्थाद् रषृवर्णात् परो यो व्यञ्जनादिर्नाम्युपान्त्यो धातुस्ततः परस्य कृद्विषयस्य स्वरादुत्तरनकारस्य णो वा भवति । प्रमेहणम्, प्रमेहनम्; प्रकोपणम्, प्रकोपनम्; प्रगुप्यमाणम्, प्रगुप्यमानम्; प्रकोपिणौ, प्रकोपिनौ; अप्रकोपणिः, अप्रकोपनिः; प्रकोपणीयम्, प्रकोपनीयम् । व्यञ्जनादेरिति किम् ? प्रेहणम्, प्रोहणम् । नाम्युपान्त्यादिति किम् ? प्रवपणम्, प्रवहणम् । स्वरादित्येव-प्रभुग्नः, परिभुग्नः । अदुरित्येव—दुर्मोहनः, दुर्गुहनः । अलचटतवर्गश-सान्तर इत्येव-प्रभेदनम्; प्रभोजनम् । ``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इत्यनेन नित्यं प्राप्ते विभाषे-यम् ॥87॥

न्या०स०—व्यञ्जनादे० । *दुर्मोहन* इति-दुर्मुह्यतेऽनेनास्मिन् वा ``करणाधारे'' (5. 3. 129.) अनट्, दुर्मुह्यतीति नन्द्यादिभ्यो वा । *दुर्गूहन* इत्यत्र ``गोह: स्वरे'' (4. 2. 42.) ऊत् ॥2. 3. 87.॥

णेर्वा ॥ 2. 3. 88. ॥

अदुरुपसर्गा ऽन्त:शब्दस्थाद् रषृवर्णात् परस्य ण्यन्ताद् धातोर्विहितस्य स्वरादुत्तरस्य कृद्विषयस्य नकारस्य णो वा भवति । प्रमङ्गणा, प्रमङ्गना; प्रयापणम्, प्रयापनम् प्रयापिणौ, प्रयापिनौ; अप्रयापणि:, अप्रयापनि:; प्रयापणीयम्, प्रयापनीयम् । विहितविशेषणं किम् ? प्रयाप्यमाण:, प्रयाप्यमान इति क्येन व्यवधानेऽपि यथा स्यात् । अलचटतवर्गशसान्तर इत्येव प्रदापनम्, प्रतियापनम् । अनाम्यादिभ्यो धातुभ्यो नागमे सति ``नाम्यादेरेव ने'' (2. 3. 86.) इति नियमेनाऽप्राप्ते, शेषेभ्यस्तु ``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इत्यनेन नित्यं प्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् ॥88॥

न्या०स०—णेर्वा । *शेषेभ्यस्त्वि*ति-नागमरहितेभ्य: ॥2. 3. 88.॥

निर्विण्ण: ॥ 2. 3. 89. ॥

निर्पूर्वाद् विदे: सत्ता-लाभ-विचारार्थात् परस्य क्तनकारस्य णत्वं निपात्यते । निर्विण्ण: प्राव्राजीत् । कश्चित् तु वेत्तेरपीच्छति—निर्विण्णवानिति च ॥89॥

न्या०स०—निर्विण्ण: । *सत्ते*त्यादि-एते त्रयोऽपि धातूनामनेकार्थत्वाद् वैराग्ये वर्तन्ते । *निर्विण्ण* इति—``विदक् ज्ञाने'' इत्यस्य सेट्त्वान्न । ❊ गतिकारक० ❊ इति न्यायात् ``रषृवर्णा०'' (2. 3. 63.) इति सिद्धमेव, किमनेन ? सत्यम्—अलचटेति व्यावृत्त्याऽप्राप्तौ क्तनकारस्य णत्वं निपात्यते, धातुनकारस्य तु ``तवर्गस्य०'' (1. 3. 60.) इति, ``रषृवर्णा०'' (2. 3. 63.) इत्यनेन वा सिद्धमेव ॥2. 3. 89.॥

न ख्या-पूग्-भू-भा-कम-गम-प्याय-वेपो णेश्च ॥ 2. 3. 90. ॥

अदुरुपसर्गा ऽन्त:शब्दस्थाद् रषृवर्णात् परे ये ख्यादयोऽण्यन्ता ण्यन्ताश्च धातवस्तेभ्य: परस्य कृद्विषयस्य नकारस्य णो न भवति । प्रख्यानम्, प्रख्यायमानम्, प्रख्यायिनौ, अप्रख्यानि:, प्रख्यानीयम् पूग्-प्रपवनम्, प्रपूयमानम्, प्रपाविनौ, अप्रपवनि:, प्रपवनीयम्; भू-प्रभवनम्, प्रभूयमानम्, प्रभाविनौ, अप्रभवनि:, प्रभवनीयम्; भा-प्रभानम्, प्रभायमानम्, प्रभायिनौ, अप्रभानि:, प्रभानीयम्; कम्-प्रकमनम्, प्रकम्यमानम्, प्रकामिनौ, अप्रकमनि:, प्रकमनीयम्

गम्–प्रगमनम्, प्रगम्यमानम्, प्रगामिनौ, अप्रगमनिः, प्रगमनीयम्; प्याय्प्रप्यानः, प्रप्यानवान्, प्रप्यायनम्, प्रप्यायमानम्, प्रप्यायिनौ, अप्रप्यायनिः, प्रप्यायनीयम्; वेप्-प्रवेपनम्, प्रवेपमानम्, प्रवेपिनौ, अप्रवेपनिः, प्रवेपनीयम् ण्यन्तेभ्योऽपि प्रख्यापनम्, प्रपावनम्, प्रभावना, प्रभापनम्, प्रभापना, प्रकामना, प्रगमना, प्रप्यायना, प्रवेपनम्; अण्यन्तेभ्यो नित्यं वेपो ण्यन्तेभ्यश्च विकल्पेन प्राप्ते प्रतिषेधः । पूगो गकारः किम् ? पवतेर्निवृत्त्यर्थः, तेन प्रपवणम्, प्रपूयमाणम्, इत्यादि । ख्यातेर्णत्वमिति कश्चित्-प्रख्याणम्, प्रख्यायमाणम् ।।90।।

न्या०स०–न ख्या-पूग्० । ख्या इति निरनुबन्धोपादानं ख्यादेशस्य ``ख्यांक् प्रकथने'' इत्यस्य च परिग्रहार्थम् । *नित्यमि*ति–``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इत्यनेन । *वेपो विकल्पेने*ति–``व्यञ्जनादेर्नाम्युपा०'' (2. 3. 87.) इत्यनेन । *ण्यन्तेभ्यश्चे*ति–``णेर्वा'' (2. 3. 87.) इत्यनेन ।।2. 3. 90.।।

देशेऽन्तरोऽयन-हनः ।। 2. 3. 91. ।।

अन्तःशब्दात् परस्यायनशब्दस्य हन्तेश्च संबन्धिनो नकारस्य देशेऽभिधेये णो न भवति । अन्तरय्यतेऽस्मिन्निति–अन्तरयनो देशः, एवमन्तर्हननो देशः । देश इति किम् ? अन्तरयणं वर्तते, अन्तर्हणनम्, अन्तर्हण्यते । अन्तर्घणो देश इति तु निपातनात् । अन्तर इति किम् ? प्रायणो देशः, प्रहणनो देशः । अयन-हन इति किम् ? अन्तर्णमनो देशः ।।91।।

न्या०स०–देशेऽन्तरो० । ``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इति ``हनः'' (2. 3. 82.) इति च यथासंख्यं प्राप्ते प्रतिषेधः । *अन्तर्घण* इति–``हनोऽन्तर्घनान्त०'' (5. 3. 34.) इत्यलन्तो निपात्यते, वाहीकेषु देशविशेषस्येयं संज्ञा । *प्रायणो देश* इति–इं दुं, इण्क् वा, प्रेयतेऽस्मिन्निति अनटि ``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इति णत्वे, अयतौ तु ``उपसर्गस्यायौ'' (2. 3. 100.) इति लत्वं स्यात् ।।2. 3. 91.।।

षात् पदे ।। 2. 3. 92. ।।

पदे परतो यः षकारस्तस्मान्निमित्तात् परस्य नकारस्य णो न भवति । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम्, दुष्पानम्; अत्र ``पानस्य भाव-करणे'' (2. 3. 69.) इति, निष्पानमिति ``स्वरात्'' (2. 3. 85.) इति, निष्पायनमिति ``णेर्वा'' (2. 3. 88.) इति प्राप्ते प्रतिषेधः । षादिति किम् ? निर्णयः, निर्याणम् । पद इति किम् ? पुष्णाति, सर्पिष्केण ।।92।।

*न्या०स०–षात् पदे । सर्पिष्पानमि*ति-नन्वत्र षकाराश्रितं मा भूण्णत्वं, सर्पिस्थरेफाश्रितं कथं नहि ? उच्यते–यत्रोत्पद्यमानस्य णत्वस्य निमित्तद्वयं भवति तत्र प्रत्यासत्त्याऽनन्तरमेव गृह्यते इति । *सर्पिष्केणे*ति-सर्पिः कायतीति सर्पिस् अम् काधातुः अग्रे इति स्थिते क इत्यस्याविभक्त्यन्तत्वात् पदत्वाभाव इति नानेन णत्वप्रतिषेधः । ननूत्तरपदमपि पदमुच्यते यथा ``वेदूतोऽनव्यय०'' (2. 4. 68.) इत्यत्र पदे इत्युक्तेऽपि उत्तरपदे इति वृत्तिकृता व्याख्यानात्, तद्वदिहापि पदे इत्युक्तेऽपि उत्तरपदमपि लप्स्यते, तत् कथं सर्पिष्केणेत्यत्र व्यावृत्तिः ? सत्यम्-❁ नानिष्टार्था शास्त्रप्रवृत्तिः ❁ इति न्यायादेवंविधं व्याख्यानं न सर्वत्रापि युक्तं, किंत्वभिप्रेतसिद्ध्यर्थं क्वचिदेव; यद्वा कुत्सिताद्यर्थे कप् तदा निर्विवादमेव ।।2. 3. 92.।।

पदेऽन्तरेऽनाङ्यतद्धिते ।। 2. 3. 93. ।।

आङन्तं तद्धितान्तं च वर्जयित्वाऽन्यस्मिन् पदे निमित्त-निमित्तिनोरन्तरे व्यवधायके नकारस्य णो न भवति । प्रावनद्धम्, पर्यवनीतम्, माषकुम्भवापेन, व्रीहिकुम्भवापेन, चतुरङ्गयोगेन, भर्तृ बाहुयुग्मेन, रोषभीममुखेन । अत्र यदा माषकुम्भस्य वाप इति, माषाः कुम्भो वापोऽस्येति वा समासस्तदा ``वोत्तरपदान्तनस्यादे०'' (2. 3. 75.) इति विकल्पे प्राप्ते प्रतिषेधः, यदा तु माषस्य कुम्भवाप इति तदा ``कवर्गैकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इति नित्ये प्राप्ते; एवं शेषेष्वपि यथासंभवं वाच्यम् । अन्ये तु माषाणां कुम्भवाप इति व्यवधायकस्योत्तरपदावयवत्वे प्रतिषेधं नेच्छन्ति, तन्मते–माषकुम्भवापेणेत्यादौ नित्यमेव णत्वम् । अपरे तु माषकुम्भस्य वाप इति व्यवधायकस्य पूर्वपदावयवत्वे प्रतिषेधं नेच्छन्ति, तन्मते-माषकुम्भवापेण, माषकुम्भवापेनेत्यादौ विकल्प एव भवति । अनाङीति किम् ? प्राणद्धम्, पर्याणद्धम्; प्रण्यास्यति, प्रण्यापचति । अतद्धित इति किम् ? आर्द्र गोमयेण, शुष्कगोमयेण, परमापूपमयेण, यूषयावकेण ।।63।।

न्या०स०–पदेऽन्तरे । चतुरङ्गयोगेन-अत्र ``कवर्गैक०'' (2. 3. 76.) इति प्राप्तं निषिध्यते । 'माषकुम्भस्य वापः, माषस्य कुम्भवापः' इत्यस्मिंश्च वाक्ये ``वृत्त्यन्तोऽसषे'' (1. 1. 25.) इति पदसंज्ञानिषेधेऽपि भूतपूर्वैकपदत्वमाश्रीयते । *कवर्गैकस्वरवति* इति-कवर्गांशेन विशेषविहितत्वात्, न तु ``वोत्तर०'' (2. 3. 75.) इति विकल्पः । *यूषयावकेणे*ति–यवानां विकारः ``विकारे'' (6. 2. 30.) अण् वृद्धिः, याव एव ``यावादिभ्यः कः'' (7. 3. 15.) यूषेण–मांसमुद्गादिरसेन, मिश्रः, यावकः–अलक्तकः–यूषयावकस्तेन ।।2. 3. 93.।।

हनो घि ।। 2. 3. 94. ।।

हन्तेर्नकारस्य घकारे निमित्त-निमित्तिनोरन्तरे सति णो न भवति । वृत्रघ्ने, वृत्रघ्ना, वृत्रघ्नः; ब्रह्मघ्नः; शत्रुघ्नः । संज्ञायां ``पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः'' (2. 3. 64.) इति, असंज्ञायां तु ``कवर्गैकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इति; प्रघ्नन्ति, प्राघ्नन्, प्राघानि, प्रघानिष्यते इत्यादिषु तु ``हनः'' (2. 3. 82.) इति प्राप्ते प्रतिषेधः । हन इति किम् ? अर्घेण, परिघेण । घीति किम् ? वृत्रहणौ, प्रहणनम् ।।94।।

नृतेर्यङि ।। 2. 3. 95. ।।

नृतेर्धातोर्नकारस्य यङ्विषये णो न भवति । नरीनृत्यते, नरिनर्ति, नर्नर्ति, नरीनृतीति; अत्र ``रषृवर्णात्०'' (2. 3. 63.) इत्यादिना प्राप्तिः । यङीति किम् ? हरिरिव नृत्यतीति हरिणर्ती नाम कश्चित्, ``पूर्वपदस्थान्नाम्न्यगः'' (2. 3. 64.) इति णत्वम् ।।95।।

न्या०स०—नृतेर्यङि । हरिणर्त्तीत्यत्र ``कर्त्तुर्णिन्'' (5. 1. 153.) ।।2. 3. 95.।।

क्षुभ्नादीनाम् ।। 2. 3. 96. ।।

क्षुभ्ना इत्येवमादीनां नकारस्य णो न भवति । क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति, क्षुभ्नन्, क्षुभ्नानः; तृप्नोति, तृप्नुतः, तृप्नुवन्ति, तृप्नुवन्, तृप्नुवानः; आचार्यस्य भार्या-आचार्यानी, आचार्यस्य भोग आचार्यभोगस्तस्मै हित आचार्यभोगीनः; एषु ``रषृवर्णात्'' (2. 3. 63.) इत्यादिना प्राप्ते, सर्वनाम, नृनमनः, परिनृत्तम्, गुरुनृत्तम्, परिनर्तनम्, ग्रामनटः, शरनदः, शरनदी, गिरिनगरम्, परिनिवेशः, श्रीनिवासः, शबराग्निः, दर्भानूपः, हरिनन्दी, हरिनन्दनः, गिरिगहनम्; एषु ``पूर्वपदस्थात्०'' (2. 3. 64.) इत्यादिना प्राप्ते, परिनदनम्-अत्र ``अदुरुपसर्गान्तरो०'' (2. 3. 77.) इत्यादिना प्राप्ते; सुप्रख्येन, अत्र ``कवर्गैकस्वरवति'' (2. 3. 76.) इति प्राप्ते प्रतिषेधः । क्षुभ्ना, तृप्नु, आचार्यानी, आचार्यभोगीन, सर्वनामन्, नृनमन, नृनमेत्येके; नृत्त, नर्तन, नट, नद, नड इत्येके; नदी, नगर, निवेश, निवास, अग्नि, अनूप, नन्दिन्, नन्दन, गहन, नदन; ख्याग् इति क्षुभ्नादिः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।96।।

*न्या०स०—क्षुभ्नादीनाम् । क्षुभ्ने*ति लुप्ततिव्निर्देशेन धातुग्रहणं, न तु यङ्लुप्निवृत्त्यर्थम्, अनुबन्धनिर्देशे हि क्षोभणमित्यत्रापि स्यात्, एवं *तृप्नु* इत्यत्रापि यद्येवं तर्हि *क्षुभ्नीत* इत्यादौ णत्वशास्त्रस्य परेऽसत्त्वादीकारादौ कृते क्षुभ्नेति रूपाभावान्न प्राप्नोति, उच्यते स्वरादेशस्य

स्थानिवद्भावादेकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् वा भविष्यतीत्यदोषः । बहुवचनेन चास्याकृतिगणता द्योत्यते, तेनान्योऽप्यविहितलक्षणो णत्वप्रतिषेधः क्षुभ्नादिषु द्रष्टव्यः, तेन धनदवाचकनरवाहन-शब्दस्य न णत्वम् । *नृनमेत्येक* इति—अविभक्तिको निर्देशः, अकारान्तस्त्वयं ज्ञातव्यः ।।2. 3. 96.।।

पाठे धात्वादेर्णो नः ।। 2. 3. 97. ।।

पाठविषये धात्वादेर्णकारस्य नकार आदेशो भवति । णीग्-नयति, णम्-नमति, णह्-नह्यति । पाठ इति किम् ?, णकारीयति । धात्विति किम् ? णकारः । आदेरिति किम् ? भणति । सर्वे च नादयो णोपदेशाः—नृति, नन्दि, नर्दि, नशि, नाटि, नक्कि, नाधृ, नाथृ, नॄवर्जम् । नाटीति ``नटण् अवस्यन्दने'' इत्यस्य वर्जनम्, भौवादिकस्य तु ``णट नृत्तौ'' इत्यस्य-प्रणटति, प्रणाटयति । णोपदेशश्चैषां ``णहिनुमीनानेः'' इत्यस्य विषयव्यवस्थार्थः ।।97।।

न्या०स०—पाठे धा० । नन्वादिग्रहणं किमर्थं ? तमन्तरेणापि णोपदेशबलान्नत्वं न भविष्यति, अन्यथा भनित्येव पठ्येत, नैवम्—णोपदेशस्य ``अदुरुपसर्गा०'' (2. 3. 77.) इति णत्वे फलमस्ति, तथाहि—उपसर्गपूर्वस्य प्रभणति, अन्यत्र तु भनतीति स्यादित्यादिग्रहणं कर्त्तव्यमेव । *पाठ इति किमि*ति—पाठ इत्यनेन धातूपदेशस्य ग्रहणाण्णकारीयतेरनुपदेशान्नत्वाभावः। अथैते नादय एव पठ्यन्तां, तथा च सति नेदमारब्धव्यं भवतीत्याह—*णोपदेशश्चे*ति, एवमुत्तरत्र षोपदेशेऽपि ।।2. 3. 97.।।

षः सोऽष्ट्यै-ष्ठिव-ष्वष्कः ।। 2. 3. 98. ।।

पाठे धात्वादेः षकारस्य सकार आदेशो भवति, न चेत्षकारः ष्ट्यैष्ठिवष्वष्कसंबन्धी भवति । षहि—सहते । षिच्-सिञ्चति । पाठ इत्येव—षण्ढीयति । धात्वित्येव—षण्ढः । आदेरित्येव लषति । ष्ट्यादिवर्जनं किम् ? ष्ट्यायति, ष्ठिवति, ष्ठिव्यति, ष्वष्कते । स्वर-दन्त्यपरसकारादयः स्मि-स्विदि-स्वदि-स्वञ्जि-स्वपयश्च षोपदेशा, सृपि, सृजि, स्त्या, स्तॄ, स्तृ, सृ, सेकृवर्जम् । षोपदेशश्चैषां षत्वविषयव्यवस्थार्थः ।।98।।

न्या०स०—षः सोऽष्ट्यै० । न च वाच्यमत्राप्यादेरित्यधिकाराभावेऽपि पाठबलादेव लषतीत्यादौ सत्वं न भविष्यति, अन्यथा लस् इति कुर्यात्, यतः षकरणस्यान्यदपि फलमस्ति, यथा कृतत्वात् परोक्षायां षत्वे विलेषुरित्यादि सिद्ध्यति, न—आदिग्रहणाभावे प्रस्तुते लसतीति स्यात् ।।2. 3. 68.।।

ऋ-र लृ-लं कृपोऽकृपीटादिषु ।। 2. 3. 99. ।।

कृपेर्धातोर्ऋकारस्य लृकारो रेफस्य च लकार आदेशो भवति, स चेत् कृपिः कृपीटादिविषयो न भवति । क्लृप्तः, क्लृप्तवान्, क्लृप्यते, चिक्लृप्सति, अचीक्लृपत्, कल्पते, कल्पयति, कल्पिता, कल्प्ता, कल्पकः, कल्पः, चलीक्लृप्यते, चलोकल्प्ति । अकृपीटादिष्विति किम् ? कृपीटम्, कृपणः, कृपाणः; कृपः, कर्पूरः, कर्परः; कर्पटः, कर्पटिः; इत्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।99।।

न्या०स०–ऋर लृलम्० । अथ 'वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते' इत्यस्यापि पक्षस्याश्रितत्वाद् लकार-लृकारयोरेफ-लकारग्रहणेनैव ग्रहणात् किं द्वयोरुपादानेन ? ''कृपे रो लः'' इत्येव क्रियताम्, नैवम्-क्वचिद् वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणमिति ज्ञापनार्थम् । ''दूरादामन्त्र्यस्य०'' (7. 4. 99.) इत्यत्र ऋद्वर्जितस्य स्वरस्य प्लुतत्वं वदन् स्वरद्वारेणैव सिद्धे पुनरपि यत लृकारग्रहणं करोति तदेव बोधयति-ऋत्प्रतिषेधे लृतोऽपि प्रतिषेधप्रसङ्ग इति ❊ ऋकारापदिष्टं कार्यं लृकारस्यापि ❊ इति । अचीक्लृपत् अत्र ''ऋदृवर्णस्य'' (4. 2. 37.) ''ऋतोऽत्'' (4. 1. 38.) अत एव च 'चलीकृप्यते' इत्यादौ 'ऋमतां रीः'' (4. 1. 55.) ''रि-रौ च लुपि'' (4. 1. 56.) इति सिद्धम् ।।2. 3. 99.।।

उपसर्गस्याऽयौ ।। 2. 3. 100. ।।

उपसर्गसंबन्धिनो रेफस्य ''अयि गतौ'' इत्यस्मिन् धातौ परे लकारादेशो भवति । प्लायते, पलायते, पल्ययते, प्लत्ययते; अत्रानेकवर्णव्यवधानान्नेच्छन्त्येके । प्रतिपूर्वस्य प्रयोग एव नास्तीत्यन्ये–निलयनम्, दुलयनम् । कथं निरयते ? दूरयते ? रुत्वस्यासिद्धत्वात् निसो दुसश्च न भवति । उपसर्गस्येति किम् ? परस्यायनं-परायनम् । अयाविति किम् ? ''इंण्क् गतौ'' अल्-प्रायः, परायः । अयीति इकारनिर्देशोऽयि गतावित्यस्य परिग्रहार्थः ।।100।।

*न्या०स०–उपसर्गस्यायौ । दुलयनमि*ति-दुलय्यते निन्दार्थवृत्तित्वात् खलभावेऽनटि सिद्धम् ।।2. 3. 100.।।

ग्रो यङि ।। 2. 3. 101. ।।

यङि प्रत्यये परे गिरते रेफस्य लकारादेशो भवति । गर्हितं निगिरतिनिजेगिल्यते ।

गृणातेस्तु यङेव नास्ति । केचित् तु तस्यापीच्छन्ति, लत्वं तु नेच्छन्ति । यङीति किम् ? निगीर्यते ॥101॥

न्या०स०–ग्रो यङि । निजेगिल्यत इति–अत्र ``भ्वादेः०'' (2. 1. 63.) इत्यस्य परे लत्वेऽसत्त्वम् । *यङेव नास्तीति*-``न गुणा-शुभ-रुचः'' (3. 4. 13.) इति निषेधात् । *तस्यापीच्छन्तीति* तन्मते निजेगीर्यते इति भवति ॥2. 3. 101.॥

नवा स्वरे ॥ 2. 3.102. ॥

गिरते रेफस्य स्वरादौ प्रत्यये विहितस्य लकारो वा भवति । गिलति, गिरति; निगलनम्, निगरणम्; निगालकः, निगारकः । स्वर इति किम् ? निगीर्णः, निगीर्णवान् । विहितविशेषणं किम् ? इह च यथा स्यात्–निगाल्यते, निगार्यते; इह च मा भूत्-गिरौ, गिरः ॥102॥

न्या०स०–नवा स्वरे । निगाल्यत इति–अत्र निपूर्वात् गॄ तो णौ वृद्धौ लकारो णिलोपश्चेत्युभयप्राप्तौ नित्यत्वात् पूर्वं णिलोपः, न च ❁ प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ❁ इति न्यायेन लत्वस्यापि प्राप्तौ तस्यापि नित्यत्वं वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणस्य प्रतिषेधात् ॥2. 3. 102.॥

परेर्घा-ऽङ्क-योगे ॥ 2. 3. 103. ॥

परिसंबन्धिनो रेफस्य 'घ अङ्क योग' इत्येतेषु शब्देषु परेषु लो वा भवति । पलिघः, परिघः; पल्यङ्कः, पर्यङ्कः; पलियोगः, परियोगः ॥103॥

न्या०स०–परेर्घाङ्कयोगे । पल्यङ्क इति-अङ्कयत्यच्, अङ्क परिगतोऽङ्केन वा परिगतः, एवं-परियोगः ॥2. 3. 103.॥

ऋफिडादीनां डश्च लः ॥ 2. 3. 104. ॥

ऋफिड इत्यादीनामृ-रो लृ-लौ डकारस्य च लो भवति वा । लृफिडः, लृफिलः; ऋफिलः, ऋफिडः; लृतकः, ऋतकः; कपलिका, कपरिका; तिल्पिलीकम्, तिर्पिरीकम्; कपिलकम्, कपिरकम्; लोमानि, रोमाणि ; अङ्गुलिः, अङ्गुरिः; पुलुषः, पुरुषः; तलुनः, तरुणः; सलिलम्, सरिरम्; अलम्, अरम्; मूलम्, मूरम्; कलीलः, करीरः; कल्म, कर्म; मुकुलम्, मुकुरम्; पांसुलः, पांसुरः; लेखा, रेखा; लिक्षा, रिक्षा; लोहितम्, रोहितम्, इत्यादि । अर्थभेदेऽपि–इला भूमिः, इरा अमृतम्; तल्पलो गजपृष्ठैकदेशः, तर्परः पशूनां

कण्ठघण्टः; कलभो बालहस्ती, करभ उष्ट्रः; शलभः पतङ्गः, शरभोऽष्टापदः; कालो वर्णः, कारो रक्षानिर्वेशः; वालः केशः; वारः क्रियाभ्यावृत्तिः; लघुरपचितपरिणामः, रघुः राजा; गलः प्राण्यङ्गम्, गरो विषम्; एवं–मुद्गल-मुद्गर, मण्डल–मण्डर; कन्दल–कन्दरादयोऽपि द्रष्टव्याः । ऐकार्थ्येऽपि दृश्यते-गलं गरं च; बडिशम्, बलिशम्; डश्च लः; ऋफिलः, ऋफिडः; वलभी, वडभी; चूला, चूडा; इला, इडा; व्यालः, व्याडः; पुरोलाशः, पुरोडाशः; षोलशः, षोडशः; बलिशम्, बडिशम्; पुलिनम्, पुडिनम्, पीला, पीडा । यथादर्शनमन्येऽपि ऋफिडादौ द्रष्टव्याः । संयुक्तस्य आदेश्च न दृश्यते-पाण्डुः, कण्डूः, डामरः, डीनः, डुण्डुभः; डिण्डिमः ।।104।।

न्या०स०–ऋफिडादीनां० । अतेर्बाहुलकात् फिडक्प्रत्यये–*ऋफिडः* । अर्तेरेवक्ते कुत्सादौ च के-*ऋतकः*, ऋतं सत्यं कायति ``आतो डो०'' (5. 1. 76.) इति डे वा । कं-सुखं परं यस्यां ``शेषाद् वा'' (7. 3. 175.) इति कचि आपि इत्वे *कपरिका* । तृपौच् ``सृणीकास्तीका०'' (उणा० 50) इति-*तर्परीकं* गन्धद्रव्यविशेषः । कपिरशब्दात् के-*कपिरकं*, कम्पयतीति वा ``कीचक०'' (उणा० 33) इति निपातः । *रोमाणी*ति–रुवन्तीति मन् । *अङ्गुरि* इति–``अगु गतौ'' ``मस्यसि०'' (उणा० 699) इति डरौ । नञ्पूर्वाद् रातेः ``गमिजनि०'' (उणा० 937) इति बहुलवचनाड्डित्यमि *अरम्* । *मूरमि*ति–``मूङ् बन्धने'' ``ऋज्यजि०'' (उणा० 388) इति किति रे । *करीर* इति–``कॄ शॄ पॄ (उणा० 418) इति ईरे-करीरः । *पांसुर* इति–``मध्वादिभ्यो रः'' (7. 2. 26.) । लिखेः समानार्थाद् रिखो भिदाद्यङि-*रेखा* । *लिक्षे*तिरिषेः ``ऋजिऋषि०'' (उणा० 388) इति किति से । *गर* इति–गिरति प्राणान् लिहाद्यचि । *मण्डर* इति–मण्डेः ``जठर०'' (उणा० 403) इति अरे । *कन्दर* इति–``कदुङ् वैक्लव्ये'' ``ऋषिचटि०'' (उणा० 397) इत्यरे । *ऐकार्थ्य* इति-एकोऽभिन्नोऽर्थो ययोस्तयोर्भावे । *वलभी*ति–वडेः ``सौत्रात् कॄ-गॄ शॄ-शलि'' (उणा० 329) इत्यभे गौरादिङ्यां च-वडभी । *चूडे*ति चुदण् णिजन्ताद् भिदाद्यङि निपातः । *इडे*ति–ईड्यते-स्तूयते आत्माऽस्यां ``म्लेच्छीड०'' (उणा० 3) इति । *व्याड* इति-व्येंग् ``ऋ-सृ-तृ-व्या-लिह्यवि०'' (उणा० 171) इत्यडे । *पुरोडाश* इति–पुरो दाश्यते घञि ``पृषोदरादयः'' (3. 2. 155.) । वडेः सौत्रात् ``कुलिकनि०'' (उणा० 535) इति किशे-*वडिशम्* । *पुलिनमि*ति–``पुल महत्त्वे'' ``वृजि-महि०'' (उणा० 283) किदिने-*पुलिनम्* । निर्देशस्य समानत्वात् क्वचिल्लकारस्य डकारोऽपि-*पुडिनम्* । *पीडे*ति– ``भीषिभूषि०'' (5. 2. 109.) इत्यादिना बहुवचनादङ् । *पाण्डु*रिति–``पनेर्दीर्घश्च'' (उणा० 766) इति डुप्रत्ययः । *कण्डू*रिति–``कषेण्र्डद्वौ च षः'' (उणा० 831) इति । *डामर* इति–``दमेर्णिद्वा

दश्च डः'' (उणा० 402) । *डीन* इति-डीङ्च् ``सूयत्याद्योदितः'' (4. 2. 70.) इति नकारे ``डीयश्व्यैदितः'' (4. 4. 61.) इति इड्निषेधे-*डीनः* । *डुण्डुभ* इति–डुण्डुशब्देन भातीति डुण्डुभः । डिण्डिम–शब्दमततीति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे-*डिण्डिमः*, अथवा ``डिभेः कित्'' (उणा० 356) ।।2. 3. 104.।।

जपादीनां पो वः ।। 2. 3. 105. ।।

जपादिशब्दसंबन्धिनः पकारस्य वकारदेशो वा भवति । जवा, जपा; पारावतः, पारापतः त्रिविष्टपम्, त्रिपिष्टपम्; पारावारः, पारापारः; कवाटः, कपाटः; विष्टवम्, विष्टपम्; कवलः, कपलः; अवाची, अपाची । जपादयः प्रयोगतोऽनुसर्तव्याः ।।105।।

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-
शासनवृहद्वृत्तौ द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः समाप्तः ।।2।3।।

मूलराजासिधारायां, निमग्ना ये महीभुजः ।
उन्मज्जन्तो विलोक्यन्ते, स्वर्गगङ्गाजलेषु ते ।।2.।3.।3. ।।

न्या०स०–जपादीनां पो वः । जपति जपतः (?) सो ``व्यध-जप-मद्भ्यः'' (5. 3. 47.) इत्यल् । *पारापत* इति-पराद् विप्रकृष्टादापततीति क्विपि परापत्, तस्यापत्यम् । *त्रिविष्टपमि*ति-विष्लृंकी ``विष्टपोलप०'' (उणा० 307) इति तृतीयं विष्टपं, प्राच्यास्त्रिपिष्टपमिति पठन्ति । *पारापार* इति–पारयतीति पारः, न पारोऽपारः, अपारः पारोऽस्य पारापारः, राजदन्तादित्वात् पारस्य प्राग् निपातः । *कपाट* इति–``कपुङ् चलने'' ``कपाटविराट०'' (उणा० 148) इति निपातः । *विष्टपमि*ति–विष्टं पातीति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे । *कवल* इति-के-तालुनि पलति ।।2. 3. 105.।।

इति द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ।।2।3।।

अथ चतुर्थः पादः

स्त्रियां नृतोऽस्वस्रादेर्ङी ॥ 2. 4. 1. ॥

स्त्रियां वर्तमानान्नकारान्ताद् ऋकारान्ताच्च स्वस्रादिवर्जितान्नाम्नो ङीः प्रत्ययो भवति । राज्ञी, अतिराज्ञी, तक्ष्णी, दण्डिनी, छत्रिणी; कर्त्री, हर्त्री । स्त्रियामिति किम् ? पञ्च सप्त दश नद्यः, नान्ताया: संख्याया युष्मदस्मदोरिवालिङ्गत्वात्; अत एव नकारलोपेऽपि ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्याबपि न भवति । अस्वस्रादेरिति किम् ? स्वसा, अतिस्वसा, परमस्वसा, दुहिता, ननान्दा, याता, माता, तिस्रः, चतस्रः; तिसृ-चतस्रादेशस्य विभक्त्यानन्तर्यनिमित्तत्वात् संनिपातलक्षणत्वेन तद्विघातकत्वाभावादेव ङीनिवृत्तौ सिद्धायां स्वस्रादिषु तयोः पाठः संनिपातलक्षणन्यायस्यानित्यत्वज्ञापनार्थः, तेनातिदध्न्या कन्ययेत्यादौ विभक्तिनिमित्तेऽनादेशे सति ङीः सिद्धो भवति; एवं–या सेत्यादिषु अकारादेशे आबपि ॥1॥

न्या०स०–स्त्रियां नृतो० । *स्त्रियां वर्तमानादिति*–'स्त्रीत्वयुक्तेऽर्थे वर्तमानात् स्वार्थे ङ्याबादयः' इति मतं सम्मतं निर्वहति, यथाह–वार्तिकं ``सिद्धं तु प्रातिपदिकविशेषणात् स्वार्थे टाबादयः'' । *अतिराज्ञी*ति–पूजितो राजा स्त्री चेदतिराज्ञी, ``पूजास्वतेः०'' (7. 3. 72.) इति समासान्तप्रतिषेधः । राजानमतिक्रान्तेत्यपि कृते समासान्तविधेरनित्यत्वमिति काशिका ॥2. 4. 1.॥

अधातूदृदितः ॥ 2. 4. 2. ॥

धातुवर्जितो य उदित् ऋदिच्च प्रत्ययोऽप्रत्ययो वा तदन्तान्नाम्नः स्त्रियां वर्तमानाद् ङीः प्रत्ययो भवति । उदित्-भवती, गोमती, यवमती, प्रेयसी, विदुषी । ऋदित्-पचन्ती, दीव्यन्ती, महती; एषु प्रत्यय उदृदित् तदन्तं नाम । अतिभवती, अतिमहती; अत्र नामाव्युत्पत्तिपक्षे उदृदित्, तदन्तं समासनाम । भवती, महतीति तु व्यपदेशिवद्भावेन तदन्तम् । निर्गोमती, अतिपुंसीत्यत्र प्रत्ययस्योदित्त्वात् गोमदादिशब्दोऽपि उदित् तेन तदन्तं समासनाम । अधात्विति किम् ? सुकन्, सुकंसौ; सुहिन्, सुहिंसौ स्त्रियौ ॥2॥

न्या०स०–अधातू० । *अधात्विति* पर्युदासाश्रयणात् तस्य च विधिप्रधानत्वात् प्रतिषेधस्यानुमितत्वेन गौणत्वाद् गोमन्तमिच्छतीति स्त्री गोमत्यतीति विधिनिषेधप्राप्तौ

अधातुत्वाश्रितो विधिरेव, न तु धातुत्वाश्रितः प्रतिषेधः । *गोमदादिशब्दोऽप्युदिदिति*—अवयवधर्मेण समुदायोऽपि व्यपदिश्यते, अत्रावयव उदित् तद्धर्मेण समुदायोऽपीत्यर्थः । *सुकन्नित्यादि*—``न्स्महतो०'' (1. 4. 86.) इत्यत्र महत्साहचर्यात् क्विबन्तस्य कंसो न ग्रहणमित्यर्थस्य ज्ञापितत्वादत्र न दीर्घः । *प्रत्ययस्योदित्त्वादिति*—``अजादेः'' (2. 4. 16.) इत्यत्र वृत्तिव्याख्यानेन तदन्तस्य ग्रहणे सिद्धे यदिदं व्याख्यानं तद् युक्त्यन्तरस्यापि दर्शनार्थम्, यत एकस्यापि साध्यस्य सिद्ध्यर्थं बह्व्योऽपि युक्तय उपन्यस्यन्ते ।।2. 4. 2.।।

अञ्चः ।। 2. 4. 3. ।।

अञ्चन्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । प्राची, प्रतीची, अपाची, उदीची ।।3।।

न्या०स०—अञ्चः । अञ्च इति कृतनलोपाभावस्य धातुरूपस्याञ्चेर्निर्देशः, तेनार्चाविवक्षणे नलोपाभावे तदविवक्षणे लोपे ङीः सिद्धः । ``अचः'' इति निर्देशे तु ``अच्च् प्राग्दीर्घश्च'' (2. 1. 104.) इतिवत् कृतनलोस्यैव स्यात् । इत्थं च प्राञ्ची प्रत्यञ्चीत्यादौ ङीर्नागच्छेत् ।।2. 4. 3.।।

ण-स्वरा-ऽघोषाद् वनो रश्च ।। 2. 4. 4. ।।

वन इति वन्-क्वनिप्-ङ्वनिपामविशेषेण ग्रहणम्, णकारान्तात् स्वरान्तादघोषान्ताच्च यो विहितो वन् प्रत्ययस्तदन्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति, वनोऽन्तस्य च तत्संनियोगे रो भवति । ण-`ओणृ'—अवावरी । स्वर-`धा'—धीवरी, अतिधीवरी; `पा'—पीवरी, `कृ'—सहकृत्वरी, राजकृत्वरी; सुत्वरी । अघोष—`दृश्'— मेरुदृश्वरी । णस्वराघोषादिति किम् ? `युध्'—सहयुध्वा, `यज्'—यज्वा स्त्री । विहितविशेषणं किम् ? शृणातीति शर्वरी, स्वराद् विहितत्वाद् गुणे कृते घोषवतो यथा स्यात् । वन इति किम् ? श्वयतेः ``श्वन्मातरिश्वन्०'' (उणा० 902) इत्यादिनाऽनि प्रत्ययेऽन्तलोपे च सति-शुनी, अतिशुनी; मङ्घेर्नलोपेऽवागमे च—मघोनी । नान्तत्वादेव ङीः सिद्धस्तन्नियमार्थं रविधानार्थं च वचनम् ।।4।।

न्या०स०—णस्वराधो० । वनतेः क्विबन्तस्य ``अहन्पञ्चमस्य०'' (4. 1. 107.) इति दीर्घत्वे वन्निति रूपाभावाद्, विजन्तस्य च प्रयोगादर्शनात् प्रत्ययस्यैव ग्रहणमित्याह—*वन इति वन्-क्वनिपित्यादि*-ननु ❋ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य ❋ इति क्वनिप्ङ्वनिपोर्ग्रहणं न प्राप्नोति, उच्यते—❋ निरनुबन्धग्रहणे क्वचित् सानुबन्धस्य ग्रहणम् ❋ इति न्यायान्न दोषः । *वनोऽन्तस्येति*—ननु ``प्रत्ययस्य'' (7. 4. 108.) इति सर्वस्यापि प्राप्नोति तत् कथमुक्तमन्त-

स्येति ? सत्यम्-वात् न् वन् इति कृते भविष्यति । *अतिशुनी* पूजितः श्वाऽतिश्वा, स्त्री चेदतिशुनी, यद्वा अतिक्रान्तः श्वा ययेति बहुव्रीहिः, श्वानमतिक्रान्तेति कृते ''गोष्ठातेः शुनः'' (7. 3. 110.) इति समासान्तः स्यात् । *मघोनी*तिमघोनो भार्याभेदोपचारेण मघोनी । *नियमार्थमि*ति-णस्वराघोषादेव वनो ङीर्भवति, तेन सहयुद्ध्वोत्यादौ पूर्वेणापि न भवति । विपरीतनियमस्तु ''स्त्रियां नृतः'' (2. 4. 1.) इत्यस्यारम्भान्न, विपरीतनियमे हि राज्ञीत्यादौ स्वरात् परस्य नकारस्यावस्थानात् ''स्त्रियां नृतः०'' (2. 4. 1.) इत्यनेन ङीर्न स्यात् ॥2. 4. 4.॥

वा बहुव्रीहेः ॥ 2. 4. 5. ॥

णस्वराघोषात् परो यो विहितो वन् प्रत्ययस्तदन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीप्रत्ययो वा भवति, रश्चान्तादेशः । प्रियावावरी, प्रियावावा स्त्री; बहुधीवरी, बहुधीवा; बहुमेरुदृश्वरी, बहुमेरुदृश्वा स्त्री । णस्वराघोषादित्येव—प्रिययज्वा स्त्री ॥5॥

*न्या०स०—वा बहु० । बहुमेरुदृश्वरी*ति-अन्ये चन्द्रगोम्यादयो ''नोपान्त्यवतः'' (2. 4. 13.) इति प्रतिषेधमिच्छन्तो बहुमेरुदृश्वेत्येव कथयन्ति । स्वमते तु व्यक्त्या सूत्रस्य प्रवर्तनान्न निषेधः ॥2. 4. 5.॥

वा पादः ॥ 2. 4. 6. ॥

बहुव्रीहेस्तन्निमित्तकपाच्छब्दान्तात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । द्विपदी, द्विपात्; त्रिपदी, त्रिपात्; बहुव्रीहिनिमित्तो यः पादिति बहुव्रीहिणा पाच्छब्दस्य विशेषणत्वादिह न भवति-पादमाचष्टे पाद्, त्रयः पादोऽस्याः—त्रिपात् स्त्री ॥6॥

*न्या०स०—वा पादः । इह न भवती*ति—अथ ''पदिंच् गतौ'' इत्यतो ण्यन्तात् क्विपि कृते यत् पादिति रूपं तदिह कस्मान्न विज्ञायते ? उच्यते—पादयतेः क्विबन्तस्य प्रयोगादर्शनमिति प्रयोगेऽपि वा क्रियाकारकसम्बन्धमात्रं पादः क्विबन्तात् प्रतीयते न तु विशिष्टार्थप्रतीतिः, द्विपाच्छब्दश्च विशिष्टार्थावयव इति ॥2. 4. 6.॥

ऊध्नः ॥ 2. 4. 7. ॥

ऊधन्निति कृतनकारादेशस्योधसो ग्रहणम्, तदन्तान्नाम्नो बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । कुण्डोध्नी, घटोध्नी, महोध्नी; पीवरोध्नी । ''अनो वा'' (2. 4. 11.) इति विकल्पे प्राप्ते

वचनम् । समासान्तविधौ 'ऊध्न्' इत्यादेशे नान्तत्वादेव ङीः सिध्यति, किन्तु पञ्चभिः कुण्डोध्नीभिः क्रीत इतीकणि तल्लुपि च 'पञ्चकुण्डोध्न्' इति प्रकृतेः सौ पञ्चकुण्डोदिति स्यात् पञ्चकुण्डोधेति चेष्यते ।।7।।

न्या०स०—ऊध्नः । ऊध्न् इत्यादेश इति—अयमर्थः—यदि समासान्तविधौ ऊध्नित्यादेशं न कुर्यात् किन्तु न इत्येव ततः ''अनो वा'' (2. 4. 11.) इत्यनेन विकल्पः स्यात्, न तु ''स्त्रियां नृत०'' (2. 4. 1.) इत्यनेन नित्यं ङीरिति । *पञ्चकुण्डोधे*तिननु लुपः पित्त्वात् ''क्यङ्मानि०'' (3. 2. 50.) इत्यनेन पुंवद्भावः कथं न भवति ? उच्यते—''कौण्डिन्यागस्त्ययोः०'' (6. 1. 127.) इत्यत्र कौण्डिन्यनिर्देशान्न भवति; यद्वा ''स्त्रियामूधसो न्'' (7. 3. 169.) इत्यत्र स्त्रियां विषये व्याख्यानात्, विषयव्याख्यानं हि निर्निमित्तत्वार्थम्, ततो यदि पुंवद्भावोऽभिप्रेतः स्यात् तदा ङ्यामूधसोऽनिति सनिमित्तकमेव कुर्यात्; ननु ङ्यामिति कृते ङीरपि कथम् ? उच्यते—तदा गौरादौ पठ्येत ऊधस्शब्दः; यद्वा उधस इति सूत्रं क्रियेत । ननु ङ्यामिति कृते ङीरपि कथं ? निमित्तकव्याख्यानमेव क्रियतां, तस्मिन्नपि न किञ्चिद् विनङ्क्ष्यति, निमित्तव्याख्याने हि ''मूल्यैः क्रीते'' (6. 4. 150.) इकणि तल्लुपि ''ङ्यादेः०'' (2. 4. 95.) इति ङीनिवृत्तौ तन्निमित्तकसमासान्तस्यापि निवृत्तिः प्राप्नोति, ततश्च पञ्चकुण्डोधा इति विसर्गान्तं रूपं प्राप्नुयादिति समासान्तविधौ सनिमित्तक आदेशो नाकारि ।।2. 4. 7.।।

अशिशोः ।। 2. 4. 8. ।।

अशिशु इत्येतस्माद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । अविद्यमानः शिशुरस्या अशिश्वी । बहुव्रीहेरित्येव-न शिशुः—अशिशुः ।।8।।

*न्या०स०—*अशिशोः । ननु ऊधन्शब्दस्याशिशुशब्दस्य च बहुव्रीहिविशेषणत्वेन समानार्थ-त्वादेकयोग एव क्रियताम् ? उच्यते—बहुव्रीहावप्यूध्न इति तदन्तस्य विधिः, अशिशोरिति च स्वरूपस्येति योगविभागः ।।2. 4. 8.।।

संख्यादेर्हायनाद् वयसि ।। 2. 4. 9. ।।

संख्यादेर्हायनशब्दान्तान्नाम्नो बहुव्रीहेः स्त्रियां वयसि गम्यमाने ङीर्भवति । द्विहायनी, त्रिहायणी, चतुर्हायणी; अत्र ''चतुस्त्रेर्हायनस्य वयसि'' (2. 3. 74.) इति णत्वम् । संख्यादेरिति

किम् ? अतीतहायना । हायनादिति किम् ? द्विवर्षा कन्या । वयसीति किम् ? द्विहायना, त्रिहायना, चतुर्हायना शाला, कालकृता प्राणिनां शरीरावस्था वय इति णत्वमपि न भवति । बहुव्रीहेरित्येव–शते हायनेषु संभूता जाता भवा वेति इकणि तल्लुपि च–शतहायना स्त्री ।।9।।

न्या०स०–सङ्ख्यादे० । इकणि तल्लुपि चेति–``वर्षाकालेभ्यः'' (6. 3. 80.) इत्यस्य, शकटाभिप्रायेणेदमुक्तम् । तन्त्रोद्द्योतस्तु शतहायनशब्दस्य कालवाचकत्वाभावे ``तत्र कृत०'' (6. 3. 94.) इत्यनेनाणेवेतीच्छति ।।2. 4. 9.।।

दाम्नः ।। 2. 4. 10. ।।

संख्यादेर्दामन्शब्दान्तान्नाम्नो बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । द्विदाम्नी, त्रिदाम्नी । संख्यादेरित्येव–उद्दामानम्, उद्दामाम्, उद्दाम्नीं वडवां पश्य, ``अनो वा'' (2. 4. 11) इति विकल्पस्यापवादो योगः ।।10।।

अनो वा ।। 2. 4. 11. ।।

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्वा भवति । उत्तरत्रोपान्त्यवतः प्रतिषेधादुपान्त्यलोपिन एवायं विधिः । बहुराज्ञ्यौ, बहुराजे, बहुराजानौ; दीर्घाणि अहानि यस्यां दीर्घाह्नी, दीर्घाहा, दीर्घाहाः शरत्; बहुतक्ष्ण्यौ, बहुतक्षे, बहुतक्षाणौ । बहुव्रीहेरित्येव–अतिराज्ञी, निस्तक्ष्णी ।।11।।

नाम्नि ।। 2. 4. 12. ।।

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां-नाम्नि संज्ञायां नित्यं ङीर्भवति । अधिराज्ञी सुराज्ञी नाम ग्रामः; बहुराज्ञी, बहुसाम्नी नाम पुरी; अयमप्युपान्त्यलोपवत एव विधिः, नित्यार्थं वचनम्, तेन पक्षे डाप् विकल्पेन न भवति ।।12।।

नोपान्त्यवतः ।। 2. 4. 13. ।।

यस्य उपान्त्यलोपो नास्ति स उपान्त्यवान्, तस्मादन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्न भवति । नायम् ``अनो वा'' (2. 4. 11.) इति सूत्रविहितस्यैव प्रतिषेधः, किन्तु ``स्त्रियां नृतो०'' (2. 4. 1.) इत्यस्यापि । सुपर्वा, सुपर्वाणौ; सुशर्मा, सुशर्माणौ; प्रियश्वा, प्रियश्वानौ । उपान्त्यवत इति किम् ? बहुराज्ञी । बहुव्रीहेरित्येव-अतिपर्वणी यष्टिः । अन इत्येव–सदण्डिनी ।।13।।

न्या०स०—नोपान्त्य० । उपान्त्यलोपो नास्तीति—``न वमन्तसंयोगात्'' (2. 1. 111.) इति निषेधेनेत्यर्थः । *स्त्रियां नृत इत्यस्यापीति*-अन्यथा ``अनोऽनुपान्त्यवतो वा'' इत्येकयोगः क्रियेत । *अतिपर्वणीत्यत्राव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणात्* ``णस्वराघोष०'' (2. 4. 4.) इति ङी स्श्च न भवति, किन्तु नान्तत्वात् ``स्त्रियां नृतः०'' (2. 4. 1.) इत्यनेन (ङीः) । *सदण्डिनीति*—अत्र ``इनःकच्'' (7. 3. 170.) इति कच् प्राप्तः ``सहात् तुल्ययोगे'' (7. 3. 178.) इति निषिध्यते ।।2. 4. 13.।।

मनः ।। 2. 4. 14. ।।

मनन्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्न भवति । सीमा, सीमानौ; पामा, पामानौ । ❈अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधि प्रयोजयन्ति,❈ तेन महिमानमतिक्रान्ता-अतिमहिमेत्यादावपि ङीप्रतिषेधो भवति । बहुव्रीहेरिति निवृत्तं, योगविभागात् ।।14।।

न्या०स०—मनः । ङीर्न भवतीति-बहुव्रीहौ मन्नन्तेऽपि अन्नन्तद्वारा ङीर्भवत्येव, यथा ``दातुं प्रदानोचितभूरिधाम्नीम्'' (किराता० स. 3.) इति । *अतिमहिमेत्यत्र* अतिक्रान्तो महिमा ययेति बहुव्रीहौ ``अनो वा'' (2. 4. 11.) इत्यस्य ``मनः'' (2. 4. 14.) इत्यस्य च द्वयोरन्यत्र चरितार्थत्वात् परत्वात् प्राप्तमपि प्रतिषेधं बाधित्वा विशेषविहितत्वाद् ``अनो वा'' (2. 4. 11.) इति विकल्प एव । *योगविभागादिति*-न मन्नुपान्त्यवद्भ्यामित्येवंरूपात् ।।2. 4. 14.।।

ताभ्यां वाऽऽप् डित् ।। 2. 4. 15. ।।

मन्नन्तान्नाम्नोऽन्नन्ताच्च बहुव्रीहेः स्त्रियामाप् प्रत्ययो वा भवति, स च डित्; पक्षे यथाप्राप्तम् । सीमे, सीमाः; सुपर्वे, सुपर्वाः; पक्षे पूर्वाभ्यां प्रतिषेधाद् ङीर्न भवति—सीमानौ, सीमानः; सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः । उपान्त्यलोपिनस्तु बहुव्रीहेर्ङीरपि भवति-बहुराजे, बहुराजाः; बहुराजानौ, बहुराजानः; बहुराज्ञ्यौ, बहुराज्ञ्यः । उद्दामाम्, उद्दामानम्, उद्दाम्नीं वडवां पश्य । ``दातुं प्रदानोचित—भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ।'' (किराता० स० 3.) । एवमुपान्त्यलोपिनोऽन्नन्तस्य बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीडाप्विकल्पाभ्यां त्रैरूप्यम् । उपान्त्यवतस्तु डाप्प्रतिषेधाभ्यां द्वैरूप्यं भवति । डित्करणमन्त्यस्वरादिलोपार्थम् । डाप् इत्यकृत्वा डिद्विधानमुत्तरत्राप एवानुवृत्त्यर्थम् ।।15।।

न्या०स०—ताभ्यां वा । पूर्वाभ्यामिति—``मनः'' (2. 4. 14.) ``नोपान्त्यवतः'' (2. 4. 13.) इत्येताभ्याम् ।

``महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृपदेवतानाम् ।
*दातुं प्रदानोचितभूरिधाम्नी*मुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम् ।।''

*त्रैरूप्यमि*ति–``वा बहुव्रीहेः'' (2. 4. 5.) इति वचनात् वन्नन्तस्यापि त्रैरूप्यं, तेन सुधीवे, सुधीवानौ सुधीवर्यौ ।।2. 4. 15.।।

अजादेः ।। 2. 4. 16. ।।

अजादिभ्य आवृत्त्याऽजादीनामेव स्त्रियां वर्तमानेभ्य आप् प्रत्ययो भवति, बाधकबाधनार्थमनकारार्थं च वचनम् । अजा, एडका, अश्वा, चटका, मूषिका, कोकिला; एभ्यो जातिलक्षणस्य ङीप्रत्ययस्यापवाद आप्; बाला, होडा, पाका, वत्सा, मन्दा, विलाता, कन्या, मध्या, मुग्धा; विलातेत्यन्ये न पठन्ति, तेन–विलातीत्यपि, एभ्यो वयोलक्षणस्य; ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा; एभ्यो धवयोगलक्षणस्य चः पूर्वापहाणा, अपरापहाणा, निपातनाद् णत्वम्, संप्रहाणा, परप्रहाणेत्यप्यन्ये, एषु टिल्लक्षणस्य; त्रीणि फलानि समाहृतानि त्रिफला, अत्र द्विगुलक्षणस्य । क्रुञ्चा, देवविशा, उष्णिहा; एषु व्यञ्जनान्तत्वात् ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्यनेनाप्राप्तेरजादिपाठः, कश्चिदेतेभ्यो विकल्पेनेच्छति; तन्मते-क्रुङ्, देवविट्, उष्णिक् । अन्ये तु-क्रुञ्चानालभेत, उष्णिहककुभौ, देवविशश्च मनुष्य इति प्रयोगदर्शनात् अकारान्ता एवैत इति मन्यन्ते । अजादेरित्यावृत्त्या षष्ठीसम्बन्धः किम् ? अजादिसम्बन्धिन्यामेव स्त्रियामभिधेयायां यथा स्यात्, तेनेह न भवति–पञ्चानामजानां समाहारः–पञ्चाजी, दशाजी; अत्र समाहारः समासार्थः स्त्री; नासावजशब्दसंबन्धिनी; अत एव च ज्ञापकादत्र स्त्रीप्रकरणे तदन्तादपि भवति, तेन-महांश्चासावजश्चेति सामान्येन विग्रहे स्त्रीविवक्षायां महाजा परमाजेति सिद्धम्, एवमतिभवती, अतिमहती, अतिधीवरी, अतिपीवरी, परमशूद्रेत्यादि ।।16।।

न्या०स०–अजादेः० । *एडकेत्यत्र* 'ईडिक्' ``कीचक०'' (उणा० 33) इति । बालेति-``बल प्राणने'' बलतीति वा ज्वलादिणः । *होडा* इत्यत्र ``हुरत् निमज्जने'' ण्यन्तादचि उणाद्यप्रत्ययो वा । *मन्दे*ति–'मदुङ्' अचि, उणाद्यप्रत्ययो वा । *मन्दाविलाते* इति-मध्यमवपसौ स्त्रियौ । *मध्ये*ति ``शिक्यास्याज्यमध्य०'' (उणा० 364) इति निपातनात् मध्या । विपूर्वाल्लातेः क्ते-*विलाते*ति न्यासः । *पूर्वापहाणे*तिपूर्वश्चासौ अपहानश्च पूर्वापहानः, स्त्री चेत् *पूर्वापहाणा*, एवम् *अपरापहाणा* इति–यद्वा पूर्वमपहीयतेऽस्यामिति ``करण०'' (5. 3. 129.) इत्यनट्, यद्वा अपहीयतेऽस्यामनया वा ``करणाधारे'' (5. 3. 129.) अनट् । अपहानशब्दोऽपि टिद्द्वारेण ङीप्रत्ययाभावार्थमजादौ द्रष्टव्यः, तेन पूर्वा च साऽपहाना चेति आबन्तेन वाक्यं कार्यम्,

क्रियाशब्दत्वाच्च ``पूर्वपदस्था०'' (2. 3. 64.) इति णत्वाभावः । संप्रहीयते परेण प्रहीयते भुजिपत्यादिनाऽनट्, स्वराण्णत्वम् । *क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशे*त्यादि-अत्र त्रयोऽपि क्विबन्ताः, छान्दसा एते इति पूर्वे इति न मतव्यक्तेर्निबन्धः कृतः । ❊ नामग्रहणे न तदन्तस्य ❊ इति न्यायादजाद्यन्तादापः प्राप्तिरेव नास्ति किमावृत्तिव्याख्यानेनेत्याह–*अत* एव चेति ।।2. 4. 16.।।

ऋचि पादः पात्पदे ।। 2. 4. 17. ।।

पादिति कृतपाद्भावः पादशब्दो गृह्यते, तस्याबन्तस्य ऋच्यभिधेयायां पात् पदेति निपात्यते । त्रिपात् चतुष्पात् ऋक्, त्रिपदा गायत्री, चतुष्पदा पङ्क्तिः । ऋचीति किम् ? द्विपाद्, द्विपदी; चतुष्पाद्, चतुष्पदी ।।17।।

न्या०स०–ऋचि पादः० । ननु ``ऋचि पादो वा'' इति क्रियताम्, ऋचि अभिधेयायां वाप् भवतीति सूत्रार्थः, न-विकल्पपक्षे ऋच्यभिधेयायामपि ``वा पादः'' (2. 4. 6.) इति ङीः स्यात् । ``वा पादः'' (2. 4. 6.) इति प्राप्तेऽयमारभ्यते ।।2. 4. 17.।।

आत् ।। 2. 4. 18. ।।

अकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां वर्तमानादाप् प्रत्ययो भवति । खट्वा, सर्वा, या, सा । खट्वादीनामकारान्तत्वम्-अतिखट्वः, प्रियखट्वः; पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः–पञ्चखट्व इत्यादिप्रयोगदर्शनात्, उपदेशाच्च निश्चीयते । आदिति किम् ? सोमपाः स्त्री, दृषद्, समिद्, आदित्यधिकृतमुत्तरत्र यथा सम्भवं योजनीयम् ।।18।।

न्या०स०–आत् । ननु या सेत्यादीनां 'यः, सः' इत्यादावकारान्तप्रयोगदर्शनाद-कारान्तत्वनिर्णयादस्तु तत आप्, खट्वादीनां तु नित्यं स्त्रियां वर्त्तमानत्वादकारान्तप्रयोगादर्शनात् तदनिश्चयात् कथं तेभ्य आबित्याशङ्क्याह–*खट्वादीनामि*ति । *उपदेशाच्चे*ति-यद्यकारान्तो न स्यात् ततो नाबन्त इति तस्याप्द्वारेण ह्रस्वोऽपि न स्यादित्यर्थः । *आदिति किमि*ति-अवर्णादिति क्रियतामित्यर्थः । *सोमपाः स्त्री*ति-सोमं पिबतीति विच्, आदिति वचनादत्राप् न भवति । ननु चात्राप्भावाभावयोराकारश्रुतेस्तथैव विद्यमानत्वात् किं तद्भावेन विनश्यतीति ? उच्यते-आपि सति ``दीर्घङ्याब्०'' (1. 4. 45.) इति सेर्लोपः स्यात्, तथा सोमपः कन्याः पश्येत्यत्र ``लुगातोऽनापः'' (2. 1. 107.) इति शसि लुग् न स्यात् ।।2. 4. 18.।।

गौरादिभ्यो मुख्यान्ङी ॥ 2. 4. 19. ॥

गौरादेर्गणान्मुख्यात् स्त्रियां ङीः प्रत्ययो भवति, मुख्यादित्यधिकारोऽयम् । गौरी, शबली । गौर, शबल, कल्माष, सारङ्ग, पिशङ्ग, हरिण, पाण्डुर, अमर, सुन्दर, विकल, विष्कल, पुष्कल, निष्कल; गौरादीनां गुणवचनत्वेनाजातिवाचित्वादप्राप्ते पाठः । यस्तु विकलेति कालविशेषवाची आबन्तः स विगता कलेति भविष्यति । दास, चेट, विट, भिक्षुक, बन्धक, पुत्र, गायत्र, आनन्द, टेट, कटेट, नट; एषामजातिवचनत्वादप्राप्ते पाठः । काव्य, शैव्य, मत्स्य, मनुष्य, मुकय, हय, गवय, ऋश्य, द्रुण, ओकण; एषां जातिवाचित्वेऽप्यष्टानां यान्तत्वाद् द्रुणौकणयोर्नित्यस्त्रीविषयत्वादप्राप्ते पाठः । भौरिकि, भौलिकि, भौलिङ्गि, औद्गाहमानि, आलम्बि, आलच्चि, कालच्चि, सौधर्म, आयस्थूण, आग्ट्ट; भौरिकि-भौलिक्योः क्रौड्यादित्वात्, शेषाणां त्वणिञन्तानां गुरूपान्त्यत्वात् ष्ये प्राप्ते पाठः । कथं भौरिक्या ?, भौलिक्या ? क्रौड्यादिपाठात् ष्योऽपि ।

आपच्चिको राष्ट्रसरूपः क्षत्रियस्तस्यापत्यं स्त्री आपच्चिकीत्यत्र शकादित्वात् ञ्यलोपेऽपि जातिवाचित्वाद् ङीर्भवति, एवं दोटी । वरट, नाट, मूलाट, पाट, सृपाट, पेट, पट, पटल, पुट, कुट, फाण्टश, धातक, केतक, तर्कार, शर्कार, बदर, कुवल, लवण, बिल्व, आमलक, मालत, वेतस, अतस, आढक, कदर, कदल, गुडूच, बाकुच, नाच, माच, कुम्भ, कुसुम्भ, यूष, मेथ, सूष, मूष, करीर, सल्लक, वल्लक, मल्लक, मालक, मेध, पिप्पल, हरीतक, कोशातक, शम, तम, सुसव, शृङ्ग, भृङ्ग, बिम्ब, बर्बर, पाण्ड, लोहाण्ड, शष्कण्ड, पिण्ड, मण्डर, मण्डल, यूप, सूप, सूर्प, सूर्म, मठ, पिठर, ऊर्द, गुर्द, सूर्द, खार, काकण, द्रोण, अरीहण, उकण, वृश, आसन्द, अलिन्द, कन्दल, सलन्द, देह, देहल, शष्कुल, शच, सूच, मञ्जर, अलज, गण्डज, वैजयन्त, शालूक, उपरतस, छेद; एषां नित्यस्त्रीविषयत्वादप्राप्ते पाठः । क्रोष्टु, सरस्; अनयोरनकारान्तत्वादप्राप्ते पाठः । अनड्वाही, अनडुही; अत एव पाठादनडुह् शब्दस्य ङ्यामुकारस्य पक्षे वाशब्दादेशः सौ नित्यं नागमाभावश्च । प्रत्यवरोहिणी, पृथिवी, आग्रहायणी; सप्रत्ययपाठः पुंवद्भावनिषेधार्थः ।

अनड्वाहीभार्यः, अनडुहीवृन्दारकेत्यादि तद्धितलोपेऽपि लुगभावार्थश्च । पञ्चानड्वाहिः, दशानडुहिः, आश्मरथ्यः; गोत्रयञन्ताद् डायन् मा भूत्, ङ्येव यथा स्यादित्यस्य पाठः । एहि, पर्येहि; अनयोरिदन्तत्वाद् विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन-नद, मह, भष, प्लव, चर, गर, तर, गाह, देव, सूद, अराल, उदवड, चण्ड, उमाभङ्ग, हरीकण, वटर; अधिकार । एषण करणे इति केचित्, इष्यते-अन्विष्यतेऽनया दोष

इति ``इषोऽनिच्छायाम्'' (5. 3. 112.) इत्यने सति एषणी-वैद्यशलाका; करणादन्यत्रैषणा, अन्वेषणा; आबेव; तदन्ये न मन्यन्ते । मुख्यादिति किम् ? बहुनदा भूमिः ॥19॥

न्या०स०–गौरादिभ्यो० । *गौरे*ति-गूयते उपादेयता ``खुर-क्षुर०'' (उणा० 396) इति निपातः, यद्वा ``गुरैत्'' गुरति मनोऽस्मिन् घञि गोर एव *गौर* इति क्षीरस्वामी । शाम्यति एकत्वमिति ``शमेर्व च वा'' (उणा० 470.) इत्यनेनाऽलप्रत्ययः मकारस्य वः । कलयति ``कुलेश्च माषक्'' (उणा० 563 कल्माष) सरति वर्णभावम् ``सृ-वृ-नॄ भ्यो णित्'' (उणा० 99) अङ्ग (सारङ्ग) । ``पिशत् अवयवे'' पिशतीति ``विडि-विलि-कुरि-मृदि-पिशिभ्यः कित्'' (उणा० 101) अङ्गे *पिशङ्ग* । हरतीति–``हृ-वृहि-दक्षिभ्य इणः'' (उणा० 194) (हरिण) पण्डते मनोऽत्रेति ``जठर०'' (उणा० 403) इति साधुः (पाण्डुर) । सुष्ठु नन्दयत्यच् ``पृषोदर०'' (3. 2. 155.) इति सुन्दर, अथवा सुन्दिः सौत्रः सौन्दर्ये वर्तते । विपूर्वात् कलेः ``अः'' (उणा० 2) इत्यप्रत्यये, यत्र विकला सामग्री तत्र विगता कला लेशो यस्याः, अन्यत्र विकल्पे च । *विष्कल* इति–गणपाठसामर्थ्यात् षकारः, यद्वा ``वर्चस्कादि०'' (3. 2. 48.) इति षकारः । (पुष्कल) पुष्कलार्थे पुषेः कलक् । *निष्कले*त्यत्र निस्पूर्वात् कलेरप्रत्यये ``निर्दुर्०'' (2. 3. 56.) . इति षत्वम् । चेटतीति लिहाद्यचि-चेटः । ``विट शब्दे'' इत्यतो ``नाम्युपान्त्यः'' (5. 1. 54.) इति के-*विटः* । टेकते `अः' (उणा० 2) इत्यकारे बाहुलकत्वात् कस्य टत्वे *टेटः* । अट पट इट एटतीति ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के इटः, कटशब्देन षष्ठीसमासः । ``नट नृत्तौ'' नटतीत्यच्, एते त्रयोऽपि नर्तकाः । कवेः शिवेरपत्यं ``कुर्वादि०'' (6. 1. 100.) ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) इति ञ्ये-*काव्य शैव्य*, ततो ङयां ``व्यञ्जनात्तद्धितस्य'' (2. 4. 88.) इति यलोपे-कावी शैवी । *मुकय* इति-वेसरः । द्रुणेति-कच्छपी । *ओकणे*ति–``उचच् समवाये'' चिक्कणादिनिपातनादणे कत्वे च-*ओकण*, ङ्यामोकणी, श्रीकरणादिव्यापारानन्तरं गुप्त्यादौ पर्यन्तबन्धनस्य किलाख्या । *भौरिकी*त्यत्र-भवतेः ``भू-सू-कुशि०'' (उणा० 693) इति किति रिप्रत्यये स्वार्थिके के च-भूरिक, ऋफिडादित्वाल्लत्वेभूलिक, तयोरपत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) । *भौलिङ्गी*ति–``भलि परिभाषणादौ'' ``भलेरिदुतौ चातः'' (उणा० 103) इङ्गकि अकारस्योकारे-भुलिङ्ग, अथवा भुवि लिङ्ग कीर्तिरस्येति वा पृषोदरादित्वात् भुवो ह्रस्वत्वे–भुलिङ्ग, तस्यापत्यं भौलिङ्गि ``सात्वांश०'' (6. 1. 117.) इति इञ् ।

*आलच्ची*त्यत्र ``अली भूषण०'' शतृ, कलण् शतृ अलन्तं कलन्तं चिनोति ``क्वचित्'' (6. 2. 145.) अलच्चस्यापत्यं कलच्चस्यापत्यम् ``अत इञ्'' (6. 1. 31.) । *सौधर्मे*ति-सुधर्मस्यापत्यम् ऋष्यण् तदा ङीः सिद्ध एव, अथवा शोभनो धर्मो यस्याः ``द्विपदाद्धर्मादन्''

(7. 3. 141.) इत्यन्, ``ताभ्यां वाप् डित्'' (2. 4. 15.) डापि-सुधर्मा, सुधर्माया अपत्यं ``ङ्याप्त्यूङः'' (6. 1. 70.) इति एयण्बाधकः ``अदोर्नदी०'' (6. 1. 67.) इत्यण्, यद्वा सुधर्मणोऽपत्यं ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) अण्। *आयस्थूणे*ति–अयस्थूणस्यापत्यं शिवादेरण्, यद्वा ``ऋषि-वृष्ण्यन्धक०'' (6. 1. 61.) कुरुद्वारोऽण्, आयस्थूण ऋषिः। अरदस्यापत्यम् ``ऋषि-वृष्ण्यन्धक०'' (6. 1. 61.) इति कुरुद्वारोऽण्। *आपच्चिकी*ति–आपदं चिन्वन्ति परेषां ``क्वचिड्डः'' (उणा० 168) आपच्चाः पुरुषास्ते अस्य सन्ति ``अतोऽनेक०'' (7. 2. 6.) इति इकः। आ समन्तात् पिच्चयति शत्रून् ``कुशिकः०'' (उणा० 45) इति वा साधुः। अपच्चिकस्यापत्यं ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) इति ञ्यः, शकादित्वाल्लुप्। *दोटी*ति–दोटस्यापत्यं ``पुरमगध०'' (6. 1. 116.) इत्यण् ``द्वेरञणोऽप्राच्य०'' (6. 1. 123.) इति लुप्। *नाटी* ओषधिः। *मूलाटी* ओषधिः। *पाटे*ति-गणितम्। *सृपाटे*ति-छेदपाटी। *पेटी* समूहः। *फाण्टशी* ओषधिः। *धातकी* वृक्षविशेषः। तर्करी ओषधिः। शर्कारी वृ०वि०। *लवणी* ओ०। *कदरीकदल्यौ*-वृक्षौ। *गुडूची* ओ०। *बाकुची* ``कूर्च०'' (उणा० 113) इति साधुः। बावची। *नाची-माच्यौ* ओषध्यौ। *कुम्भी* आधारः शाकविशेषश्च। *कुसुम्भी* ओ०। *पूषी* ओ० यवागूविशेषो वा। *मेषी* ओ०। *सूषी* शाकवि०। *मूषी-मूषिका करीरी* दन्तमूलम्। वल्लकी वीणा। मल्लकी विचिकिलः। *मालकी* ओषधिः, ग्रामान्तराटवी च। *मेथी* वाली शकटन्यासे। ``मुरलोरल०'' (उणा० 474) इति *पिप्पलः*। *कोषातक* इति केचित्। कोषं कोशं चातति णके। *शमी* शिवा वृक्षश्च। *सुषवी* शाकभेदः कृष्णजीरकं कारवेल्लः कपिकच्छूश्च। सुसवीति पाठ इति केचित्। शोभनः सवोऽस्याः। शृङ्गी विषं कारवेल्लश्च। भृङ्गी ओ०। *बर्बरी* ओ०, कुञ्चितकेशा च। *पाण्डी* ओ०। *लोहाण्डे*ति-लोहमिवाण्डं यस्या लोहाण्डी नाम शकुनिः, ओषधिश्च। *शष्कण्डी* ओ०। *मण्डरी* ओ०। *मण्डली* ओ० समुदायश्च। *पूपी सूपी सूर्पी* ओषध्यः। *सूर्मी* लोहमयी प्रतिमा। *मण्डली* ओ० समुदायश्च। *पूपी सूपी सूर्पी* ओषध्यः। *सूर्मी* लोहमयी प्रतिमा। *पिठरी* स्थाली। *ऊर्दी* विमानविशेषः। *गूर्दी* क्रीडा। *सुर्दी* ओ०।

*काकणे*ति-काकान् नयतीति ``क्वचिड्डः'' (उणा० 168.) ``पृषोदर०'' (3. 2. 155.) इति णत्वम्। *द्रोणी* जलक्षेपणी कुण्डिका। *अरीहणी* ओ०। *उकणी* ओ० क्षुद्रजन्तुश्च। *वृसी* तालव्योपान्त्योऽपि। आङ् सम्-ददातेः ``उपसर्गा०'' (5. 3. 110.) इति डे-*आसन्दः*। *अलिन्दी* संनिपातहन्त्री ओषधिः। *कन्दली* प्ररोहः। *सलन्दी देही* ओषध्यौ। मञ्जेः सौत्रात् *मञ्जरी* / *अलजी* ओ०। गण्डाज्जायते इति ``पृषोदर०'' (3. 2. 155.) इति *गण्डजी* ओ०। विजयन्तस्येयं *वैजयन्ती* / *शालूकी* ओ०। उपरि तस्यतीति गणपाठादेरत्वम्-*उपरतसी* ओ०। *छेदी* ओ०। प्रत्यवरोहतीत्येवंशीला क्रियाशब्दः *प्रत्यवरोहिणी*। ननु तथापि पृथिवीशब्दस्याग्रहा-

यणीशब्दस्य च स्वतः स्त्रीत्वात् ``परतः स्त्री०'' (3. 2. 49.) इति पुंवद्भावो न भविष्यति किमर्थमनयोस्तथापाठः, उच्यते-नहि सप्रत्ययपाठस्य पुंवद्भाव एव प्रयोजनं किन्तु तद्धितलोपे लुगभावोऽपि, तत्र क्वचिद्द्वयं यथासंभवमूहनीयम् । *अनड्वाहीभार्य* इति—अनड्वाहीशब्दो व्यक्तौ प्रवर्त्तितः, जातिवाचित्वे तु ``स्वाङ्गान्डी०'' (3. 2. 56.) इत्यनेन पुंवन्निषेधः सिद्धः । आङ्पूर्वस्य ``ईहि चेष्टायाम्'' इत्यस्य एहते इति वाक्ये ``मन्यादिभ्यः किः'' इति कौ-*एहिः*, एवं पर्येहते *पर्येहिः* । *चरी* गूढपुरुषी । *गरी* भक्षिका । *तरी* तरित्री स्त्री । गाही अवगाहिका । *सूदी* सूपकारिणी । *अराल* इति पक्षिविशेषार्थोऽत्र द्रष्टव्यः, वक्रार्थस्तु शौणादौ द्रष्टव्यः । *उदवड* इति—``वड आग्रहणे'' सौत्रो धातुः, उदकं वडति इति *उदवडः* पानीयहारिणीवाचकः कृमिजातिविशेषो वा । *चण्ड* इति—गौरीवाचकश्चण्डशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः कोपनावाचकस्तु शोणादौ द्रष्टव्यः । उमाया भङ्ग इव भङ्गो यस्याः । हरी ओषधिस्तस्या इव कणा यस्याः, हरयः सुवर्णवर्णाः कणा यस्या वा । *वटरः* क्षुद्रजन्तुः, अधिकारं कारयति या स्त्री । *करणे* इति करणकारके इत्यर्थः । ``ईषच् गतौ'' ।।2. 4. 19.।।

अणञेयेकण्-नञ् स्नञ् टिताम् ।। 2. 4. 20. ।।

अणादिप्रत्ययानां योऽकारस्तदन्तान्नाम्नः प्रत्यासत्तेस्तेषामेवाणादीनां वाच्यायां स्त्रियां वर्तमानाद् ङीर्भवति । अण्-उपगोरपत्यमौपगवी, तपोऽस्या अस्तीति तापसी, कुम्भकारी, काण्डलावी याति; अञ्—उत्सस्यापत्यमौत्सी, बिदस्यापत्यं पौत्री-बैदी, छत्र-चुरा-तपःशीलेति छत्रादित्वादञि-छात्री, चौरी, तापसी; एयण्-सुपर्ण्या अपत्यं सौपर्णेयी, वैनतेयी; एयच्-शिलायास्तुल्या शिलेयी, एयञ्-शैलेयी, ``शिलाया एयच्च'' (7. 1. 113.), निरनुबन्धनिर्देशः सामान्यग्रहणार्थः । इकण्-अक्षैर्दीव्यति आक्षिकी, प्रस्थेन क्रीता प्रास्थिकी; नञ्-स्त्रिया अपत्यमियं वा स्त्रैणी; स्नञ्-पुंसोऽपत्यमियं वा पौंस्नी; टित् जानु ऊर्ध्वं प्रमाणमस्या जानुदघ्नी, जानुद्वयसी, जानुमात्री, पञ्च अवयवा यस्याः पञ्चतयी, एवं द्वयी, त्रयी; शक्तिरायुधमस्याः शाक्तीकी, एवं याष्टीकी; ह्यो भवा ह्यस्तनी, एवमद्यतनी, श्वस्तनी, चिरन्तनी, परुत्तनी; भूतपूर्वा भिक्षुः—भिक्षुचरी, सक्तुधानी, गायनी, कुरुचरी; प्रत्ययसाहचर्यादागमटितो न भवति-पठिता विद्या । शुनिन्धयी, स्तनन्धयीत्यादौ तु धातोष्टित्करणस्यानन्यार्थत्वादटितोऽपि भवति । अणादीनां षष्ठीनिर्देशेनाकारस्य विशेषणं किम् ? पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, ``तदधीते०'' (6. 2. 117.) इत्यण्, तस्य ``प्रोक्तात्'' (6. 2. 129.) इति लोपे-पाणिनीया कन्येति ङीर्यथा मा भूत् । प्रत्यासत्त्या तैरेवाणादिभिः स्त्रिया विशेषणं किम् ? गौतमेन प्रोक्ता नीतिर्गौतमीति, ताम् —``अधीते'' (6. 2. 117.) इत्यण्, तस्य ``प्रोक्तात्'' (6. 2. 129.) इति लोपे ``ङ्यादे०''

(2. 4. 95.) इत्यादिना ङीलोपे च ङीर्यथा न स्यात्-गौतमा कन्या, अस्त्यत्राणोऽकारो न तु तदभिधेया नीतिलक्षणा स्त्रीप्रत्ययार्हा, यदभिधेया तु कन्यालक्षणा स्त्रीप्रत्ययार्हा न तस्याकारोऽस्ति इति । तथा बहुकुम्भकारा नगरी, बहुकुरुचरेत्यादि ॥20॥

न्या०स०—अणञेयेकण्० ।काण्डान् लविष्यामीति *काण्डलावी* ``कर्मणोऽण्'' (5. 3. 14.) । *पाणिनीयम्*इति—पणनं पणः ``पणेर्माने'' (5. 3. 32.) अल्, सोऽस्यास्तीति पणी, तस्यापत्यं वृद्धं ``ङसोऽपत्ये'' (6. 1. 28.) अण्, पाणिनस्यापत्यं युवा ``अत इञ्'' (6. 1. 31.), पाणिनिना प्रोक्तं ``तेन प्रोक्ते'' (6. 3. 181.) इति विषये ``यूनि लुप्'' (6. 1. 137.) इति इञो लुप्, अन्यथा ``वृद्धेञः'' (6. 3. 28.) इति स्यात्, यतो ``वृद्धाद्यूनि'' (6. 1. 30.) इत्यत्र यूनोऽपि वृद्धसंज्ञाकार्यदर्शनादित्युक्तम्, ततोऽत्रापि इजन्तस्यावृद्धेऽपि वर्त्तनं ज्ञेयं, ततो ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) । *बहुकुम्भकारा नगरी*ति—अत्र बहवः कुम्भकारा यस्यामिति कार्यम्, यदा तु बह्व्यः कुम्भकार्यो यस्यामिति क्रियते तदा ``ऋन्नित्यदितः'' (7. 3. 171.) इति कचि बहुकुम्भकारीकेति भवति ॥2. 4. 20.॥

वयस्यनन्त्ये ॥ 2. 4. 21. ॥

प्राणिनां कालकृता शरीरावस्था बाल्ययौवनादि वयः, तस्मिन्ननन्त्येऽचरमे वर्तमानादकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । कुमारी, किशोरी, वर्क्वरी, कलभी, तरुणी, तलुनी, वधूटी, चिरिण्टी । धवयोगाभावविशिष्टं वयः कुमारीशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्, न तु धवयोगाभावमात्रम्; वृद्धकुमारी तु उपमानात् । अनन्त्य इति किम् ? वृद्धा, स्थविरा । आदित्येव-शिशुः । कथं द्विवर्षा ?, त्रिवर्षा ?, उत्तानशय्या ?, लोहितपादिकेति ? नैता वयःश्रुतयोऽर्थात् तु वयो गम्यते । बाला वत्सेत्यादयस्त्वजादौ ॥21॥

न्या०स०—वयस्य० ।*कुमारी*ति-एतेषां कुमारादयश्चत्वारः प्रथमवयोवचनाः, किञ्च तदन्तादपि विधिरिष्टः, परमश्चासौ कुमारश्च, स्त्री चेत् परमकुमारी । *तरुणी*तितरुणादयस्तु तावन्त एव कौमारादुत्क्रम्य नययौवनवचना इति । *द्विवर्षा* इति—द्वे वर्षे भूता ``प्राणिनि भूते'' (6. 4. 112.) इत्यः । *उत्तानशय्ये*ति-उत्ताना शेते ``ऊर्ध्वादिभ्यः०'' (5. 1. 136.) अः ॥2. 4. 21.॥

द्विगोः समाहारात् ॥ 2. 4. 22. ॥

समाहारद्विगुसंज्ञकान्नाम्नोऽकारान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति । पञ्चपूली, पञ्चाजी, दशराजी,

द्विकुडवी, पञ्चकुमारी । कथं त्रिफला ? अजादिपाठात् ॥22॥

न्या०स०—द्विगोः समा० । सम्यगाहरणमेकीकरणं समाहारः । *समाहारद्विगुसंज्ञे*ति समाहारविशेषितेन द्विगुना नाम विशिष्यते, अयमर्थः—समाहृतिं विना पञ्च रात्रयः प्रिया अस्य पञ्चरात्रप्रिय इत्यादावपि ङीः स्यात् । ननु द्वन्द्वसमाहारस्य ``द्वन्द्वैकत्व०'' (लिङ्गानुशासने) इति नपुंसकत्वविधानेन स्त्रीत्वाभावात् समाहारादित्युक्तेऽपि द्विगोः समाहारादिति लप्स्यते, किं द्विगुग्रहणेन ?, अथोत्तरार्थमित्यपि न वाच्यम्, तद्धितलुकीति करणात्, नैवम् समाहारादित्युक्तौ समाहारान्तान्नाम्न इत्याशङ्क्येत, ततश्च वाक्त्वचमतिक्रान्ता अतिवाक्त्वचीति स्यात्, इष्टं च अतिवाक्त्वचेति ॥2. 4. 22.॥

परिमाणात् तद्धितलुक्यबिस्ताऽऽचित-कम्बल्यात् ॥2. 4. 23.॥

परितः- सर्वतो मानं परिमाणम्, तच्च रूढिवशात् प्रस्थादि, यदाहुः—

``ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥1॥

बिस्तादिभ्यो यदन्यत् परिमाणं तदन्ताद् द्विगोरकारान्तात् तद्धितलुकि स्त्रियां ङीर्भवति । द्वाभ्यां कुडवाभ्यां क्रीता—द्विकुडवी, त्रिकुडवी; द्व्याढकी, त्र्याढकी । परिमाणादिति किम् ? पञ्चभिरश्वैः क्रीता-पञ्चाश्वा दशाश्वा; द्विशता, त्रिशता । तद्धितलुकीति किम् ? द्विपण्या । अबिस्ताऽऽचितकम्बल्यादिति किम् ? द्वाभ्यां बिस्ताभ्यां क्रीता-द्विबिस्ता, त्रिबिस्ता, द्विपरमबिस्ता; द्व्याचिता, त्र्याचिता; द्विकम्बल्या, त्रिकम्बल्या ॥23॥

न्या०स०—परिमाणा० । सर्वत आरोह-परिणाहाभ्यां मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति परिमाणम्, परिच्छित्तिक्रियाकरणमात्रं परिमाणं नेह ग्राह्यं, मानादित्यकरणादित्याह—*तच्चे*ति । *तदन्तादि*ति-अर्थे कार्यासम्भवादिह, परिमाणवाची यः शब्दस्तदन्तादित्यर्थः । आढौकते मानाय अचि पृषोदरेत्यादिना साधुः, अथवा ``कीचक०'' (उणा० 33) इति साधुः । *द्विशते*त्यादि— ``शताद्यः'' (6. 4. 145.) इत्यस्य विधानसामर्थ्यान्न लुप्, तस्य च विकल्पेन प्रवृत्तेः पक्षे ``संख्या-डतेः०'' (6. 4. 130.) इति कः, ``अनाम्न्यद्विः प्लुष्'' (6. 4. 141.) । *द्विपण्ये*ति— ``पणपाद०'' (6. 4. 148.) इति ये तस्य च विधानसामर्थ्यादलुपि । ननु बिस्तादय उन्मानवचनाः तथाहि—बिस्तशब्देन षष्टिः पलशतान्युच्यन्ते, आचितशब्देन तौलकम्, कम्बल्यशब्देनाप्यूर्णापलशतम्, तत्राऽपरिमाणनत्वाद् ङीप्रसङ्गाभावात् किं निषेधेन ?, नैवम्-अनेकार्थानि हि

मानानि भवन्ति, तत्र देशविशेषे परिमाणार्थान्यपि तानि सन्ति, तदर्थं युज्यते एव निषेधः। ``द्वित्रिबहोर्निष्कबिस्तात्'' (6. 4. 114.) इति इकण्लोपो द्विबिस्ताशब्दे ।।2. 4. 23.।।

काण्डात् प्रमाणादक्षेत्रे ।। 2. 4. 24. ।।

प्रमाणवाचिकाण्डशब्दान्तादक्षेत्रविषयाद् द्विगोस्तद्धितलुकि सति स्त्रियां ङीर्भवति। आयामः—प्रमाणम्, द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः—द्विकाण्डी, त्रिकाण्डी रज्जुः। प्रमाणादिति किम् ? द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्रीता-द्विकाण्डा, त्रिकाण्डा शाटी। अप्रमाणादपीच्छन्त्यन्ये, तन्मते द्विकाण्डी, त्रिकाण्डी शाटीत्येव भवति। अक्षेत्र इति किम् ? द्वे काण्डे प्रमाणस्याः—द्विकाण्डा, त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। अक्षेत्र इति द्विगोर्विशेषणं किम् ? काण्डस्य क्षेत्रविषयत्वेऽपि यथा स्यात्—द्वाभ्यां काण्डाभ्यां क्षेत्रसंज्ञिताभ्यां क्रीता द्विकाण्डी वडवा, नात्र द्विगुः क्षेत्रविषयः, किं तर्हि ? काण्डशब्द इति ।।24।।

न्या०स०—काण्डात् प्र०। क्षियन्ति निवसन्त्युप्तानि बीजानि वृद्धिं वा गच्छन्त्यस्मिन्निति ``हु-या-मा०'' (उणा० 451) इति त्रे-क्षेत्रम्, षोडशहस्तप्रमाणं काण्डम्। *क्षेत्रभक्ति*रिति-भक्तिग्रहणं तद्धितार्थस्य स्त्रीत्वार्थम्। *क्षेत्रसंज्ञिताभ्या*मिति-यकाभ्यां काण्डाभ्यां क्षेत्रं परिच्छिन्न ते ते काण्डे अपि क्षेत्रसंज्ञिते ।।2. 4. 24.।।

पुरुषाद् वा ।। 2. 4. 25. ।।

प्रमाणवाचिपुरुषशब्दान्ताद् द्विगोस्तद्धितलुकि स्त्रियां ङीर्वा भवति। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः—द्विपुरुषी, द्विपुरुषा; त्रिपुरुषी, त्रिपुरुषा परिखा। प्रमाणादित्येव—द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां क्रीता-द्विपुरुषा, त्रिपुरुषा वडवा। तद्धितलुकीत्येव-पञ्चपुरुषा-रज्जुः, प्रमाणभूताः पञ्च पुरुषाः समाहृताः—पञ्चपुरुषी ``द्विगोः समाहारात्'' (2. 4. 22.) इति नित्यमेव ।।25।।

*न्या०स०—पुरुषाद् वा। द्विपुरुषी*ति-मात्रटो ``हस्तिपुरुषाद् वाण्'' (7. 1. 141.) इत्यणो वा ``द्विगोः संशये च'' (7. 1. 144.) इति लुप् ।।2. 4. 25.।।

रेवत-रोहिणाद् भे ।। 2. 4. 26. ।।

भं-नक्षत्रम्, रेवत-रोहिणाभ्यां नक्षत्रशब्दाभ्यां स्त्रियां ङीर्भवति। रेवती, रोहिणी। यदापि ``चित्रारेवती-रोहिण्याः स्त्रियाम्'' (6. 3. 108.) इति जातार्थीयस्याणो लुकि ङीप्रत्ययस्यापि

लुग् भवति, तदापि नक्षत्रशब्दत्वात् पुनरनेन ङीर्भवति-रेवत्यां जाता-रेवती, रोहिण्यां जातारोहिणीति । भ इति किम् ? रेवता, रोहिणा । कथं ``रेवतीरमणो बलः, रेवती, शुष्करेवती ?'' रेवच्छब्दो मत्वर्थीयान्तोऽस्ति, तत उदिल्लक्षणो ङीः । कथं रोहिणी ?, कटुरोहिणी ? रोहिणशब्दः प्रकृत्यन्तरमस्ति, ततो जातिलक्षणो ङीर्भविष्यति ।।26।।

*न्या०स०–रेवत-रो । रेवत्यां जाता रेवती*ति-अत्र कन्या वाच्या, ततो गौणोऽपि रेवतीशब्दो नक्षत्रे वर्त्तते । ननु ``गौरादिभ्यः'' (2. 4. 19.) इत्यतो मुख्याधिकारे मुख्यादेव प्राप्नोति, तत् कथमत्र गौणात् ?, सत्यम्-मुख्याधिकारेऽपि क्वाऽपि शाब्द्या वृत्त्या क्वाऽप्यार्थ्या वृत्त्या प्राधान्यं ग्राह्यम्, अत्र तावदार्थ्या वृत्त्या प्राधान्यम्, कथं ? नक्षत्रलक्षणोऽर्थो यदि वाच्यो न भवेत् तदा कथं तद्विशिष्टः कालो वाच्यः स्यादमुना प्रकारेणेति । *कथं रेवती*ति-रीङ् च् रीयते विच् गुणः, रेर्मेथोऽस्यास्तिमत् ``नाम्नि'' (2. 1. 95.) वत्वम् । *रोहिणी*ति स्त्रीपर्यायत्वादत्र रोहिणशब्दस्यानक्षत्रार्थाद् ङीर्न प्राप्नोतीत्याशङ्का । *प्रकृत्यन्तरमि*ति-अर्थभेदात् प्रकृतिभेद इत्यर्थः ।।2. 4. 26.।।

नीलात् प्राण्यौषध्योः ।। 2. 4. 27. ।।

नीलशब्दात् प्राणिनि औषधौ च स्त्रियां ङीर्भवति । नीली वडवा, नीली गौः, नीली औषधिः । प्राण्यौषध्योरिति किम् ? नीला शाटी ।।27।।

*न्या०स०–नी० । नीली*त्यत्र जातिशब्दादपि जातौ नित्यस्त्रीत्वात् ``जातेः०'' (2. 4. 54.) इत्यप्राप्तेऽनेनैव ङीः। ये तु नीलः पट इत्यर्थान्तरेऽस्त्र्यर्थस्यापि दर्शनादनित्यं स्त्रीत्वमभ्युपगच्छन्ति तेषां गुणशब्दस्यैवेदमुदाहरणम् जातिशब्दात् तु ``जातेः'' (2. 4. 54.) इति ङीः सिद्ध एव ।।2. 4. 27.।।

क्ताच्च नाम्नि वा ।। 2. 4. 28. ।।

नीलशब्दात् क्तान्ताच्च शब्दरूपात् स्त्रियां ङीर्वा भवति, नाम्निसंज्ञायाम् । नीली, नीला; प्रबद्धा चासौ विलूना चेति प्रबद्धविलूनी, प्रबद्धविलूना ।।28।।

*न्या०स०–०क्ताच्च ० । प्रबद्धा चासौ विलूना चेती*ति-अर्थकथनमिदं, प्रबद्धश्चासौ विलूनश्च स्त्री चेदिति तु कार्यम्, अन्यथा गौणत्वाभावात् ``गोश्चान्त०'' (2. 4. 96.)

इत्यत्राप्रवृत्तावदन्तत्वाभावाद् ङीर्न स्यात्, औषधिविशेषः, अखण्डः संज्ञाशब्दः, व्युत्पत्तिमा-त्रमिदम् ॥2. 4. 28.॥

केवल-मामक-भागधेय-पापा-ऽपर-समाना-ऽऽर्यकृतसुमङ्गल-भेषजात् ॥ 2. 4. 29. ॥

एभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, नाम्नि । केवली नाम ज्योतिः, मामकी, भागधेयी, पापी, अपरी, समानी, आर्यकृती, सुमङ्गली, भेषजी । नाम्नीति किम् ? केवला । मामकशब्दादञन्त-त्वेनैव ङीसिद्धौ नाम्नि नियम्यते, तेन मामिका बुद्धिरित्यसंज्ञायामञ्लक्षणोऽपि ङीर्न भवति ॥29॥

*न्या०स०—केवल-माम० । केवली*ति—केव्यते—सेव्यते केवलिभिरिति ``मृदि कन्दि कुण्डि०'' (उणा० 465) इत्यलः । *मामकशब्दादि*ति-ननु कथं मामकग्रहणं नियमार्थं ? शोभनो मामकोऽस्याः सुमामकेत्यत्र तदन्तविधेरिष्टत्वाद् विध्यर्थताप्युपपद्यत एव, विधि-नियमसंभवे हि विधेरेव ज्यायस्त्वात्; सत्यामपि वा नियमार्थतायां विपरीतनियमः कस्मान्न भवति-मामकशब्दस्यैव नाम्नीति; अत्रोच्यते-इह प्रकरणे तदन्तविधेरिष्टत्वेऽपि मुख्याधिकारादमुख्यमामकशब्दान्तान्न ङीः, केवलैरेव चेतैः संज्ञाप्रतीतिर्न त्वमुख्यतदन्तैः, अत एव केवला एव केवलादय उदाहृता न कृतसमासा इत्युपपद्यत एव नियमार्थता; विपरीतनियमोऽपि न भवति, तदा हि केवलादीनामपि संज्ञायां ङीर्निवर्त्तितः स्यात्, संज्ञापि बाध्येति तेषां वैषम्यं स्यात्, यथोक्तनियमे तु न किञ्चिन्नोपपद्यत इति । अपरीति-पिपर्त्तीति अचि परः, तस्य नञ्समासेऽपरी । *भेषजी*ति—``भेषृग् भये'' घञि भेषं जयति ``क्वचित्'' (5. 1. 171.) इति डे । *मामकी*-मातुली । *भागधेयी*-बलिः । *पापी, अपरी* ओषध्यौ । *समानी* छन्दः । *आर्यकृती* क्रियाविशेषः । *सुमङ्गली* छन्द ओषधिर्वा । *भेषजी* ओषधिः ॥2. 4. 29.॥

भाज-गोण-नाग-स्थल-कुण्ड-काल-कुश-कामुक-कट-कबरात् पक्वा-ऽऽवपन-स्थूला-ऽकृत्रिमा-ऽमत्र-कृष्णा-ऽऽयसी-रिरंसु-श्रोणि केशपाशे ॥ 2. 4. 30. ॥

भाजादिभ्यो दशभ्यो यथासंख्यं पक्वादिष्वर्थेषु स्त्रियां ङीर्भवति, नाम्नि । भाज्यत इति भाजी पक्वा चेत्, भाजान्या; गोणी आवपनं चेत्, गोणान्या; नागी स्थूला चेत्, नागान्या; जातौ तु नाग्येव, तस्याः स्थौल्याभावात् । स्थली अकृत्रिमा चेत्, स्थलान्या;

कुण्डी अमत्रं चेत्, कुण्डान्या; काली कृष्णा चेत्, कालान्या; कुशी आयसी चेत्, कुशान्या; कामुकी रिरंसुश्चेत्, कामुकान्या कटी श्रोणी चेत्, कटान्या; कबरी केशपाशश्चेत् कबरान्या; जानपदशब्दादपि । वृत्ताविच्छत्यन्यः–जानपदी वृत्तिः, वृत्तेरन्यत्र-जानपदा मदिरा ।।30।।

न्या०स०–भाज-गोण० । *भाजी*ति–``भजण् विश्राणने'' इत्यस्य भाज्यते–विश्राण्यते दीयते ``णिवेत्त्यास०'' (5. 3. 111.) इत्यने प्राप्ते बाहुलकात् ``शंसि०'' (5. 3. 105.) इति अः. अथवा ``स्थादिभ्यः कः'' (5. 3. 82.) इति कः। *कुण्डी*ति–इह कुण्डशब्दस्य ङीविधानं विस्पष्टार्थमेव, जातिवचनात् ``जातेः०'' (2. 4. 54.) इत्यनेनैव सिद्धत्वात् । *कुण्डान्ये*ति–``कुडुङ् दाहे'' ``क्तेट०'' (5. 3. 106.) इत्यप्रत्यये ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्यापि क्रियाशब्दोऽयम् । कालयति मन इति अचि (काली) । *कुशान्ये*ति-काष्ठमयी तदाकृतिर्वल्गा वा । *केशपाश* इति–``क्लिशः के च'' (उणा० 530) इति शे केशः । ``पांक् रक्षणे'' पा-दा-वमि०'' (उणा० 527) इति शे–पाशः । *केशपाशः केशवेषः* केशानां वेषः केशरचनाविशेष इत्यर्थः । *नागे*ति-न अगः ``नखादयः'' (3. 2. 128.) ।।2. 4. 30.।।

नवा शोणादेः ।। 2. 4. 31. ।।

शोणादेर्गणात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । शोणी, शोणा; चण्डी, चण्डा । शोण, चण्ड, अराल, कमल, कृपण, विकट, विशाल, विशङ्कट, भरूज, ध्वज, कल्याण, उदार, पुराण, बहु, बहुः, बह्वी;–एवंनामा काचित्, गुणवचनात् तूत्तरेणैव भविष्यति । हन्-वृत्रघ्नी, वृत्रहा । चन्द्रभागान्नद्याम्–चन्द्रभागी, चन्द्रभागा नाम नदी, नद्या अन्यत्र चन्द्रभागा नाम देवता । अनद्यामिति केचित्-चन्द्रभागी, चन्द्रभागा काचित्, अनद्यामित्येव-चन्द्रभागा नाम नदी । अण्णन्तान्नद्यामित्येके-चान्द्रभागी, चान्द्रभागा नाम नदी; अण्णन्तान्नित्यं प्राप्ते विकल्पः । अनद्यां तु नित्यं ङीः–चान्द्रभागी छाया । अन्ये तु अण्णन्तादेवार्थ भेदेन विकल्पमिच्छन्ति-नद्यामाप्प्रत्यययोऽन्यत्र ङीप्रत्ययः-चान्द्रभागा नदी, चान्द्रभागी वनराजिः ।।31।।

न्या०स०–नवा शो० । *शोणी*ति–``शोणृ वर्णे'' *अस्याऽचि-शोण* उज्ज्वलो वर्णः निर्दोषरक्तवर्ण इत्यर्थः । *चण्डी*ति-कोपनायामनेनैव विकल्पः, गौर्यां तु गौरादिपाठान्नित्यं ङीः । *अराल*शब्दो वक्रार्थोऽत्र दृष्टव्यः, पक्षिविशेषे तु गौरादौ । लक्ष्म्यां कमली कमला । भरोर्ऋषेर्जातः–*भरुजः*–ऋषिविशेषः । भरुजेति तु पाठान्तरम्, तदा ``भृजैङ्-भर्जने'' णिगन्तादचि, अत एव पाठाद् रेफात् परतो दीर्घ ऊकारागमे-भरूजाः–स्नेहभृष्टाः किल

तन्दुलाः । *ध्वजी* ध्वजा कल्पपालभार्या दशवक्रा च । *वृत्रघ्नी*ति–केवलस्य हन्शब्दस्याप्रयोगात् तदन्तमुदाहरति । *चन्द्रभागी*ति–चन्द्रभागयोः पर्वतयोरदूरभवा नद्यपि चन्द्रभागी । अणन्तान्नद्यामित्येके । *चान्द्रभागी*ति–चन्द्रभागाभ्यां गिरिभ्यां प्रभवति अण् ॥2. 4. 31.॥

इतोऽक्त्यर्थात् ॥ 2. 4. 32. ॥

इकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्वा भवति, न चेत् तत् क्त्यर्थप्रत्ययान्तं स्यात् । भूमी, भूमिः; अङ्गुली, अङ्गुलिः; धूली, धूलिः; आली, आलिः; धमनी, धमनिः; दर्वी, दर्विः; श्रोणी, श्रोणिः; राजी, राजिः; आवली, आवलिः; यष्टी, यष्टिः; शारी, शारिः; सरणी, सरणिः; अशनी, अशनिः; अरणी, अरणिः, शकृत्करी, शकृत्करिः; आत्मंभरी, आत्मंभरिः; कपी, कपिः; अही, अहिः; तारी, तारिः, मुनी, मुनिः; अश्वती, अश्वतिः; अङ्कतिः; अङ्कतिः; अंहती, अंहतिः; शकटी, शकटिः; शस्त्री, शस्त्रिः, रजनी, रजनिः; धरणी, धरणिः, रात्री, रात्रिः । अक्त्यर्थादिति किम् ? कृतिः; हृतिः, अजननिः, अकरणिः, ज्यानिः, ग्लानिः; हानिः । कथं साती ?, सातिः ?–तिगन्ताद् भविष्यति । अन्ये तु अश्वति-अङ्कति-अंहति-शकटि-शस्त्रि-शारि-तारि-अहि-कपि-मुनि-रात्रि-यष्टिभ्यः कटि-श्रोणि-प्रभृतिप्राण्यङ्गवाचिभ्यः क्तिवर्जितकृदन्तेभ्यश्चे कारान्तेभ्य इच्छन्ति, नान्येभ्यः, तन्मते-शोभनो गन्धो यस्याः सा सुगन्धिः, सुरभिगन्धिः; निर्गता कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः, आणिः, शाणिः– इत्यादिषु न भवति, क्तिमात्रवर्जनाच्चाकरणि-अजननि-ज्यानिग्लानिप्रभृतिषु न प्रतिषेधः ॥32॥

*न्या०स०–इतोऽक्त्यर्थात् । आवली*ति-आङ्पूर्वाद् वलेः ``पदि-पठि०'' (उणा० 607) इति इकारे । *सरणी*ति-स्त्रियते गम्यतेऽनया ``ऋ-हृ-सृ०'' (उणा० 638) इत्यादिनाऽणिः । *अरणी*ति-अग्निनिर्मथनकाष्ठम् । जनपदे भवा जाता वा ``उत्सादेरञ्'' (6. 1. 19.) अश्वतेर्भार्याऽभेदोपचारेण *अश्वती*ति-अग्निभार्या, अप्राप्तमपि धवयोगात् स्त्रीत्वम् । अङ्कतिः–वायुर्ब्रह्माग्निः, तेषां भार्याऽभेदोपचारेण*अङ्कति* । *अहंती*ति–दानेऽपि ``तिरयों-ऽहति-शाणी'' (लिङ्गानुशासने) इति स्त्रीत्वम् । *शस्त्री*ति–``शसू हिंसायां'' ``रा-शदि०'' (उणा० 696) इति बहुवचनादत्रौ । *सातिरि*ति-``वन षण भक्तौ'' सन्यादित्याशास्यमाना ``तिक्-कृतौ०'' (5. 1. 71.) इति तिकि ``न तिकि दीर्घश्च'' (4. 2. 69.) इति आत्वम् । *शाणिरि*ति-श्यतेः ``का-वा-वी०'' (उणा० 634) इति बहुवचनाण्णौ । *क्तिमात्रे*ति-न तु क्त्यर्थवर्जनादित्यर्थः । *कथमि*ति-अत्रापि क्तिप्रत्ययोऽस्तीत्याशङ्कार्थः । *अन्ये त्वि*ति-पाणिनेः पूर्वे । ननु 'कृच्छेषा उणादयः' इति न्यायात् कृदन्तेभ्यश्चेत्यनेनैवाश्वतिप्रभृतीनामुणादीनां ङीर्भविष्यति किं तेषां

पृथगुपादानेन ? सत्यम्-तन्मते उणादीनामश्वतिप्रभृतिशोण्यन्तानामेव भवति, तेनाणीत्यादीषु ङीर्न भवति ।।2.4.32.।।

पद्धतेः ।। 2. 4. 33. ।।

पद्धतिशब्दात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । पद्धती; पद्धतिः । क्त्यर्थ आरम्भः ।।33।।

न्या०स०—पद्धतेः । पादाभ्यां हन्यते ``श्वादिभ्यः'' (5. 3. 92.) क्तिः, ``हिम-हति०'' (3. 2. 69.) पदादेशः, अथवा हननं-हतिः, पादस्य हतिः ।।2. 4. 33.।।

शक्तेः शस्त्रे ।। 2. 4. 34. ।।

शक्तिशब्दाच्छस्त्रे स्त्रियां ङीर्वा भवति । शक्ती, शक्तिः । शस्त्र इति किम् ? शक्तिः—सामर्थ्यम् ।।34।।

न्या०स०—शक्तेः शस्त्रे । शक्तिशब्दस्य क्त्यन्तत्वादक्त्यर्थादिति प्रतिषेधे प्राप्ते शस्त्रवाचिनो विकल्प आरभ्यत इति ।।2. 4. 34.।।

स्वरादुतो गुणादखरोः ।। 2. 4. 35. ।।

स्वरात् परो य उकारः सामर्थ्यादेकवर्णव्यवहितस्तदन्ताद् गुणवचनात् खरुवर्जितान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्वा भवति । गुणादिति सामान्योक्तावपि केवलगुणवृत्तेः स्त्रीत्वायोगात् ततो द्रव्यवृत्तेः प्रत्ययः । पट्वी, पटुः; मृद्वी, मृदुः; बह्वी, बहुः; साध्वी, साधुः; तन्वी, तनुः; लघ्वी, लघुः; विभ्वी, विभुः । स्वरादिति किम् ? पाण्डुर्भूमिः । उत इति किम् ? श्वेता पटी । गुणादिति किम् ? आखुः स्त्री, चिचीषुः स्त्री । अखरोरिति किम् ? खरुरियम् ।

``सत्त्वे निविशतेऽपैति, पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः'' ।।1।।

इति गुणमिह परिभाषन्ते । सत्त्वं द्रव्यम्, तत्रैव निविशते-तदेवाश्रयति यः स गुण इति संबन्धः । द्रव्यादपैत्यपगच्छति—यथाऽऽम्रन्नीलता पीततायामुपजातायाम्, पृथग्जातिषु-भिन्नजातीयेषु दृश्यते, यथा सैव नीलता आम्रे दृष्टा तरुणतृणेषु दृश्यते, एतेन सर्वेण जातिर्गुणो न भवतीत्युक्तं भवति । आधेय—उत्पाद्यो यथा कुसुमयोगाद् गन्धो वस्त्रे, यथा

वाऽग्निसंयोगाद् घटे रक्तता । अक्रियाजो–नित्यः, तद्यथाऽऽकाशादिषु महत्त्वादिः । तदेवं गुणस्योत्पाद्यत्वाऽनुत्पाद्यत्वप्रकारद्वयप्रदर्शनेनोत्पाद्यत्वैकप्रकारस्य कर्मणो व्यवच्छेदः । असत्त्व-प्रकृतिः–द्रव्यस्वभावरहितः, अनेन द्रव्यस्य व्यवच्छेदः ॥35॥

न्या०स०–स्वरादुतो० । अर्थे कार्यासम्भवादुत इत्यादिविशेषणायोगाच्चोपचाराद् गुणवचनः शब्दो गुण इत्युच्यते । *स्त्रीत्वायोगादि*ति-उकारान्तस्य पुंस्त्वविधानादित्यर्थः । *खरुरियमि*ति–क्रूरा मूर्खा दर्पिष्टा श्वेता वा स्त्री, ``खरुः स्यादश्व-हरयोर्दर्पदन्तसितेषु च'' । यद्यपि महत्वरूपस्या-काशगुणस्यापैतीति विशेषणं न घटते तथाप्याम्रादिस्थितनीलादिगुणस्य घटमानं सर्वस्यापि विशेषणं भवति, यथा कस्यचिद् गोश्चन्द्रक इति विशेषणं चिह्नं कृतं चन्द्रकोऽयं गौरिति, पश्चाद् गोसमूहोऽपि चन्द्रकोऽयमित्युच्यते तथाऽत्रापि भविष्यति ॥2. 4. 35.॥

श्येतैत-हरित-भरत-रोहिताद् वर्णात् तो नश्च ॥ 2. 4. 36. ॥

एभ्यो वर्णवाचिभ्यः स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्संनियोगे तकारस्य नकारश्च भवति । श्येनी, श्येता; एनी, एता; हरिणी, हरिता; भरणी, भरता; रोहिणी, रोहिता; लत्वे लोहिनी, लोहिता । वर्णादिति किम् ? श्येता, एता । चकारो नकारस्य ङोसंनियोगशिष्टतार्थः ॥36॥

न्या०स०–श्येतैत० । वाऽधिकारः प्रधानत्वात् प्रत्ययविधिनैव संबध्यते । *श्येनी*तिशुभ्रा । *एनी* कर्बुरा शुभ्रा वा । *हरिणी* नीला । *भरणी* पाटला धूसरा घृतवर्णा वा *रोहिणी* रक्ता इत्यर्थः ॥2. 4. 36.॥

क्नः पलिता-ऽसितात् ॥ 2. 4. 37. ॥

त इति चेति चानुवर्तते, पलितासिताभ्यां स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्संनियोगे तकारस्य क्नादेशश्च । पलिक्नी, पलिता; असिक्नी, असिता ॥37॥

न्या०स०–क्नः पलिता० । ङीप्रत्ययसम्बन्धे पञ्चमी, तस्यैव च विकल्प इत्याह ङीर्वेति । *असिक्नी*ति-असितशब्देनाधर्मानृतन्यायेन सितप्रतिपक्षो वर्ण उच्यते, तदैव ङीप्रत्ययः क्नादेशश्च, यदा तु सिता-बद्धा, न सिताऽसितेति तदा न स वर्ण इति तत्र द्वयमपि न भवति । पलितशब्दोऽपि केशरोगविषये वर्णे, पलितमस्या अस्ति अभ्राद्यः, या गौर्लघ्व्यपि गर्भं दधाति सा *असिक्नी* अन्तः पुरदूती च ॥2. 4. 37.॥

असह-नञ्-विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गादक्रोडादिभ्यः ।। 2. 4. 38. ।।

सह-नञ्-विद्यमानवर्जितपूर्वपदं यत् स्वाङ्गं, तदन्तात् क्रोडादिगणवर्जितान्नाम्नोऽकारान्तात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । पीनस्तनी, पीनस्तना; अतिक्रान्ता केशानतिकेशी, अतिकेशा माला; निष्क्रान्ता केशेभ्यो निष्केशी, निष्केशा यूका; स्वडी, स्वडा वृश्चिकी, अडो नाम वृश्चिकाद्यवयवः । असहनञ्विद्यमानपूर्वपदादिति किम् ? सहकेशा, अकेशा, विद्यमानकेशा । स्वाङ्गादिति किम् ? बहुयवा । अक्रोडादिभ्य इति किम् ? कल्याणी क्रोडा अस्याः कल्याणक्रोडा, क्रोड-शब्दः स्त्रीक्लीबलिङ्गः; कल्याणखुरा, पीनगुदा, एकशफा, दीर्घबाला, भव्यभाला, सुगला, सुभगा; कल्याणी उखा-स्फिक् यस्याः सा कल्याणोखा, कल्याणगोखा । बहुवचनमाकृतिगणार्थम्, तेन–किशलयकरा, मृणालभुजेत्यादि । आदित्येव- परमशिखा ।

``अविकारोऽद्रवं मूर्तं, प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तन्निभं च प्रतिमादिषु'' ।।1।।

इति च स्वाङ्गम् । अविकार इति किम् ? बहुशोफा । अद्रवमिति किम् ? बहुकफा । मूर्तमिति किम् ? बहुज्ञाना । प्राणिस्थमिति किम् ? दीर्घमुखा शाला । च्युतं च प्राणिनस्तदिति किमर्थम् ? अप्राणिस्थादपि पूर्वोक्ताद् यथा स्यात्-बहुकेशी, बहुकेशा रथ्या । तन्निभं च प्रतिमादिष्विति किमर्थम् ? प्राणिस्थसदृशादपि पूर्वोक्ताद् यथा स्यात्–पृथुमुखी, पृथुमुखा प्रतिमा । कथं कल्याणं पाणिपादमस्याः कल्याणपाणिपादा इत्यत्र न भवति ? स्वाङ्गसमुदायो हि न स्वाङ्गम्, बहुस्वरत्वेन वक्ष्यमाणनियमबलाद् वा न भवतीति । द्विपादी, त्रिपादीत्यत्र तु ``द्विगोः समाहारात्'' (2. 4. 22.) इति विशेषविधानाद् नित्यमेव ङीर्भवति । अस्वाङ्गपूर्वपदादेवेच्छन्त्यन्ये–पाणी एव पादौ यस्याः सा पाणिपादा, मुखमेव नासिका यस्याः सा मुखनासिका ।।38।।

न्या०स०–असहन० । सह-नञ्-विद्यमानशब्दानां पूर्वपदरूपाणां वर्जनात् मध्यपदेन स्वाङ्गस्य व्यवधानेऽपि ङीप्रतिषेधः, यथा–विद्यमानं कल्याणं मूखं यस्याः सा विद्यमानकंल्याणमुखेति । *पीनगुदे*ति–``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के-गुदं स्त्रीणामपाङ्गम्-अपकृष्टमङ्गम्, कल्याणं गुदमस्या इति न्यासः । *भव्यभाले*ति–``भलि भल्लि परिभा०'' घञि-भालः ललाटः । *कल्याणगोखे*ति-उखाशब्दसान्निध्यात् स्त्रीत्वं ज्ञायते । गोरिव खम्-इंद्रियं यस्याः सा गोखा, कल्याणा गोखा यस्या इति, अवयवविशेषो जघनरूपः । *अविकार* इति-विकारो वातादिजन्मशोफादिः । *अद्रवमि*तिद्रवणं द्रवः, न द्रवोऽस्येत्यद्रवम्, द्रवतीति द्रवं, न द्रवमद्रवं वा । *मूर्त्तमि*ति–रूपादियोगो मूर्त्तिः, असर्वगतद्रव्यपरिमाणं वा, तद्योगान्मूर्तं

पुद्गलद्रव्यम् । *च्युतं च प्राणिन* इतिअपरं लक्षणद्वयमुच्यते, तद्-अविकारादिलक्षणयुक्तं, प्राणिनः च्युतमपि स्वाङ्ग भवति ।।2. 4. 38.।।

नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गा-ऽङ्ग-गात्र-कण्ठात् ।। 2. 4. 39. ।।

असह-नञ्विद्यमानपूर्वपदेभ्य एभ्यः स्वाङ्गेभ्यः स्त्रियां ङीर्वा भवति, पूर्वेण सिद्धे नियमार्थमिदम्, तेन-नासिकोदराभ्यामेव बहुस्वराभ्याम्, ओष्ठादिभ्य एव च संयोगोपान्त्येभ्यो भवति, नान्येभ्यः । तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका; कृशोदरी, कृशोदरा; बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा; दीर्घजङ्घी, दीर्घजङ्घा; समदन्ती, समदन्ता; चारुकर्णी, चारुकर्णा; तीक्ष्णशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गा; मृद्वङ्गी, मृद्वङ्गा; सुगात्री, सुगात्रा; स्निग्धकण्ठी, स्निग्धकण्ठा । असह-नञ्विद्यमानपूर्वपदादित्येव सहनासिका, अनासिका, विद्यमाननासिका; सोदरा, अनुदरा; विद्यमानोदरा; इत्यादि । नियमः किम् ? पृथुजघना, सुललाटा, दृढहृदयेत्यादौ बहुस्वराद् न भवति; कल्याणगुल्फा, सुपार्श्वा इत्यादौ संयोगोपान्त्यान्न भवति । अङ्ग-गात्र-कण्ठेभ्यो ङीप्रत्ययं नेच्छन्त्यन्ये । केचित् तु दीर्घजिह्वशब्दादपीच्छन्ति–दीर्घजिह्वी, दीर्घजिह्वा कन्येति ।।29।।

न्या०स०–नासिको० । *सहनासिके*ति-सहस्य सो विकल्पेन भवतीत्यत्र न । *तुङ्गनासिकी*ति-``तुजु वलने च'' इत्यस्य घञि उद्गादित्वाद् गे-तुङ्गा । *समदन्ती*तिसमशब्दोऽजन्तः । *कल्याणगुल्फे*ति–``गल अदने'' ``कलि-गलेरस्योच्च'' (उणा० 315) इति फे-गुल्फः, कल्याणौ गुल्फावस्याः ।।2. 4. 39.।।

नख-मुखादनाम्नि ।। 2. 4. 40. ।।

असह-नञ्-विद्यमानपूर्वपदाभ्यां स्वाङ्गाभ्यां नख-मुखशब्दाभ्यां स्त्रियां ङीर्वा भवति, अनाम्नि-असंज्ञायामेव । शूर्पनखी, शूर्पनखा; अतिनखी, अतिनखा; चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा; अतिमुखी, अतिमुखा । अनाम्नीति किम् ? शूर्पणखा, व्याघ्रणखा, वज्रणखा, गौरमुखा, श्लक्ष्णमुखा, कालमुखा; संज्ञाशब्दा एते ।।40।।

न्या०स०–नखमु० । *संज्ञाशब्दा एते* इति-न तु यौगिका इत्यर्थः ।।2. 4. 40.।।

पुच्छात् ।। 2. 4. 41. ।।

असह-नञ्-विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गात् पुच्छात् स्त्रियां ङीर्वा भवति । दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा; अतिपुच्छी, अतिपुच्छा । असह-नञ्-विद्यमानपूर्वपदादित्येव-सपुच्छा, अपुच्छा, विद्यमानपुच्छा ।।41।।

न्या०स०–पुच्छात् । नासिकादिनियमान्निवृत्तौ वचनम् । यद्येवं नासिकादिसूत्र एव कुतो न पठ्यते ? किमर्थं पृथुगुद्दिश्यत इति, उच्यते–पुच्छादित्यस्यैवोत्तरत्रानुवृत्त्यर्थम् ।।2. 4. 41.।।

कबर-मणि-विष-शरादेः ।। 2. 4. .42. ।।

कबरादिपूर्वात् पुच्छात् स्त्रियां नित्यं ङीर्भवति, पुनर्विधानं नित्यार्थम् कबरं–कर्बुरं कुटिलं वा पुच्छमस्याः-कबरपुच्छी, मणिः पुच्छेऽस्या मणिपुच्छी, विषं पुच्छेऽस्या विषपुच्छी; शरं पुच्छेऽस्याः शरपुच्छी ।।42।।

न्या०स०–कबरम० । ``न सप्तमीन्द्वादिभ्यश्च'' (3. 1. 165.) इत्यनेन मणिपुच्छीत्यादिषु मण्यादिशब्दानां पूर्वनिपातः ।।2. 4. 42.।।

पक्षाच्चोपमादेः ।। 2. 4. 43. ।।

उपमानपूर्वात् पक्षशब्दात् पुच्छशब्दाच्च स्त्रियां ङीर्भवति । उलूकस्येव पक्षावस्या उलूकपक्षी शाला, उलूकस्येव पुच्छमस्या उलूकपुच्छी सेना ।।43।।

न्या०स०–पक्षाच्चो० । उपमीयतेऽनयेति बाहुलकात् ``उपसर्गादातः'' (5. 3. 110.) इत्यङ्, प्रसिद्धसाधर्म्यादप्रसिद्धविषये येन ज्ञानमुपजन्यत इति । ``कबर-मणि-विष-शरादेः पक्षाच्चोपमादेस्तु' इत्येकयोगाकरणात् स्वाङ्गादेरिति निवृत्तम् । *उलूकस्येव पक्षावस्या* इति अत्र उलूकशब्द उलूकपक्षे उलूकपुच्छे च वर्त्तते, यथोष्ट्रमुखे उष्ट्रशब्दः, अतश्चोलूकशब्द उपमानं भवतीत्युलूक इव पक्षावस्या इत्यादिविग्रहः, उलूकस्येव पक्षावित्यादि त्वर्थकथनम् ।।2. 4. 43.।।

क्रीतात् करणादेः ।। 2. 4. 44. ।।

करणमादिरवयवो यस्य तस्मात् क्रीतान्ताद् नाम्नोऽकारान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति ।

अश्वेन क्रीयते स्म अश्वक्रीती, धनक्रीती, वस्त्रक्रीती, विभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेव कृदन्तेन समासः; मनसाक्रीती, अलुप् । करणग्रहणं किम् ? सुक्रीता, दुष्क्रीता । आदिग्रहणं किम् ? अश्वेन क्रीता, नह्यत्र करणं क्रीतान्तस्य नाम्न आदिरवयवो भवति, ऐकपद्याभावात् । कथं ``सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी'' इति, धनं च सा क्रीता चेति कर्मधारयोऽयम्, करण-विवक्षायामपप्रयोग एव । केचित् तु धनेन क्रीतेत्यत्राबन्तेनापि समासमिच्छन्ति बहुलाधिकारात्, तदाऽकारान्तत्वाभावात् ङीर्न भवति ॥44॥

न्या०स०–क्रीतात् कर० । *केचित् त्विति*–तन्मतेऽपि प्रत्ययोत्पत्तेः प्रागिति समासो बहुलाधिकाराल्लभ्यते, मन्मतेऽपि बहुलाधिकाराश्रयणे तथैव ॥2. 4. 44.॥

क्तादल्पे ॥ 2. 4. .45. ॥

क्तप्रत्ययान्ताद् नाम्नः करणादेरल्पेऽर्थे स्त्रियां ङीर्भवति । अभ्रविलिप्ती द्यौः, सूपविलिप्ती स्थाली; अल्पाभ्रा, अल्पसूपेत्यर्थः । अल्प इति किम् ? चन्दनानुलिप्ता स्त्री, अनल्पेन चन्दनेन लिप्तेत्यर्थः ॥45॥

न्या०स०–क्तादल्पे । *अभ्रविलिप्तीति*-पूर्ववदस्याद्यन्तेन समासः । *सूपविलिप्तीति*-अल्पार्थस्य गम्यमानत्वादल्प-शब्दस्याप्रयोगः ॥2. 4. 45.॥

स्वाङ्गादेरकृत-मित-जात-प्रतिपन्नाद् बहुव्रीहेः ॥ 2. 4. 46. ॥

स्वाङ्गादेः कृतादिवर्जितात् क्तान्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीर्भवति । शङ्खौ भिन्नावस्याः शङ्खभिन्नी, ऊरुभिन्नी, केशविलूनी ; गलकोत्कृत्ती । कृतादिवर्जनं किम् ? दन्तकृता, दन्तमिता, दन्तजाता, दन्तप्रतिपन्ना । बहुव्रीहेरिति किम् ? हस्ताभ्यां पतिता हस्तपतिता, पादपतिता ॥46॥

न्या०स०–स्वाङ्गादेः० । पूर्ववत् पारिभाषिकं स्वाङ्गम् । *क्तान्ताद् बहुव्रीहेरिति*-कृतादिवर्जितो यः–क्तः क्तान्त इति ``विशेषणमन्तः'' (7. 4. 113.) इति न्यायात्, सोऽन्ते यस्य बहुव्रीहेः । ``जातिकाल०'' (3. 1. 152.) इति शङ्खादेः प्राग् निपातः । हस्ताभ्यां पतित इति कार्यमन्यथा अदन्तत्वाभावेनैव ङीप्राप्तिर्नास्ति ॥2. 4. 46.॥

अनाच्छादजात्यादेर्नवा ॥ 2. 4. 47. ॥

आच्छादवर्जिता या जातिस्तदादे: कृतादिवर्जितक्तान्ताद् बहुव्रीहे: स्त्रियां ङीर्वा भवति । शाङ्गरो जग्धोऽनया शाङ्गरजग्धी, शाङ्गरजग्धा; पलाण्डुभक्षिती, पलाण्डुभक्षिता । अनाच्छादग्रहणं किम् ? वस्त्रच्छन्ना, वसनच्छन्ना । जात्यादेरिति किम् ? मासयाता, संवत्सरयाता, बहुयाता, अयाता, सुयाता, सुखयाता, दु:खयाता; पूर्वेणापि न भवति, अस्वाङ्गादित्वात् । अकृताद्यन्तादित्येव–कुण्डकृता, कुण्डमिता, पलाण्डुजाता, वृक्षप्रतिपन्ना । क्तादित्येवशाङ्गरप्रिया ।।47।।

न्या०स०–अनाच्छा० । आच्छादशब्द: करणसाधनकप्रत्ययान्त:, तस्य च नञ्विशिष्टस्य जात्या कर्मधारय:, तत आदिशब्देनावयवार्थेन बहुव्रीहि: कार्य: । *शाङ्गरजग्धी*ति-शाङ्गरशब्दस्तालव्यादिरव्युत्पन्न: । *मासयाते*त्यादिषु मास-संवत्सरशब्दयो: कालवचनत्वाद् बहु-सुख-दु:खानां च गुणवचनत्वान्नञस्त्वभाववचनत्वादजात्यादेरिति व्यावृत्त्या निषिध्यते । *वृक्षप्रतिपन्ने*ति-वृक्षात् प्रतिपन्नमनया । *शाङ्गरप्रिये*ति-शाङ्गरं प्रियमस्या: ।।2. 4. 47.।।

पत्युर्न: ।। 2. 4. 48. ।।

पत्यन्ताद् बहुव्रीहे: स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्संनियोगेऽन्तस्य नकारादेशश्च । दृढ: पतिरस्या दृढपत्नी, दृढपति:; स्थिरपत्नी, स्थिरपति:; स्थूलपत्नी, स्थूलपति:; वृद्धपत्नी, वृद्धपति: । मुख्यादित्येव–बहुस्थूलपति: पुरी, अत्र हि पत्यन्तो बहुव्रीहिर्मुख्यो न भवति, यस्तु मुख्य: स पत्यन्तो न भवति; यदापि स्थूलश्चासौ पतिश्चेति कर्मधारये सति बहव: स्थूलपतयो यस्यामिति बहुव्रीहिस्तदापि स्थूलपत्यन्तो बहुव्रीहिर्न पत्यन्त इति न भवति ।।48।।

न्या०स०–पत्युर्न: । *पत्युरि*ति पञ्चम्यन्तमधिकृतस्य बहुव्रीहेर्विशेषणं, तेन च तदन्तविधिरित्याह–*पत्यन्तादि*ति । *बहुस्थूलपति: पुरी*ति-स्थूला: पतयो यासां ता: स्थूलपतय इति कृते ``पत्युर्न:'' इति नविकल्पनाद् बहव: स्थूलपतयो यस्याम् । *मुख्यो न भवती*ति-द्वितीयेन बहुव्रीहिणा बाधितत्वात् । *पत्यन्तो* न *भवती*ति–किं तर्हि ? स्थूलंपत्यन्त: ।।2. 4. 48.।।

सादे: ।। 2. 4. 49. ।।

सपूर्वात् पतिशब्दात् स्त्रियां ङीर्वा भवति, अस्य च नकारोऽन्तादेश:; पूर्वेणैव सिद्धे पुनर्वचनं बहुव्रीहिनिवृत्त्यर्थम् । ग्रामस्य पति:- ग्रामपत्नी, ग्रामपति:; आशापत्नी, आशापति:; अधिष्ठात्री पति:–अधिपत्नी, अधिपति:; ईषदूना पति:–बहुपति:, बहुपत्नी । सादेरिति

किम् ? पतिरियम्, ग्रामस्य पतिरियम् । मुख्यादित्येव–अतिक्रान्ता पतिमतिपतिः । गौणादपीच्छन्त्यन्ये अतिपत्नी, अतिपतिः । यदा तु पत्नीशब्दस्य षष्ठ्यन्तेन समासस्तदा राजपत्नी शूद्रपत्नीत्याद्येव भवति ।।49।।

न्या०स०–सादेः । सह विद्यमानवचनो न तु तुल्ययोगवचनः सपत्न्यादाविति निर्देशात्, तुल्ययोगे हि पूर्वेण शब्देन सह पतिशब्दस्य नकारो भवतीति सूत्रार्थे सपत्नीति निर्देशो न स्यात् । ननु `सादेः पत्युर्नः' इत्येकयोगो विधीयतां, सादित्वेन बहुव्रीहावपि अन्यस्मिन् वा भविष्यति, नैवम्-मुख्यादित्यधिकारात् सादावेव स्यात्, न तु बहुव्रीहौ, पृथग्योगे तु पूर्वसूत्रे मुख्यादिति बहुव्रीहिसमासस्यैव विशेषणं, न पत्युः ।।2. 4. 49.।।

सपत्न्यादौ ।। 2. 4. 50. ।।

सपत्न्यादौ यः पतिशब्दस्तस्मात् स्त्रियां ङीर्भवति, नकारश्चान्तादेशः; पुनर्विधानं नित्यार्थम् । समानः पतिरस्याः समानस्य पतिरिति वा-सपत्नी, एवम्-एकपत्नी, वीरपत्नी, पिण्डपत्नी, भ्रातृपत्नी, पुत्रपत्नी; षडेते. सपत्न्यादयः । समुदायनिपातनं समानस्य सभावार्थम्, पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं च–सपत्नीभार्यः, सपत्न्या अयं-सापत्नः ।।50।।

न्या०स०–*सपत्न्यादौ* । *सभावार्थमि*ति-धर्मादिषु पत्नीशब्दस्यापाठादित्यर्थः । पुंवद्भावप्रतिषेधार्थं चेति–``परतः स्त्री०'' (3. 2. 49.) इति ``जातिश्च णि०'' (2. 3. 51.) इति च प्राप्तस्य ।।2. 4. 50.।।

ऊढायाम् ।। 2. 4. 51. ।।

पत्युः केवलादूढायां–परिणीतायां स्त्रियां ङीर्भवति, नकारश्चान्तादेशः । पत्नी, यजमानस्य पत्नी, वृषलस्य पत्नी । ऊढायामिति किम् ? पतिरियं संगृहीता, अभार्या वेत्यर्थः ।।51।।

न्या०स०–*ऊढायाम्* । याऽग्निसाक्षिपूर्वकेण पाणिग्रहणेन परिणीता सेह गृह्यते । तदन्तविधिश्च नामग्रहणे नाश्रीयत इत्याह–*केवलावि*ति । *संगृहीते*त्यत्र अनग्निसाक्षिकं कामार्दितमदारकर्मत्वे परिगृहीतेत्यर्थः । *अभार्या* चेत्यत्र भार्याया अन्या अप्रधानभूता भगिन्यादिरुच्यते ।।2. 4. 51.।।

पाणिगृहीतीति ।। 2. 4. 52. ।।

इतिशब्दः प्रकारार्थः, पाणिगृहीतीप्रकाराः शब्दा ऊढायां स्त्रियां ङ्यन्ता निपात्यन्ते। पाणिर्गृहीतोऽस्याः पाणौ वा गृहीता—पाणिगृहीती, एवं करगृहीती, पाण्यात्ती, करात्ती। ऊढायामिति किम् ? यस्या यथाकथञ्चित् पाणिर्गृह्यते सा पाणिगृहीता। बहुव्रीहावेवेच्छन्त्यन्ये ॥52॥

न्या०स०—पाणि० । पाणिगृहीती इति प्रकारो येषां ते तथा, जसः सूत्रत्वाल्लुप् ॥2. 4. 53.॥

पतिवत्न्यन्तर्वत्न्यौ भार्या-गर्भिण्योः ॥ 2. 4. 53. ॥

भार्या-अविधवा स्त्री, तस्यामभिधेयायां पतिमच्छब्दाद् ङीरस्य च पतिवत्नादेशः, तथा गर्भिण्यां स्त्रियामभिधेयायामन्तर्वच्छब्दाद् ङीरस्य चान्तर्वत्नादेशो निपात्यते; निपातनादेव च अधिकरणप्रधानादप्यन्तः—शब्दान्मत्वर्थीयो मतुर्भवति। भार्येति किम् ? पतिमती पृथ्वी। गर्भिणीति किम् ? अन्तरस्यां शालायामस्ति ॥53॥

न्या०स०—पतिवत्न्यन्त० । अधिकरणप्रधानादपीति-``तदस्यास्त्यस्मिन्०'' (7. 2. 1.) इत्यत्र तदिति प्रथमान्ताद् विहितत्वेनाऽप्राप्त इत्यर्थः ॥2. 4. 53.॥

जातेरयान्त-नित्यस्त्री-शूद्रात् ॥ 2. 4. 54. ॥

जातिवाचिनोऽकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति, न चेत् तद् यान्तं नित्यस्त्रीजातिवाचि शूद्रशब्दो वा भवति। तत्र जातिः काचित् संस्थानव्यङ्ग्या, यथा-गोत्वादिः, सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सत्यत्रिलिङ्गाऽन्या, यथाब्राह्मणत्वादिः, अत्रिलिङ्गत्वं देवदत्तादेरप्यस्तीति सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे सतीत्युक्तम्, गोत्र-चरणलक्षणा च तृतीया, यदाहुः—

``आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह'' ॥1॥ इति

कुक्कुटी, सूकरी, तटी, पात्री; तथा ब्राह्मणी, वृषली; तथा नाडायनी, चारायणी; कठी, बह्वृची। जातेरिति किम् ? मुण्डा, शुक्ला, कृता, देवदत्ता। अयान्तेति किम् ? इभ्या, क्षत्रिया, वैश्या, अर्या; गवयी, हयी, मुकयी, मनुषी, मत्सी, ऋश्यी इति गौरादिपाठात्। अन्तग्रहणं साक्षात्प्रतिपत्त्यर्थम्, तेन वतण्डस्यापत्यं पौत्रादि स्त्रीति यञ्, तस्य लोपे स्थानिवद्भावेऽपि वतण्डीत्यत्र यान्तलक्षणः प्रतिषेधो न भवति। नित्यस्त्रीजातिवर्जनं किम् ? मक्षिका, यूका,

खट्वा । कथं तर्हि द्रोणी ?, कुटी ?, अत्र हि शब्दयोर्नित्य स्त्रीत्वाभावेऽपि द्रोणी-कुटीजातेर्नित्यस्त्रीत्वात् प्रतिषेधः प्राप्नोति; –नैवम् गौरादिपाठाद् भविष्यति । शूद्रवर्जनं किम् ? शूद्रा । कथं महाशूद्रीआभीरजातिः ?, नात्र शूद्रशब्दो जातिवाची, किं तर्हि ?– महाशूद्रशब्दः, यत्र तु शूद्र एव जातिवाची तत्र भवत्येव ङीनिषेधः–महती चासौ शूद्रा च महाशूद्रेति । जातिलक्षणस्य चायं प्रतिषेधः, तेन-धवयोगे भवत्येव शूद्रस्य भार्या-शूद्री । आदित्येव-आखुः, तित्तिरिः; कोयष्टिः । मुख्यादित्येवबहुशूकरा भूमिः, बहुब्राह्मणा शाला । कथं सुपर्णी ? सुपर्णशब्दस्यापि जातिवाचित्वात्, तस्य च मुख्यत्वात् ।।54।।

न्या०स०–जातेरया० । जातिः सामान्यमभिन्नबुद्धिध्वनिप्रसवनिबन्धनमर्थः, तत्र च कार्यासम्भवात् तद्वाचिनो ग्रहणमित्याह–*जातिवाचिन* इति । *सकृदुपदेशव्यङ्ग्यत्वे* इति–उभयोरपि संबध्यते । *आकृतिग्रहणे*त्यत्र गृह्यतेऽनेनेति आकृतिः–अवयवरचना ग्रहणं यस्याः । *लिङ्गानां चे*ति-लिङ्गानां सर्वं–सर्वत्वं भजति लिङ्गसमुदायं वा, सर्वं भजते वा । *सकृदाख्याते*त्यत्र सकृदाख्याता सती नियमेन ग्राह्या । *पात्री*ति-अव्युत्पन्नोऽयं, ``हु-या-मा०'' (उणा० 451) इति त्रप्रत्ययान्तो वा, त्रडन्तस्य तु टिट्द्वारा ङीः सिद्ध एव । *ब्राह्मणी*ति-अयमप्यव्युत्पन्नः, ``चिक्कण०'' (उणा० 190) इति । निपातो वा, ब्रह्म अणति कर्मणोऽणि पृषोदरादिनिपाते, अपत्याणि वाऽणन्तत्वाद् ङीः सिद्ध एव । बह्वृचीति–``नाप्रियादौ'' (3. 2. 53.) इत्यनेन न पुंवन्निषेधः, तत्र पूरण्यबन्तस्य ग्रहणात् । यद्यपि कठादयोऽपि ब्राह्मणविशेषास्तथापि कठादीनामत्रिलिङ्गत्वं न, यथा-कठेन प्रोक्तं वेत्त्यधीते वा-कठं ब्राह्मणकुलमिति तुर्यं जातिलक्षणं विधेयमेव । कुटीति-मतान्तरेण कुटीशब्दस्य नित्य-स्त्रीत्वं, स्वमते ``गृहे कुटः'' (लिङ्गानु० पुंस्त्री० श्लो० 2) इति लक्षणेन पुंस्त्रीत्वमिति मतान्तरेणेदं दर्शितम् । *कथं महाशूद्री*ति-केवलात् शूद्रात् ङ्यां महती चासौ शूद्री चेति महाशुद्रीति परस्याभिप्रायः । महांश्चासौ शूद्रश्चेति व्युत्पत्तिमात्रमिदम्, यथा-पलिक्नीत्यत्र वृत्तिनिमित्तं जातिः, जातिद्वारेण ङीः । *आभीरजातिरि*ति वैश्यभेद एव, आभीरो गवाद्युपजीवी । *कथं सुपर्णी*ति-पर्णशब्दस्यैव जातित्वं, तस्य च कृते समासे अमुख्यत्वमित्यभिप्रायः ।।2. 4. 54.।।

पाक-कर्ण-पर्ण-वालान्तात् ।। 2. 4. 55. ।।

पाकाद्यन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । ओदनस्येव पाकोऽस्याः–ओदनपाकी, क्षणं क्षणेन वा पाकोऽस्याः–क्षणपाकी, आखुकर्णी, शङ्कुकर्णी, मुद्गपर्णी, सालपर्णी, गौरिव वाला अस्याः–गोवाली, अश्ववाली; संज्ञा एता ओषधीजातीनाम् । जातेरित्येव-बहुपाका यवागूः । आसां जातीनां नित्यस्त्रीरूपत्वाद् वचनम्, एवमुत्तरसूत्रत्रयेऽपि ।।55।।

न्या०स०—पाककर्ण० । आखुकर्णीति—आखोः कर्ण इव कर्णः पत्रं यस्याः, शङ्कुरिव कर्णोऽस्याः, मुद्गस्येव पर्णान्यस्याः, ``सल गतौ'' सल्यत इति घञि-सालः, दन्त्यादिः, सालस्येव पर्णान्यस्याः ।।2. 4. 55.।।

असत्-काण्ड-प्रान्त-शतैकाञ्चः पुष्पात् ।। 2. 4. 56. ।।

सदादिरहितशब्दपूर्वो यः पुष्पशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । शङ्खपुष्पी, सुवर्णपुष्पी, हिरण्यपुष्पी । सदादिप्रतिषेधः किम् ? सत्पुष्पा, काण्डपुष्पा, प्रान्तपुष्पा, शतपुष्पा, एकपुष्पा, प्राक्पुष्पा, प्रत्यक्पुष्पा ।।56।।

न्या०स०—असत्काण्ड० । शङ्खपुष्पीति-शङ्खादिवर्णः शङ्खादिशब्दः, तेन शङ्खादि पुष्पं यस्याः । *सत्पुष्पेत्यादि*-अत्र सन्ति काण्डे प्रान्ते शतमेकं च पुष्पं पुष्पाणि वा यस्या इति विग्रहः । *प्राक्पुष्पेति*-अञ्चतिर्लुप्तधाप्रत्ययान्तः, प्राक् प्रत्यक् पुष्पं यस्याः ।।2. 4. 56.।।

असम्-भस्त्रा-ऽजिनैक-शण-पिण्डात् फलात् ।। 2. 4. 57. ।।

समादिवर्जितशब्दपूर्वो यः फलशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । दासीफली, पूगफली; दाडिमफली । समादिप्रतिषेधः किम् ? संफला, भस्त्राफला, अजिनफला, एकफला; एकान्नेच्छन्त्यन्ये, शणफला, पिण्डफला; औषधिजातिविशेषाणां संज्ञा एताः ।।57।।

न्या०स०—असंभस्त्रा० । दासीफलीति-दासीव पूगो दाडिमं च फलं यस्या इति । *संफलेति*-संगतं भस्त्रेव अजिनमिव एकं च फलमस्याः । *शणफलेति*-शणस्येव फलान्यस्याः । *पिण्डफलेति*-पिण्डाकाराणि फलान्यस्याः पिण्डफला कटुतुम्बी, यन्निघण्टुः—``कटुकाऽलाबुती तुम्बी लञ्चा पिण्डफला तथा'' ।।2. 4. 57.।।

अनञो मूलात् ।। 2. 4. 58. ।।

नञ्वर्जितशब्दपूर्वो यो मूलशब्दस्तदन्ताज्जातिवाचिनो नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । दर्भमूली, शीर्षमूली । अनञ इति किम् ? अमूला ।।58।।

न्या०स०—अनञो० । दर्भमूलीत्यत्र दर्भस्येव शीर्षे च मूलं यस्याः । *अमूलेत्यत्र* न विद्यन्ते मूलानि यस्याः ।।2. 4. 58.।।

धवाद् योगादपालकान्तात् ।। 2. 4.59. ।।

धवो-भर्ता, तद्वाचिनोऽकारान्ताद् योगात्-संबन्धात् स्त्रियां वर्तमानात् पालकान्तशब्दवर्जितान्नाम्नो ङीर्भवति। प्रष्ठस्य भार्या-प्रष्ठी, एवं प्रचरी, गणकी, महामात्री, कुमार्यां भवो भर्ता-कौमारः, तस्य भार्या-कौमारी प्रष्ठादयो हि शब्दा धववाचिनोऽपि योगात्-सोऽयमित्यभेदोपचारेण भार्यायां वर्तन्ते, यदा तु ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इति व्यतिरेकविवक्षा तदा तद्धितो भवति प्राष्ठी, प्राचरी। *धवादिति किम् ?* परिसृष्टा, प्रजाता, प्रसूता; सर्वत्र विनिर्लुठितगर्भेत्यर्थः, अस्त्यत्र योगस्तेन विना प्रसवाभावात्, न तु धववाचि नाम। योगादिति किम् ? देवदत्तो धवः, देवदत्ता भार्या स्वत एव, न तद्योगात्। अपालकान्तादिति किम् ? गोपालकस्य भार्या-गोपालिका, एवं पशुपालिका, अविपालिका। आदित्येव-सहिष्णोर्भार्या-सहिष्णुः। कथं ज्येष्ठस्य भार्या-ज्येष्ठा ?, एवं कनिष्ठा ?, मध्यमा ? अजादिपाठात् ॥59॥

*न्या०स०—धवाद् योगा०। सम्बन्धादि*ति-सम्बन्धश्च संबन्धिनमपेक्षते, स च प्रत्यासन्नत्वाद् धवस्यैव विज्ञायते, तेन धवेन स्त्रिया सम्बन्धादित्यर्थः। *कौमारी*तिकुमारी एव प्रतीयते। *योगात् सोऽयमि*ति-अत्र सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन वृत्तिर्वेदितव्या, नह्ययमेवाभिसम्बन्धस्तस्येदमिति, किन्तु सोऽयमित्यपि, अभेदाच्च भेदस्य निवृतत्वात् तद्धितानुपपत्तिः। *व्यतिरेकविवक्षे*ति-प्रष्ठस्येयमिति भेदविवक्षेत्यर्थः। *अस्त्यत्र योग* इति-परिसर्ग-प्रसवौ सम्बन्धनिमित्तौ, न च तौ पुमांसमाचक्षात इत्याह-*अस्त्यत्रे*ति। अन्ये त्वाहुः—परिसर्गो दोहद उच्यते, तेन परिसृष्टा सपरिसर्गा, जातदोहदेत्यर्थः। प्रजनः—प्रथमं गर्भग्रहणं, प्रसवस्तु गर्भविनिर्लुण्ठनम्, एतैश्च योषित एव सम्बन्धो न पुंसः, पुरुषसंयोगनिमित्ता एते, न तद्वाचिन इत्यर्थः। *गोपालकस्येति*-पालयतीति पालकः गवां पालक इति ``अकेन क्रीडाजीवे'' (3. 1. 81.) इति कर्मषष्ठीसमासः ॥2. 4. 59.॥

पूतक्रतु-वृषाकप्यग्नि-कुसित-कुसिदादै च ॥ 2. 4. 60. ॥

एभ्यो धवनामभ्यस्तद्योगात् स्त्रियां वर्तमानेभ्यो ङीर्भवति, तत्संनियोगे ऐकारश्चान्तादेशः। पूतक्रतोर्भार्या-पूतक्रतायी, एवं-वृषाकपायी, अग्नायी, कुसितायी, कुसिदायी। योगादित्येव-पूताः क्रतवो यया सा पूतक्रतुः, एवं वृषाकपिर्नाम काचित् ॥60॥

न्या०स०—पूतक्रतु०। ननु कुसिदादै चेति पञ्चमीनिर्देशादैकारः प्रत्यय एव विज्ञायते, ततश्च ङी ऐकारश्च प्रत्ययौ भवत इति सूत्रार्थः कथं न लभ्यते, कथमुक्तमैकारश्चान्तादेश इति, नैष दोषः—``एयेऽग्नायी'' (3. 2. 52.) इति निर्देशात्, न ह्यैकारस्य प्रत्ययत्वे अग्नायीति भवति। वृषो धर्मः, कपिर्वराहस्ताद्रूप्यात् पृषोदरादित्वाद् दीर्घेवृषाकपिः, वृषं दानवमाक्रम्पितवान् वा ``अम्भि-कुण्ठि '' (उणा० 614) इति इः। कुसितकुसिदौ ऋषी ॥2. 4. 60.॥

मनोरौ च वा ॥ 2. 4. 61. ॥

मनोर्धवनाम्नस्तद्योगात् स्त्रियां वर्तमानाद् ङीर्वा भवति, तत्संनियोगे औकार ऐकारश्चान्तादेशो भवति । मनोर्भार्या-मनावी, मनायी, मनुः ॥61॥

न्या०स०—मनोरौ० । प्रत्ययसंनियोगार्थं चकारोऽनुवर्त्तते । वाशब्दः प्रथमं विधेयतया प्रधानेन ङीप्रत्ययेन संबध्यते, न त्वौकारेण तत्संनियोगविधानेनाप्रधानत्वादिति ॥2. 4. 61.॥

वरुणेन्द-रुद्र-भव-शर्व-मृडादान् चान्तः ॥ 2. 4. 62. ॥

एभ्यो धवनामभ्यस्तद्योगात् स्त्रियां वर्तमानेभ्यो ङीर्भवति, तत्संनियोगे च आनन्त आगमो भवति । वरुणस्य भार्या-वरुणानी, एवम्-इन्द्राणी, रुद्राणी, भवानी, शर्वाणी, मृडानी । कश्चित् त्वाहिताग्नेर्भार्या-आहिताग्न्यानी, एवं–प्रजापत्यानी, वणिजानीत्यादावपीच्छति; इन्द्रमाचष्टे इन्द्, तद्भार्या इन्द्राणी, एवं-मातुलानीत्यपरः ॥62॥

न्या०स०—वरुणेन्द्र । आनन्त आगमो भवतीति-आनिति दीर्घोच्चारणं मतसंग्रहार्थम्, अन्तग्रहणाभावे तु आनपि भिन्नप्रत्ययः स्यात् । किश्चान्तग्रहणभावे ``अनेकवर्णः सर्वस्य'' (7. 4. 107.) इति सर्वस्यादेशः स्यात् ॥2. 4. 62.॥

मातुला-ऽऽचार्योपाध्यायाद् वा ॥ 2. 4. 63. ॥

एभ्यो धवनामभ्यस्तद्योगात् स्त्रियां वर्तमानेभ्यो ङीर्भवति, तत्सन्नियोगे चाऽऽनन्तो वा भवति । मातुलस्य भार्या-मातुलानी, मातुली; एवम्-आचार्यानी, क्षुभ्नादित्वाण्णत्वाभावः, आचार्यी, आचार्यीति नेच्छन्त्यन्ये, उपाध्यायानी, उपाध्यायी; अन्ये तु-मातुला, आचार्या, उपाध्यायेत्यपीच्छन्ति, तदर्थं ङीरपि विकल्पनीयः ॥63॥

सूर्याद् देवतायां वा ॥ 2. 4. 64. ॥

सूर्यशब्दाद् धवनाम्नस्तद्योगाद् देवतायां स्त्रियां वर्तमानाद् ङीर्वा भवति, तत्संनियोगे आन् चान्तः । सूर्यस्य भार्या-सूर्याणी, पक्षे आबेव-सूर्या । देवतायामिति किम् ? सूर्यस्यादित्यस्य मनुष्यस्य वा भार्या मानुषी-सूरी । सूर्याणीति नेच्छन्त्यन्ये ॥64॥

*न्या०स०—सूर्याद्दे० । सूर्यस्यादित्यस्ये*ति-भगवतोऽपि हि सूर्यस्य वरप्रदानेन मानुषी या भार्या या-सूरी, यथा-कुन्ती । *सूर्याणीति नेच्छन्त्यन्ये* इति-पूर्वे, सूर्याणी तु शकट एव ॥2. 4. 64.॥

यव-यवना-ऽरण्य-हिमाद् दोष-लिप्युरु-महत्त्वे ॥ 2. 4. 65. ॥

धवाद् योगादिति च निवृत्तम्, यवादिभ्यः शब्देभ्यो यथासंख्यं दोषादौ गम्यमाने स्त्रियां ङीर्भवति, तत्संनियोगे आन् चान्तः । दोषे-दुष्टो यवोयवानी, यवानां दोषकारि सहचरितं द्रव्यान्तरम्, अप्रसवधर्मा यव एवेत्यन्ये । लिपौ-यवनानामियं लिपिः—यवनानी, उक्तार्थत्वात् ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यण् न भवति । उरुत्वे-उर्वरण्यम्-अरण्यानी । महत्त्वे-महद्धिमं-हिमानी । लिपीति किम् ? यावनी वृत्तिः, यवनस्य भार्या-यवनी । यवा-ऽरण्यहिमानां तु दोषाद्यभावे स्त्रीत्वमेव नास्तीति न प्रत्युदाह्रियते, संज्ञायां तु भवत्येवयवा, यवना, अरण्या; हिमा नाम काचित् ॥65॥

न्या०स०—यव-यवना० । यौतेरचि यवः, नन्द्यादित्वादने च यवनः । *धवाद् योगादिति च निवृत्तमि*ति-दोषाद्यर्थविशेषोपादानादिति शेषः । *दुष्टो यव* इति-अत्रावयवार्थं एवंविधोऽसन्नेव व्युत्पत्तये परिकल्प्यते, यवजातेर्हि जात्यन्तरं यवानीत्यर्थः *द्रव्यान्तरमि*ति-रालक इत्यर्थः । उरुमहत्त्व-योरेकार्थत्वेऽपि पृथुगुपादानं यथासंख्यार्थम् । *अण् न भवती*ति-तद्विषये ङीविधानादित्यर्थः ॥2.4.65.॥

आर्य-क्षत्रियाद् वा ॥ 2. 4. 66. ॥

आभ्यां स्त्रियां ङीर्वा भवति, तत्संनियोगे आन् चान्तः । आर्याणी, आर्या; क्षत्रियाणी, क्षत्रिया; अधवयोगेऽयं विधिः, धवयोगे तु विशेषविधानात् पूर्वेण नित्यं ङीरेव-आर्यस्य भार्या-आर्यी, एवं-क्षत्रियी । धवयोग एवायं विधिरिति कश्चित्, तन्मते-आर्यस्य भार्या-आर्याणी, आर्या; एवं क्षत्रियाणी, क्षत्रिया; धवयोगादन्यत्र आर्या क्षत्रियेत्येव भवति ॥66॥

यञो डायन् च वा ॥ 2. 4. 67. ॥

यञ्प्रत्ययान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति, तत्संनियोगे डायन् चान्तो वा भवति । गार्गी, गार्ग्यायणी; वात्सी, वात्स्यायनी ॥67॥

न्या०स०—यञो डा० । *डायन्* चेत्यत्र डित्करणमासुरायणीत्यत्र प्रयोजनार्थम् । *डायन् चान्तो वा भवती*ति-साक्षान्निर्दिष्टस्य डायन एव वाशब्देन सम्बन्धो, नाऽनुमितेन ङीप्रत्ययेन प्रत्यासत्तेः, ``षावटाद् वा'' (2. 4. 69.) इति सूत्रकरणाद् वा ॥2. 4. 67.॥

लोहितादि शकलान्तात् ॥ 2. 4. 68. ॥

लोहितादिभ्यः शकलान्तेभ्यो यञन्तेभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, तत्संनियोगे डायन् चान्तः । लौहित्यायनी, सांशित्यायनी, कात्यायनी, शाकल्यायनी ॥68॥

न्या०स०—लोहिता० । अत्र यदि यञ इति नाधिक्रियते तदा 'लोहिता' इत्यत्र ''श्येतैत०'' (2. 4. 36.) इति ङीविकल्पपक्षे, सकलस्य भार्या-शकलीत्यत्र चानेन ङी डायन् च स्यात्, लोहित्यायनीत्यादौ च यञन्तान्न स्यादत आह—*यञन्तेभ्य* इति । कायतेः ''पृषि-रश्चि०'' (उणा० 208) इति कित्यते आकारलोपे च—कतः ॥2. 4. 68.॥

षा-ऽवटाद् वा ॥ 2. 4. 69. ॥

षकारान्तान्नाम्नोऽवटशब्दाच्च यञन्तात् स्त्रियां वा ङीर्भवति, तत्संनियोगे डायन् चान्तः । पौतिमाष्यायणी, पौतिमाष्या; शार्कराक्ष्यायणी, शार्कराक्ष्या; गौकक्ष्यायणी, गौकक्ष्या; आवट्यायनी, आवट्या ॥69॥

न्या०स०—षावटाद् वा । अत्र ङी-डायनोरुभयोरनुवर्त्तनात् प्राधान्यात् ङीप्रत्ययेनैव वाशब्दस्य सम्बन्धो, नाऽन्वाचीयमानेन डायनेत्याह-*स्त्रियां वा ङीर्भवती*ति ॥2. 4. 69.॥

कौरव्य-माण्डूका-ऽऽसुरेः ॥ 2. 4. 70. ॥

एभ्यः स्त्रियां ङीर्भवति, तत्संनियोगे डायन् चान्तः । कौरव्यायणी, माण्डूकायनी, आसुरायणी ॥70॥

न्या०स०—कौरव्य० । *कौरव्यायणी*ति-यदा कुरोर्ब्राह्मणस्यापत्यं तदा ''कुर्वादेर्ञ्यः'' (6. 1. 100.), यदा तु कुरो राज्ञोऽपत्यं तदा ''दुनादि०'' (6. 1. 118.) इत्यनेन, अयं चानयोर्विशेषः—दुनादीत्यस्य द्रिसंज्ञत्वाद् बहुषु लुप् भवति । मण्डूकस्यापत्यं ''पीला-साल्वा०'' (7. 1. 87.) इत्यण् । असुरस्य ऋषेरपत्यं स्त्री ''बाह्वादि०'' (6.1. 32.) इञ् ॥2. 4. 70.॥

इञ इतः ॥ 2. 4. 71. ॥

इञ्प्रत्ययान्तान्नाम्न इकारान्तात् स्त्रियां ङीर्भवति । सुतंगमेन निर्वृत्तेति इनि सौतंगमी, एवं मौनिचित्ती इत इति किम् ? इञादेशात् ष्याद् मा भूत् वराहस्यापत्यं—वाराह्या, एवं बालाक्या, कारीषगन्ध्या, कौमुदगन्ध्या ॥71॥

न्या०स०—इञ इतः । इकारान्तादिति-तद्धितप्रकरणसाहचर्यात् ``प्रश्नाख्याने वेञ्'' (5. 3. 119.) इति इञ् न गृह्यते, पूर्वसूत्रे आसुरिग्रहणात् । डायन् नानुवर्त्तते, अन्यथा इञन्तद्वारेण सिद्धम् । अपत्येऽञन्तस्य मनुष्यजातिवचनत्वादुत्तरेणैव सिद्धेऽजात्यर्थोऽऽ-मारम्भः ।।2. 4. 71.।।

नुर्जातेः ।। 2. 4. 72. ।।

नुर्मनुष्यस्य या जातिस्तद्वाचिन इकारान्तान्नाम्नः स्त्रियां ङीर्भवति । अवन्तेः कुन्तेश्चापत्यमिति ञ्यः, तस्य लोपे-अवन्ती, कुन्ती, दाक्षी, प्लाक्षी, तैकायनी, ग्लुचुकायनी । इत इत्येव-विशोऽपत्यमित्यञ् तस्य च लोपे-विट्, एवं-दरद्; अवन्तीयतेः क्विप्, तस्य लोपे-अवन्तीः स्त्री । नुरिति किम् ? तित्तिरिः । जातेरिति ? निष्कौशाम्बिः कन्या ।।72।।

न्या०स०—नुर्जातेः । अवन्ती, कुन्ती, ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) इति ञ्यः ``कुन्त्यवन्तेः०'' (6. 1. 121.) इति लुप् । *तैकायनी* ``तिकादेरायनिञ्'' (6. 1. 107.) । *ग्लुचुकायनी* ``अदेरायनिः'' (6. 1. 113.) । *तस्य च लोपे* इति—``राष्ट्रक्षत्रियात्०'' (6. 1. 114.) इति विहितस्य ``द्रेरञणः०'' (6. 1. 123.) इत्यनेनेत्यर्थः । एवं-*दरदिति* ``पुरमगध०'' (6. 1. 116.) इति विहितस्याणः, एवं चास्य ``गोत्रं च चरणैः सह'' इति जातित्वम्; यद्वा मनुष्यपर्यायत्वात् स्वयमेव जातित्वम् । *अवन्तीः स्त्रीति*-अवन्तेरपत्यं बहवो माणवकाः ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) ञ्यः, ``बहुषु०'' (6. 1. 124.) इति लुप्, अवन्तीनिच्छति या स्त्री क्यन्, अवन्तेरपत्यं या स्त्रीति तु कृते ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) ञ्यस्य ``कुन्त्यवन्तेः०'' (6. 1. 121.) इत्यनेन लुपि क्यनः प्रागेव ङीः स्यात् ।।2. 4. 72.।।

उतोऽप्राणिनश्चाऽयु-रज्ज्वादिभ्य ऊङ् ।। 2. 4. 73. ।।

उकारान्तान्नृ जातिवाचिनोऽप्राणिजातिवाचिनश्च नाम्नः स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति, युशब्दान्तं रज्ज्वादींश्च वर्जयित्वा । कुरूः, इक्ष्वाकूः, ब्रह्मबन्धूः, धीवबन्धूः; अप्राणिनश्च-अलाबूः, कर्कन्धूः; ब्रह्मा बन्धुरस्या इत्यत्रोङः पूर्वं ``शेषाद् वा'' (7. 3. 175.) इति कच् प्रत्ययः परोऽपि न भवति, तत्र बहुलाधिकारात् । उत इति किम् ? विट्, वधूः, ऊङि हि सति वधूमतिक्रान्तोऽतिवधूरित्यत्र ह्रस्वः स्यात्, यथा-अतिब्रह्मबन्धुरित्यत्र । अप्राणिनश्चेति किम् ? आखुः, कृकवाकुः । जातेरित्येव-पटुः, चिकीर्षुः—स्त्री; काकुः—स्वरभेदः, शङ्कुः—संख्याविशेषः । अयुरज्ज्वादिभ्य इति किम् ? अध्वर्युः स्त्री, चरणत्वाज्जातिः; रज्जुः, हनुः । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् । कथं तर्हि भीरु ! गतं निवर्तत इति ? भीरुशब्दस्य हि

क्रियावाचित्वाज्जातिलक्षणस्योङोऽभावे संबोधने ओत्वं प्राप्नोति, नैवम्-ताच्छीलिकानां संज्ञाप्रकारत्वान्मनुष्यजातिवचनत्वम्, तथा चोङि सति ह्रस्वत्वं सिद्धम् । अन्ये तु ``असूर्यपश्यरूपा त्वं किमभीरुररार्यसे'' इति प्रयोगदर्शनाज्जातिवचनत्वमनिच्छन्त ऊङ न मन्यन्ते ॥73॥

न्या०स०–उतोऽप्रा० । ऊङिति दीर्घनिर्देश उत्तरार्थः, तेन ``नारी सखी०'' (2. 4. 76.) इत्यत्र श्वश्रूरिति दीर्घान्तो निपातः सिद्धः । *कुरूरिति*-तस्यापत्यं ``दुनादि०'' (6. 1. 118.) इति विहितस्य ञ्यस्य ``कुरोर्वा'' (6. 1. 122.) इति लुपि ``गोत्रं च चरणैः सह'' इति जातित्वादूङ् । *इक्ष्वाकूरिति*–``राष्ट्रक्षत्रियात्०'' (6. 1. 114.) इति अञ्, तस्य ``द्रेरञणो०'' (6. 1. 123.) लुप् । *ब्रह्मबन्धूरिति*अत्र च ``लिङ्गानां च न सर्वभाक्'' इति जातित्वम् । *तत्र बहुलाधिकारादि*तिसमासान्तप्रकरणे इत्यर्थः, यद्वा ऊश्वासावूङ् चेति द्विर्विधानादन्यः प्रत्ययो न भवतीति कैयटमतम् ॥2. 4. 73.॥

बाह्वन्त-कद्रु-कमण्डलोर्नाम्नि ॥ 2. 4. 74. ॥

बाहुशब्दान्तान्नाम्नः कद्रु-कमण्डलुभ्यां च नाम्नि विषये स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति । मद्रबाहूः, भद्रबाहूः, कद्रूः, कमण्डलूः; संज्ञा एताः । नाम्नीति किम् ? वृत्तौ बाहू अस्या वृत्तबाहुः ॥74॥

*न्या०स०–*बाह्वन्त० । अन्तग्रहणं तदन्तविध्यर्थम्, अक्रियमाणे हि तस्मिन् यः स्त्रीसंज्ञायां बाहुशब्दस्तस्मात् केवलादूङ विधीयते, यथैव हि देवदत्तशब्दः स्त्री-पु सयोः संज्ञा, एवं बाहुशब्दोऽपि; अप्राणिनश्चेत्यनेन भुजाभिधायकाद् बाहुशब्दादूङ सिद्धो न तु संज्ञाशब्दात्, अन्तग्रहणात् तु तदन्ताद् बाहुशब्दात् क्रियते, न तु केवलात् । *मद्रबाहूरि*त्यत्र मद्रौ भद्रौ बाहू यस्या इत्यवयवार्थकल्पना यथाकथञ्चित् समुदायस्य संपादनार्थं क्रियते । *कमण्डलूरि*त्यत्र कमण्डलुशब्दस्य चाप्राणिजातित्वादप्राणिनश्चेत्यूङि प्राप्ते नियमः क्रियते, रज्ज्वादिपाठेन च ऊङ प्रतिषेधे प्राप्ते विधिः क्रियत इति । नन्वस्याप्राणिजातिवचनत्वात् ``चतुष्पाद्भ्य एयञ्'' (6. 1. 83.) इत्यत्र कामण्डलेय इति कथमुदाहरति, चतुष्पाज्जातिवाचित्वात् प्राणिजातित्वमव्यभिचरितमेव, सत्यम्-अप्राणिजातिवचनोऽयं शब्दान्तरमेव, आनन्त्यात् शब्दानामिति ॥2. 4. 74.॥

उपमान-सहित-संहित-सह-सफ-वाम-लक्ष्मणाद्यूरोः ॥ 2. 4. 75. ॥

उपमानादिपूर्वपदादूरुशब्दात् स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति । करभ इव ऊरू यस्याः सा

करभोरूः, एवं-नागनासोरूः, कदलीस्तम्भोरूः, सहितोरूः, संहितोरूः, सहोरूः, सफोरूः, वामोरूः, लक्ष्मणोरूः। उपमानाद्यादेरिति किम् ? वृत्तोरुः, पीनोरुः । कथं स्वामिन ऊरू-स्वाम्यूरू, हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा-हस्तिस्वाम्यूरुः वडवा ? एवं-करभमात्रूरुः; नात्रोरुशब्द उपमानादिपूर्वोऽपि तु स्वाम्यूरुमात्रूरुशब्दौ ॥75॥

न्या०स०—उपमान० । कुत्सितौ अपलक्षणौ ऊरू यस्याः, शत्रुपर्यायावेतौ । सफशब्दः संक्लिष्टार्थोऽव्युत्पन्नो दन्त्यादिरिति न्यासकृत् । लक्ष्मणादूरोरिति कृते 'सहिता ऊरुः, हे संहित ! ऊरुर्वर्त्तते' इत्यादावपि स्यात् । आदिशब्दः पूर्वावयववचनः, तेन च समासलाभादूरोरुत्तरपदत्वं गम्यते, अत आह-*उपमानादिपूर्वपदादि*ति । *नागनासोरू*रिति-नगे भवा अणि-नागाः, नास्यत इति "क्तेटः" (5. 3. 106) इत्यप्रत्ययेनासा । *कदलीस्तम्भोरू*रिति-कदलशब्दाद् गौरादित्वाद् ङ्याम् । *कथमि*ति-यद्यत्रादिग्रहणमकृत्वाऽन्तग्रहणं क्रियेत तदा ऊर्वन्तादिति विज्ञायमानेऽत्राप्यूङ् प्रसज्येत, अस्ति ह्यत्रोपमानात् परोऽयमूर्वन्तः—स्वाम्यूरुशब्दः, हस्तिस्वाम्यूरुरिति । *वडवे*त्यादि—यथा हस्तिनः सम्बन्धित्वेन स्वाम्यूरू आयातस्तथा वडवाया अपि, एतावता उच्चैस्त्वं वडवाया निवेदितम् ॥2. 4. 75.॥

नारी सखी पङ्गू श्वश्रू ॥ 2. 4. 76. ॥

एते शब्दाः स्त्रियां ङ्यन्ताश्च ऊङन्ताश्च निपात्यन्ते । नृ-नरयोर्ङ्यां नारादेशः—नारी । सखिशब्दात् सखशब्दाच्च बहुव्रीहेर्ङीः—सखी, सह खेन वर्तते या सापि—सखी; निपातनसामर्थ्याद् धवयोगेऽपि भवति—सख्युः स्त्री सखी । पङ्गुशब्दादजातावूङ्-पङ्गूः । श्वशुरशब्दाच्च जातिलक्षणे धवयोग लक्षणे च ङीप्रत्यये प्राप्ते ऊङ् उकाराकारयोर्लोपश्च—श्वश्रूः ॥76॥

न्या०स०—नारी सखी० । *पङ्गुशब्दादजातावूङि*ति—यद्यप्ययं गुणवचनस्तथापि नात्रैकवर्णव्यवहितस्वरात् पर उकार इति "स्वरादुतः०" (2. 4. 35.) इति, अमनुष्यजातित्वादप्राणिजातित्वाभावाच्च "उतोऽप्राणिनः०" (2. 4. 73.) इति वाऽप्राप्तेऽनेनोङ् । *श्वश्रूरि*त्यत्र द्वावपि तालव्यौ । अयं च यद्वा श्वशुरशब्दः संज्ञाशब्दस्तदा अपि श्वशुरा इत्येव भवति, न तु श्वश्रूरिति ॥2. 4. 76.॥

यूनस्तिः ॥ 2. 4. 77. ॥

युवन्शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययो भवति, नकारान्तत्वाद् ङीप्रत्यये प्राप्ते तदपवादो

योगः । युवतिः । यूनीत्यपि कश्चित्, न तच्छिष्टसंमतम् । कथं युवती ?, यौतेरौणादिककिदतिप्रत्ययान्तात् ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. .32.) इति ङीर्भविष्यति । मुख्यादित्येव-अतियूनी, निर्यूनी ॥77॥

न्या०स०—यूनस्तिः । युवतिरित्यत्र ङीरिति जातिग्रहणे ❋ सकृद् बाधित० ❋ इति न्यायात् पश्चात् ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इत्यपि न ॥2. 4. 77.॥

अनार्षे वृद्धेऽणिञो बहुस्वर-गुरूपान्त्यस्याऽन्त्यस्य ष्यः ॥2. 4. 78.॥

अनार्षे वृद्धे विहितौ यावणिञौ प्रत्ययौ तदन्तस्य सतो बहुस्वरस्य गुरूपान्त्यस्य नाम्नोऽन्त्यस्य स्त्रियां ष्य इत्यादेशो भवति, गुरुग्रहणादनेकव्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति; गुरुग्रहणं हि दीर्घपरिग्रहणार्थं संयोगपरपरिग्रहार्थं च, अन्यथा दीर्घोपान्त्यस्येत्युच्येत । करीषस्येव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः, तस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री इत्यण, तस्य ष्यादेशः– कारीषगन्ध्या, एवं–कौमुदगन्ध्या । देवदत्तस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री इतीञ्, तस्य ष्यादेशः– दैवदत्त्या, एवं-वाराह्या, बालाक्या । अनार्ष इति किम् ? वासिष्ठी, वैश्वामित्री । वृद्ध इति किम् ? वराहस्य प्रथमापत्यं स्त्री-वाराही, अहिच्छत्रे जाता–आहिच्छत्री, एवंकान्यकुब्जी । अणिञ इति किम् ? ऋतभागस्यापत्यमिति बिदाधित्वादञ् आर्तभागी, एवम्-आर्ष्टिषेणी । बहुस्वरेति किम् ? दाक्षी, प्लाक्षी । गुरूपान्त्यस्येति किम् ? औपगवी, कापटवी । अणिञन्तस्य सतो बहुस्वरादिविशेषणं किम् ? द्वारस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री इतीञि-दौवार्या, तथा-उडुलोम्नोऽपत्य- मितीञि-औडुलोम्या, सारलोम्या; अत्रेञः पूर्वमबहुस्वरत्वेऽगुरूपान्त्यत्वे च सत्यपीञि सति बहुस्वरत्वाद् गुरूपान्त्यत्वाच्च यथा स्यात् । स्त्रियामित्येवकारीषगन्धः, वाराहिः पुमान् । मुख्यस्येत्येव-बहवः कारीषगन्धा यस्यां साबहुकारीषगन्धा, निर्वाराहिः । कथं सौधर्मी ?, आयस्थूणी ?, भौलिङ्गी ?, आलम्बी ?, आलच्ची ?, कालच्ची औद्ग्राहमानी ?; गौरादिपाठात् । षित्करणं ``ष्या पुत्रपत्योः०'' (2. 4. 83.) इत्यत्र विशेषणार्थम् ॥78॥

न्या०स०—अनार्षे० । *अन्त्यस्य ष्य* इति-अणन्तमिञन्तं च बहुस्वरं नाम निर्दिष्टमिति ❋ निर्दिश्यमानानाम् ❋ इति न्यायेन सकलस्याप्यादेशे प्राप्तेऽन्त्यग्रहणम्, उत्तरार्थं च, तेन ``भोजसूतयोः०'' (2. 4. 81.) इत्यत्र ``अनेकवर्णः सर्वस्य'' (7. 4. 107.) इति न्यायान्न सर्वयोर्भोज-सूतशब्दयोः ष्यादेशः । *दैवदत्त्येति*-शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ष्यादेश आबन्तसहित एव स्त्रीलिङ्गमभिव्यनक्ति, एवं-*कारीषगन्ध्येत्यत्रापि* । *कान्यकुब्जीत्यत्र* कन्या कुब्जा यत्रेति

``ङ्यापो बहुलम्०'' (2. 4. 99.) इति ह्रस्वः, यद्वा कन्याशब्दं केचित् परतः स्त्रीलिङ्गं मन्यन्ते। *आर्तभागी*ति-ननु च ऋषिवचन एवायमृतभागः, तत्रानार्षत्वमपि नास्तीति द्व्यङ्गविकलत्वम्, सत्यम्-शास्त्रेऽस्मिन् प्रदेशान्तरेऽपि ऋषिश्रुत्या विहितः ``ऋषि-वृष्ण्यन्धक०'' (6. 1. 61.) इति प्रत्यय आर्ष इति रूढः, अयं तु ``बिदादिभ्यः'' (6. 1. 41.) इत्येवं विहितत्वादनार्ष इति प्रत्युदाह्रियते; ऋतः–प्राप्तो भगः–पुण्यं येन, अथवा ऋतेन—सत्येन भज्यते वा। *औपगवी*ति-उपगता गावोऽस्यानेन वेत्युपगुः। *बहुकारीषगन्धा निर्वाराहिरि*त्यत्राणि- ञन्तस्य स्त्रीवृत्तित्वेऽपि मुख्याधिकारात् तस्यान्यपदार्थे गुणीभूतत्वेन मुख्यत्वाभाव इति। नन्वेते ङ्याबादयः स्त्रीप्रत्ययाः स्त्रीत्वस्य द्योतका न तु वाचकाः, तत्र यथा विद्युदादयः शब्दाः स्त्रीप्रत्ययमन्तरेण स्वमहिम्नैव स्त्रीत्वं प्रतिपादयन्ति तथा खट्वादयोऽपि प्रतिपाद- यिष्यन्ति, किमेभ्यः स्त्रीप्रत्ययविधानेन ? उच्यते-विचित्रशक्तयो हि भावा भवन्ति, तेऽत्र यथा–घनतरतिमिरनिकरनिरुद्धपदार्थ–सार्थेऽपि निशीथे गगनतलप्रसृमरांशुरचिरांशुरितर- निरपेक्षतयैवात्मानं प्रकाशयति, न चैवं स्तम्भादयः, तेऽपि चास्मदादीनां प्रदीपादिप्रकाशक- सव्यपेक्षा आत्मानं प्रकाशयन्त्येव, संश्लिष्टानां तु प्रदीपादिनिरपेक्षा एव; यथा वा सूर्योपलश्चण्डांशुकरनिकरसंपर्कसमासादितमाहात्म्यः स्वयं शीतोऽपि सान्तरमवस्थितं दाह्यं दहति, न तु प्रत्यासन्नं, प्रत्युत, तत्र शैत्यमुपदर्शयति, तथा शब्दा अपि शक्तिवैचित्र्यात् क्वचित् पदत्वेन पदान्तरसापेक्षेण पदान्तरानपेक्षेण च स्त्रीत्वं प्रतिपादयन्ति, तत्र पदान्तरसापेक्षेण यथेयं गौरित्यादि, अत्र गवाद्यर्थस्योभयलिङ्गत्वादियमिति पदान्तरापेक्षेण गवादिपदेन स्त्रीत्वं प्रतिपाद्यते, तस्य स्त्रीत्वाप्रतिपादने इयमिति न स्यात्। पदान्तरानपेक्षेण नाममात्रेणादेश-प्रत्ययाभ्यां च, तत्र नाममात्रेण यथा-स्वसा दुहितेत्यादयः, अत्र नाममात्रमेव स्त्रीत्वप्रतिपत्तौ समर्थमिति स्त्रीप्रत्ययाभावः, आदेशेन सप्रत्ययेना प्रत्ययेन च, सप्रत्ययेन-क्रोष्ट्री, कारीषगन्ध्येति, अप्रत्ययेन-तिस्रः, चतस्र इति; प्रत्ययेनैकेनानेकेन च, तत्रैकेन–राज्ञी, खट्वेति; अनेकेन सान्तरेण निरन्तरेण सान्तरनिरन्तरेण च, सान्तरेण-कालितरा हरिणितरेति, निरन्तरेण-आर्याणी भवानी, सान्तरनिरन्तरेण आर्याणितरा भवानितरेति। तदेवमनेकप्रकारायां लिङ्गप्रतिपत्तौ नैकः प्रकारः शक्यो नियन्तुम्, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् ।।2.4.79.।।

कुलाख्यानाम् ।। 2. 4. 79. ।।

पुणिक-भुणिक-मुखरप्रभृतयः कुलाख्याः, कुलमाख्यायते आभिरिति कृत्वा, तासामनार्षे वृद्धेऽणिञन्तानामन्तस्य स्त्रियां ष्यो भवति; अबहुस्वरागुरूपान्त्यार्थं वचनम्। पुणिकस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री-पौणिक्या, भौणिक्या, मौखर्या, गौप्त्या। वृद्ध इत्येव पौणिकी, भौणिकी;–अत्र प्रथमापत्ये इञ्। अनार्ष इत्येव-गौतमी। गौरादित्वात् तु भौरिकी, भौलिकी ।।79।।

न्या०स०–कुलाख्यानाम् । कुलमाचक्षते-व्यपदिशन्ति यत: कुलाख्या:, यद्वा कुलमाख्यायते आभिरिति ``स्थादिभ्य: क:'' (5. 3. 82.) बाहुलकात् स्त्रीत्वं स्वप्रभवस्या-पत्यसंतानस्य व्यपदेशिका: पुणिक-भुणिक-मुखरप्रभृतय: । *पौणिक्येत्*यत्र पुणति भणति अच्, ``पृषोद०'' (3. 2. 155.) पुणो भुणोऽस्यास्तीति ``अतोऽनेक०'' (7. 2. 6.) इति इक: । *गौरादित्वात् तु भौरिकी भौलिकी*ति-अयमर्थ:–प्रथममनेन प्राप्तावस्य बाधनार्थं गौरादौ पाठ:, ततस्तत्र पाठाद् डीरेव केवली मा भूदिति क्रौड्यादो पाठ: ।। 2. 4. 79.।।

क्रौड्यादीनाम् ।। 2. 4. 80. ।।

अबहुस्वरागुरूपान्त्यार्थोऽनन्तरापत्यार्थश्चारम्भ:, `क्रौडि' इत्येवमादीनामणिञन्ताना-मन्तस्य स्त्रियां ष्यादेशो भवति । क्रोडस्यापत्यं क्रौडि:, स्त्रीक्रौड्या, लाड्या । क्रौडि, लाडि, व्याडि, आपक्षिति, आपिशलि, सौधातकि, भौरिकि, भौलिकि, शाल्मलि, शालास्थलि, कापिष्ठलि, रौढि, दैवदत्ति, याज्ञदत्ति इत्यादय इञन्ता: । चौपयत, चैकयत, चैटयत, बैल्वयत, शैकयत; एतेऽणन्ता: । ष्यस्यादेशत्वात् क्रौडेय: चौपयतेय इत्यादिषु आपत्यस्य यस्य लोप: सिद्ध:, अन्ये त्वत्र ष्यस्य प्रत्ययत्वमिच्छन्तो यलोपं नेच्छन्ति-क्रौड्ये य:, चौपय-त्येय: । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।80।।

न्या०स०–क्रौड्यादीनाम् । *क्रोडस्यापत्यमि*त्यत्र करोते: ``विहड-कहोड०'' (उणा० 172) इत्यडेऽकारस्य निपातनादोकारे । *व्याडी*त्यत्र विविधमडतीति व्यड: । *भौलिकी*त्यत्र बिभर्त्ते: ``कुशिक०'' (उणा० 45) इत्यादिना भुरिक, ऋफिडादिलत्वेभुलिक, क्रोड्यादिपठितयोर्भु रिक भुलिकयोर्भौरिक्या भौलिक्या, गौरादिपाठाद् भौरिकी भौलिकी च । *शाल्मली*त्यत्र शाड: ``रुचि-कुटि'' (उणा० 502) इति मलक्, शाल्मयोऽस्य सन्ति वा ``अभ्रादिभ्य:'' (7. 2. 46.) शाल्मलस्यापत्यमिञ् । *शालास्थली*त्यत्र शालाया: स्थलमिव स्थलमस्य; एवं कपिष्ठल: । *इञन्ता* इत्यत्र क्रोडादिभ्यस्तस्याऽपत्यमित्यर्थे ``अत:०'' (6. 1. 31.) इति इञि कृते, सुधातृशब्दात् तु ``व्यास-वरुट०'' (6. 1. 38.) इति इञि अन्तस्याकि कृते-क्रौडि इत्यादयो भवन्ति (चौपयत) ``चुप मन्दायां'' णिगन्तात् शतृप्रत्यय: । *चैकयते*त्यत्र ``चीक शीकण्'' ``चिट प्रैष्ये'' ``ककुङ्'' यथासंभवं णिज् णिग् वा, पश्चात् शतृ, ततोऽपत्यार्थेऽण् । *बैल्वयत* इत्यत्र बिल्वमाचष्टे ``णिज् बहुलम्०'' (3. 4. 42.) इति णिचि शत्रादौ च । *ष्यस्यादेशत्वादि*ति-अत्र क्रौण्ड्यादीनामिति षष्ठीनिर्देशादन्तस्येत्यधिकाराच्च ष्य इत्यादेशोऽयम्, तेन यत् सिद्धं तत् दर्शयति ।।2. 4. 80.।।

भोज-सूतयो: क्षत्रिया-युवत्यो: ।। 2. 4. 81. ।।

भोज-सूतशब्दयोरन्तस्य क्षत्रिया-युवत्योरभिधेययोः स्त्रियां ष्यादेशो भवति । भोज्या-भोजवंशजा क्षत्रिया, सूत्या--प्राप्तयौवना मानुषीत्यर्थः, अन्ये सूतसंबन्धिनी युवतिः—सूत्या, न सर्वेत्याहुः । क्षत्रिया-युवत्योरिति किम् ? भोजा, सूता ।।81।।

न्या०स०—भोज-सूत० । ``जातेः०'' (2. 4. 54.) इति ङीप्रत्ययापवादोऽनेन ष्यादेशः । मूलोदाहरणे सूतस्तरुण उच्यते । *सूतसम्बन्धिनी युवतिरि*ति—क्षत्रियाद् ब्राह्मण्यां जातः सूतः, प्राजनकर्मणि प्राजितृत्वे सूतशब्दः, तस्य कर्मणः सम्बन्धिनी तत्कर्त्री सूत्येति, कोऽर्थः ? रथप्राजित्री ।।2. 4. 81।।

दैवयज्ञि-शौचिवृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्टेविद्धेर्वा ।। 2. 4. 82. ।।

एषामिञन्तानां स्त्रियामन्तस्य ष्यादेशो वा भवति, इञन्तमात्रनिर्देशात् पौत्रादौ प्राप्ते प्रथमापत्ये त्वप्राप्ते विभाषा । दैवयज्ञ्या, दैवयज्ञी; शौचिवृक्ष्या, शौचिवृक्षी; सात्यमुग्र्या, सात्यमुग्री; काण्टेविद्ध्या, काण्टेविद्धी ।।82।।

न्या०स०—दैवत्रज्ञि० । *दैवयज्ञ्ये*ति-देव एव यज्ञः पूजनीयो यस्य स तथा । *शौचिवृक्ष्ये*त्यत्र स्वमते शुचिर्वृक्षोऽस्येति, उद्द्योतकरस्तु-शुचेः ``नाम्युपान्त्य०'' (5. 1. 54.) इति के-शुचो वृक्षोऽस्येत्याह । *सात्यमुग्र्ये*ति-सत्यमुग्रं यस्य असौ सत्यमुग्रः, अत एव निर्देशाद् मोऽन्तः मान्तमव्ययं वा, सत्यं मुञ्चति क्विपि सत्यमुचं रातीति वा डे । *काण्टेविद्ध्ये*ति-यदा कण्टे विध्यते स्म तदा ``तत्पुरुषे कृति'' (3. 2. 20.) इति अलुप्, यदा तु कण्टे विद्धमनेन तदा ``अमूर्द्धमस्तकात्'' (3. 2. 22.) इत्यलुप् ।।2. 4. 82.।।

ष्या पुत्र-पत्योः केवलयोरीच् तत्पुरुषे ।। 2. 4. 83. ।।

मुख्य आबन्तः ष्यः पुत्र-पतिशब्दयोः केवलयोः परयोस्तत्पुरुषे समासे ईच् भवति, चकारो ``वेदूतो०'' (2. 4. 68.) इत्यादौ विशेषणार्थः । कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः—कारीषगन्धीपुत्रः, एवं-कारीषगन्धीपतिः; कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः; परमकारीषगन्धीपुत्रः, परमकारीषगन्धीपतिः । ष्येति किम् ? गौकक्ष्यापुत्रः, इभ्यापुत्रः, क्षत्रियापुत्रः । पुत्र-पत्योरिति किम् ? कारीषगन्ध्याकुलम् । केवलयोरिति किम् ? कारीषगन्ध्यापुत्रकुलम्, कारीषगन्धीपुत्रस्य कुलमिति विग्रहे तु-कारीषगन्धीपुत्रकुलमित्यपि भवति । तत्पुरुष इति किम् ? कारीषगन्ध्यापतिरस्य कारीषगन्ध्यापतिरयं ग्रामः । मुख्य इत्येव—अतिक्रान्ता कारीषगन्ध्यामतिकारीषगन्ध्या, तस्याः पुत्रोऽतिकारीषगन्ध्यापुत्रः ।।83।।

न्या०स०–ष्या पुत्र० /ष्याशब्दाद् ``दीर्घङ्याप्०'' (1. 4. 45.) सूत्रत्वाद् वा सेर्लुप् । *पुत्रपत्योरि*त्यत्र सौत्रनिर्देशात् ``लघ्वक्षर०'' (3. 1. 160.) इति पतिशब्दस्य न पूर्वनिपातः । अत्र केवलग्रहणमन्तरेण ष्यान्तस्येति विधीयमाने पुत्र-पत्योस्तदादावतिप्रसङ्गः स्यात्, अयमभिप्रायः–*पुत्रपत्योरि*त्यौपश्लेषिकेऽधिकरणे सप्तमी, उपश्लेषश्च यथा ताभ्यां केवलाभ्यां ष्यान्तस्यास्त्येवमुत्तरपदादिभूताभ्यामपीति । अथ ष्यान्तस्य पुत्रपत्योश्चाधिकरणतया तत्पुरुषस्य निर्दिश्यमानत्वात् प्रत्यासत्तेर्यस्यैव तत्पुरुषस्यष्यान्तोऽवयवस्तस्यैव यौ पुत्र-पती अवयवौ, न तत्पुरुषान्तरस्य, तयोः ष्यस्य ईज् भवति, तदा तु पुत्र-पती अन्यस्यावयवौ, अन्यस्य तु ष्यान्त इति ईज् न भविष्यति । एवं तर्हि तत्पुरुषेण सन्निधापितस्योत्तरपदस्य पुत्र-पतिशब्दाभ्यां विशेषणाद् विशेषणेन तदन्तविज्ञानात् पुत्र-पतिशब्दान्तयोरुत्तरपदयोरतिप्रसङ्गः स्यात्, यतो विधि-विधान-विधिभाजां संनिधाने तदन्तविधिर्भवति, तत्र विधिरीज्भावो, विधानं पुत्र-पती, विधिभाक् च ष्यान्त इति तदन्तग्रहणनिराकरणार्थं केवलग्रहणम् ।।2. 4. 83.।।

बन्धौ बहुव्रीहौ ।। 2. 4. 84. ।।

मुख्य आबन्तः ष्यो बन्धुशब्दे केवले परतो बहुव्रीहौ समासे ईज् भवति । कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य-कारीषगन्धीबन्धुः, कौमुदगन्धीबन्धुः; परमकारीषगन्धीबन्धुः, परमकौमुदगन्धीबन्धुः । बन्धाविति किम् ? कारीषगन्ध्यापतिर्ग्रामः । केवल इत्येव–कारीषगन्ध्याबन्धुकुलः; कारीषगन्धी-बन्धुकुल इत्यत्र कारीषगन्धीबन्धुः कुलमस्येति विग्रहः । बहुव्रीहाविति किम् ? कारीषगन्ध्याया बन्धुः–कारीषगन्ध्याबन्धुः । मुख्य इत्येव–अतिकारीषगन्ध्या बन्धुरस्य–अतिकारीषगन्ध्या-बन्धुः ।।84।।

मात-मातृ-मातृके वा ।। 2. 4. 85. ।।

मुख्य आबन्तः ष्यो मातादिषु केवलेषु परेषु बहुव्रीहौ समासे ईज् वा भवति । कारीषगन्ध्या माता यस्य स कारीषगन्धीमातः कारीषगन्ध्यामातः, परमकारीषगन्धीमातः, परमकारीषगन्ध्या-मातः; कारीषगन्ध्या माता यस्य स कारीषगन्धीमाता, कारीषगन्ध्यामाता; कारीषगन्धीमातृकः, कारीषगन्ध्यामातृकः; मातेति निर्देशाद् मातृशब्दस्य पुत्रप्रशंसामन्त्र्यमन्तरेणापि पक्षे मातादेशः, अन्यथा मातृशब्देनैव गतत्वाद् मातशब्दोपादानमनर्थकं स्यात् । मातृ-मातृकशब्दयोश्च भेदेनोपादानादृदन्तलक्षणः कच् प्रत्ययोऽपि विकल्प्यते ।।85।।

अस्य ङ्यां लुक् ।। 2. 4. 86. ।।

ङीप्रत्यये परे पूर्वस्याकारस्य लुग् भवति । कुरुचरी, मद्रचरी । अस्येति किम् ? दण्डिनी, कर्त्री ।।86।।

न्या०स०–अस्य ङ्याम्० । ईजाधिकारे समानदीर्घत्वेनैव प्रयोगजातं सेत्स्यति, किं लुको ग्रहणेन ? सत्यम्-यदा पञ्चभिः कुमारीभिः क्रीत इति इकणो लुपि ❁ उभयोः स्थाने० ❁ इति न्यायादीचोऽपि ङीव्यपदेशे ङीनिवृत्तौ व्यञ्जनान्तता, ईज्व्यपदेशे तु इकारान्तता, (तदा) मा भूदिति लुक्ग्रहणम् ।।2. 4. 86.।।

मत्स्यस्य यः ।। 2. 4. 87. ।।

मत्स्यशब्दसंबन्धिनो यकारस्य ङ्यां लुग् भवति । मत्सी । कथं मत्स्यो नाम कश्चित् तस्यापत्यं स्त्रीति इञ् ङी-मात्सी ? ङीनिमित्तादेशस्यापि ङीग्रहणेन ग्रहणात् ।।87।।

*न्या०स०–मत्स्यस्य यः । मत्सी*ति-ननु ङ्यामिति ``सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य'' (7. 4. 105.) तच्चानन्तरस्येति न्यायान्मत्सीत्यत्र ``स्वरस्य परे प्राग्विधौ'' (7. 4. 110.) इत्यकारलुचः स्थानिवद्भावाद् ङ्यां निमित्ते यकारासंभवात् कथं लुगिति, नैवम्-वचनादेकेन वर्णेन व्यवधानमाश्रीयते । ननु भवेत्वेवं परं मत्स्यस्येयं ``तस्येदम्'' (6. 3. 160.) इत्यणि मस्त्याकारलोपे अणन्तत्वाद् ङ्याम् ``अस्य ङ्याम्०'' (2. 4. 86.) इत्यणोऽकारलोपे द्वयोरकारयोः स्थानिवद्भावाद् मात्सीत्यत्र यलुक् न प्राप्नोति, नैवम्-``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इति स्थानिवद्भावप्रतिषेधात्, प्रथमपक्षे तु ``न सन्धि०'' (7. 4. 111.) इत्यस्य चिन्तापि न कृता, उत्तरान्तरेणैव सिद्धत्वात् ।।2.4.87.।।

व्यञ्जनात् तद्धितस्य ।। 2. 4. 88. ।।

व्यञ्जनात् परस्य तद्धितस्य यकारस्य ङ्यां लुग् भवति । मनोरपत्यं स्त्री-मनुषी, गर्गस्यापत्यं पौत्रादि स्त्री-गार्गी, सोमो देवता अस्याः–सौमी दिक्, उचितस्य भाव औचिती, चातुरी, वृकात् टेण्यणि-वार्केणी; समिध आधाने टेण्यणि-सामिधेनी । व्यञ्जनादिति किम् ? कारिकाया अपत्यंकारिकेयी, हारिकेयी । तद्धितस्येति किम् ? वैश्यस्य भार्या-वैश्यी ? ङ्यामित्येव-आवट्या ।।88।।

*न्या०स०–व्यञ्जना० । तद्धितस्ये*त्यत्र तद्धितसम्बन्धिनो यकारस्येति वैयधिकरण्ये षष्ठो, यकारस्य किंविशिष्टस्य ? *तद्धितस्य* तद्धितरूपस्येति तु सामानाधिकरण्ये सामिधेनीत्यादौ न स्यात् । *औचिती*ति–``उचच् समवाये'' उच्यति-समवैति प्रकृतैः स्वभावैः ``कुशी-पिशि०'' (उणा० 212) इति किदितः । (वार्केणी) वृकाः शस्त्रजीविनस्तेषां संहतिः । *सामिधेनी*ति-समिधामाधानी । *वैश्यी*ति-विशति अध्ययनार्थं । यज्ञशालायामिति ``शिक्या-ऽऽस्याऽऽढ्य०''

(उणा० 364) इति साधुः, येषां मते विशोऽपत्यमिति ``विशो जातौ'' इति सूत्रेण ट्यण्प्रत्यये वैश्यशब्दः साध्यते तन्मते यलोपः प्राप्नोत्येव । पतनं-पतः, ततोऽन्यत्-अपतः, तत्र साधु-*अपत्यम्*, एवं-विदन्त्यनयेति विद्या, तामधीते स्त्री अणन्तत्वाद् ङ्यां कृद्यकारत्वाल्लोपाभावे-वैद्यी, अस्यैव सुप्रसिद्धत्वात् पूर्वं बुद्धावुपारोहात् तत्प्रदर्शनं न्याय्यं, न तु वैद्यस्य स्त्री-वैद्यीति न्यासकारः ।।2. 4. 88.।।

सूर्या-ऽऽगस्त्ययोरीये च ।। 2. 4. 89. ।।

अनयोर्यकारस्य ङीप्रत्यये ईयप्रत्यये च लुग् भवति । सूर्यस्य भार्या मानुषी-सूरी । सूर्यस्येयमित्यणि-सौरी प्रभा । अगस्त्यस्येयम्-आगस्ती, सौर्यस्यायं-सौरीयः, एवमागस्तीयः । ईये चेति किम् ? सूर्यो देवताऽस्य सौर्यः, अगस्त्यस्यायम्-आगस्त्यः ।।89।।

न्या०स०—सूर्या० । सौरीयागस्तीयशब्दयोः प्रथमं देवतार्थेऽण्, इदमर्थे पश्चादीयः ।।2.4.89.।।

तिष्य-पुष्ययोर्भाणि ।। 2. 4. 90. ।।

भस्य-नक्षत्रस्य संबन्ध्यण्-भाण्, यो भात् इत्युल्लेखेन विधीयते, तिष्य-पुष्ययोर्यकारस्य भाणि परतो लुग् भवति । तिष्येण चन्द्रयुक्तेन युक्तातैषी रात्रिः, तैषमहः; पौषी रात्रिः; पौषमहः; तिष्येण गुरूदयवता युक्तः संवत्सरः—तैषः संवत्सरः, एवं-पौषः; तिष्ये भवः—तैषः शिशुः, एवं-पौषः । तिष्य-पुष्ययोरिति किम् ? सिध्येन चन्द्रयुक्तेन युक्तं सैध्यमहः । भाणीति किम् ? तिष्यो देवताऽस्य-तैष्यश्चरुः, पुष्यस्य माणवकस्येदं-पौष्यम् । अन्ये तु तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्रे वर्तमानयोः सामान्येऽणि नित्यं सिध्यशब्दस्य तु विकल्पेन यलोपमिच्छन्ति, तन्मते तिष्यो देवताऽस्य-तैष इत्यत्रापि प्राप्नोति । तथा सिध्येन युक्तं—सैधमहः, सैध्यमहः, सैधी रात्रिः, सैध्यी रात्रि रित्यपि ।।90।।

न्या०स०—तिष्य-पुष्य० । तैषः शिशुः, अत्र भवार्थे ``भर्तु-संध्या०'' (6. 3. 89.) इति अण्, जातार्थे तु ``बहुला-ऽनुराधा०'' (6. 3. 107.) इति लुप् स्यात् । *अन्ये त्विति*-यदाचार्यरत्नमतिः—नक्षत्र इति तिष्यपुष्ययोर्विशेषणं, *'तन्मते'* इत्यादिना तेषामनिष्टमुद्भावयति ।।2. 4. 90.।।

आपत्यस्य क्य-च्व्योः ।। 2. 4. 91. ।।

व्यञ्जनात् परस्यापत्यस्य यकारस्य क्ये च्वौ च परतो लुग् भवति । गार्ग्यमिच्छति-

गार्गीयति, एवं वात्सीयति; गार्ग्य इवाचरति गार्गायते, एवं वात्सायते; अगार्ग्यो गार्ग्यो भूतः–गार्गीभूतः, एवं-वात्सीभूतः । आपत्यस्येति किम् ? संकाशेन निर्वृत्तं–सांकाश्यं, तदिच्छति-सांकाश्यीयति; सांकाश्यायते, सांकाश्यीभूतः । व्यञ्जनादित्येव-कारिकेयीयति, कारिकेयायते, कारिकेयीभूतः ।।91।।

न्या०स०–आपत्यस्य० । अपत्ये भव आपत्यः, तस्य स्थानसम्बन्धे षष्ठी । गार्गीयतीति-❈ येन नाव्यवधानम्० ❈ इति न्यायादीकाराऽकारादिना व्यवहितस्यापि यस्य लुक् । *गार्गायते* इति-यदा गार्ग्य इवाचरति ``कर्तुः क्विप्०'' (3. 4. 25.) इति क्विपि तल्लुपि तेप्रत्यये ``क्यः शिति'' (3. 4. 70.) इति क्य आनीयते तदाऽनेन यलोपो न भवति, च्विसाहचर्यात्, यतश्च्विर्नाम्न एव परतो विहितो गृह्यते, अयं तु नामधातोरिति । *सांकाश्यीभूत* इति-असाङ्काश्यः साङ्काश्यो देशो भूतः ।।2. 4. 91.।।

तद्धितयस्वरेऽनाति ।। 2. 4. 92. ।।

व्यञ्जनात् परस्यापत्ययकारस्य यकारादावाकारादिवर्जिते स्वरादौ च तद्धिते लुग् भवति । गार्ग्ये साधुः–गार्ग्यः, गर्गाणां समूहो–गार्गकम्, एवं–वात्सकम्; गार्ग्यस्यायं–गार्गीयः, एवं-वात्सीयः । आपत्यस्येत्येव–संकाशेन निर्वृत्तं-सांकाश्यम्, तत्र भवः–सांकाश्यक; एवं– काम्पील्यकः । तद्धितेति किम् ? गार्ग्येण, वात्स्येन । य-स्वर इति किम् ? गार्ग्यरूप्यः । अनातीति किम् ? गार्ग्यायणः । व्यञ्जनादित्येव–कारिकेयिः, हारिकेयिः ।।92।।

न्या०स०–तद्धितय० । *गार्गकमि*ति–गर्गस्यापत्यानि यञ्, तस्य च ``न प्राग्जितीये०'' (6. 1. 135.) इत्यनेन निषेधात् ``यञञोऽश्यापर्णान्त०'' (6. 1. 126.) इति न लुप्, ततो गर्गाणां समूहो गार्गकं ``गोत्रोक्ष०'' (6. 2. 12.) अकञ् । *गार्गीय* इति-गार्ग्यस्यायं शिष्यश्चेत्, अन्यथा ``गोत्राददण्ड०'' (6. 3. 196.) इत्यकञ् स्यात् । *काम्पील्ये*ति-कम्पनं कम्पः, कम्पोऽस्यास्तीति–कम्पी, कम्पिनमिलति ``मूलविभुजादयः'' (7. 1. 144.) कः, समानदीर्घत्वम् । *गार्ग्यरूप्य* इत्यत्र भूतपूर्वो गार्गस्येति विगृह्य ``षष्ठ्या रूप्यप्चरट्'' (7. 2. 80.) इति रूप्यपि; अथवा गार्ग्यादागतः ``नृ-हेतुभ्यः'' (6. 3. 156.) इति रूप्यः ।।2. 4. 92.।।

बिल्वकीयादेरीयस्य ।। 2. 4. 93. ।।

नडादिषु बिल्वादयः पठ्यन्ते, तेषां कीयप्रत्ययान्तानामिह निर्देशः, बिल्वकीयादीनां दशानां शब्दानामवयवस्येयस्य तद्धितयस्वरे परे लुग् भवति; अनाति इति नानुवर्तते; आतोऽसंभवात् ।

बिल्वाः सन्त्यस्यामिति—बिल्वकीया नाम नदी, तस्यां भवा-बैल्वकाः; एवं-वैणुकाः, वैत्रकाः, वैतसकाः, त्रैकाः, ताक्षकाः, ऐक्षुकाः, काष्ठकाः; कापोतकाः; क्रौञ्चकाः । बिल्वकीयादेरिति किम् ? नाडकीयः, प्लाक्षकीयः । तद्धितयस्वर इत्येव-बिल्वकीयाः, बिल्वकीयरूप्यम् ॥93॥

न्या०स०—बिल्वकीया० । ननु बिल्वकीयादयो द्विधाकेचिन्नडादेः कीये सति, अपरे कुत्सिताद्यर्थकप्रत्ययन्तादीये सति, तत् केषामिह ग्रहणमित्याशङ्क्य आदिशब्दस्य व्यवस्थावाचित्वादित्याह—*नडादिष्वित्यादि* । बिल्वो वेणवो वेत्राणि वेतसास्त्रयस्तक्षाण इक्षवः काष्ठानि कपोताः क्रुञ्चाः सन्त्यस्यामिति विग्रहे ``नडादेः कीयः'' (6. 2. 92.) ``आत्'' (2. 4. 18.) इत्याप्, ततो भवार्थेऽण् । काष्ठकीया इत्यत्र तु काष्ठकीयशब्दः कच्छादौ द्रष्टव्यः, ततः कच्छादिपाठात् ``कोपान्त्याच्चाण्'' (6. 3. 56.) अन्यथा ``दोरीयः'' (6. 3. 32.) स्यात् । *क्रौञ्चका* इति—क्रुञ्चाशब्दस्य कीये नडादिपाठाद् ह्रस्वः, क्रुञ्चकीयायां भवाः । नन्वत्र ईयग्रहणं किमर्थम् ? बिल्वकीयादेरित्येव क्रियताम्, एवमपि कृते बैल्वका इत्यादीन्यणि ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति ईयाकारलोपे ततो ``बिल्वकीयादेः'' इत्यनेनाधिकारायातस्य यकारमात्रस्य लोपे पुनः ``अवर्णेवर्णस्य'' (7. 4. 68.) इति ईकारलोपे सेत्स्यन्ति; न च वाच्यं बिल्वकीयादेरित्यनेन यकारलोपे कर्तव्ये ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति परिभाषयाऽकार-लोपस्य स्थानित्वम्, ``न संधि०'' (7. 4. 111.) इति यविधौ स्थानित्वनिषेधेऽपि ईकारलोपे स्थानित्वमस्त्येवेति ईयग्रहणम् । ननु तर्हि ``बिल्वकीयादेर्यस्य'' इति क्रियताम्, एवं कृते यकाराधिकारे पुनर्यत् ग्रहणं करोति तदेवं ज्ञापयति-अत्र सस्वरस्यैव यस्य लुक्, सस्वरलोपे च स्वरव्यञ्जनसमुदायत्वात् ``स्वरस्य०'' (7. 4. 110.) इति स्थानित्वाभावे सर्वं भविष्यति, सत्यम्—एवं कृते एषाप्याशङ्का स्यात्-अनेन यकारलोपे ईकारस्य लुग् न भवतीति, यदीकारलोपोऽपि सम्मतः स्यात् तदा ईयस्येति कुर्यादिति ॥2. 4. 93.॥

न राजन्य-मनुष्ययोरके ॥ 2. 4. 94. ॥

राजन्य-मनुष्यशब्दयोर्यकारस्याकप्रत्यये परतो लुग् न भवति । राजन्यानां समूहो-राजन्यकम्, एवं-मानुष्यकम् । ``तद्धितयस्वरेऽनाति'' (2. 4. 92.) इति यलोपे प्राप्ते प्रतिषेधो-ऽयम् ॥94॥

*न्या०स०—न राजन्य० । राजन्यकमि*ति-राज्ञोऽपत्यमिति ``जातौ राज्ञः'' (6. 1. 92.) इति ये ``अनोऽट्ये ये'' (7. 4. 51.) इति निषेधादनो लुगभावे राजन्यानां समूहः ``गोत्रोक्ष०'' (6. 2. 12.) इति अकञ् ॥2. 4. 94.॥

ङ्यादेर्गौणस्याक्विपस्तद्धितलुक्यगोणी-सूच्योः ॥ 2. 4. 95. ॥

ङ्यादेः प्रत्ययस्य गौणस्याक्विबन्तस्थ तद्धितलुकि सति लुग् भवति, गोणी-सूचीसंबन्धिनस्तु न भवति। सप्त कुमार्यो देवतास्य-सप्तकुमारः, पञ्चभिर्धीवरीभिः क्रीतः—पञ्चधीवा, पञ्चेन्द्राण्यो देवतास्य-पञ्चेन्द्रः, एवं पञ्चाग्निः; एषु ङीनिवृत्तौ तत्संनियोगशिष्टयोरागमा-ऽऽदेशयोरपि निवृत्तिः। द्विस्त्रः, पञ्चभिर्युवतिभिः क्रीतः—पञ्चयुवा, एवं-पञ्चखट्वः, पञ्चसखः द्विपङ्गुः, त्रिकरभोरुः; कुवल्या विकारः फलं-कुवलम्, एवं-बदरम्, आमलकम्। ङ्यादेरिति किम् ? पञ्चभिः प्रेयोभिः क्रीतः—पञ्चप्रेयान्। गौणस्येति किम् ? अवन्तेरपत्यं स्त्री-अवन्ती, एवं कुन्ती, कुरूः; अत्र हि तद्धितलुकि कृते जातौ ङ्यूङौ इत्यगौणत्वम्। अक्विप इति किम् ? कुमारीमिच्छति क्यन्, कुमारीयतीति क्विप्, तस्य लोपे-कुमारी, ततः पञ्च कुमार्यो देवता अस्य—पञ्चकुमारी; एवं पञ्चेन्द्राणी, पञ्चयुवती। तद्धितलुकीति किम् ? औपगवीत्वम्। कथं हरीतक्याः फलं विकारोऽवयवो वा हरीतकी ?, एवं कोशातकीत्यादि ?; अत्र लुबन्तस्य स्त्रीत्वात् पुनर्गौरादिलक्षणो ङीः। अगोणी-सूच्योरिति किम् ? पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः—पञ्चगोणिः, दशगोणिः, पञ्चसूचिः, दशसूचिः ॥95॥

न्या०स०—ङ्यादेर्गौण० । लुगिति लुप एव उपलक्षणं, तेनाऽगोमती गोमती भूता-गोमतीभूतेत्यत्र च्वेरभावेऽपि लुबभावाद् ङीनिवृत्तेरभावः। *पुनर्गौरादिलक्षणो ङीरिति*, एवं-विदारी मूलम्, आमली फलमित्यादि। तथा विशाखाभिश्चन्द्रयुक्ताभिर्युक्तः कालः ``चन्द्रयुक्तात्०'' (6. 2. 6.) इत्यणो लुपि ङ्यादिनिवृत्तौ पुनरापि विशाखा काल इति। *(द्विस्त्रः)* द्वे स्त्रियौ देवते अस्य, अण्, *``द्विगोरन०''* (6. 1. 24.) लुक्। *पञ्चसख* इति—यदा सखिशब्दाद् ङ्यां पञ्चभिः सखीभिः क्रीत इति वाक्ये कृते इकणो लोपेऽनेन ङीनिवृत्तौ तदा ``राजन्-सखेः०'' (7. 3. 106.) इति समासान्तः; यदा तु सखशब्दात् ``नारी सखी०'' (2. 4. 76.) इति ङीस्तदा ङीनिवृत्तौ सिद्धमेव। कुवल-बदराभ्यां गौरादिङ्यन्ताभ्यां हेमाद्यात्र् ``प्राण्यौषधि०'' (6. 2. 31.) इत्यण यथासंख्येन, आमलकात् ``दोरप्राणिनः'' (6. 2. 49.) इति मयट् ``फले'' (6. 2. 58.) लुप्। *तद्धितलुकि कृते* इत्यत्र पञ्चभिर्धीवरीभिः क्रीता इतीकणि लुकि ``ङ्यादेः'' (2. 4. 95.) इति ङ्यभावे पुनर्ङ्यां प्रिया पञ्च धीवर्यो यस्येत्यपि कृते ``ङ्यादेः'' (2. 4. 95.) इति ङ्यभावः— प्रियपञ्चधीवा ॥2. 4. 95.॥

गोश्चान्ते ह्रस्वोऽनंशिसमासेयोबहुव्रीहौ ॥ 2. 4. 96. ॥

गौणस्याक्विपो गोशब्दस्य ङ्याद्यन्तस्य च नाम्नोऽन्ते वर्तमानस्य ह्रस्वो भवति, न

चेदसावंशिसमासान्त ईयस्वन्तबहुव्रीह्यन्तो वा भवति । चित्रा गावोऽस्य-चित्रगुः, शबलगुः, पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः–पञ्चगुः, शतगुः, कौशाम्ब्या निर्गतो-निष्कौशाम्बिः, एवं-निर्वाराणसिः, निःश्रेयसिः; खट्वामतिक्रान्तोऽतिखट्वः, प्रिया खट्वा यस्य स प्रियखट्वः, अतिब्रह्मबन्धुः अतिवामोरुः । गौणस्येत्येव-सुगौः, किंगौः, राजकुमारी, परमब्रह्मबन्धूः; नक्षत्रमाला । अक्विप इत्येव-गामिच्छति क्यन्, गव्यतीति क्विप्-गौः, ततः प्रिया गौः अस्य प्रियगौः; कुमारीमिच्छति क्यन्, क्विप्-कुमारी, ततः प्रियश्चासौ कुमारी च–प्रियकुमारी चैत्रः । गोश्चेति किम् ? अतितन्त्रीः, अतिलक्ष्मीः, अतिश्रीः, अतिभ्रूः । अन्त इति किम् ? गोकुलम्, कुमारीप्रियः, कन्यापुरम्; अत्र गोशब्दो ङ्याद्यन्तं च समासार्थे न्यग्भूतत्वाद् गौणम् । सुगोप्रियः, राजकुमारीप्रियः; एवं–पञ्चशालाप्रिय इत्यादौ तु यद्यपि गोशब्दान्तं ङ्याद्यन्तं च नामान्यपदार्थे गुणीभूतं तथापि न तदपेक्षयाऽन्त्यत्वम्, यदपेक्षया चान्त्यत्वं न तदपेक्षया गौणत्वमिति न भवति । ननु च ङ्यादीनां प्रत्ययत्वात् ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति यस्मात् स विधि स्तदादेर्ग्रहणम्, इतीह न प्राप्नोति-अतिराजकुमारिः, अतिरत्नमाल इति, सत्यम् ``गौणो ङ्यादिः'' (7. 4. 116.) इति मुख्ये स्त्रीप्रत्ययेऽयं न्यायो नोपतिष्ठते, राजकुमारी रत्नमाला-शब्दयोश्च स्त्रीप्रत्ययान्तयोर्मुख्यत्वमेव, तेनङ्यादिप्रत्ययान्तमात्रं विधानानपेक्षमिह गृह्यते । इह कस्मान्न भवति ? बहुकुमारीकः, बहुब्रह्मबन्धूक इति; परत्वात् प्रथममेव कचि कृतेऽन्त्यत्वाभावात् । अनंशिसमासेयोबहुव्रीहाविति किम् ? अर्धं पिप्पल्याः–अर्धपिप्पली, एवं-तुर्यभिक्षा, बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स–बहुश्रेयसी पुरुषः, एवं–प्रियश्रेयसी ॥69॥

न्या०स०–गोश्चान्ते० । अंशिसमासवर्जनात् समासस्यान्त एव ह्रस्वः । *नन्वर्द्धपिप्पली*ति 'अनंशिसमासेयोबहुव्रीहौ' इति व्यावृत्तौ किमिति दर्शितं ? यतो ह्रस्वत्वेऽपि कृतेऽपि ``परलिङ्गो द्वन्द्वोऽशी०'' (लिङ्गानुशासने) इति वचनात् पिप्पलीलिङ्गे ``इतोऽक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इति ङ्यां रूपं तथैव, सत्यम्–``इतोक्त्यर्थात्'' (2. 4. 32.) इति वैकल्पिको ङीः, ततोऽर्द्धपिप्पलिः, अर्धपिप्पलीति रूपद्वयं स्यात्, इष्यते चार्द्धपिप्पलीत्येव । ननु तर्हि-*तुर्यभिक्षे*ति किमर्थं दशितम् ? यतोऽत्रापि ``परलिङ्गो द्वन्द्वोंशी०'' इति वचनाद् भिक्षेत्युत्तरपदस्य स्त्रीत्वे ह्रस्वत्वे कृतेऽपि पुनरापि सति 'तुर्यभिक्षा' इत्येव भवति, सत्यम्-तुर्यभिक्षेति सिध्यत्येव, परं तु तुर्यभिक्षामतिक्रान्तो यः सोऽतितुर्यभिक्ष इति ह्रस्वत्वं स्यात्, यतस्तुर्यभिक्षेति उत्तरपदलिङ्गत्वे पुनरापि तुर्यभिक्षेत्याबन्तः, ``प्रत्ययः प्रकृत्यादेः'' (7. 4. 115.) इति न्यायात्, वर्जने च सति भिक्षैवावन्तः, ततः पूर्वपदार्थप्रधानत्वादंशिसमासस्य ``गौणो ङ्यादिः'' (2. 4. 95.) इति न्यायोपढौकनात् ``गोश्चान्ते०'' (2. 4. 96.) इति ह्रस्वाभावादतितुर्यभिक्षा इति भवति, एतदेव साधु ॥2. 4. 96॥

क्लीबे ।। 2. 4. 97. ।।

क्लीबे-नपुंसके वर्तमानस्य स्वरान्तस्य नाम्नो ह्रस्वो भवति । कीलालपं, ग्रामणि, नतभ्रु, अतिहि, अतिरि, अतिद्यु, अतिनु कुलम्, अधिस्त्रि, उपवधु । काण्डे, कुड्ये, युगवरत्राय युगवरत्रेन्द्र इत्यादावेत्वदीर्घत्वादेर्निमित्तान्तरापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्यासिद्धत्वाद् ह्रस्वत्वं न भवति । काण्डीभूतं, शुक्लीभूतमित्यादावव्ययानामलिङ्गत्वाच्च ।।97।।

*न्या०स०—क्लीबे । अधिस्त्री*ति—आधारार्थप्रधानत्वात् प्रथमा, सामान्यविशेषभावेन सप्तमी वा, विश्रान्तन्यासकारैस्तु यत्र तत्रापि सप्तमीष्टा । *काण्डे, कुड्ये*, इतिनन्वत्र ``पदं वाक्यमव्ययं च०'' (लिङ्गानु०) इति वचनादलिङ्गत्वे ह्रस्वत्वप्राप्तिरेव नास्ति, तत् कथमुक्तम्-*असिद्धत्वा*दिति, सत्यम्-पदस्यालिङ्गत्वेऽपि काण्डकुड्ययोरवयवयोर्यल्लिङ्गं तद् यदा समुदाये `काण्डे कुड्ये इत्येवंरूपे उपचर्यते तदा प्राप्तिः, यद्वा `काण्डे कुड्ये' इत्यत्र योऽस्य स्थाने परेण इकारेण सह एकारः स क्वचिद् नपुंसकाकारसम्बन्धी क्वचित् पदसम्बन्धी कथ्यते, उभयोः स्थाने निष्पन्नत्वात् । *युगे*ति-युज्यते इति ``वर्षादयः'' क्लीबे (5. 3. 29.) अल् गुणाभावो गत्वं च निपात्यते ।।2. 4. 97.।।

वेदूतोऽनव्यय-य्वृदीच्-ङीयुवः पदे ।। 2. 4. 98. ।।

ईकारोकारयोरुत्तरपदे परतो ह्रस्वो वा भवति, न चेत् तावव्ययौ य्वृत्--ईज्रूपौ ङीरूपौ इयुव्स्थानौ च भवतः । लक्ष्मिपुत्रः, लक्ष्मीपुत्रः; ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः; ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः; खलपुपुत्रः, खलपूपुत्रः । ईदूत इति किम् ? खट्वापादः, गोकुलम् । अव्ययादिवर्जनं किम् ? अव्यय—काण्डीभूतम्, वृषलीभूतम्, ऊरीकृत्य, उररीकृत्य; य्वृत्-इन्द्रहूपुत्रः, शकहूपुत्रः; ईच्-कारीषगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः; ङी गार्गीपुत्रः, वात्सीपुत्रः; इयुव्-श्रीकुलम्, भ्रू कुलम्, यवक्रीकुलम्, कटप्रूकुलम् । उत्तरपद इति किम् ? अग्नी पश्य, पटू पश्य ।।98।।

न्या०स०—वेदूतोऽन० । इन्द्रहूपुत्र इति-इन्द्रं ह्वयति ``असरूपोपवादे०'' (5. 1. 16.) इत्यणपवादे क्विपि ``यजादिवचेः०'' (4. 1. 79.) इति य्वृति ``दीर्घमवोऽन्त्यम्'' (4. 1. 103.) इन्द्रह्वः पुत्रः । *शकहूपुत्र* इति-शकस्यापत्यानि ``पुरुमगधः०'' (6. 1. 116.) इत्यण् ``शकादिभ्यो०'' (6. 1. 120.) लुप् शकान् ह्वयति, शेषं पूर्ववत् । *वृषलीभूतमि*ति—अवृषलं वृषलं भूत, मतान्तरेणदं वाक्यम्,—अन्यथा अत्रिलिङ्गत्वान्न प्राप्नोति ``अत्रिलिङ्गाऽन्या'' इति च जातिलक्षणे लिखि—तत्वादस्यात्रिलिङ्गत्वम् ।।2. 4. 98.।।

ङ्यापो बहुलं नाम्नि ।। 2. 4. 99. ।।

ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च नाम्न उत्तरपदे परतो नाम्नि-संज्ञायां विषये ह्रस्वो भवति बहुलम् । भरणिगुप्तः, रोहिणिमित्रः, महित्रातः, महिदत्तः, महिगुप्तः, शिलवहम्, शिलप्रस्थम्; क्वचिद् विकल्पः—रेवतिमित्रः, रेवतीमित्रः; पृथिविदत्तः, पृथिवीदत्तः; पृथिविगुप्तः, पृथिवीगुप्तः; गङ्गमहः, गङ्गामहः; गङ्गदेवी, गङ्गादेवी; शिंशपस्थलम्, शिंशपास्थलम् । क्वचिन्न भवति—फल्गुनीमित्रः, नान्दीमुखम्, नान्दीतूर्यम्, नान्दीकरः, नान्दीघोषः, महीफलम्, महीकरः, महीविशालः, लोमकागृहम्, लोमकाखण्डः, लेपिकागृहम्, लेपिकाखण्डः, गङ्गाद्वारम् । ङ्याप इति किम् ? श्रीपुरम्, विष्टापुरम् । उत्तरपद इत्येव—भरण्याः, रोहिण्याः । नाम्नीति किम् ? नदीस्रोतः, खट्वापादः ।।99।।

न्या०स०—ङ्यापो० । ङीसाहचर्यादापः प्रत्ययस्य ग्रहणं, न तु क्विबन्तस्याप्नोतेरित्याह-*आबन्तस्य चे*ति । नन्देः ``पदिपठि०'' (उणा० 607) इति इः, बाहुलकाद् दीर्घे-नान्दी, तस्या मुखम् । विष्टापुरमिति-विशं तायते क्विपि ``य्वोः प्वय्व्यञ्जने'' (4. 4. 121.) लुप्, पृषोदरादित्वात् डत्वाभावेविष्टा, विष्टः पूः, ``ऋक्पूः०'' (7. 3. 76.) अत् समासान्तः । *रोहिणी*ति—``रेवत-रोहिणाद् भे'' (2. 4. 26.) ङीः, गवि वाच्यायां तु ``जातेरयान्त०'' (2. 4. 54.) इति वा ङीः । लोमभिः कायतीति लोमका । *भरिण्या* इति—यद्यनेन ह्रस्वः स्यात् तदा 'भरिण्याः, भरिणेः' इति रूपं स्यात्, इदानीं तु 'भरिण्याः' इत्येकमेवेष्टम् ।।2. 4. 99.।।

त्वे ।। 2. 4. 100. ।।

ङ्याबन्तस्य त्वे प्रत्यये बहुलं ह्रस्वो भवति । रोहिण्या भावः—रोहिणित्वम्, रोहिणीत्वम्; अजत्वम्, अजात्वं वा ।।100।।

न्या०स०—त्वे । अथ ``ङ्यापो बहुलं त्वे नाम्नि'' इत्येकयोग एव कथं न क्रियते, तत्रैवं विज्ञास्यते—त्वप्रत्यये नाम्नि च ह्रस्वो भवतीतिः नैवम्-तत्र ह्युत्तरपद इत्यस्ति, ततश्च त्वप्रत्यये नाम्नि चोत्तरपदे ह्रस्वो भवतीति विज्ञानाद् रोहिणित्वफलमजत्वफलमित्यत्र स्यात् इह न स्यात्-रोहिणित्वमिति पृथुगुच्यते ।। 2. 4. 100. ।।

भ्रूवोऽच्च कुंस-कुट्योः ।। 2. 4. 101. ।।

भ्रू शब्दस्य कुंस-कुट्योरुत्तरपदयोः परयोर्ह्रस्वोऽकारश्च भवति । भ्रुंकुसः, भ्रकुंसः, भ्रुकुटिः, भ्रकुटिः, भ्रूकुंस-भ्रू कुटिशब्दावपीच्छन्त्यन्ये ।।101।।

न्या०स०—भ्रु वोऽच्च० । भ्रुवौ कुंसयति ``कर्मणोऽण्'' (5. 1. 72.) इति, भ्रुवः कुटिः कौटिल्यं वा । भृकुंस-भृकुटिशब्दावपि नारायणकण्ठी मन्यते ।।2. 4. 101.।।

मालेषीकेष्टकस्याऽन्तेऽपि भारि-तूल-चिते ।।2. 4. 102.।।

माला-इषीका-इष्टकाशब्दानां केवलानामन्ते वर्तमानानां च भारिन्तूल चितशब्देषूत्तरपदेषु परेषु ह्रस्वो भवति यथासंख्यम् । मालां बिभर्त्तीत्येवंशीलः—मालभारी, उत्पलमालभारी; मालभारिणी, उत्पलमालभारिणी; इषीकतूलम्, मुञ्जेषीकतूलम्; इष्टकचितम्, पक्वेष्टकचितम् । इदमेवान्तः-ग्रहणं ज्ञापकम् ❊ ग्रहणवता नाम्ना न तदन्तविधिः ❊ इति, तेन दिग्धपादोपहतः सौत्रनाडिरित्यादौ पदादेशा-ऽऽयनण् प्रत्ययादयो न भवन्ति ।।102।।

न्या०स०—मालेषी० । मालादिभिः प्रकृतस्य नाम्नो विशेषणात् तदन्तलाभात् केवलस्य व्यपदेशिवद्भावाद् ह्रस्वसिद्धौ किमर्थमन्तग्रहणमित्याशङ्कायामाह-*इदमेवेति* ।।2. 4. 102.।।

गोण्या मेये ।। 2. 4. 103. ।।

गोणीशब्दस्य मानवाचिन उपचारान्मेये वर्त्तमानस्य ह्रस्वो भवति । गोण्या मितो गोणिः । मेय इति किम् ? गोणी ।।103।।

न्या०स०—गोण्या० । विनैव तद्धितेन गोणीशब्दो गोणीप्रमितेऽर्थे ब्रीह्यादावुपचाराद् वर्तते, यथा प्रस्थप्रमिते प्रस्थ इति, तस्य चायं ह्रस्व इति सूत्रारम्भ इत्यर्थः । सत्यामपि वा तद्धितलुचि `अगोणीसूच्योः' इति प्रतिषेधे ``गोश्चान्ते०'' (2. 4. 96.) इति च समासे ह्रस्वस्य विज्ञानादिह नास्तीति तदर्थमिदमारभ्यते ।।2. 4. 103.।।

ङ्यादीदूतः के ।। 2. 4. 104. ।।

ङीप्रत्ययस्याऽऽकारेकारोकाराणां च के प्रत्यये ह्रस्वो भवति । कुमारिका, पट्विका, सोमपकः, कीलालपकः, सोमपिका, कीलालपिका, लक्ष्मिका, तन्त्रिका, वधुका, यवागुका, ब्रह्मबन्धुका । ङीग्रहणं पुंवद्भावबाधनार्थम् । काकः पाक इत्यादौ तु ❊ प्रत्यया-ऽप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ❊ इति न्यायान्न भवति ।।104।।

न्या०स०—ङ्यादीदू० । *सोमपिके*त्यादौ ह्रस्वस्य दारदिकेत्यादौ च पिति पुंवद्भावस्य सावकाशत्वात् पट्विकेत्यादौ चोभयप्राप्तौ परत्वात् पुंवद्भावे *पट्विके*त्यादि न सिध्यतीत्याह-

ङीग्रहणमित्यादि-ङीग्रहणमनवकाशत्वात् पुंवद्भावं बाधत इत्यर्थः। *प्रत्ययाप्रत्ययोरिति न्यायान्न भवती*ति-ककतेरचिः पृषोदराद्यात्वं-काकः, पचनं-पाकः, घञि ``क्तेऽनिटः०'' (4. 1. 111.) इति कत्वम्। अथ कायतेः पिबतेश्च ``भीण्शलि-वलि०'' (उणा० 21) इति यदा कस्तदा ह्रस्वः कस्मान्न भवति ? उच्यतेउणादीनामव्युत्पन्नत्वात्, व्युत्पत्तिपक्षे तु बहुलवचनान्न भवति ॥ 2.4.104.॥

न कचि ॥ 2. 4. 105. ॥

ङ्यादीदूतः कचि प्रत्यये परे ह्रस्वो न भवति। बहुकुमारीकः, बहुकीलालपाकः, बहुलक्ष्मीकः, बहुब्रह्मबन्धूकः; खार्या क्रीतं-खारीकम्, एवं काकणीकम्, ``खारीकाकणीभ्यः कच्'' (6. 4. 149.) इति कच्। ``न कचि'' (2. 4. 105.) इति प्रतिषेधः पूर्वसूत्रे ❈ निरनुबन्धग्रहणे न सानुबन्धस्य ❈ इति न्यायस्याभावज्ञापनार्थः, तेन-निषादकर्ष्वां जातो नैषादकर्षुकः, एवं–शाबरजम्बुक इत्यादाविकणि ह्रस्वः सिद्धः ॥105॥

न्या०स०–न कचि। बहुलक्ष्मीक इत्यत्र एकत्वे ``पुमनडुन्नौ०'' (7. 3. 173.) बहुत्वे तु ``शेषाद् वा'' (7. 3. 175.) कच्। पूर्वसूत्रे क इति निरनुबन्धे कचि प्राप्तिरेव नास्तीत्याह-*न कचीति प्रतिषेधः* इति-*नैषादकर्षुकः, शाबरजं* ॥2. 4. 105.॥

नवाऽऽपः ॥ 2. 4. 106. ॥

आपः कचि परे ह्रस्वो वा भवति, पूर्वेण प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे ह्रस्वार्थमिदम्। प्रियखट्वकः, प्रियखट्वाकः; बहुमालकः बहुमालाकः ॥106॥

इच्चाऽपुंसोऽनित्क्याप्परे ॥ 2. 4. 107. ॥

आबेव परो यस्माद् न विभक्तिः स आप्परः, अपुंलिङ्गार्थाच्छब्दाद् विहितस्यापः स्थाने इकारो ह्रस्वश्च वा भवतः, अनितोऽनकारानुबन्धस्य प्रत्ययस्यावयवभूते कि–ककारे आप्परे परतः। अल्पा खट्वा-खट्विका, खट्वका, खट्वाका; परमखट्विका, परमखट्वका, परमखट्वाका; प्रिया खट्वा यस्याः सा--प्रियखट्विका, प्रियखट्वका, प्रियखट्वाका। चकारो ह्रस्वानुकर्षणार्थः, तेनोभयविकल्पे त्रैरूप्यं सिद्धम्। अपुंस इति किम् ? सर्विका। न विद्यते खट्वा अस्या इति ``गोश्चान्ते०'' (2. 4. 96.) इत्यादिना ह्रस्वत्वे स्त्रीपुंससाधारणात् पुनरापि-अखट्वा, सैवाल्पाअखट्विका, तथा खट्वामतिक्रान्ता-अतिखट्वा, सैवाल्पा-अतिखट्विका, अत्रापुंस्काद् विहित आप् न भवतीति त्रैरूप्यं न भवति। ``ङ्यादीदूतः के'' (2. 4. 104.)

इत्यनेन तु ह्रस्वे कृते ``अस्या०'' (2. 4. 11.) इत्यादिनेत्वमेव भवति, कश्चित् त्वपुंस्काद् विहित आबस्तीति भवत्येव रूपत्रयम्-न विद्यते खट्वा यस्याः सा-अखट्विका, अखट्वका, अखट्वाका। अनिदिति किम् ? अनुकम्पिता दुर्गादेवीति कम्पि-दुर्गका, ``ङ्यादीदूतः के'' (2. 4. 104.) इत्यनेन ह्रस्व एव भवति। कीति किम् ? खट्वाता, मालाता। आप्पर इति किम् ? प्रियखट्वाकः पुरुषः। आबेव परो यस्मादिति बहुव्रीहिः किम् ? प्रियखट्वा-कमतिक्रान्ताऽतिप्रियखट्वाका, अत्र हि प्रथमं द्वितीया परा पश्चादाबिति। आप इत्येव-मातृका ॥107॥

न्या०स०—इच्चापुं सो०। न् इत्-अनुबन्धो यस्य प्रत्ययस्याऽसौ-नित्, न नित्-अनित्, तस्य सम्बन्धी क्-अनित्क्, तस्मिन्। प्रिया खट्वा यस्याः ``शेषाद्वा'' (7. 3. 175.) विकल्पेन कचि-*प्रियखट्विके*त्यादि रूपत्रयं भवति। आपीति *कृते उपश्लेषसप्तम्यैव आबुपश्लिष्टे ककारे इत्वमित्यर्थस्य सिद्धेः परग्रहणं नियमार्थमित्याह-आबेव पर* इति। *सर्विके*ति-सर्वा नाम काचित्, ततः स्वार्थे ``यावादिभ्यः कः'' (7. 3. 15.) ``ङ्यादीदूतः के'' (2. 4. 104.) ह्रस्वत्वे ``अस्यायत्तत्०'' (2. 4. 111.) इकारः। सर्वादेः सर्वशब्दस्य तु ``त्यादिसर्वादेः०'' (7. 3. 29.) इत्यनेनाऽन्त्यस्वरात् प्रागकि-सर्विकेति-अत्रापः स्थानित्वमपि न स्यात्। *मातृके*तिननु यथा इहाप् नास्ति तथा मिमीते इति धान्यमातुरपि मातृशब्देनाभिधानात् 'अपुंसः' इत्यपि न स्यात्, ततो द्व्यङ्गविकलत्वान्नेदं प्रत्युदाहरणं युज्यते, प्रत्युदाहरणं हि तदङ्गाभावे कार्याभावं प्रदर्शयत् तदङ्गसामर्थ्यप्रदर्शनार्थमुपादीयते, तत्राङ्गद्वयवैकल्येऽस्याङ्गस्य वैकल्यादिह कार्याभाव इति निर्णयाभावादेकस्याप्यभाव इति; नैष दोषः—जननीवचनस्यान्यस्यैवाव्युत्पन्नस्य मातृशब्दस्य ग्रहणात्, यद्वा प्रत्युदाहरणदिग्मा-त्रमिदं, तेन *स्वसृके*त्यादि प्रत्युदाहरणं द्रष्टव्यम् ॥2. 4. 107.॥

स्व-ज्ञा-ऽज-भस्त्रा-ऽधातुत्ययकात् ॥ 2. 4. 108. ॥

स्व-ज्ञा-ऽ-ज-भस्त्रेभ्यः, अधातोरत्यप्रत्ययस्य च याववयवौ यकार-ककारौ ताभ्यां च, परस्यापः स्थानेऽनित्प्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परत इकारो वा भवति। कुत्सिता स्वा ज्ञातिः—स्विका, स्वका; अस्विका, अस्वका; निःस्विका, निःस्वका; बहुस्विका, बहुस्वका; ज्ञातिधनाख्यायामसर्वादित्वादकोऽभावे कप्रत्ययान्तः स्वशब्दः। ज्ञिका, ज्ञका; अज्ञिका, अज्ञका; निर्ज्ञिका, निर्ज्ञका; बहुज्ञिका, बहुज्ञका; अजिका, अजका; अनजिका, अनजका; निरजिका, निरजका; बह्वजिका, बह्वजका। भस्त्रग्रहणं स्त्री-पुंससाधारणवृत्तेर्ग्रहणार्थम्-अविद्यमाना भस्त्रा यस्याः सा-अभस्त्रा, सैवाल्पा अभस्त्रिका, अभस्त्रका; एवं-निर्भस्त्रिका,

निर्भस्त्रका; बहुभस्त्रिका, बहुभस्त्रका; अतिभस्त्रिका, अतिभस्त्रका; अत्र हि गौणस्य ह्रस्वत्वे कृते समासात् स्त्री-पुंससाधारणादाबिति पूर्वेण न सिध्यति; यदा त्वपुंस्कादाप् विधीयते तदा पूर्वेण त्रैरूप्यमेव-भस्त्रिका, भस्त्रका, भस्त्राका; न भस्त्रा अभस्त्रा, साऽल्पा चेत्-अभस्त्रिका, अभस्त्रका, अभस्त्राका; एवं-परमभस्त्रिका, परमभस्त्रका, परमभस्त्राका । यकार-इभ्यिका, इभ्यका; क्षत्रियिका, क्षत्रियका; आर्यिका, आर्यका । ककार-चटकिका, चटकका; मूषकिका, मूषकका; एलकिका, एलकका । धातुत्यवर्जनं किम् ? सुनयिका, सुशयिकाः अशोकिका, सुपाकिका; दाक्षिणात्यिका, पाश्चात्यिका, इहत्यिका, अमात्यिका । आप इत्येव-कुत्सिता स्वा-आत्मा आत्मीया वा सर्वादित्वादकि-स्विका । सांकाश्ये भवा योपान्त्यलक्षणेऽकञि-सांकाश्यिका, एवं-काम्पीलियका, हृदिकं भजति हार्दिकिका; अत्र ``गोत्रक्षत्रियेभ्योऽकञ् प्रायः'' (6. 3. 208.) इत्यकञ्, एवं-श्वाफल्किका, सर्वत्रोत्तरेण नित्यमिकारः । कथं बह्वपत्यिका ? बह्पत्यका ?; नात्र त्यप्रत्ययः, ❊ प्रत्ययाऽप्रत्यययोश्च प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ❊ । अथ शुष्किकेत्यत्र कथं न विकल्पः ? क्तादेशस्य कस्यासिद्धत्वात् ॥108॥

न्या०स०–स्वज्ञाज० । धातुश्च त्यश्च-धातुत्यौ, न धातुत्यौ-अधातुत्यो, यश्च कश्च यकम्, अधातुत्ययोर्यकम्-अधातुत्ययकम्, स्वश्च ज्ञश्च अजश्च भस्त्रश्च अधातुत्ययकं च-स्वज्ञाजभस्त्रा-धातुत्ययकं, तस्मात् । अत्र सूत्रेऽपुंस इति नानुवर्ततेऽसंभवात्, आरम्भसामर्थ्याच्च । *(कुत्सिता) स्वा ज्ञातिः स्विका* इति–यद्यपि स्वशब्दः स्वो ज्ञातावात्मनि क्लीबे, त्रिष्वात्मीये धनेऽस्त्रियाम्'' इति पठ्यते तथापि कुत्सिताद्यर्थविषये ज्ञातावपि स्त्रीत्वमत एव पाठात् भवति ह्युपाधिभेदाद् ह्रस्वे कृते लिङ्गयोगस्तदन्यलिङ्गत्वं च, यथा पचतिरूपमित्यलिङ्गस्यापि नपुंसकलिङ्गत्वम्, कुटीरमिति स्त्रीलिङ्गस्यापि नपुंसकलिङ्गत्वम् ।

विचित्रा हि शब्दशक्तयः; यद्वा ज्ञातिरत्र स्त्रीरूपा विवक्षिता, तेन योनिमन्नामत्वात् स्वशब्दस्य स्त्रीत्वम् । न विद्यते स्वा यस्या इति कृते कपि-*अस्विका, अस्वके*ति रूपे, कपि निमित्तभूते विकल्पपक्षे ``अस्यायत्तत्०'' (2. 4. 111.) इति न, विकल्पसामर्थ्यात्, कचि तु ``नवापः'' (2. 4. 106.) इति ह्रस्वे कृते ``अस्यायत्तत्०'' (2. 4. 111.) भवत्येव, न च सूत्रविकल्पः प्रवर्त्तते, सूत्रं विनापि अस्विका अस्वकेति सिध्यतीति अस्विकेति रूपमेकरूपेणेव गतार्थमिति । *दाक्षिणात्यिके*ति-दक्षिणस्यां भवा ``दक्षिणापश्चात्०'' (6. 3. 13.) इति त्यण्, अत्र ``सर्वादयोऽस्यादौ'' (3. 2. 61.) इति पुंवद्भावो न भवति, ``दक्षिणापश्चात्०'' (3. 2. 61.) इत्यत्र आकारनिर्देशात्; यद्वा ``कौण्डिन्यागस्त्ययोः०'' (6. 1. 127.) इति ज्ञापकात् । *स्वा आत्मा आत्मीया वे*ति-स्त्रीसम्बन्ध्यत्रात्मा विवक्षितः, तस्य च योनिमता स्त्रीशरीरेणाभेदोपचाराद्

योनिमन्नामत्वात् 'स्वा' इत्यत्र स्त्रीत्वम्, बाहुलकाद् वा स्त्रीत्वम् । *श्वाफल्किकेति*-श्वानं फालयति-श्वफल्कः, अन्धकविशेषः ।।2. 4. 108.।।

द्वयेष-सूत-पुत्र-वृन्दारस्य ।। 2. 4. 109. ।।

आप इति निवृत्तं पृथग् योगात्, एषामन्तस्यानित्प्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परत इकारादेशो वा भवति । द्विके, द्वके; एषिका, एषका; केवलयोरेवानयोर्विकल्पेनेकारः । यदा तु 'न द्वे, न एषा, न द्वके, न एषका' इत्यादिविग्रहे कृते विभक्तेर्लुपि सत्यां पुनः समासाद् विभक्तौ तामाश्रित्य त्यदाद्यत्वं तत आप्, स च स्थानिवद्भावेन विग्रहकालभाविन्या विभक्तेः परो न तु कात्, तदा 'अनेषका, अद्वके' इत्यत्रेकारो न भवति । अस्विकेत्यादौ तु न विभक्तेः पर आप्, किन्तु कादेव । सूतिका, सूतका; पुत्रिका, पुत्रका; वृन्दारिका, वृन्दारका । द्विशब्दसाहचर्यादेषेति सर्वादेः कृतविकारस्यैतदो निर्देशः, तेनेषर्णकादिप्रत्ययान्तस्याविकृतस्यैतच्छब्दस्य च न भवति-इच्छतीति-एषिका, एता एव-एतिका: ।।109।।

न्या०स०—द्वयेषसूत० । यदा तु न द्वे न एषेति एषद्विशब्दौ नञ्पूर्वावित्वविकल्पं न प्रयोजयतः, तत्रापि कृते नञ्समासेऽनञ्समासे वाऽगिति द्वयी गतिः, उभयोरपि च पक्षयोर्विभक्तेः पर आबिति, यतः ❊ अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गापि लुप् बाधते ❊ इति समासार्थाया विभक्तेस्त्यदाद्यत्वात् पूर्वं लुपा भाव्यं, प्रत्ययलक्षणं च नास्तीति समुदायाद् या विभक्तिस्तामाश्रित्य त्यदाद्यत्वे सत्यापा भाव्यम्, स च विग्रहकालभाविन्या विभक्त्या व्यवधीयते । तर्हि द्विके इति मूलप्रयोगेऽपि कुत्सिते द्वे इति तद्धितवृत्तौ ''त्यादिसर्वादेः'' (7. 3. 29.) इत्यकि औकारस्य लोपे तद्धितान्तात् औकारे तदाश्रये त्यदाद्यत्वे आपि च तद्धितवृत्तिनिमित्तस्य औकारस्य स्थानिवद्भावाद् न प्राप्नोति, नैवम्-उभयोरपि औकारयोरेकपदभक्तत्वेन व्यवधानं न भवति, 'अद्वके' इत्यत्र तु समासभक्तस्य औकारस्य प्रथमेन द्विशब्दभक्तेन औकारेण व्यवधानं भवत्येव । *सूतिकेति*-सुपूर्वाद् वयतेः क्तः, सूते स्मेति वा क्तः, तत आबन्तात् कुत्सितादौ कप् । *पुत्रिकेति*-पुत्रशब्दात् कुत्सितादौ कपि आबादौ च, कृत्रिमः पुत्र इति वा ''तनुपुत्रा-ऽणुबृहती०'' (7. 3. 23.) इति कः । *वृन्दारिकेति*—प्रशस्तं वृन्दमस्या अस्तीति वृन्दारकः, ततो ''जातेरयान्त०'' (2. 4. 54.) इति बाधायै ''अजादेः०'' (2. 4. 16.) इत्याप् ।।2. 4. 109.।।

वौ वर्त्तिका ।। 2. 4. 110. ।।

वौ-शकुनावभिधेये वर्तिकेतीत्त्वं वा निपात्यते । वर्तते इति णकेवर्तिका, वर्तका-शकुनिः । वाविति किम् ? वर्तिका—भागुरिर्लोकायतस्य व्याख्यात्रीत्यर्थः ।।110।।

न्या०स०—वौ वर्तिका० । वर्तिका भागुरिरिति-वर्तयतीति णके ``अस्यायत्तत्०'' (2. 4. 111.) इति इकारः । *भागुरिः* आचार्यः, बाहुलकात् स्त्रीलिङ्गः, लोके आयतं-लोकायतं नास्तिकशास्त्रम् ।।2. 4. 110.।।

अस्याऽयत्-तत्-क्षिपकादीनाम् ।। 2. 4. 111. ।।

यत्-तत्-क्षिपकादिवर्जितस्य नाम्नो योऽकारस्तस्यानित्प्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परत इकारो भवति, वेति निवृत्तं पृथग्योगात् । जटिलिका, बधिरिका, मुण्डिका, कारिका, पाचिका, मुद्रिका । अस्येति किम् ? गोका, नौका । अनित्कीत्येव-जीवका, नन्दका ``आशिष्यकन्'' (5. 1. 70.) । अनित इति पर्युदासेन प्रत्ययग्रहणादिह न भवति-शक्नोतीति-शका, तका । आप्पर इत्येव-कारकः, हारकः । आबेव परो यस्मादिति नियमः किम् ? बहुपरिव्राजका मथुरा, बहुमद्रका सेना, विभक्त्यन्तादयमाबिति प्रतिषेधः । यत्-तत् क्षिपकादिवर्जनं किम् ? यका, सका, क्षिपका, ध्रुवका, ध्रुवका, लहका, चरका, चटका, इष्टका, एडका, एरका, करका, अवका, अलका, दण्डका, पिष्पका, कन्यका, मेनका, द्वारका, रेवका, सेवका, धारका, उपत्यका, अधित्यकेत्यादि । बहुवचनमाकृतिगणार्थम् ।।111।।

न्या०स०—अस्यायत्त० । पृथग्योगादिति-अयमर्थः—यद्यत्रापि विकल्पः स्यात् । तदा 'स्विका, स्वका' इत्यादौ ``ङ्यादीदूतः०'' (2. 4. 104.) इति ह्रस्वत्वेऽनेन वैकल्पिकस्य इत्वस्य सिद्धत्वात् ``स्वज्ञाजभस्त्रा०'' (2. 4. 108.) इत्यादीनां पृथुगुपादानमनर्थकं स्यादित्यर्थः । *मुण्डिकेति*-मुण्डयतीति ``णक-तृचौ'' (5. 1. 48.) इति णकः । *मद्रिकेति*-माद्यतीति रप्रत्ययः, ततो ``व्रजिमदाद् देशात् कः'' (6. 3. 38.) इति क-प्रत्ययः । *प्रत्ययग्रहणादिति*-अथवा प्रत्ययपरिग्रहे च ``नरिकामामिका'' (2. 4. 112.) इति ज्ञापकौ । *बहुपरिव्राजकेति*-ननु चात्र ककारादाबेव श्रूयते नान्यदिति कथं प्रतिषेध इत्याह—*विभक्त्यन्तेत्यादि* । *एडकेत्यादि*-अत्र ईडिक् ईरिक् आभ्यां ``कीचक०'' (उणा० 33) इति निपातनाद् गुणे—*एडका, एरका* । *क्षिपका* आयुधविशेषः । *ध्रुवका ध्रुवकेति* आवपनविशेषौ । *लहका* सविलासा स्त्री । *चरका* ऋषिः । *एडका* अजाविशेषः । *एरका* तृणम् । *करका* घनोपलः, त्रिलिङ्गः । *अवका* शेवालः । *अलका दण्डका* नगर्यौ । *पिष्पका* अश्वत्थस्य फलम् । *मेनका* गौरीमाता अप्सराश्च । *द्वारका* नगरी ।।2. 4. 111.।।

नरिका मामिका ।। 2. 4. 112. ।।

नरकशब्दस्य मामकशब्दस्य चाप्रत्ययावयवे ककारे आप्परे परतोऽकारस्येत्त्वं निपात्यते ।

नरान् कायतीति-नरिका ``आतो डोऽह्‍ वा-वा-मः'' (5. 1. 76.) इति डः । ममेयं-मामिका, अञि ममकादेशः, ``केवलमामक०'' (2. 4. 29.) इत्यादिना संज्ञायां ङीप्रत्ययस्य नियमादाप्, ककारस्याप्रत्ययसम्बन्धित्वात् पूर्वेणाऽप्राप्ते वचनम् ॥112॥

तारका-वर्णका-ऽष्टका ज्योतिस्-तान्तव-पितृदेवत्ये ॥ 2. 4. 113. ॥

तारकादयः शब्दा यथासंख्यं ज्योतिरादिष्वर्थेषु इकारादेशरहिता निपात्यन्ते । तरतेर्णके-तारका-ज्योतिः, तच्च नक्षत्रं कनीनिका च, नक्षत्रमेवेत्यन्ये, अन्यत्र-तारिका । वर्णयतीति णके-वर्णका-तान्तवः प्रावरणविशेषः, अन्यत्र वर्णिका-भागुरी लोकायतस्य । अश्नोतेरौणादिके तकिक-अष्टका-पितृदेवत्यं कर्म, अन्यत्राष्टौ द्रोणाः परिमाणस्या इति के-अष्टिका खारी । पितृदेवतार्थं कर्मेति ``देवतान्तात् तदर्थे'' (7. 1. 22.) इति ये-पितृदेवत्यमिति सिद्धम् ॥113॥

इत्याचार्यश्रीहेमचन्द्रविरचितायां श्रीसिद्धहेमचन्द्राभिधानस्वोपज्ञशब्दानु-शासनवृहद्वृत्तौ (तत्त्वप्रकाशिकायां) द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः (2. 4.)

[1] श्रीमूलराजक्षितिपस्य बाहुर्बिभर्ति पूर्वाचलश्रृङ्गशोभाम् ।
संकोचयन् वैरिमुखाम्बुजानि यस्मिन्नयं स्फूर्जति चन्द्रहासः ॥8॥

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽध्यायः ॥

न्या०स०—तारका व० । णिजन्ताद् वर्ण्यत इति संज्ञायां णके-*वर्णका*, वर्णयतीति तु चौरादिकप्रतिपत्त्यर्थं तिवा निर्देशो, न तु णकारम्भकः, अथवा वर्णयतिआधारविशेषगतमाधेयगुणं वादयतीति ॥2. 4. 113.॥

इत्याचार्य० द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः संपूर्णः ॥

॥ समाप्तोऽयं द्वितीयोऽध्यायः ॥

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आ. श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 259 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-1)	210/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-2)	220/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-3)	125/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण सूत्र (भाग-4)	135/-
5.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-2	400/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-
8.	विवेकी बनो	90/-
9.	प्रवचन-वर्षा	60/-
10.	आओ श्रावक बनें !	25/-
11.	व्यसन-मुक्ति	100/-
12.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-
13.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-
14.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-
15.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-
16.	समाधि मृत्यु	80/-
17.	Pearls of Preaching	60/-
18.	New Message for a New Day	600/-
19.	Panch Pratikraman Sootra	100/-
20.	अमृत रस का प्याला	300/-
21.	ध्यान साधना	40/-
22.	जीव विचार विवेचन	100/-
23.	नवतत्त्व विवेचन	110/-
24.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
25.	लघु संग्रहणी	140/-
26.	तीन भाष्य	150/-
27.	पहला कर्मग्रन्थ	160/-
28.	दूसरा कर्मग्रन्थ	55/-
29.	तीसरा कर्मग्रन्थ	90/-
30.	चौथा कर्मग्रन्थ	140/-
31.	पाँचवाँ कर्मग्रन्थ	160/-
32.	छठा-कर्मग्रन्थ	210/-
33.	गणधर-संवाद	80/-
34.	आओ ! उपधान पौषध करें !	130/-
35.	विविध देववंदन	100/-
36.	भव आलोचना	10/-
37.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
38.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
39.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
40.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
41.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
42.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
43.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
44.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
45.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
46.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
47.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
48.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
49.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
50.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
51.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
52.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
53.	मन के जीते जीत है	80/-
54.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
55.	प्रात: स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
56.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
57.	प्रात: स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
58.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
59.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
60.	वैराग्य-शतक	140/-
61.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
62.	धर्म-बीज	140/-
63.	45 आगम परिचय	200/-
64.	नित्य देववंदन	निशुल्क
65.	श्री भद्रंकर प्रश्नोत्तरी	170/-
66.	अध्यात्मयोगी से प्रश्नोत्तर	160/-
67.	कोयंबत्तुर-प्रवचन	150/-
68.	दक्षिण भारत प्रवचन	160/-
69.	महावीर-प्रभु की अंतिम देशना	220/-
70.	योग की आठ दृष्टियाँ	430/-
71.	साचा माणस बनीए ! (गुजराती)	300/-
72.	शुभ-संदेश	250/-
73.	भक्ति से मुक्ति	200/-
74.	सहनशील बनों (22 परीषह)	180/-
75.	नवपद आराधना विधि	नवपद आराधना
76.	शत्रुंजय की भाव यात्रा	230/-
77.	नवकार-प्रवचन	180/-
78.	10 श्रमण-धर्म	250/-
79.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (प्रथमो भाग:)	1170/-
80.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (द्वितीयो भाग:)	1040/-
81.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (तृतीयो भाग:)	900/-
82.	श्री सिद्धहेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् (चतुर्थो भाग:)	1270/-

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. **M. 84 84 84 84 51 (only whatsapp)**

Kamal PRINTER'S M. 9820530299